ऋग्वेद मण्डल-मणि-सूत्र

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार
(स्वा० समर्पणानन्द)

समर्पण-शोध-संस्थान
सर्वस्व-ग्रन्थ-माला : ७ म कुसुम

ऋग्वेद मण्डल-मणि-सूत्र

सूत्रकार
पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार
(स्वा० समर्पणानन्द)



प्रकाशक :
समर्पण-शोध-संस्थान, नई दिल्ली

मूल्य : ७५) रुपये

सम्पादक :
आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश
आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक :
दीक्षानन्द सरस्वती
समर्पण-शोध-संस्थान
आर्यसमाज, करोलबाग
नई दिल्ली ११०००५

प्रकाशन : शिवारात्रि, वि०-सं० २०३५
प्राप्ति स्थान : समर्पण-शोध-संस्थान
आर्यसमाज करोलबाग
नई दिल्ली—११०००५

पूर्ति : १३ दिसम्बर १९६४

मुद्रक :
सतीश चन्द्र शुक्ल
प्रबन्धक, वैदिक यंत्रालय
केसर गंज,
अजमेर

आभार

मणिसूत्र गुरुदेव की श्रेष्ठतम एवं अर्वाचीनतम कृति है। उसका मालाकरण १९६४ में म्पन्न हो चुका था। इतने वर्षों पश्चात् उसे प्रकाशनार्थ उठाते हुए कितनी ही समस्याएँ ऐसी आ पस्थित हुई जिनका हमें तनिक भी आभास न था। साधना-सिद्धि के इस मंगल-क्षण में ाभार-स्मरण न करना कृतघ्नता होगी।

प्रथम तो : पुराने पड़ रहे पत्रों से ग्रन्थ का मुद्रणार्थं पुनरुद्धार, प्रतिलिपी-करण, ऋचाओं ा स्वराङ्कन, उद्धृत प्रमाणों की प्रामाण्य-परीक्षा आदि—यदि आचार्य सत्यानन्द जी दवागीश के सतत अनुयोग-अभियोग का पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयं है; तो, वेद भगवान् की महिमा एवं रिमा को दृष्टि में रखते हुए, सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए उपयुक्त टाइप प्रूफ-संशोधन आदि की व्यवस्था आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री (अजमेर) का अध्यवसाय भी कुछ कम कल्याणकृत् नहीं रहा। इस कार दो-दो आचार्यों के हाथों मूल का सम्पादन-प्रणयन-संस्करण संस्थान का परम सौभाग्य रहा है।

और फिर : मुद्रण-परोपकारिणी के माध्यम से ऋषि-ऋण का स्मरण-अजमेर में चल ा था; और हम आग्रही थे कि उसका अन्तिम रूप हमारी ही निगरानी में, और वह भी दिल्ली ही, साथ-साथ उभरे निखरे। गर्मियों के ये चार महीने अनिकेत संन्यासी की यह देख-भाल आर्य-ाज सदर बाजार तथा दीवान हॉल के प्रेमी जनों एवं कार्य-कर्त्ताओं ने जिस आत्मीयता और र्तव्य-बोध के साथ निभायी उससे दोनों पक्षों का आत्मविकास ही हुआ है।

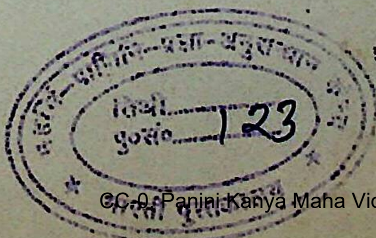
फिर स्मरण हो आता है उन उदारचेता व्यक्तियों, संस्थाओं का जिन्होंने हमारे इस यज्ञ में योग की उन्मुक्त मौन आहुतियाँ दीं : **तत्र पुण्यतमं किंस्वित् नाम्ना संकीर्तनं मुहु :** श्री दिलीप ह जी (पानीपत), श्री वृजमोहन जी, श्री सत्यानन्द जी तथा श्री ओम् प्रकाश जी (हीरो साईकिल्स धयाना), आर्यसमाज सान्ताक्रुज (बम्बई), राय साहब चौधरी प्रतापसिंह जी (करनाल)।

और तभी सहसा स्मृति जग उठती है गुरु-पाद के विस्मृत-प्रायः पुत्र ब्रह्मदत्त शर्मा की नके घर में, प्रायः बलात् झोंकते हुए भी, जरद्गव [रुग्ण, किन्तु प्र-'बुद्ध'] पिता को ग्रन्थ-लेखन जैसे-तैसे प्रवर्तित किया गया और अन्तिम ऋण—वह तो खुद गुरुदेव का ऋषियों के प्रति (**'स र्वामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** के प्रति) था; वह उससे मुक्त हो गये और हमें, यह दायित्व र, निहाल कर गये! हमारे लिए यही एक संतोष पर्याप्त है, हमारा परम है।

अन्त में—इस अवसर पर मैं अपने अनन्य बन्धु लाज जी को कैसे भुला सकता हूँ जिन्होंने ण के पश्चात्, मेरे अनुरोध पर सम्पूर्ण ग्रन्थ को एक बारगी आद्यन्त बाँचा और अपनी सूक्ष्मेक्षिका च) द्वारा उसे एक बार फिर से ऐसा संवारा, पिरोया, उसे एक सर्वथा-नवीन आदि-अवसान स्पर्श या कि अब वह वेद के अनुसंधित्सुओं के लिए कितनी ही दृष्टियों से सचमुच एक उपजीव्य आकर न गया है।

न, दक्षिणी अफ्रीका

आर्य-जगत् का, प्रणुत-प्रणत, ऋणी
—दीक्षानन्द सरस्वती





मणिसूत्रकार—एक स्मृति

बुद्धदेव विद्यालङ्कार एक अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न विलक्षण विचक्षण व्यक्ति थे। वे संस्कृत के गम्भीर विद्वान् थे। साहित्य में उनकी गहरी पैंठ थी। संस्कृत-साहित्य की दोनों विधाओं पर उनका असाधारण अधिकार था। वे महाकवि बाण का सा गद्य लिखने में सक्षम थे तो उनकी पद्य-रचना भी कवि कालिदास और भवभूति से किसी प्रकार कम न थी, किन्तु उनकी मनीषा का नैसर्गिक गोचर विषय वैदिक सारस्वत का गम्भीर गवेषण था। वेद एवं वैदिक वाङ्मय पर जब भी वे बोलने खड़े होते या कुछ लिखने बैठते तो वेद-मंत्रों एवं ब्राह्मण-वाक्यों के परत स्वतः ही स्फूर्त होकर स्वाभाविकता के साथ खुलने लग जाते थे।

वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता एवं संगीत-कला में भी उनका अबाध प्रवेश था। मंच के तो वे धनी थे ही। किसी भी मोर्चे पर उन्हें खड़ा किया जा सकता था। कोई समस्या ऐसी नहीं थी जिसका वे हल न थे। उनके पहुँचने पर प्रसन्नता और निश्चिन्तता का वातावरण उपस्थित हो जाता था। शास्त्रार्थ-समर के तो वे प्रखर योद्धा थे (अपने जीवन में उन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये थे)। जब-कभी वेद-सम्मेलनों में बोलने लगते तो ज्ञात होता—मूर्तिमान् व्यास बनकर बोल रहे हैं। यदि कभी प्रबन्धकों के सामने समस्या आ खड़ी हुई कि आज संगीत-सम्मेलन है, उसका अध्यक्ष कौन बनेगा तो इसका उत्तर भी यही सुनने में आता कि 'पं० बुद्धदेव के रहते क्या चिन्ता ? वेद-सम्मेलन समाप्त हुआ कि संगीत-सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर जा बैठे। और दो ही घण्टे के बाद देखा गया कि कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता भी कर रहे हैं। बड़े-बड़े कवि दांतों तले अंगुली देकर कहते कि कविता में भी कितना गाम्भीर्य है। सम्भवतः ऋग्वेद की ऋचा ऐसे ही कवियों को मानो याद करते हुए सम्बोधित है 'कविभिः पवित्रैः'—हमारा राष्ट्र पवित्र कवियों से भर जाए। उनको याद करते हुए, निर्वंश, यजुर्वेद का यह मन्त्र-साम्य उपस्थित हो आता है।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर् याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु० ४०. ६)

[१] एक झलक २२ फरवरी १९६१

देखने वालों ने उन्हें विरोधियों को लांघते, सभी ओर से भनभनाती पण्डित-मंडली को पार करते और तूफानी धारों में सिंह के समान डटते भी देखा। यहां हम एक प्रत्यक्ष दृष्ट घटना के वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं—

१९६१ में देहली में सनातन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् श्री करपात्री जी की अध्यक्षता में एक ग्यारह-दिवसीय सर्ववेद-शाखा-सम्मेलन आयोजित किया गया था; पण्डित बुद्धदेव जी को भी उसमें आमन्त्रित किया था। संयोगवश निमन्त्रण-पत्र उन्हें दो दिन पूर्व ही मिला। निमन्त्रण मिलते ही उनकी प्रसन्नता का कोई पारावार न था, मानो योद्धा को युद्ध का निमन्त्रण हो या फिर किसी पहलवान को कुश्ती का ! नियमानुसार प्रत्येक वक्ता को अपना वक्तव्य संस्कृतभाषा में लिखकर ले जाना था।

मैंने देखा कि उन्होंने कागज और पैन संभाला और आधे घण्टे में ही **'विनियोगरहस्यम्'** पर एक पूरा लेख क्या लिख डाला—तूणीर में बाण ही भर लिए ! मोर्चे पर जाने की तैयारी हो गयी, मुझे बुलाया और वेद का थैला हाथ में देकर बोले—"चलो कृष्ण, सम्मेलन में चलना होगा।" मुझे याद है मेरे साथ दो-तीन नौ-सिखिया भक्त थे, जो पीछे-पीछे हो लिए। रामलीला मैदान में पहुँचने पर (२२ फरवरी १९६१) सम्मेलन का ठाट दर्शनीय था। ऊँचे मंच पर विभिन्न सम्प्रदायों के पीठाधिपति अपने-अपने पीठों पर आसीन थे। मध्य में श्री करपात्री जी अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे थे। देश के कोने-कोने से आये प्रतिनिधि सनातन-धर्मावलम्बी विद्वान् मंच पर आसीन थे। दायीं ओर का मंच खाली था, जो सम्भवतः आर्यसमाज के विद्वानों के लिए सुरक्षित था। उस मंच पर एकाकी पण्डित बुद्धदेव विराजमान थे। पौराणिक मण्डलियों में कुछ कानाफूसी शुरु हो गयी। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे गजयूथ में किसी सिंह ने प्रवेश किया हो और उसके प्रविष्ट होते ही यूथ में भगदड़ मच गयी हो। सम्मेलन के अध्यक्ष कर-पात्री जी ने पण्डित जी को आमन्त्रित किया कि वे अपने वक्तव्य को पढ़ें। बस, इतना कहना ही था कि 'बुद्धदेव' ने गम्भीर घोषपूर्वक भाषण आरम्भ कर दिया :

विनियोग-रहस्यम् अधिकृत्य किंचित् उच्यते—

स्वामी पीत्वा प्रसुप्तो; घनतिमिरमयी यामिनी मेघमाला,
घोरैर्वज्रप्रहारैर्जनयति हृदये वेपथुं मानवानाम्।
भित्तिं स्वीयां खनन्ति प्रतिपलमितरे ये क्वचिज्जागरूकाः,
त्वामेवाप्यावलम्बं श्लथयति न करं स्वायुधे बुद्धदेवः॥

आर्याः ! नास्तिकैर्विकासवादिभिः दुराग्रहग्रहिलैः कृश्चीनमतावलम्बिभिश् च प्रवर्तिते वेदविध्वंसमये महासमरेऽस्माकं शस्त्रबान्धवाः !

दृष्ट्वा वेदस्य विध्वंसं प्रवृत्तैरश्रुबिन्दुभिः।
भवतामर्चने जाता स्रग्धरा मे करद्वयी॥

यत्किंचिदपि अद्य सभायाम् अस्याम् अहं वक्तुकामस् तेन नूनं केषाञ्चित् कोपभाजनतां गच्छेयम् इति नेदम् असम्भाव्यम्। तथापि या भवताम् अस्माकञ्च शस्त्रबन्धुत्वस्य जननी, सा वेदभक्तिरेवात्र अपराध्यति। तत्, अनेन स्नेहबन्धेन निगृहीतपाणयो न तत्रभवन्तो मय्याततधन्वानो भविष्यन्ति इति आशासे। यदि च भवन्तः कुप्यन्ति एव, तद् अर्धचन्द्रं मे दद्युः, स चार्धचन्द्रः कृकाटे वा दीयेत ललाटे वा, यदि कृकाटे दीयते, तद् अस्मिन् भवसागरे निमज्जतो मे दत्तः करावलम्ब इति कलयिष्यामि; यदि ललाटे दीयते, ततश् चन्द्र-शेखरताम् प्रपद्ये ! तद् उभयथापि न व्यर्थोऽयम् मम अर्धचन्द्र-परिग्रहार्थं समारम्भः। अस्तु। प्रकृतमनुसरामः—

बन्धवो !, माध्यन्दिनदिवाकरवद् अवितथं जाज्वल्यमानमिदं, यद् यावद् विनियोगदास्य-पाशाद् वेदस्य न मोक्षस्तावद् अस्माकम् अपि न दास्यान् मोक्षः। नैतावता मम विनियोग-वाक्य-विरोधित्वं मनागप्याशङ्क्यि; अन्यत् किमपि तत्त्वं विनियोग इति, अन्यदेव च विनियोगदास्यम्। तत्र इदं विचार्यते-'ननु कोऽयं विनियोगो नाम', तत्र अन्यत्रोपात्तानां शब्दानां वाक्यानाञ्च यथास्थान-

मुपयोगो विनियोग इति विनियोगलक्षणम् ; यथास्थानत्वञ्च विनियोज्यवाक्यानामर्थेन संवादिनि स्थाने प्रयोगरूपम्। तेन च विनियोज्यवाक्यस्य अर्थं परिज्ञाय विनियोक्त्रा स्थाने कृतोऽयं विनियोगोऽस्थाने इति शक्यते निरूपयितुम्। अस्मिन् निर्णयप्रसङ्गे विनियोज्यवाक्यानाम् अर्थनिर्णयो विनियोगवाक्यानाम् अर्थनिर्णयात् प्रागेव कर्त्तव्यः, तदनन्तरञ्च विनियोगवाक्यं तमर्थमनुवर्तते न वेति निपुणमनुसन्धेयम्। अद्यत्वे तु विपरीतमेव दरीदृश्यते।

अत्र सायण-महीधरादीनाम् अवहेलनं यदि भवति तदपि सोढव्यमेव, समराङ्गणे सकलस्याऽपि स्कन्धावारस्य रक्षार्थं राष्ट्ररक्षार्थञ्च सहस्राणाम्, अपि च परस्सहस्राणां सैनिकानां वधं शत्रौ निर्दयेन राष्ट्रे सानुक्रोशेन च मनसा सहसैवादिशन्ति सेनापतयः। तत् अस्मिन् वेदविरोधिभिस् सह सम्प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते आचार्याः पितरः पुत्राः केऽपि न मर्षणीयाः।

तत् इत्थम् वेदं विनियोगदास्यान् मोचयितुमुद्यतोऽहं सम्मुखम् आगतान् आचार्यान् प्रति सविनयम् इत्थं प्रब्रवीमि किञ्चित् परिवर्तितेन भवभूति-वचनेन :—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेव दूषयिष्यामि वेदरक्षामहाव्रतम्॥

एवं किल अर्धचन्द्रपरिग्रहाय भवतां सम्मुखे समुपस्थितोऽस्मि। स इदानीं कृकाटे वा दीयतां ललाटे वा दीयताम्, प्रमाणमत्र सदसद्-विवेकनिकषा भवन्त एव इति विरम्यते, अयञ्च निधीयते विद्वत्सन्निधौ मौलौ प्रणामाञ्जलिः।

लेख-भाषण देते समय ब्राह्मण का ब्रह्मवर्चस् झर रहा था। कुछ झुंझलाहट-मिश्रित रोष था। [illegible]-समाप्ति पर शेष रह गयी थी वक्ता के आजीवन तप की प्रतिरूप वह देशरक्षा-महाव्रत की दीपशिखा—

प्रायश्चित्तं करिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेव दूषयिष्यामि वेदरक्षामहाव्रतम्॥

हमारे क्षात्रव्रती ब्राह्मण के जीवन का महाव्रत था वेदरक्षा। वेद एवं वेदार्थ को दूषित करने वाले बड़े के बड़े पंडित से भी लोहा लेने को वे सदा तत्पर रहते थे। मैक्समूलर, ग्रिफिथ, राँथ आदि विद्वानों को वे श्रेणी में बैंच पर खड़ा किये जाने वाले विद्यार्थी मानते थे। खैर, भाषण को जब वे समाप्त कर चुके, तो महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा जी ने अध्यक्ष श्री करपात्री जी को सम्बोधित करते हुए एक समस्या ही उपस्थित कर दी कि—"**क्या वेदों में इतिहास है,** क्योंकि वेदों में इस प्रकार के नामों का उल्लेख हुआ है, जिनसे भ्रम होता है कि ये ऐतिहासिक व्यक्तियों, नगरों, नदियों के नाम हैं।" इस पर करपात्री जी ने अपना समाधान इस प्रकार प्रस्तुत दिया कि—"निस्सन्देह ये नाम ऐतिहासिक ही हैं। राम, कृष्ण, गौतम, विश्वामित्र, कश्यप, जमदग्नि, वसिष्ठ, भरद्वाज, अत्रि, पुरूरवाः, उर्वशी आदि नाम पूर्व कल्प में हुए व्यक्तियों के नाम हैं।" अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा "जो राम पूर्वकल्प में हुए थे, वे ही वर्तमान कल्प में हुये हैं, और आगे भगवती सीता पूर्वकल्प में भी उनकी पत्नी थीं, वर्तमान कल्प में भी हुईं, और भावी कल्प में भी होंगी। इसी प्रकार रावण, विभीषण,

कुम्भकर्ण आदि पूर्व कल्प के व्यक्ति वर्तमान कल्प में हुए। यह एक नित्य इतिहास है, जो प्रत्येक कल्प में घटित हुआ था, होगा और है।"

"तत्र प्रमाणम्—न तावत् मुक्ता:—अप्रत्यागता:; त इमे-इह देहे सततं कृतगृहा: सप्तर्षय: :।"

इस पर महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा कुछ कहना ही चाहते थे कि श्री करपात्री जी के दक्षिण भाग में बैठे (सम्भवत: रामानुज सम्प्रदाय के) पीठाधिपति ने सम्मेलन के सम्मुख एक और ही समस्या उपस्थित कर दी। वह यह कि—**"व्यक्ति मुक्ति से लौटता है अथवा नहीं ? मुक्ति से लौटकर और मुक्ति में न जाकर ही 'नित्य इतिहास' की सम्भावना अपि वा परीक्षा हो सकती है।"** इस पर श्री करपात्री ने इशारे-इशारे में उनको मौन कराते हुए, तथा पण्डित जी की ओर इंगित करते हुए कहा—"देखते नहीं ?, वह जान खा जायेगा !" करपात्री जी के इशारे को मौद्गल्य ने तत्काल भांप लिया और अध्यक्ष से आज्ञा मांगते हुए अनुनय की कि, यदि आप अनुमति दें तो मैं प्रस्तुत शंका का समाधान प्रस्तुत करूँ ? पण्डित जी ने सविनय कहना आरम्भ किया : "क्यों न हम वेद से ही वेदार्थ करें ? क्यों न वेद से पूछें और यह न जानें कि ये विश्वामित्रादि व्यक्ति क्या चीज़ हैं ? वे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हैं या फिर कुछ और भी ? आइये, हम भगवती श्रुति का आश्रय लें।" यजुर्वेद के १३ वें अध्याय के मन्त्र को उपस्थित करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि ये तो देहगत इन्द्रियों के नाम हैं—इन्द्रियों के सात गोलक ही तथाकथित सप्त ऋषियों के रहने का स्थान हैं : 'सप्त ऋषय: प्रतिहिता: शरीरे। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।' इस पर उपस्थित दाक्षिणात्य पण्डित हर्षित हो उठे कि "आज हम धन्य हुए ! आज पहली बार हमें वेदार्थ का रहस्य उद्घाटित हुआ !! वेद-तीर्थ में स्नान करके हम कृतकृत्य हो गये।"

'मृगपति'

गुरुदेव के उठने पर हम भी उनके पीछे-पीछे हो लिये। मैंने गुरुदेव से कहा कि आज तो ऐसा लगा था मानो सिंह ने गजयूथ में प्रवेश किया हो और वह यूथ सहम गया हो, और यूथपति ने उससे किनारा करने में ही अपनी खैर समझी हो।

तभी पण्डित-राज जगन्नाथ का एक श्लोक सुनाते हुए वे बोले—"हां, कृष्ण, घर से सोच कर तो यही चला था कि, सुना है वहाँ बड़े-बड़े दिग्गज एकत्र हैं, उनसे दो-दो हाथ करने में आनन्द आयेगा"—

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिन-गण्डा: करटिन:—
करिण्य: कारुण्यास्पदमसम-शीला: खलु मृगा:;
इदानीं लोकेऽस्मिन् अनुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपति: ?

मैं मन ही मन सोच रहा था "मेरे गुरु पण्डित-राज जगन्नाथ से क्या कम हैं ? तबियत चाहती है उन्हें पण्डित-राज कहने लगूँ।" और एक दिन वह था, और आज—उनकी अतिरात्र इस वैदिक कृति को देखकर तो उन्हें इससे भी बड़ी उपाधि देकर स्मरण करने को जी चाहता है।

[२] वह 'दोपहरी और यह अतिरात्र'

ऋग्वेद के दशों मण्डलों का अन्तर्यामी [मणि]सूत्र दरशा कर मौद्गल्य ने वैदिक अनुसंधान के क्षेत्र में एक ऐसा अपूर्व, अनुपम कार्य निष्पन्न कर दिया है कि कोई सामान्य विद्वान् तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता, फिर किस प्रकार एक मण्डल दूसरे मण्डल से, एक सूक्त दूसरे सूक्त से, यहाँ तक कि एक मन्त्र दूसरे मन्त्र से गठित है ? ग्रन्थ की समाप्ति पर उन्होंने अपने भावों को इस प्रकार एकत्र किया है : "हमने ऋग्वेद के दशों मण्डलों का, तथा तदन्तर्गत सूक्तों का मणिसूत्र संक्षेप में दिखा दिया। इससे पाश्चात्य लोगों की यह कल्पना कि ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों का निर्माण भिन्न-भिन्न कालों में हुआ भूमिसात् हो गयी। साथ ही आने वाले भाष्यकारों के लिए भी दिग्दर्शन हो गया।"

इन पंक्तियों से लेखक के **ग्रन्थ-लेखन का उद्देश्य** स्पष्ट हो रहा है : **एक** तो—पाश्चात्य लोगों की कल्पना को भूमिसात् करना; **दूसरे** भावी भाष्यकारों के लिए मार्ग प्रशस्त करना। पाठक देखेंगे कि पृष्ठ-पृष्ठ पर किस प्रकार उन्होंने अपनी स्थापना को सफलतापूर्वक निभाया है; किस ऊह और तर्क के वैधानिक थे कि वैदिक ऋचाएँ भी, मानों हाथ-जोड़े आदेश की प्रतीक्षा कर रही हों। अपने आनिषत्ता के सम्मुख अपना सम्पूर्ण रहस्य विवृत करने में दाशतयी को तनिक भी संकोच-लेश, कदापि नहीं :—'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः'।

आचार्यपाद **'संगतीकरण'** में सिद्ध-हस्त थे। यह संगति पाठक को **पञ्चयज्ञ-प्रकाश में भी** मिलेगी, **शतपथ-भाष्य** में भी। 'शतपथ' के जगड्वाली महारण्य में भी पथ खोज निकालना एक मात्र हमारे पण्डित-राज का ही कार्य था; और फिर ऋग्वेद जैसे विशाल ग्रन्थ में अन्तर्निहित संगति-सूत्र को पकड़ लेना भी उन्हीं का काम था। उन्होंने ग्रन्थ की समाप्ति पर सूत्र की ओर इंगन किया भी है कि यह **अन्तः-संगति** मात्र ऋग्वेद के मन्त्रों में ही नहीं 'वेदात् वेदान्तरं गच्छतः' तथैव **स्वतः-सिद्ध है**। दशम मण्डल का उपसंहार करते हुए १८३ वें सूक्त का विषय-प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है :—"राजा एक सद्गृहस्थ [**यजमान**] के रूप में उपस्थित होता है; और होता उसे तथा उसकी पत्नी को आशीर्वाद देता है और अपने लिए परमात्मा से आशीर्वाद मांगता है। तीनों में उत्तम सन्तान मांगी गई है।"

ऐसा नहीं कि पं० बुद्धदेव वेदों में **अन्य कक्षागत अर्थों** को नहीं समझते थे। इन अधिकृत अर्थों को **'समकक्षवाद'** नाम भी उन्हीं का दिया हुआ है, जिसे पाठक इसी ग्रन्थ की भूमिका-रूप में प्रस्तुत उनके एक स्थान पर सभापति पद से दिए गए भाषण **'वेद के सम्बन्ध में क्या जानो, क्या भूलो'** में देख सकेंगे। उसमें उन्होंने समकक्षवाद की मूल स्थापना तथा भिन्न-भिन्न कक्षागत अर्थों की मौलिक प्रथम निदर्शना भी की है।

हमारी अपनी सम्मति में वेदों में ज्ञान-विज्ञान के प्रतिपादन की शैली कुछ ऐसी है कि कर्मात्मा पुरुष के सम्मुख किसी भी निर्माण का अवसर आने पर **दो आदर्श** स्वतः उपस्थित हो आते हैं—एक **ब्रह्माण्ड** का, दूसरा **पिण्ड** का। ऐसी अवस्था में अध्येता को लगता है कि कहीं प्रसंग टूट गया है, वास्तव में तथ्य कुछ और ही होता है। वह यह कि हमारी अपनी ही उपेक्षा से वह अन्तः सूत्र

छूट गया होता है जो सारी अर्थव्यवस्था को अपने में ग्रथित किये था। उदाहरणतः—यदि राष्ट्राध्यक्ष को सेनानियन्त्रण की विधि समझनी इष्ट हो तो उसे पिण्डगत रक्तवाहिनी की उपमा देकर अथवा ब्रह्माण्डगत [द्युलोकस्थ] गंगा आदि वाहिनियों की उपमा देकर अथवा ब्रह्माण्ड में भी हमारे इस एक देश पृथ्वी पर पर्वतों से निकलती पयोवाहिनियों की उपमा देकर अपने अभिप्राय को स्पष्ट करना होगा (नान्यः पन्था विद्यते अयनाय)! ऐसी अवस्था में यदि स्व-स्व क्षेत्र के अध्येता को विभिन्न सूत्र टूटते नजर आएँ तो उसे प्रथम उन सूत्रों को पुनः हस्तगत करना होगा। आयुर्वेद का परिज्ञाता विद्वान् शरीरगत रक्तवाहिनियों का संकेत पा जिस स्थल में आयुर्वैदिक विज्ञान हृद्गत करेगा (उसी स्थल से) कोई ज्योतिर्विद् असम्भव नहीं, द्युलोकस्थ आकाश-गंगा आदि का संकेत पा ले और पृथ्वीस्थ वाहिनियों की संज्ञाएँ गंगा आदि का साक्षात् कर कोई भौगोलिक यहाँ ऐतिहासिक पक्ष का समर्थन अनुभव करे। **इन सब अनुभवों में कोई एक संगति-सूत्र तभी बैठाया जा सकता है जब कि, विभिन्न कक्षागत अर्थों को देखकर उनमें राष्ट्र-कक्षा-परक अर्थ भी स्पष्ट कर दिये जायें।**

उदाहरणार्थ-ऋग्वेद की एक प्रसिद्ध ऋचा (४.५८.३) है:

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

मन्त्र के व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी धीति—रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न कक्षाओं में इसका अर्थ दिखाया है। यथा-भाष्यकार पतञ्जलि ने इसे (१) शब्दरूपी वृषभ मानकर इसमें नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातरूप चार सींग, पुरुषरूप तीन चरण, कर्ता कर्म-आदि कारक-विभक्तिरूप सात हाथ मानकर इसकी व्याख्या की है। (२) आचार्य यास्क ने इसी का सूर्य-परक अर्थ दिखाया है। और हमारे मणिसूत्रकार ने इसका अर्थ—आचार्य अनन्तानन्द का आभार स्वीकार करते हुए—ऋचा की हृद्यता ऋचा के एवं सूक्त के (३) हृदय-परक अर्थ में ही मानी है। इस अर्थ-स्वीकार का उनका आधार त्रिविध है—(१) वृषभ संज्ञा (२) 'रोरवीति' क्रिया पद; (३) कर्ता वृषभ से सम्बद्ध विधेय पदावली 'मर्त्यान् आविवेश'। वृषभ का संकेत उसकी वर्षण-शीलता की ओर है; रोरवीति उसके प्रतिक्षण 'अनाहत' अविनशन शब्द का द्योतक है; तो **मर्त्यान् आविवेश** उसका मर्त्यों में सामान्यरूप से आविष्ट होना- ये तीनों लक्षण शरीर के मध्य देश [हृदयस्थल] में ही **एक साथ** घटित होते हैं, **(अन्यत्र नहीं)**। शरीर से अन्तर्वाहिनियों द्वारा आये अशुद्ध रक्त का अहर्निश शुद्ध करके पुनः उस भूमि में अनुपराम प्रतिवर्षण-वही कुछ तो हृदय का एकमेव नित्य इतिकृत्य है। और एक मन्द-ध्वनि भी, साथ-साथ, यह हमारा हृदय—मानो अपने कर्त्तव्य-पालन का इतिहास अंकित करते हुए—करता रहता है (जिसे स्टेथोस्कोप की सहायता से साधारण जन भी बखूबी—सुन सकते हैं) स्वामी जी का कहना है कि हृदय के उदाहरण से, इस प्रकार, दंडाध्यक्ष को यह समझाया गया है कि वह राष्ट्र-शरीर के मध्य हृदयवत् विराजमान रहे और राष्ट्र-कोष में आये कृष्ण धन को श्वेत धन बनाकर प्रजाहित में पुनः प्रति-प्रयुक्त कर दे। वह पीड़ितों की विनती को निरन्तर सुने और उन्हें सांत्वना के शब्द सुनाता रहे। जिस प्रकार हृदय-संस्थान प्रत्येक मर्त्य में विद्यमान रहता है, तद्वत् सेनानी भी अपने अधीन सैनिकों के हृद्-देश में सदा विद्यमान रहे—उसकी सेवा में आने वाली सेनाएँ प्रजाभिमुख होकर अन्यान्य क्षेत्रों में अपने-अपने कार्य पर आती-जाती रहें।

सामान्यतः स्वीकृत—परम्परा के विरुद्ध—[?]—मणिसूत्र में मौद्गल्य ने जिस अर्थ को आधार मानकर यह स्थापना उपस्थित की है, उसे प्राचीनता के परिवेश में संगत विठाना सम्भवतः कठिन हो। समर्पणानन्दीय इस समकक्षवाद-दृष्टि ने केवल—आधुनिक परिवेश में [तदेतत् नरराष्ट्रम् इव, यास्क] अधिराष्ट्र दृष्टि को यथोचित अवसर दिया है; सो, आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक दृष्टियों के रहते भी, उनकी इस मौलिक दृष्टि का जरा भी अनौचित्य नहीं। हमारी तुच्छ बुद्धि में इसके अतिरिक्त, पिंड को अभिलक्ष्य करके किया गया अर्थ आध्यात्मिक है; और ब्रह्माण्ड को अभिलक्ष्य करके किया गया अर्थ आधिदैविक। पुनः, इसी प्रकार, 'भूत' शब्द का अर्थ यदि पंचभूत सर्व-अभिमत है, तो आधिभौतिक क्षेत्र वह क्षेत्र होगा—यही हमारा शरीर—जहाँ पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों की परस्पर—सम्मितता स्वतः—प्रमाणित है। (क्योंकि पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की मूल रचना का कारण यह पंचभूत ही हैं)। पुनः, आधिभौतिक अर्थ जिस प्रकार पिंड एवं ब्रह्माण्ड-गत अर्थों को अपने उदर मे समेटे हैं, तद्वत्—'आध्यात्मिक' अर्थ भी अपने उदर में उन्हीं पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों के स्वामी आत्म-द्वय को समेटे है। दर्शनकार के 'आत्मा द्विविधः—आत्मा परमात्मा चेति' प्रमाण-वचन के अनुसार भी आत्मा-परमात्मा के विषय में किया गया कोई भी संगत अर्थ आध्यात्मिक कहलायेगा। पुनः उन दोनों चेतन सत्ताओं के संस्पर्श से पिण्ड और ब्रह्माण्ड के कारण पृथिव्यादि पंच भूत (१) पिण्ड में चक्षु-श्रोत्रादि देवों का रूप धारण कर लेंगे और (२) ब्रह्माण्ड में सूर्यचन्द्रादि देवों का। तब पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड-गत देवों को अभिलक्ष्य करके किया गया अर्थ आधिदैविक कहलायेगा। यह त्रिविध अर्थ-ग्रहण और उसका आधार, हस्तामलकवत्, 'प्रकृती' (द्वे प्रकृती वेदितव्ये) में नित्य प्रत्यक्ष है [नित्य अनुपरीक्ष्य है] जिसके निर्माण अन्वाचरण का मूलस्रोत-सूत्र भी तो अन्ततः कोई सर्वातिशायी सत्ता है।

[३] भाष्य-शेषः 'अधिराष्ट्र' की दृष्टि

++अब—प्रश्न बच रहता है तो—वैदिक। दयानन्दी अनादित्रयी में 'कर्मात्मा' पुरुष [जीव] के अन्तर्यमन में राष्ट्र अपि वा समाज के स्वतो विकास का। मनुष्य और उसके [लिए ?] निर्मित समाज को उस समाधि—व्यवस्था—कल्पना की अत्यन्त आवश्यकता है। समाज अपि वा राष्ट्र का निर्माण भी तो, अन्ततः आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक अनुनिर्माण पर ही निर्भर करता है; अतः इन तीन परम्परागत अर्थों की लीक से कुछ हटते हुए राष्ट्र अपि वा समाज-परक अर्थ दिखाना ही वर्तमान आयाम नितान्त समीचीन था। तदनुसार ऋग्वेद के सूत्रों एवं मन्त्रों के सम्बन्ध में किये गये वर्तमान प्रयत्न की संज्ञा हमारी परिभाषा में 'अधिराष्ट्र' कहलायेगी। यह कर्त्तव्य शेष ही, यह भाष्य शेष ही आचार्य ने अपने जीवन के अन्तिम चरण में हाथ में लिया था और परिणाम सामने है, दिङ्मात्रेण—(i-e) दण्डाध्यक्ष के कार्यालय का रूप समझना है तो मनुष्य के शरीर में हृदय को देखो—समुद्राद् ऊर्मिर् मधुमान् उदारत्—

उपांशुनाः हृदयरूपी समुद्र से एक फव्वारा फूट पड़ा!—

जिसने टूटने-फूटने वाले अंशों को अपनी किरणों-उपकिरणों से अमृतत्व प्रदान कर दिया! मनुष्य की त्वचा में, विशेषकर चेहरे पर जो दीप्ति नजर आती है—उसका गुप्त नाम मधु है (जो रुधिर-रूप में हृदय से उठता है)। यह मधुमय नहर शरीर के अन्दर रहने वाले करोड़ों संसिच् (cells) नामक देवों की जिह्वा है जिससे रस पाकर वे अमर हो जाते हैं। मानव-शरीर के अमृतत्व

की नाभि (अर्थात् केन्द्र) यह हमारा हृदय ही है : अर्थात्—जब तक हृदय काम करता रहता है, तब तक शरीर नहीं मरता; इसी प्रकार—राष्ट्र के अमृतत्व का केन्द्र **दण्डाध्यक्ष** का कार्यालय है : जब तक दण्डाध्यक्ष का कार्यालय काम करता है, राष्ट्र नहीं मरता। (पृष्ठ १०६)

\+ \+ \+

(i)

इस 'यज्ञ' का दूसरा रूप 'शब्द' 'ब्रह्म है— जिसकी एक व्याख्या भगवान् पतंजलि मुनि ने व्याकरण महाभाष्य में की है : किन्तु परमात्मा ने अपनी सृष्टि में उसका हेतु, निर्देशवत्, मानव-देह में (अथवा प्राणिमात्र की देह में) सदा के लिए रख छोड़ा है जिसे हृदय कहते हैं। उसकी वैदिक संज्ञा वृषभ—ऋषभ है। मनुष्य जब तक जीवित है यह अविराम मानव-देह की कहानी सुनाता रहता है और अपने **उत्स** से वर्षा कर, उसे निरन्तर लहलहाता रहता है जिसे आयुर्विज्ञान-विद् स्टेथोस्कोप द्वारा सुनते और समझते हैं। हृद्देश से शब्द-ब्रह्म की इस नित्य स्पन्दता का उप वर्णन दाशतयी में इस प्रकार हुआ है : **चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।** यह बैल कौन है ? वही महान् शब्द-ब्रह्म का अधिदेव ही तो जो प्राणि-मात्र के अन्तः-पुर में नित्य-एकान्त साधे है ! (१०७)

\+ \+ \+

(ii)

ये सैनिक रुद्र के अनुशासन में भले ही हों, परन्तु 'हे इन्द्र, पूजा ये तेरी ही करते हैं : **अर्चन्ति त्वा मरुतः** ! तू वृत्रासुर को मारता है और लम्बी **अपः=सेनाएं** रखता है : **यद्वीर् अपो असृजः, अहिं हन्** !

यहां, प्रकरण-बल से, **अपः** का अर्थ सैनिक ही करना पड़ेगा, क्योंकि **मरुतः** का अर्थ प्रकरण में, सैनिक पूर्व-निश्चित है; और मुख्य लड़ाई यहां दस्युओं से है। (११७)

अतश्चिद् इन्द्राद् उभयत्र देवाः (५ ३०.५)—ब्रह्माण्ड में परमात्मा, और सौरचक्र में सूर्य, राष्ट्र में राजा, शरीर में जीवात्मा, और परिवार में यजमान [स्त्री] सब अपने-अपने क्षेत्र के इन्द्र हैं। (११८)

\+ \+ \+

(iii)

[मण्डल ५ में] ५२-६२ तक तो हैं ही मरुतों के सूक्त। ५३ वें सूक्त में **रसा, अनतिभा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु आदि** का मरुत्-सूक्त में आना ही स्पष्ट कर रहा है कि ये **सेनाएं हैं**, नदियां नहीं। यही 'नदियां' [आगे चल कर] १० ७५ में भी आई हैं (देखो हमारा '**सप्त-सिन्धु-सूक्त**')। प्रस्तुत सूक्त में सैनिकों को उपदेश है कि वे प्रतिदिन उषा से यह सीखें कि जैसे उषा हमें जगाने आती है, वैसे ही, सेनाओं को भी माता-पृथ्वी का प्रबोधन करना चाहिए और कि, उषा की ही तरह वे सभी पृथ्वी-पुत्रों को [दिवि मरुतों को] [एक संक्रान्ति-सी के साथ] उल्लास से भर दें:—'प्रयुञ्जती दिव एति ब्रुवाणा मही **माता दुहितर् बोधयन्ती**। आ विवासन्ती युवतिर् मनीषा पितृभ्य आ सदने जोहुवाना ॥' (१२८)

\+ \+ \+

सूर्य भी हर रोज यही सिखाने के लिए उदित होता है कि जिस प्रकार सूर्य बारी-बारी से धरती के दोनों अंगों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार, तुम भी युवा के हर अन्धकारयुक्त मन में

प्रकाश पहुँचाओ। जिस प्रकार प्रभात, दिन, संध्या तथा रात्रि-चारों मिल कर धरती को बसा रहे हैं, उसी प्रकार :—**प्रभात-सूर्य-सदृश ब्राह्मण, मध्याह्न-सूर्य-सदृश क्षत्रिय, सायं-सूर्य-सदृश वैश्य, और रात्रि-सूर्य-सदृश शूद्र** —आ ब्रह्मन्-संसार को विश्रान्तिदायक हों। दशों दिशाएँ जिस प्रकार सूर्य से प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार ये विश्व-सेनाएँ भी, राष्ट्र के सूर्य को सेना-नियन्त्रण के अधिष्ठाता को—केन्द्र मानकर, उसके शासन का पालन करें जिससे राज्य के वैभव की वृद्धि, शत्रुओं का क्षय, तथा सुख की स्थिति यथावत् बनी रहे। यही राजनीति के तीन धातु हैं :—**क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रि-वर्गो नीतिवेदिनाम्।**

चत्वार ईं विभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धारयन्ते।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश् चरन्ति परि सद्यो अन्तान्॥

यह शरीर इन सब का निदर्शन है। पैर, धड़, बाहु तथा शिर :—ये चारों प्राण-रूपी सूर्य को [सु-अवस्थित] धारण कर रहे हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय, इस के संचरण का क्षेत्र हैं; और इसे गर्भवत् पालती हैं। विरोधी मल का क्षय, विसर्जन, नष्ट प्राण की वृद्धि तथा शरीर-बल की स्थिति-ये तीनों इस शरीर में दिन-रात स्वधर्मणा हो रहे हैं। यही नियम राष्ट्र-शरीर में भी जानना चाहिये।

इदं वपुर् निवचनम्-जनासश् चरन्ति यत् नद्यस् तस्थुर् आपः।
द्वे यत् ईं विभ्रतो मातुर् अन्ये इहेह जाते यम्या स्रवन्तु॥ (१२६)

\+ \+ \+

[४] मणिसूत्र का शास्त्रीय अनुसूत्र

यास्क की निर्वचनीय दृष्टि **'तद् एतत् नरराष्ट्रमित्र'** तक पहुँच पायी थी; मौद्गल्य की **निवचनी : समर्पणी-दृष्टि** अपने लिए मूल वेद से ही वाञ्छित समर्थना—अभिप्रेरणा उद्धृत कर लायी—**'इदं वपुर् निवचनम्'** [किन्तु आचार्य की अधिराष्ट्री दृष्टि का सर्वथा परित्याग करते हुए नहीं, उसके साथ प्रत्युत अनुसंगति बिठाते हुए ही]। ऋषि की इस **अधिराष्ट्री+अधिवपुषी अन्त-र्दृष्टि** का राज क्या था ?—सूत्र के भी सूत्र को ढूंढ निकालने का यह नित्य-अभियोग, यह अपश्चिम अभिनिवेश, उसने कहाँ से और कैसे पाया था ?

सप्तसिन्धु-सूक्त के प्रसंग में कभी स्वयं आत्मोद्घाटन करते हुए, वर्षों पूर्व हमें बताया था कि 'किसी दुरूह स्थल के तात्पर्य को अधिगत करने के लिए सर्व प्रथम उसके **प्रसंग** को भाँपो। कृष्ण ! मीमांसा का वह मूल सिद्धान्त है—**वाक्य—संदर्भ में सप्तमी विभक्ति** को हाथ से हरगिज़-हरगिज़ न छूटने देना। ऋग्वेद १०.७५ का वह संकेतक पद है :—**आजो**—'**युद्ध में**'।

मणिसूत्र में, बीस वर्ष अनन्तर, उनकी यह साधन-सम्पद् मात्र सप्तमी तक परिसीमित नहीं रह गयी थी। "क्यों, इष्। रयि। कवि। वसिष्ठाः। उर्वशीः। **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** की **आवृत्ति** का क्षेत्र-मण्डल सर्वथा पूर्व-निर्धारित प्रतीत होता है ? इस आवर्तन—**अभ्यास** का क्या कुछ भी अपना अभिप्रेत नहीं, सहायक निर्देश नहीं, बोधक इंगित नहीं ?" **शास्त्र-दृष्टि** की उपेक्षा करके कल्पना की बे-सिर-पैर उड़ान भरना मौद्गल्य की प्रकृति में नहीं था—

विज्ञान का एक सुविज्ञात सिद्धान्त है—गुरुत्वाकर्षण। पहले पहल गैलीलियो को यह एहसास हुआ था कि हर वस्तु-वह भले रुई की तरह हलकी-फुलकी हो, भले ही लोहे-पारे जैसी भारी भरकम, एक ही ऊंचाई से छोड़े जाने पर धरती पर एक साथ ही आयेगी। कुछ वर्ष पश्चात् न्यूटन ने, इसका किंचिद् विस्तार करते हुए, ग्रह-नक्षत्रों की नित्य-नियमित स्थिति—गतिविधि की प्रत्यक्षानुमत व्याख्या गुरुत्वाकर्षण के आधार पर कर दिखाई। प्रायः तीन सदियाँ बीत गईं, न्यूटन का सिद्धान्त भौतिकी की आधारशिला बने रहने के पश्चात् कुछेक प्रत्यक्षों की व्याख्या करने में असफल रहने लगा। आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद ने आकर इन त्रुटियों को पूरा किया।

भारतीयदर्शन-परम्परा में आइन्स्टाइन के सिद्धान्त की भांति ही एक व्यापक नियम कात्यायन की देन है :—

उपक्रमोपसंहारौ (१-२) अभ्यासो (३) ऽपूर्वता (४) फलम् (५)।
अर्थवादोपपत्तिश्च (६)-लिंग-तात्पर्यनिर्णये ॥

सत्य का, पहले-पहल, हमेशा आभास (उपसंहार,) हुआ करता है। उसे हम शब्दों में बांधने का प्रयत्न करते हैं (उपक्रम, १)। आवश्यक नहीं कि हमारी यह प्रथम दृष्टि (संहार: Lova at first light. : evreka) और हमारा उसे बूझने का यह प्रथम प्रयास (क्रम १) सही हों-कमसे कम 'उप' का संकेत (यही कुछ) स्पष्ट है। 'कदम-कदम पर अब हमारे सिद्धान्त की परीक्षा खुद ब खुद होती चलेगी—इस पौनः-पुन्य से, इस वीप्सा 'अभ्यास' (३) से बचा नहीं जा सकता। हो सकता है कुछ नये तथ्य सामने आयें—जिन्हें हम सत्य की इस पहली झलक में नज़रन्दाज़ कर गये हों :—अपूर्वता (४) :—जिसकी छाया में—जिसकी कसौटी में—हमारे सिद्धान्त के शब्द-प्रस्ताव में परिणामतः, कुछ परिवर्तन अब अपरिहेय हो जाता है। पदात् पद इस विकसमान निर्णय के **अन्तिम रूप** को हम फल (५) कहते हैं। अन्त में—(६) [क]—इस फलीभूत अन्तिम निर्णय की हम अपने अनुभवों के सम्पूर्ण इतिहास-क्रम में, एक बार फिर परीक्षा करते हैं :—कहीं उस पहली झलक में और इस अन्तिम निर्णय वाक्य (अर्थवाद-२) में दोनों के बीच कुछ विसंगति, कुछ विप्रतिपत्ति तो नहीं रह गई ? [ख] और क्या—यदि हम अपने इस सिद्धान्त का प्रयोग अपने अभ्यस्त (प्रथम) क्षेत्र से बाहर निकल कर कुछ व्यापक पैमाने पर करना शुरू करते हैं, उस क्षेत्र-विस्तार (अर्थवाद-२) में भी उसकी उपपत्ति तथैव बनी रहती है।

जहाँ तक, स्वामीजी के साथ वर्षों के निकट सम्पर्क के आधार पर हम उन्हें पहचान पाये हैं : 'मणिसूत्र' का बीज उनके अन्तःकरण में तभी पड़ चुका था जब सर्व-प्रथम, 'शर्यणावति सोमम् इन्द्रः पिबतु वृत्रहा बलं दधान आत्मनि' का पाठ करते ही ऋषि-छाया उनके अन्तर्मय में सहसा कौंध गई थी। सोम और मरुत् का, हमारा तो विचार है खुद सप्त सिन्धवः का भी साक्षात् उन्हें उसी क्षण हो चुका था—अर्थात् वर्णाश्रम-मर्यादा और आदित्य ब्रह्मचारी की वेदोत्तर स्थिति की क्रान्तदृष्टि उन्हें तभी मिल चुकी थी। मणिसूत्र में मण्डल-९ के उसी उपक्रमोपसंहारौ (१-२) की आत्मकथा के अतिरिक्त और क्या है ? जीवन के ६० वर्ष उसी प्रथम अनुभूति के समर्थन में पुनः-पुनः प्रमाणोपलब्धि प्रतीक पदों के अभ्यासवर्ती अभ्यासरूप (३) ऋषि-दृष्टि को प्रमाणित भी करती गई, ऋषि का

अपना कार्य क्षेत्र (एक मिशनरी योद्धा का) और भी जोर के साथ निर्धारित करती गई :—क्यों, पुष्टिवर्द्धन, रयिवित्, प्रचेता:, मरुत:, पवमान का प्रयोग एक विशिष्ट मण्डल के अतिरिक्त सारे वेद में कहीं और नहीं होता ? [क्या यह पदाभ्यास वह लिंग नहीं जो वेद-तात्पर्य-निर्णय में स्वत: प्रमाण हों ? और ये विशेषण भी क्यों अन्तत: अग्नि के ही नामोद्घाटन में पर्यवसित हो जाते हैं : अग्नि-मघवत्तम है, शचीपति है, पवमान है ।], अग्नि का पदे-पदे कोई अपूर्व रूप ही सामने आता है; और क्यों न आये—सारे ऋग्वेद वा 'एक एव ऋषि' भी तो पुरोहित पद से ही होता है जिसको वे उसी क्षण 'उपक्रमोपसंहारौ' एक साथ ले लेते हैं—और फल को एक कदम और आगे ले जाते हैं—'ऋग्यजुषी'-की परस्पर अन्विति में जैसे दैवी व्यवस्था की भूमा को वे पृथ्वी के स्वयंवरण में हम पार्थिवों के प्रतिबोध में अनुकृतिमय अवतरित होता देख रहे थे । स्वयं 'अनु' की अभ्यावृत्ति उसके समर्थन में और प्रबल प्रमाण क्या दे सकती है ?

अर्थात्—एक अधिराष्ट्र कक्षा में ही सही-उनकी स्थापना कात्यायनी शास्त्रीय परीक्षा पर भी पूर्णत: खरी उतरती है । बाकी क्षेत्रों में भी उनका समकक्षवाद उनका साथ नहीं छोड़ेगा—इसके संकेतमात्र ही मणिसूत्र मे छोड़े जा सकते थे कि उन अनुसूत्रों के सहारे संहिताओं के विषय में यह अनु-सं-हिति एक अखण्ड सत्रवत् निरन्तर चलती रहे । आने वाली पीढ़ियों के लिए एक 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' की ब्रह्मदाय और हो भी क्या सकती थी ।

☐ दीक्षानन्द सरस्वती

———

"सूत्र" : एक दृष्टि में

समादरणीय स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में एक अभूतपूर्व ग्रन्थ की रचना की जो उनके देहावसान के बाद प्रकाशित हो रहा है। यह ग्रन्थ स्वामी जी के विस्तृत अध्ययन और परिश्रम का फल है। ऋग्वेद संहिता उस ईश्वरीय ज्ञान का एक अंग है, जो मानव-सृष्टि के आदि में भूमण्डल के इस परम विचित्र प्राणी को मिला जिसे हम मनुष्य कहते हैं। प्रभु ने अपनी अभिव्यक्ति सृष्टि और श्रुति के रूप में की। सृष्टि और श्रुति का सामञ्जस्य इस बात का प्रमाण है कि जो सत्ता सृष्टि की रचयिता है, वही श्रुति की भी आदि प्रेरिका है। जिस ब्रह्म की जिज्ञासा के सम्बन्ध में वेदांत के आचार्य ने "जन्माद्यस्य यतः" कहा है, उसी के सम्बन्ध में "शास्त्रयोनित्वात्" भी। अतः स्पष्ट है कि श्रुति और सृष्टि में सामञ्जस्य होना ही चाहिए, विरोध नहीं, सृष्टि-रचना का भी प्रयोजन है, और श्रुति के आविर्भाव का भी। प्रयोजन में थोड़ा सा अंतर भी है, सृष्टि-रचना का प्रयोजन केवल मनुष्य के लिए नहीं, समस्त प्राणियों के लिए है—संहत परार्थत्वात् (सांख्य), छोटे-छोटे से कीट पतंगों से लेकर भीमकाय जन्तु तक सभी के लिए यह सृष्टि है। सबका प्रयोजन इस एक सृष्टि से ही सिद्ध हो जाता है, ऐसा प्रतीत होता है। श्रुति केवल धरती के मनुष्य कहलाने वाले प्राणी के लिए है। अतः श्रुति का क्षेत्र मनुष्य तक ही सीमित है।

एक अन्य दृष्टि-कोण भी है। कर्मफल-सिद्धांत के अनुसार, और आवागमन और पुनर्जन्म के तत्त्व-ज्ञान के आधार पर मनुष्य का सम्बन्ध अन्य योनियों से भी स्थापित हो जाता है, और इस रूप में वैदिक तत्त्व ज्ञान मनुष्य को प्राणिमात्र से सम्बन्धित कर देता हैं। कर्मयोनि-प्रधान होने के कारण मनुष्य का उत्तरदायित्व और अधिकार-क्षेत्र अति विस्तृत है और इस बात में वह अन्य जीवों से भिन्न है। प्रभु की कृपा से मनुष्य को श्रुति के रूप में ज्ञान की विशिष्ट उपलब्धि हुई और अन्य जीवधारियों को भोग-योनि-प्रधान की दृष्टि से भिन्न प्रकार का भिन्न प्रक्रिया से ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ।

ऋग्वेद में दस हजार से ऊपर मन्त्रों की संख्या है, और जिन्हें दो पद्धतियों में **संहितीकृत** किया गया है—**मण्डलों** में और अष्टकों में, यह कहना कठिन है कि दोनों पद्धतियों में से कौनसी अधिक पुरानी है, और कौनसी (तारतम्य में) नयी। कुछ आचार्यों को दश-मण्डल वाला संहितीकरण सुविधाजनक प्रतीत होता हैं, और कुछ को अष्टकों वाला। सायणाचार्य और दयानन्द दोनों पद्धतियों का अनुकरण करते चलते हैं। प्रोफेसर एच. एच. विलसन ने अपने अंग्रेजी अनुवाद में मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मंत्र इस क्रम-पद्धति में मंत्रों के संहितीकरण को प्रधानता दी, पर ग्रीफिथ ने मण्डल, सूक्त और मंत्र, इस क्रम-पद्धति का अनुसरण किया। अधिकांश विद्वानों को आजकल मण्डल, सूक्त और मंत्र-संख्या इन तीन के पदों में उद्धरण देने में सरलता होती है।

ऋग्वेद-सम्बन्धी अध्ययन की अनेक शैलियां है जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से वेद की ऋचाओं के साथ देवता, ऋषि और छन्द भी दे देने की पद्धति रही है। ऋग्वेद के अध्ययन में ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों से भी सहायता मिलती है। ऐतरेय और कौषीतकि ऋग्वेद के दो पद्धति ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद की शाखा के अन्य भी अनेक ग्रन्थ रहे हैं जो ऋग्वेद के तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में एकांगी ज्ञान प्रदान करते हैं। ऐतरेय उपनिषद् भी इस सम्बन्ध में एक अति महत्त्वपूर्ण रचना है।

स्वामी दयानन्द की गणना के अनुसार ऋग्वेद के दश मण्डलों में १०२८ सूक्त और १०५२१ (अथवा १०५४२) मंत्र हैं। अष्टकों के वर्गीकरण में ऋग्वेद में ५१७ अष्टक हैं, जिनमें वर्गों की संख्या क्रमशः २६५, २२१, २२५, २५०, २३८, ३३१, २४८ और २४६ है,—अर्थात् समस्त ऋग्वेद में २०२४ वर्ग हैं। प्रत्येक अष्टक में ८ अध्याय हैं। इस प्रकार ऋग्वेद में ८ अष्टक, ६४ अध्याय, २०२४ वर्ग और १०५८९ (या १०५४२ या १०५२१) मंत्र हैं।

मण्डलों में अनुवाकों का विभाजन इस प्रकार है—

मण्डल		अनुवाक		सूक्त		मन्त्र
१	....	२४	....	१९१	....	१९७६
२	....	४	....	४३	....	४२९
३	....	५	....	६२	....	६१९
४	....	५	....	५८	....	५८९
५	....	६	....	८९	....	६२९
६	....	६	....	७५	....	७६५
७	....	६	....	१०४	....	८४१
८	....	१०	....	१०३	....	१७८६
९	....	९	....	११४	....	१०९७
१०	....	१२	....	१९१	....	१७५४
योग		८७		१०२८	....	१०५२१

दूसरी गणना के अनुसार सप्तम मण्डल में ८५१ मंत्र हैं और नवम मण्डल में ११०८ मंत्र हैं, इस प्रकार २१ मंत्रों की गणना अधिक होने से मंत्रों की पूर्ण संख्या १०५४२ ठहरती है। ऋग्वेद में मंत्रों की संख्या कितनी है, इसकी विवेचना अनेक लेखकों ने की है जिसके विवाद में पड़ना आवश्यक नहीं।

ऋग्वेद के देवताओं का परिचय तीन प्रकार के ग्रन्थों से विशेष मिलता है—(१) यास्क के निरुक्त से; (२) शौनक-रचित बृहद्देवता से; (३) कात्यायन की सर्वानुकमणी से। प्रो. ए. ए. मैक्डानल का विचार है कि बृहद्देवता की रचना यास्क के निरुक्त के बाद की है, किन्तु कात्यायन-की सर्वानुक्रमणी से पूर्व की। ये तीनों ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी के पूर्व के हैं। कात्यायन-रचित एक वाजसनेयी अनुक्रमणी भी है जो वाजसनेयी यजुर्वेद संहिता से सम्बन्ध रखती है।

षड्गुरुशिष्य ने एक और ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसका नाम देवतानुक्रमणी है और जो सम्भवतः बृहद्देवता के समान्तर ही कोई ग्रन्थ था, पर अब पूरा नहीं मिलता।

ऋग्वेद में आठ अष्टक हैं। बृहद्देवता ग्रन्थ में ऋग्वेद के मंत्रों की देवता-सूची भी है और साथ-साथ इसमें उन आख्यायिकाओं का भी संकलन कर दिया गया है जो कालांतर में मंत्रों के आधार पर प्रचलित हो गयीं। इस प्रकार वेद न केवल हमारे विशुद्ध ज्ञान का आधारभूत ग्रन्थ बना, अपि तु आख्यायिकाओं का भी आदि स्रोत वन गया। ये आख्यायिकायें ही आगे चलकर पौराणिकता में भी परिणत हो गयीं। स्पष्ट है कि मूल वेद में इतिहास न था; वैदिक शब्द अपने विशुद्ध यौगिक और योगरुढि के अभिप्रायों के द्योतक थे; किन्तु बाद के आख्यायिका-साहित्य में इन शब्दों को प्रतीक मानकर साहित्य में उचित और अनुचित दोनों प्रकार की कथाओं का समावेश हुआ। जिन मंत्रों में इतिहास की कोई कल्पना भी न थी, वही कल्पनाओं और गाथाओं के भी स्रोत वन गए।

प्रो. ए. ए. मैक्डानल ने बृहद्देवता ग्रन्थ का परिश्रम से सम्पादन किया और अंत में कितने ही परिशिष्ट भी जोड़ दिये हैं: (१) बृहद्देवता में उद्धृत वैदिक प्रतीक; (२) बृहद्देवता में प्रयुक्त ग्रन्थों एवं आचार्यों के नाम, जैसे अध्वर्यवः, आश्वलायन, ऐतर, ऐतरेयक, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौषीतकि, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, छन्दोगाः, निदान, नैरुक्ताः, बाष्कलाः, ब्राह्मण, भगुरि, भाल्लवि ब्राह्मण, भाल्लवेयी श्रुतिः, मधुक, माठर, मुद्गल, मुद्गलभार्म्यश्व, मैत्रायणीयक, यास्क, रथीतर, राथीतर, लामकायन (लोमकायन, रोमकायन), शाकटायन, शाकपूणि, शाण्डिल्य, शौनक और श्वेतकेतु; (३) ऋग्वेद के मंत्रों या सूक्तों के देवताओं (यह भी अंकित करते हुए कि सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में कहां-कहां अन्तर है) की सूची (४) चार खिलसूक्तों की सूची (५) बृहद्देवता में दिये गये कथानकों की सूची; (६) विभिन्न ग्रन्थों में बृहद्देवता से लिये गये उद्धरण; (७) वैदिक/संस्कृत वाङ्मय (नैघण्टुक, निरुक्त, आर्षानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, ऋग्विधान, सर्वानुक्रमणी, कात्यायन की वाजसनेयी संहिता की सर्वानुक्रमणी, भगवद्गीता, और हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि) में बृहद्देवता से उद्धृत समान वाक्य।

"बृहद्देवता में देवता-ज्ञान की महिमा को प्रधानता दी गयी है। निरुक्त के आधार पर भी मन्त्रों के अर्थ-निर्णय में देवता का ज्ञान आवश्यक है और अनिवार्य माना गया है: देवताओं के ज्ञान के लिए योग, दक्षता, दम, बुद्धि, बाहुश्रुत्य, तप और नियोग (विनियोग) आवश्यक है। जो व्यक्ति ऋचाओं को जानता है, वह देवों को जानता है, जो यजुओं को जानता है वह यज्ञ को समझ पाता है और जो सामों को जानता है वह तत्त्वज्ञानी होता है"।[1]

"जो देवता को जानकर कर्म में प्रयुक्त होता है, वह आहुतियों का आनन्द लेता है, जो

---

१. योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवता या ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्॥
यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञान् सामानि यो वेद स वेद तत्त्वम्॥ (८।१३०)

देवताओं को नहीं जानता वह इस आनन्द से वर्जित रहता है।"[1]

"जप और होम में परमावश्यक है कि मनुष्य मन्त्रों के ऋषि, छन्द और देवता तीनों से परिचित हो। इसके ग़लत प्रयोग से ठीक फल नहीं मिलता।"[2]

वृहद्देवता ने इस बात का प्रारम्भ में ही उल्लेख किया है कि ऋग्वेद के सूक्त तीन प्रकार के हैं—

ऋषि-सूक्त—(जिस सूक्त के सब मन्त्रों का एक ही ऋषि हो),

अर्थ-सूक्त—(जिस सूक्त के सब मन्त्रों का अर्थ या विषय एक ही हो) और

छन्दः-सूक्त—(जिस सूक्त के सब मन्त्रों का छन्द एक ही हो)[3]

यास्क के समान शौनक का भी मत है कि वेद में समस्त नाम (संज्ञायें) कर्म से व्युत्पन्न हुए हैं (आशी, रूप और वाच्य—तीन ही कर्म से व्युत्पाद्य हैं—दूसरे शब्दों में नाम आख्यातज हैं):

सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः।
आशी रूपं च वाच्यं च सर्वं भवति कर्मतः॥ (१.२७)

यही नहीं, जो शब्द **यदृच्छयोवसन** से अथवा **अमुष्यायण** से उद्भूत होते हैं, वे भी वस्तुतः कर्म से सम्बन्धित हैं। (१।२५, २८, ३०)।

मन्त्रों में क्या है, इसके सम्बन्ध में वृहद्देवता ने एक लम्बी सूची दी है:

स्तुतिः प्रशंसा निन्दा च संशयः परिदेवना।
स्पृधशीः कल्पना याच्ञा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका॥
नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यत्।
आचिख्यासाथ संलापः पवित्राख्यानमेव च॥
आहनस्या नमस्कारः प्रतिराधस्तथैव च।
संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च॥

---

१. *मन्त्राणां देवताविद्यः प्रयुङ्क्ते कर्म कर्हिचित्।*
जुषन्ते देवतास्तस्य हविर्निर्देवता-विदः॥ (८।१३१)

२. *नियमोऽयं जपे होमे ऋषिश्छन्दोऽथ दैवतम्।*
अन्यथा चेत्प्रयुञ्जानस् तत्फलाच्चात्र हीयते॥ (८।१३४)

३. *देवतार्षार्थछन्दस्तो वैविध्यं च प्रजायते।*
ऋषिसूक्तं तु यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै स्तुतिः॥
श्रूयन्ते तानि सर्वाणि ऋषेः सूक्तं हि तस्य तत्।
यावदर्थ-समाप्तिः स्याद् अर्थसूक्तं वदन्ति तत्॥
समान-छन्दसो याः स्युस् तच्छन्दः-सूक्तमुच्यते।
वैविध्यमेवं सूक्तानाम् इह विद्याद्यथातथम्॥ (१.१४.१६)

प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह ।
उपप्रैषश्च यः प्रोक्तः संज्वरो यश्च विस्मयः ।।
आक्रोशोऽभिष्टवश्चैव क्षेपः शापस्तथैव च ।
उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि ।।
भूतं भव्यं भविष्यं च पुमान् स्त्री च नपुंसकम् ।
एवं-प्रकृतयो मन्त्राः सर्ववेदेषु सर्वशः ।। (१।३५-४०)

बृहद्देवता ने इस वर्गीकरण के उदाहरण भी ऋग्वेद के मन्त्रों से प्रतीक के रूप में दिये हैं ।

ऋग्वेद के मण्डल और देवता—

ऋग्वेद के सभी मण्डलों में सामान्यतः विविध देवताओं का उल्लेख है । किन्हीं-किन्हीं मन्त्रों या सूक्तों के युग्म देवता हैं, कभी-कभी तीन देवता भी एक साथ हैं, निरुक्त में भी और बृहद्देवता में भी इन द्विकों और त्रिकों का उल्लेख है, जैसे, अग्नि और सोम का द्विक, अग्नि, मित्र और वरुण का त्रिक; इन्द्र और पूषन् का द्विक, इन्द्र और अग्नि का द्विक इत्यादि ।

ऋग्वेद के देवता [मण्डलानुसार]

यदि हम पहिले मण्डल के देवताओं की ही सूची बना लें, तो फिर आगे के मण्डलों में बहुत कम ही नये देवता मिलेंगे, इसलिये मैं **प्रथम मण्डल** के देवताओं की सूची देता हूँ, जिनका उल्लेख बृहद्देवता में है । **'सर्वानुक्रमणी'** अथवा इसी प्रकार की अन्य सूचियों में भी देवताओं की सूची लगभग इसी प्रकार की है । बहुधा वेद की ऋचायें स्वयं ही देवताओं की नामावली का समर्थन करती हैं ।

प्रथम मण्डल के देवता—

(१) अग्नि, और इसके विविध विस्तार :
निर्मथ्य और आहवनीय (१।१२); बारह आप्रि (इध्म, तनूनपात्) नराशंस, ईळ, बर्हिः, द्वारोदेव्यः, नक्तोषासा, दैव्यौहोतारौ, तिस्रोदेव्यः, त्वष्ट, वनस्पति और स्वाहाकृति) (१।१३; १।१४२); पार्थिव (१।१९); अग्नि-मध्यम (१।२७;७९); अग्नि यौव्यौ, (१।३६); जातवेदस् (१।५८); वैश्वानर (१।५९); अग्नि औषस् (१।९५); अग्नि द्रविणोदास् (१।९६); अग्नि शुचि (१।९७) ।
(२) वायु (१।२; १३४)
(३) इन्दु (१।३८; ५-११ इत्यादि)
(४) अश्विनौ (१।३)
(५) विश्वेदेवाः (१।१४); विश्वेदिवौकसः (१।१८६)
(६) ऋभवः (१।२०)
(७) रुद्र (१।११४)

(८) वरुण (१।२५)
(९) क (१।२४)
(१०) सवितृ (१।३५)
(११) मरुतः (१।३७)
(१२) ब्रह्मणस्पति (१।४०)
(१३) पूषन् (१।४२)
(१४) उषस् (१।४८; १२३; १२४)
(१५) सूर्य (१।५०; ११५)
(१६) जातवेदस् (१।५८)
(१७) वैश्वानर (१।५९)
(१८) सोम (१।९१)
(१९) मित्र (१।१५१)
(२०) अदिति (१।१५२)
(२१) विष्णु (१।१५४-१५६)
(२२) अगस्त्य (१।१७०)
(२३) अन्न (१।१८७)
(२४) बृहस्पति (१।१९०)
(२५) सरस्वती (१।३)
(२६) विष्णु (१।२२)
(२७) आपः (१।२३)
(२८) भग (१।२४)
(२९) इन्दु (१।१२९)

कतिपय द्विक—

(क) इन्द्र-वायु (१।२)
(ख) मित्र-वरुण (१।२)
(ग) इन्द्र-मरुत् (१।६)
(घ) इन्द्र-वरुण (१।१७)
(ङ) सोम-इन्द्र (१।१८)
(च) इन्द्र-अग्नि (१।२१)
(छ) इन्द्र-उलूखल (१।२८)
(ज) अग्नि-सोम (१।९३)
(झ) इन्द्र-पर्वत (१।१३२)

(ञ) इन्द्र-विष्णु (१।१५५)
(ट) द्यावा-पृथिव्यौ (१।१५९-१६०; १८५)
(ठ) इन्द्र-मरुत्वत् (१।१७१)
(ड) रात्रि-उषस् (१।११३)

कुछ विशिष्ट देवता—

(क) ऋतव : (१।१५; इन्द्र; मरुतः; त्वष्टृ; अग्नि; शक्र; मित्रावरुण; अग्नि-द्रविणोदस; नासत्यौ)
(ख) सहस्पति (१।१८)
(ग) देव्यः (१।२२); देवपत्न्यः (१।२२)
(घ) इन्द्राणी (१।२२)
(ङ) अग्नायी (१।२२)
(च) पृथिवी (१।२२)
(छ) उलूखल (१।२८)
(ज) उलूखल-मुसल (१।२८)
(झ) चर्म-अधिषवणीय (१।२८)
(ञ) रात्रि (१।३५)
(ट) यौप्यौ (१।३६)
(ठ) द्युभक्ति (१।५०), रोमघ्न (त्रिच्, १।५०)
(ड) द्विषद् द्वेषः (१।५०)
(ढ) दध्यङ् च, मनु, अथर्व (१।८०-८४)
(ण) देवाः (६ देवता-अग्नि, मित्रावरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी, द्यु; १।९४)
(त) द्विः स्वप्न-नाशिनी (१।१२०)
(थ) स्वनय भावयव्य के दान की स्तुति या प्रशंसा (१।१२५)
(द) भावयव्य (१।१२६)
(ध) जायापत्योः संप्रवाद; (१।१२६)
(न) ऋषि द्वारा ऋषियों की या अपनी आत्म-प्रशंसा (१।१३९।९)
(प) मेध्यस्य अश्वस्य संस्तवः (१।१६२-१६३)
(फ) मारुत-इन्द्र-संवाद (१)१६५)
(ब) लोपामुद्रा, अगस्त्य और ब्रह्मचारिन् संवाद
(भ) उपनिषत्—अपां तृणानां सूर्यस्य च स्तुतिः केचित्; तद्वा विषघ्नम् ।

बृहद्देवता में भी ८ अध्याय हैं और ऋग्वेद में भी ८ अष्टक, किन्तु अष्टक का अध्यायों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। देवताओं की नामसूची दूसरे अध्याय के अन्त से आरम्भ होती है (बृहद्देवता २।१२६ से) :—

आग्नेयं प्रथमं सूक्तं मधुछन्दस आर्षकम् (२।१२६)

प्रत्येक अध्याय में ५-५ श्लोकों के लगभग ३० वर्ग हैं। अध्याय और वर्गों के विभाजन में भी कोई तार्किक क्रम नहीं प्रतीत होता। कभी-कभी तो कथानक बीच में ही कट जाता है। दूसरा अध्याय ऋग्वेद (१।१३) पर समाप्त होता है; तीसरा अध्याय ऋ० १।२६ पर; चौथा अध्याय ऋ० ४।३२ पर; पांचवां अध्याय ऋ० ७।४४ पर; छठा अध्याय ऋ० १०।१४ पर; सातवां अध्याय ऋ० १०।९८ पर और आठवें अध्याय का ९३ श्लोक ऋ० १०।१९१ पर समाप्त हो जाता है—

तथाघमर्षणं ब्रह्म सर्वरिप्रप्रणोदनम्।
तदादीनाति यच्चारः संज्ञानं ज्ञानसंस्तवः॥ (बृहद्० ८।१९)

इसके बाद ग्रन्थ का उपसंहार है।

द्वितीय मण्डल के देवता—इस मण्डल के मन्त्रों या सूक्तों के जितने देवता हैं, वे प्रथम मण्डल में आ गये हैं, जैसे, अग्नि, जातवेदस्, आप्रि, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति, इन्द्र-ब्रह्मणस्पति, वरुण, विश्वेदेवाः, मरुत्, द्यावा-पृथिवी, रुद्र, सवितृ, अश्विनौ, सोम-पूषन्। इस मण्डल के कुछ विशिष्ट देवता हैं :

(१) ६ आदित्य-मित्रावरुण, दक्ष, अंश, तुविजात, भग, अर्यमन् (२।२७)
(२) वरुण के साथ दुःस्वप्नाद्य प्रणाशिनी (२।२८।१०)
(३) इन्द्र के साथ वाच् मध्यमा (२।३०।८)
(४) राका, सिनीवाली, गुंगू आदि ६ देवियां (२।३२।४-८)
(५) रुद्र के साथ ऋषिर्मृगमस्तौत (२।३३।११)
(६) अपां नपात् (२।३५)
(७) ऋतवः (२।३६-३७)
(८) पांच त्रिक—प्रउग देवताओं के (२।४१।४-१८)
(९) हविर्धाने (१।४१।१९, २१)
(१०) कपिञ्जल के रूप में इन्द्र

तृतीय मण्डल के देवता—इस मण्डल में साधारणतया पहले मण्डल वाले देवता ही हैं, जैसे, अग्नि, वैश्वानर, आप्रि, इन्द्राग्नि, विश्वेदेवाः, अग्नि-इन्द्र, ऋतवः, इन्द्र, अश्विनौ, मित्र, ऋभवः, इन्द्र-ऋभवः, उषस्, इन्द्र-वरुण, बृहस्पति, पूषन्, सवितृ, सोम, मित्रावरुण।

तृतीय मण्डल के नये देवताओं में उल्लेखनीय हैं—

(क) अग्नि के प्रकरण में द्यावा-पृथिव्यौ, उषसः, आपः, देवाः, पितरः, मित्रः (निपातिताः) (३।५, ६)
(ख) धिष्ण्याग्नयः (३।२२।४)
(ग) गुरुस्तवः (३।२६।९)
(घ) ऋत्विजः (३।२९)
(ङ) विश्वामित्र-नद्यः संवाद (३।३३)

(च) अनसेऽङ्गानि (३।५३।१९-२०)
(छ) वसिष्ठ-द्वेषिण्यः (३।५३।२१-२४)

चतुर्थ मण्डल के देवता—इस मण्डल के विशेष देवता अग्नि (४।१-१५) और इन्द्र (४।१६-३२) हैं। कुछ देवता वे ही हैं, जो पूर्व के मण्डलों में आ गये हैं—उषा मध्यमा (४।३०।९-११), भग, पूषन्, अर्यमन्, सूर्य (४।३१), ऋभवः, द्यावापृथिव्यौ, अग्नि, वायु, सूर्य (४।४०), इन्द्र-वरुण, अश्विनौ, वायु, इन्द्रवायू (४।४६-४७), इन्द्र-बृहस्पति, वृहस्पति, उषस् और सवितृ।

चतुर्थ मण्डल के देवताओं में नवीनतायें कुछ इस प्रकार हैं—

(क) लिङ्गोक्त दैवत (४।१३-१४)
(ख) सोमक (४।१५।७-८)
(ग) ऋषि द्वारा आत्मस्तुति (४।२६।१-३)
(घ) श्येन-संस्तवाः (४।२७।१-५)
(ङ) इन्द्रस्य हरयः (इन्द्र के घोड़े या किरणें) (४।३२)
(च) दधिक्रा (४।३८-४०)
(छ) पुरोधातु; कर्मशंसा (४।५०।७-९)
(ज) क्षेत्रपति, शुन, शुनासीरौ, सीता, कृषि, कृषि-जीवा मनुष्याः, पर्जन्य, धनः (कृषि-स्तुति) (४।५७)

पञ्चम मण्डल के देवता—इस मण्डल में भी अग्नि (१।४, ६-२८) और इन्द्र (२९-४०) के सूक्त काफ़ी संख्या में हैं। पूर्व मण्डलों के समान सामान्य देवता ये भी हैं—आप्रि, विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी, सवितृ, (५।४०) वृहस्पति, मरुत्, रुद्र, पूषन्, वैश्वानर, मरुतः, सोम, अश्विनौ, वायु, वायु-पूषन्, वाच्-मध्यमा, वृहस्पति, आदित्य, इन्द्र-वायू, रुद्रा, मित्रावरुण, उषस्, सवितृ, पर्जन्य (५, ८३), वरुण (५।८५)

इस मण्डल के देवताओं की विशेषताएं हैं—

(क) उशन्त (५।२९, ३१)
(ख) अत्रीणां कर्म कीर्त्यंते (५।४०।५-९)
(ग) इळस्पति (५।४८।१४)
(घ) पर्जन्याग्नि (५।४८।१४)
(ङ) धर्म (५। ४३। ७)
(च) दिवौकसः (५।४३।१०)
(छ) वाच्-मध्यमा (५।४३।११)
(ज) देवपत्न्यः (५।४६।७-८)
(झ) रोदसी (एक वचन) (५।५६।८)
(ञ) रुद्राः (५।५७)
(ट) पार्थिव और मध्यम-अग्नियाँ (मरुतों के साथ) (५।६०)

(ठ) गर्भार्थमुपनिषत् स्तुतिः (५।७८।५-९) (पांच ऋचाओं में)
(ड) दुःस्वप्न-नाशिनी (५।८२-४)
(ढ) पर्जन्य (५।८३)
(ण) पृथिवी मध्यमा (५।८४)
(त) विष्णु के साथ मरुत् (५।८७)

चार खिलों का भी बृहद्देवता में उल्लेख है जिनकी बात करना यहां अनावश्यक है।

षष्ठ मण्डल के देवता—इस मण्डल के विशेष देवता अग्नि या अग्नि-वैश्वानर (६।१-१६) और इन्द्र (१७-२७; २९-४६); विश्वेदेवाः (४९-५२); पूषन् (५३-५६), इन्द्राग्नी (५९-६०), अश्विनौ (६२-६३), उषस् (६४६५) और सामान्य देवता इन्द्र, पूषन्, सरस्वती (६१), मित्रावरुण (६७) इन्द्रवरुण (६८), इन्द्र-विष्णु (६-९), द्यावापृथिव्यौ (७०), इन्द्र-सोम (६२); सोम-रुद्र (७४) हैं।

षष्ठ मण्डल के विशेष देवता निम्न कहला सकते हैं—

(क) अभ्यावर्तिनः और साञ्जंय की दानस्तुतिः (६।२७।८;४७।२२-२५)
(ख) गवां स्तुतिः (६।२८)
(ग) बृबु-स्तुतिः (६।४७।३१-३३)
(घ) भूमि (६।४७।२०)
(ङ) भाववृत्तम् (६।४७।६)
(च) रथाभिमर्शनाः (६।४७।२६-२८)
(छ) दुन्दुभेः संस्तवः (६।४७।२९-३१)
(ज) तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम् ((६।४८)
(झ) द्यु-भू (या पृश्नि) (६।४८।२२)
(ञ) युद्धोपकरणम्, संग्रामाङ्गानि(६।७५)

योद्धा वर्मी (१), धनुः (२); ज्या (३); आर्त्नी (४), इषुधिः (५), सारथिः (६), रश्मयः (६), अश्वाः (७); आयुधागारम् (८); रथगोपाः (९), रणदेवताः (१०), इषुः (११), कवचः (१२), कशा (१३); हस्तत्राणम् (१४); दिग्ध-इषुः (१५); अयोमुखी (१५); वारुणमस्त्रम् (१५); धनुर्मुक्त इषुः (१६); युद्धादिः (१७); कवचस्य बध्यतः स्तुतिः (१८); युयुत्सुः (१९); ऋषिरात्मन आशिषः (१९)।

यह उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण बात है कि षष्ठ मण्डल का अन्तिम (७५ वां) सूक्त युद्धोपकरण से सम्बन्ध रखता है।

सप्तम मण्डल के देवता—पूर्व के मण्डलों के समान इस मण्डल के सूक्तों के सामान्य देव अग्नि, आप्रयः: (७।१-१७, ७१-७२ इत्यादि), इन्द्र (७।१८-३३, ६८-७०), विश्वेदेवाः (७।३४-३७, ३९-४९), सवितृ (३८, जिसमें अहि, भग और वाजिनः भी उल्लेखनीय हैं), सवितृ (७।४५), रुद्र (७।४६), आपः (७।४७-४९), ऋभवः (७।४८), मित्रावरुण (७।५०, ६०-६६), आदित्याः (७।५१, ५२), रोदसी (७।५३, द्यावापृथिवी का ही दूसरा नाम), मरुतः (७।५६-५९), आदित्याः

(७।६६, विविध नाम-सवितृ, अदिति, मित्र, वरुण, अर्यमन्, भग, सूर्य, सूर्यस्य-चक्षुः), अश्विनौ (७।६७-७४), उषस् (७।७५-८१), इन्द्र-वरुण (७।८२-८५), वरुण (७।८६-८९), वायु (७।९०-९२), इन्द्राग्नी (७।९३-९४), बृहस्पति (७।९७, इन्द्र के साथ युग्म भी); विष्णु (७।९९-१००), इन्द्र-सोम (७।१०४)

इन सामान्य देवताओं के अतिरिक्त इस मण्डल के विशेष देवता हैं :

(क) पर्जन्य की दानस्तुति (७।१८;३२)

(ख, वसिष्ठ और अगस्त्य का इन्द्र से संवाद (७।३३)

(ग) अहिर्बुध्न्य (७।३४)

(ख) दधिक्रा (७।४४; देवताः परिकीर्तिताः ७।४१।१)

(ङ) नद्यः (७।५०।४)

(च) वास्तोष्पति (७।५४);—प्रस्वापिन्यः (७।५५)

(छ) त्र्यम्बक (७।५९)

(ज) सरस्वती (७।९५-९६)

(झ) पर्जन्य (७।१०१, १०२)

(ञ) रक्षोघ्नम्-इन्द्र-सोम के सम्वन्ध में, आत्मन-आशीः (७।१०४)

अष्टम मण्डल के देवता : इन्द्र, पूषन्, अश्विनौ, मरुतः, अग्नि, मित्रावरुण, विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी, वरुण, आदित्याः (८।७४; ६७) सोम (८।४८) आदि देवता इस मण्डल में भी सामान्यतया हैं। इस मण्डल की कुछ दानस्तुतियां उल्लेखनीय हैं।

(क) आसंग की दानस्तुति (८।१।३०-३३);

(ख) विभिन्दु की दानस्तुति (८।२।४१,४२)

(ग) पाकस्थामन् की दान-स्तुति (८।३।२१-२४)

(घ) कुरुंग की दानस्तुति (८।४।१९-२१)

(ङ) कशु की दानस्तुति (८।५।३७-३९)

(च) तिरिन्दिर की दानस्तुति (८।६।४६-४८)

(छ) चित्र की दानस्तुति (८।२१।१७-१८)

(ज) मित्रावरुणौ की दानस्तुति (८।२५।२२-२४)

(झ) कानीत पृथुश्रवस् की दानस्तुति (८।४६।२१-२४)

(ञ) प्रस्कण्व की दानस्तुति (८।५५,५६)

(ट) ऋक्ष और अश्वमेध की दानस्तुति (८।६८।१५-१९)

(ठ) हविषां स्तुतिः पयः पशवोषधीनां च (८।७२)

(ड) ऋषि की आत्मस्तुति और श्रुतर्वन की दानस्तुति (८।७४)

(ढ) इन्द्र आत्मानं तुष्टाव (८।१००।४-५)

इन स्तुतियों के अतिरिक्त इस मण्डल की निम्न और भी विशेषताएं हैं—वास्तोष्पति (८।१७।१४) आदित्यों में अदिति, अश्विनौ, अग्नि, सूर्य, अनिल, वरुण, अर्यमन्, मित्र और त्रसदस्यु

(८।१८-१९), पृथक्कर्म-स्तुति (८।२९); इज्या (८।३१) जिसके अन्तर्गत शक्र, यजतांपति, यज्वन् दम्पति और आशी: (८।३१); इन्द्र के प्रति दानवी के वचन (८।३३); बहुदैवतप्रगाथ (८।५४।३-४); सूर्य-उषस् (चन्द्रसूर्ययो: प्रभा), पवमान और गो (८।१०१।११-१६)।

नवम मण्डल के देवता : समस्त मण्डल का देवता सोम पवमान है। आप्री (९।५), स्वाध्यायाध्येतृसंस्तव: (९।६७।३१-३२); अग्नि रक्षोहन् (९।७३) और घर्म-संस्तव; (९।८३)—इन देवताओं को भी विशिष्ट माना जा सकता है।

दशम मण्डल के देवता : ऋग्वेद का दशम मण्डल लगभग उतना ही बड़ा है, जितना कि प्रथम मण्डल। दोनों में ही १९१ सूक्त हैं। इस दशम मण्डल के सामान्य देवता अग्नि (१०।१-७; २०-२१,आदि), इन्द्र (१०।२४;३२,३८ आदि); आप: (१०।९; ३०), अश्विनौ (१०।२४; १४३); सोम (१०।२५); पूषन् (१०।२६); विश्वेदेवा: (१०।३१; ५६,५७); आप्रि (१०।७०; ११०); मरुत: (१०।७७-७८); और कतिपय मन्त्रों में वृहस्पति (१०।४४।११; १०।६७-६८); इसके साथ ब्रह्मणस्पति आदि भी हैं।

ऋग्वेद के इस मण्डल के कुछेक प्रसिद्ध संवाद इस प्रकार हैं :—

(क) यम-यमी संवाद (१०।१४)
(ख) इन्द्र और ऋषि संवाद (१०।२८; इन्द्र के वचन विषम संख्यात्मक मन्त्रों में हैं)
(ग) अग्नि-देवा: संवाद (१०।५१।५३)
(घ) पुरुरवस् और उर्वशी संवाद (१०।९५)
(ङ) सरमा-पणय: संवाद (सरमा के वचन १, ३, ५, ७ और ९ मन्त्रों में)

दशम मण्डल के कुछ विशिष्ट सूक्त-देवता हैं :—

(क) हविर्धाने (१०।१३)
(ख) यममध्यम (१०।१४;जिसके अन्तर्गत अथर्वाण:, भार्गव:, अङ्गिरस:, पितर:, प्रेताशिष: और श्वानौ)
(ग) पितर: (१०।१५)
(घ) अग्नि कव्यवाहन (१०।१६)
(ङ) मृत्यु, धातृ, त्वष्टृ, पृथिवी और आशिष: सूक्त (१०।१८)
(च) गाव: सूक्त (१०।१९; कुछ के अनुसार आप:)
(छ) मरुत्-सम्बन्धी सूक्त (१०।२७), जिसके साथ वज्र, पर्जन्य, वायु, सूर्य, इन्द्र-धनुष्, अनिल और भास्कर भी।
(ज) आप:, जिसके साथ अपां-नपात् और अग्निमध्यम (१०।३०)
(झ) विश्वेदेवा: सूक्त जिसके साथ कुरु, श्रवण, त्रासदस्यव और उपमश्रवस् (१०।३३)
(ञ) अक्ष, कृषि, अक्ष-निन्दा (१०।३४)
(ट) इन्द्र, वैकुण्ठ (१०।४७।५०)
(ठ) मन आवर्तनम् (१०।५८; जीवावृत्ति: सुबन्धोर्मनस स्तवो वो)
(ड) निर्ऋति:, असुनीति:, भू, द्यु, सोम, पूषन्, ख, पथ्या, स्वस्ति, रोदसी (१०।५९)

(ढ) असमातिः, जीवः (१०।६०।७-११), हस्तः (१०।६०।१२); ऐक्ष्वाकु (१०।६०।१-४)

(ण) आंगिरसां स्तुतिः, मनुसावर्ण्यं (सावर्णेर्दानम्) (१०।६२)

(त) ज्ञानम् (१०।७१)

(थ) नद्यः या स्रवन्त्यः (१०।७५)

(द) ग्रावाणः (१०।७६, ९४)

(ध) मन्युः (१०।८३,८४)

(न) सूर्या-विवाह :—(सूर्या, सत्य, सूर्य, ऋत, सोम, चन्द्रमस्, सूर्यायै भाववृत्तम्, गन्धर्व विश्वावसु, दम्पति, वधू, वरद्वारा वधु को वस्त्र-दान, यक्ष्मनाशिनी, भाववृत्त, धनाशिषः, संयोगाशिषः इत्यादि (वर-वधू-विवाह प्रकरण) (१०।८५)

(प) वृषाकपि और इन्द्र, इन्द्राणी (१०।८६)

(फ) तीन प्रकार की अग्नियाँ (पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ की) (१०।८)

(ब) पुरुष-सूक्त (१६ मन्त्र) (१०।९०)

(भ) ओषधयः सूक्त (१०।९७)

(म) ऋत्विक् स्तुति (१०।१०१)

(य) धनान्न दान (१०।११७)

(र) रक्षोहा अग्निः (१०।११८)

(ल) वेन (१०।१२३)

(व) वागाम्भृणी आत्मा (१०।१२५)

(श) भाववृत्तम् (१०।१२९, १९०)

(ष) पौलोमी-शची (१९।१५९)

(स) संज्ञानम् (१०।१९१)

वेदार्थ-प्रक्रिया में देवता

दस सहस्र मन्त्रों के ऋग्वेद का अभिप्राय ठीक-ठीक समझना आसान नहीं है। सभ्यता और साहित्य के प्रत्येक युग में वेद की ऋचाओं को समझने का प्रयास किया गया और यह प्रयास निरन्तर बना रहेगा। ऋग्वेद के ऋषियों ने, जिन्हें हम मन्ता, द्रष्टा मानते हैं, इस प्रयास को सम्भवतया सर्वप्रथम आरम्भ किया—ये ऐतिहासिक व्यक्ति थे, वेद तो उनसे भी पुराने थे। कितने पुराने यह कोई नहीं कह सकता। यह कहना भी कठिन है कि इन ऋषियों ने वेद की ऋचाओं का संहितीकरण किया (अर्थात् मण्डलों में विभाजन, स्वर, छन्द, देवता आदि का निर्धारण)। मन्त्रों को जाना, तो क्या जाना, यह इतिहास भी हमारे पास नहीं है। मन्त्रों का यज्ञों में जो विनियोग हुआ, उसका प्रारम्भ कितना पुराना है यह भी नहीं कहा जा सकता (ब्राह्मणों और आरण्यकों के समय विनियोग काफी निश्चित हो गये थे—ऐसा तो हम कम से कम मान सकते हैं)।

प्रत्येग युग में लोगों ने विभिन्न प्रकार से वैदिक ऋचाओं को समझने का प्रयास किया, किन्तु इस प्रयास का कोई क्रमबद्ध इतिहास हमारे पास नहीं है।

दश मण्डलों वाली ऋग्वेद संहिता की यदि हम बात करें, तो स्पष्ट है कि दश में से छह

मण्डल तो ऐसे है कि जिनके पूरे मण्डल के एक-एक ऋषि हैं, अथवा एक ही परिवार के ऋषि। द्वितीय मण्डल के सूक्तों का ऋषि गृत्समद है, तीसरे मण्डल का ऋषि विश्वामित्र है, सातवें मण्डल का ऋषि वसिष्ठ है, चौथे मण्डल का वामदेव और छठे मण्डल का भरद्वाज। पांचवे मण्डल का ऋषि अत्रि या उसके परिवार का है। इन छहों मण्डलों में यह विशेषता भी मिलेगी कि सभी में अग्नि-देवता से सम्बन्ध रखने वाले सूक्त सबसे आरम्भ में हैं, जैसे—बृहस्पति, सूर्य, ऋभव, उषा आदि। ऋग्वेद में नवममण्डल ही एक ऐसा है, जिसमें सभी सूक्तों का एक ही देवता है—सोम पवमान।

ऋग्वेद के मन्त्रों, सूक्तों या मण्डलों में परस्पर संयुक्त करने वाला कोई मणि-सूत्र है या नहीं, यह कहना कठिन है। याज्ञिकों के विनियोग ने इस दिशा में सम्भवतया सर्वप्रथम प्रयास किया। इसके बाद इस दिशा में प्रयास करने वालों में उल्लेखनीय स्थान श्री अरविन्द का भी है। लगभग प्रत्येक मण्डल के प्रथम कुछ सूक्त अग्नि-सम्बन्धी हैं, और फिर इन्द्र-सम्बन्धी और इनके बाद अन्य देवताओं के। यह विशेषता श्री अरविन्द की दृष्टि से महत्त्व की है। श्री अरविन्द प्रथम मण्डल के सभी सूक्तों में एक स-प्रयोजन-सा भी स्पष्ट देखते हैं। श्री अरविन्द की दृष्टि में मण्डलों के ये ऋषि संहिताकार हैं, अर्थात् इन्होंने इन मन्त्रों का संकलन किया और मण्डलों या सूक्तों में इन्हें क्रमबद्ध किया। यह क्रमबद्धता विशेष पद्धति के आधार पर थी—प्रयोजन-हीन और निरुद्देश्य नहीं। मैं अपने पाठकों से अनुरोध करूंगा कि वे श्री अरविन्द के विचारों का अध्ययन उनके साहित्य से करें (Shri Aurobindo : The Secret of the Veda—अरविन्द ग्रन्थमाला का दशम पुष्प)। [ऋग्वेद के पहले और दशम मण्डलों में देवताओं की भी बड़ी भिन्नता है, और ऋषियों की भी।]

ऐतरेय ब्राह्मण की ऋग्वेदीय मणि-सूत्रता

ब्राह्मण ग्रन्थों में सबसे प्राचीन होने के कारण, और ऋग्वेद के सम्बन्ध से भी, ऐतरेय ब्राह्मण का अपना निराला महत्त्व है। इसमें ८ पञ्चिकायें हैं, प्रत्येक पञ्चिका में ५ अध्याय, इस प्रकार समस्त ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं।

पहली पञ्चिका में दीक्षणीय इष्टि, प्रायणीय इष्टि, सोमक्रय, प्रवर्ग्य इष्टि और अग्नि-प्रणयन है। प्रारम्भ में १७ सामिधेनियों का पाठ बताया है (१५ सामिधेनी+२ धाय्य)—ये मन्त्र ऋग्वेद के तीसरे और छठे मण्डल से लिये गये हैं (३।२७।१,४-६,१३,१४,१५ एवं ६।१६।११।१२, १३,१४ आदि)। प्रायणीय इष्टि में पहले, दसवें, पांचवें, सातवें आदि के मिश्रित मन्त्र हैं। अग्निमन्थन छठे मण्डल के, नौ पवयावी ऋचायें नवम मण्डल की, तीन घर्मतनु मन्त्र दशममण्डल के, और इसी प्रकार के अनेक मन्त्र पहले, दूसरे, नवें आदि मण्डलों से लिये गये हैं। जघ्निवती ऋचायें भी विविध मण्डलों की हैं, जिनका सम्बन्ध 'हन्' धातु से है। सोमक्रय के मन्त्र भी किसी एक मण्डल के नहीं हैं—विविध मण्डलों से लिये गये हैं। इन विनियोगों के आधार पर ऋग्वेद की कोई मणिसूत्रता नहीं बन सकती, यह स्पष्ट है।

दूसरी पञ्चिका में पशु इष्टि, अपोनप्त्रीय, सोमपानाधिकार, विभिन्न ग्रह, तूष्णींशंस,

आज्य शस्त्र और उसके विभिन्न भाग हैं (आहाव, निविद्-सूक्त, अग्नीध्र, आज्य-प्रउग आदि)। इस पञ्चिका के विनियोगों में प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, दशम मण्डलों के मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं।

तृतीय पञ्चिका का प्रारम्भ प्रउग-शस्त्र से है। ग्रहों में से सोम की आहुतियों का विधान है। निविद-सूक्तों का उल्लेख है। काव्य, देव और पितरों के भी मन्त्र हैं। देवियों की भी आहुतियां हैं—राका, अनुमति, सिनीवाली, कुहू आदि। अनेक मण्डलों से मन्त्रों का चयन इस पञ्चिका में भी किया गया है, जिनमें कोई क्रमवद्धता नहीं है।

चतुर्थ पञ्चिका में षोडशी शस्त्र, सूर्य, सावित्री और सोम, षडह, गवामयनकृत्य और द्वादशाह यज्ञ हैं।

पञ्चम पञ्चिका में द्वादशाह के मन्त्र हैं।

षष्ठ पञ्चिका में सोमराज, ग्राव: स्तोत्रीय, सुब्रह्मण्या, प्रात:सवन, मध्य और तृतीय सवन इनके मन्त्र, संपात सूक्त, कद्रवत् मन्त्र, अहीन यज्ञ, बालखिल्य, दूरोहण, शिल्पसूक्त, नाभानेदिष्ट, नराशंस, एवया मरुत्, वृषाकपि, विश्वत्रित यज्ञ, ऐतश-प्रलाप, दधिक्रावन पावमान्य आदि का उल्लेख है।

सप्तम पञ्चिका में पशु-अङ्ग-विभक्ति, अग्निहोत्री प्रायश्चित, पुत्र से लाभ, हरिश्चन्द्र, रोहित, अजीगर्त, शुन:-शेप आदि की कथा, प्रजापति यज्ञ, राजसूय यज्ञ, यज्ञाधिकार, श्यापर्ण, राममार्गवेय आदि के उल्लेख हैं। इस पञ्चिका में प्रथम मण्डल के कुछ मन्त्र हैं और कुछ ही अन्य मण्डलों के। विनियुक्त मन्त्रों की संख्या बहुत कम है।

अष्टम पञ्चिका में राजसूय यज्ञ के तीनों सवन, इन्द्र का महाभिषेक, पुरोहित और उसके द्वारा राष्ट्र का संरक्षण और ब्रह्म-परिमर किया है। इस पञ्चिका में थोड़े से मन्त्रों के विनियोग हैं। विश्वकर्मा की प्रशंसा में पृथिवी का गाया हुआ एक गीत भी है, और इन्द्र, उदमय, अंगोपांग-सम्बन्धी कतिपय श्लोक भी।

ऐतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेद के कई सौ मन्त्रों का विनियोग हुआ है, किन्तु इन विनियोगों में ऋग्वेद की मणिसूत्रता का कोई समर्थन प्रतीत नहीं होता है। याज्ञिकों ने अपनी कल्पनाओं को मन्त्रों पर आरोपित किया है, और वहुधा विनियोग रूपसमृद्ध नहीं हैं, अधिकतर तो रूपसमृद्धि शाब्दिक ही है।

महर्षि दयानन्द की चतुर्वेद-विषय-सूची

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि वेदभाष्य आरम्भ करने से पूर्व महर्षि दयानन्द ने अपनी सुविधा के लिये चतुर्वेद-विषय-सूची तैयार की थी, जो परोपकारिणी सभा अजमेर की ओर से १९७१ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। इस सूची का मूल आलेख स्वामीजी के द्वारा संशोधित है। स्वामीजी ने इस सूची को न तो यजुर्वेद के आरम्भ या अन्त में प्रकाशित किया, और न ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ में। महर्षि दयानन्द ने मन्त्रों के प्रारम्भ में बहुधा वे ही सव देवता दिये हैं जो सर्वानुक्रमणी में दिये गये हैं। कतिपय स्थलों पर कुछ परिवर्तन भी किए हैं। देवता क्या है, इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द ने स्वयं ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में इस प्रकार लिखा है—

तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवता-शब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते ।

(प्रश्नोत्तर-विषयः)

स्पष्ट है कि मन्त्र के देवता से इंगित है कि मन्त्र में किस विषय या अर्थ का प्रतिपादन है। मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है; वही उसका देवता है।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद की विषय-सूची मण्डलों के आधार पर नहीं, प्रत्युत अष्टकों के आधार पर तैयार की। दशों मण्डलों में कोई मणिसूत्रता है या नहीं, इस सम्बन्ध में महर्षि ने कुछ नहीं कहा। महर्षि की यह विषय-सूची किस प्रकार की है, इसके लिए उदाहरण रूप में मैं प्रथम अष्टक का छठा अध्याय लूंगा—

वर्ग	विषय	वर्ग	विषय	वर्ग	विषय
५	पदार्थविद्या	१७	ईश्वर-प्रार्थना	२२	ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना
९	वायुपृथिवीविद्या	१८	ईश्वर-प्रार्थना	२३	ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना
९	विमान-रेलविद्या	१९	ईश्वर-प्रार्थना	३०	अनीश्वर-स्तुतिः
१५	ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना	२०	ईश्वर-प्रार्थना	३१	अनीश्वर-स्तुतिः
१६	ईश्वर-प्रार्थना	२१	ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना	३२	अनीश्वर-स्तुतिः

स्वामी जी ने वेदभाष्य में भौतिक विज्ञान, शिल्पादि विषयों को विशेष प्रधानता दी है—वेद ज्ञान के आदि स्रोत हैं, इसलिए प्रथम अध्याय के प्रथम और द्वितीय अष्टक में ही अग्निविद्या, वायुविद्या इन्द्रविद्या, पितृशिल्प-विद्या, इन्द्राग्नि-विद्या, सविता-विद्या, होम-विद्या, वृष्टिविद्या, जलविद्या, रात्रिविद्या, वरुणविद्या, उलूखलालङ्कारेण गर्भाधानम्, इस प्रकार के विषयों का समावेश किया है।

ऋग्वेद के अन्तिम अष्टक में भी स्वामी दयानन्द ने जो विषय-सूची प्रस्तावित की है, उसमें भी ऐसे ही विषय हैं। अन्तिम ९ विषय ये हैं—ईश्वराशीर्विद्या, गर्भाधानादि-विद्या; ईश्वराशीर्विद्या, वाय्वादि-पदार्थविद्या, ईश्वरप्रार्थनादि-पदार्थविद्या, अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या, पृथिवी-भ्रमणादि-विद्या, सृष्ट्यादि विद्या, अग्न्यादि समानादि विद्या। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त (१०।१९१) के अन्तिम ३ मंत्रों का देवता संज्ञानम् है, जिसे स्वामीजी समानादि-विद्या शब्दों से इंगित करते हैं।

स्वामीजी की विषयसूची में नवीनता है, आधुनिकतम विद्याओं, विज्ञानों और शिल्पों के प्रति उनकी अतीव निष्ठा थी। उनकी दृष्टि में जीवन का उद्देश्य केवल अध्यात्म ही नहीं, अधिभूत भी है। ज्ञान का उद्देश्य अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति है।

विषयसूची में स्वामीजी ने कुछ विशेष शीर्षकों के भी प्रयोग किए हैं, जैसे—अग्नीश्वर, इन्द्रेश्वर आदि। मन्त्र का देवता अग्नि हो, तो अग्नि के चार अभिप्राय तो हो ही सकते हैं—

पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष की अग्नि और द्युलोक की अग्नि और इन तीनों के अतिरिक्त परम पूजनीय अग्रणी परमेश्वर स्वयम्। इतना ही नहीं, यह अग्नि अन्नमय कोष की अग्नि, प्राणमय कोष की अग्नि, मनोमयकोष की अग्नि, आनन्द और विज्ञानमय कोष की अग्नि। ब्राह्मणों और उपनिषदों में इन अग्नियों और इनके सम्बन्ध से होने वाले अग्निहोत्र का विविध प्रकार से रहस्यमय वर्णन है। समाजशास्त्र के प्रकरण में भी अग्नि आदि देवता इसी प्रकार अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

आधुनिक विचारकों के अनुसार ऋग्-मन्त्रों की स्थिति

प्राचीन सभी आर्ष विचारक वेदों के नित्यत्व और अपौरुषेयत्व को स्वीकार करते हैं। वेदों की ऋचाओं के ऐतिहासिक पक्ष में उन्हें कोई निष्ठा नहीं है। ऐसा लगता है कि ऋचाओं के संहितोकरण का प्रश्न पुराने विचारकों की दृष्टि में कोई मूल्य ही नहीं रखता था। ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं को कब किसने अष्टकों में बांधा, और किसने मण्डलों में, वह कौन आचार्य था जिसने इनके देवताओं को इंगित किया, किसने इनके छन्दों को विस्तार से विविध नाम दिये और मन्त्रों के साथ इन्हें अंकित किया, कितने अर्थों को ध्यान में रखते हुए उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों को निर्धारित किया और चारों वेदों में स्वर-सम्बन्धी विशिष्टतायें भी निहित कीं, इस सब संहितीकरण की प्रक्रिया का हमारे पास इतिहास नहीं है, पर एक बात तो निश्चित है कि संहिताओं का जो रूप हमें मिलता है, वह अति प्राचीन है और इस वर्तमान संहितीकरण से अच्छा कोई दूसरा संहितीकरण सम्भव प्रतीत नहीं होता—इस दिशा में जो भी थोड़ी-सी भिन्न कल्पनाएँ की गयी हैं, वे अनर्गल और अनुपादेय हैं।

आधुनिक प्रयासों के आधार निम्न हैं—

(क) तुलनात्मक भाषाशास्त्र और व्याकरण की दृष्टि
(ख) पुरातत्त्व की उपलब्धियां
(ग) समकालीन इतिहास के बिखरे हुए तथ्य
(घ) पौराणिक गाथायें
(ङ) सभ्यता और संस्कृति के विकास के कथानक।

यहाँ हमारे पास यह अवसर नहीं है कि इन पर विस्तार से विचार किया जा सके। श्री अरविन्द ने इन अनेक प्रयासों की निर्बलताओं पर अनेक लेखों में प्रकाश डाला है। किसी आचार्य ने पृथिवी की भौगोलिक स्थितियों (कल्पों और मन्वन्तरों में होने वाले हिमयुगों) का विचार करके ऋचाओं में इन परिवर्तनों की कहानी देखी, किसी ने उषाओं के वर्णनों के आधार पर ध्रुव प्रदेशों के रहने वाले आर्यों की कहानी कही, किसी ने ऋचाओं में सिन्धु, पंचनद, गंगा-यमुना की बात खोज निकाली, किसी आचार्य ने एसीरिया, इरान और अन्य देशों के इतिहास की इनमें गन्ध पायी। पिछले दो सौ वर्षों की पुरातत्त्व और साहित्य के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली आधुनिक प्रवृत्तियों ने इस प्रयास को प्रोत्साहन दिया।

भाषा-तत्त्वविद् इस बात को मानने को तैयार नहीं कि वेद की समस्त संज्ञाएं आख्यातज हैं। वे शब्दों का इतिहास खोजना चाहते हैं, वैदिकभाषा के तारतम्य में उन्होंने कई अन्य अतिप्राचीन मूलभाषाएं भी कल्पित कर रखी हैं, जिनका कोई साहित्य हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनके कुछ

शब्द हमारी वर्तमान भाषाओं में तत्सम या तद्भव के रूप में अब भी विद्यमान हैं। भाषा-विदों ने ऋचाओं में प्रयुक्त क्रियाओं के उन रूपों का भी अध्ययन किया, जो लौकिक संस्कृत में प्रचलित नहीं होते। ऋचाओं की भाषा में उन्होंने विभिन्न परम्पराओं के इतिहास की स्पष्ट झलक देखी है। इस प्रकार वे समस्त ऋचाओं को एक काल का रचा भी नहीं मानते।

इस सब प्रयासों के होते हुए भी पाश्चात्य पद्धति के विचारक ऋग्वेदान्तर्गत 'स्तरों' की अब तक कोई सुसंगत आयोजना नहीं प्रदर्शित कर पाये। स्पष्ट है कि किसी एक कसौटी पर ऋग्वेद का कोई एक सूक्त, मण्डल या अष्टक प्राचीनतम प्रतीत होता है, तो किसी दूसरी पद्धति पर ऋग्वेद का कोई दूसरा अंश। यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की युक्तियां ऋग्वेद का कोई सर्वाङ्गीण ऐतिहासिक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पायीं। यूरोपीय और एशियाई देशों के इतिहास की गंध ऋग्वेद में देखना भी लगभग इसी प्रकार का है। पारसी भाषा (गाथा और अवस्ता) ने वैदिक भाषा से बहुत कुछ लिया। आर्यों और ईरानियों की परस्पर मैत्री रही, और दोनों के आदर्शों में विरोध भी रहा, किन्तु यह सब इतिहास तो उस समय का है जब ऋग्वेद के प्रादुर्भाव को सहस्राब्दियां बीत चुकी थीं। जैसे, राम और कृष्ण के ऐतिहासिक काल से पूर्व वेदों की ऋचायें थीं, किन्तु अन्य अर्थों में राम और कृष्ण शब्दों के प्रयोग ऋचाओं में हुए, इसी प्रकार की अवस्था भारत के निकट के देशों की थी। यह स्मरण रखना चाहिये कि **वेद में इतिहास तो नहीं हैं**, किन्तु वेदों ने संसार के इतिहास को, **भाषा, तत्त्वज्ञान, कला, सभ्यता और संस्कृति को विभिन्न युगों में** प्रभावित किया और इस वैदिक प्रभाव का अद्भुत इतिहास है। हमारे शब्द दूसरी भाषाओं में गए, इसका इतिहास है, हमारे ऋग्वेदीय रूपकों ने दूसरे देशों और भारत में भी दन्तकथाओं, पौराणिक गाथाओं और प्रतीक-निर्माणों को मूलतः जन्म दिया,—इसका भी इतिहास है। वेद में इतिहास है, यह अतथ्य है, किन्तु वेद के प्रभाव का तो इतिहास है ही। इतिहास की यह विडम्बना है कि एक ओर तो वेद की ऋचाओं ने सत्य विद्याओं को विकसित करने में बीज का काम किया, किन्तु दूसरी ओर इन्हीं ऋचाओं को कल्पना का आधार बना कर देश-देशान्तर में दन्तकथाओं का भी प्रचलन हुआ। इन्हीं ऋचाओं द्वारा लोगों ने अपनी कुत्सित प्रवृत्तियों का भी पोषण किया। उदाहरणतः, नरबलि और पशुबलि का भी पोषण वेद के मन्त्रों द्वारा किया गया।

स्वामी समर्पणानन्द का प्रयास

स्वामी समर्पणानन्द का यह ग्रन्थ अभूतपूर्व प्रयास है। यह प्रयास इस ग्रन्थ की मौलिकता है। पाश्चात्य आचार्यों का यह मत है कि ऋग्वेद के विविध मण्डल विभिन्न कालों में रचे गये और कि प्रथम एवं दशम मण्डल इस क्रम में आधुनिकतम हैं, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। भारतीय परम्परा तो वेद को ईश्वरीय ज्ञान और एक ही काल का आविर्भूत मानती है—(यस्य निःश्वसितं वेदाः)। वेद ईश्वर से निःश्वसित हों, या न हों, पर यह कहना कि वेद की समस्त संहिता में कोई निश्चित आयोजना नहीं है, इसके मन्त्र, सूक्त या मण्डल केवल स्फुट रचनायें है—यह तो एक ऐसी कल्पना है, जिसे आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता। निरन्तर चिन्तन करने के बाद स्वामी समर्पणानन्द जी एक कल्पना पर पहुंचते हैं। ऋग्वेद के प्रायः सभी मण्डलों में कुछ ऐसे विशिष्ट शब्द हैं जो मानों इन मण्डलों के प्राण हों—ये शब्द केवल इन्हीं मण्डलों में हैं, और अन्य मण्डलों में इन शब्दों की

पुनरावृत्ति नहीं है। इन विशिष्ट शब्दों के आधार पर ही स्वामी जी ने मणिसूत्रता तैयार की है।

स्वामी जी के व्याख्यानों को सुनने और उनके ग्रन्थों को पढ़ने का मुझे कुछ अवसर प्राप्त हुआ है। ब्राह्मण-साहित्य के वे अनन्य विद्वान् थे। **समाज-शास्त्र और राष्ट्र-नीति-शास्त्र में भी उनका अद्भुत प्रवेश था।** स्वामी जी ने वेद के मण्डलों का इसी दृष्टि से अध्ययन और विवेचन किया। वेद की ऋचायें मानव-जीवन की सामूहिकता को उदात्त करने के प्रयोजन से मनुष्य को दी गयीं, गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन के अनन्तर उनकी ऐसी आस्था बन गई थी और इसी दृष्टि से स्वामी जी ने इस ग्रन्थ में मणिसूत्रता का प्रतिपादन किया है। मणिसूत्रता क्या है? बिखरे हुए मणियों को एक सूत्र में पिरो कर सुन्दर माला तैयार कर देना। प्रथम मण्डल में जो भूमिका है, वही आगे के मण्डलों में सप्रयोजन अग्रसर होती हुई दशम मण्डल तक एक भव्य माला तैयार कर देती है। किसी भी मण्डल को यदि हम उसके स्थान से आगे-पीछे कर दें तो यह माला भ्रष्ट हो जायगी—मण्डलों के क्रम में किसी को भी आप आगे-पीछे नहीं कर सकते हैं।

स्वामी जी ने इस क्रम-बद्धता पर आश्चर्य करते हुए लिखा है : हो सकता है कि समस्त ऋग्वेद किसी एक प्रणेता की रचना न हो, फिर भी यदि इन मन्त्रों के रचयिता भिन्न-भिन्न हों तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब किसी एक ग्रन्थकार के निर्देशन में एक विशेष आयोजना के अनुकूल कार्य कर रहे थे:—

"The thread should call it which, if it did not prove the one-ness of authorship, at least, was quite sufflicient to prove that there was a plan running through out the whole scripture"

प्रथम मण्डल के जिन शब्दों के आधार पर स्वामी जी ने इस एक-सूत्रता का अनुभव किया उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

तनूकृत् (१।३१।९)
ज्योतिष्कृत् (१।५०।४)
रयिषाट् (१।५८।३) और (९।६८।८)
रयिवित् (२।१।३)
कविभिः पवित्रैः (३।१।५)
स भ्रातरं वरुणमग्न आववृत्स्व (४।१।२)
गणस्य रशनामजीगः (५।१।३)
क्षितयः पृथिव्याम् (६।१।५)
सद्योः (३।१८।१२)
राजा राष्ट्राणाम् ७।३४।११)
भुवनस्य एकराट् (८।३७।३)
विश्वमानुषः (८।४५।२)
विश्ववित् (९।६४।७)

ऋषिकृत् (९।९६।१८) और (१।३३।१६)
सो अध्वरानस ऋतून् कल्पयाति (१०।२।३)

इस प्रकार के शब्दों में ही स्वामी समर्पणानन्द जी ने ऋग्वेदान्तर्गत तनूकृत् और ज्योतिष्कृत् के अर्थ किए हैं शरीर का बनाने वाला और ज्योति या ज्ञान का प्रथम स्रोत। प्रथम मण्डल में ये शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त हैं—जिनका स्पष्ट अभिप्राय शारीरिक स्वास्थ्य और विद्योपार्जन से है।

प्रभु की इस सृष्टि में भी इन्हीं दो तथ्यों की प्रधानता है, दृढता और प्रकाश की। जो पुरोहित अग्नि प्रथम मण्डल की प्रथम ऋचा में निर्दिष्ट है. वह फिर अन्तिम मण्डल की प्रथम ऋचा में भी इसी प्रकार के शब्दों में सम्बोधित है:

'निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषाऽऽगात्' (१०।१।१)

यह अग्नि अन्धकार से हटाकर हम को ज्योति या प्रकाश के प्रांगण में लाता है। ऋग्वेद की पहली ऋचा में इस अग्नि ने पुरोहित (सबसे आगे रहने वाला) का काम किया और अन्तिम मण्डल में भी हम उसी के अभिमुख होते हैं (१०।१।६) बीच के मण्डल मानो इसी प्रयोजन की तैयारी हैं, किसी प्रकार हम अन्धकार से बाहर निकलकर ज्योतिर्मय जीवन में प्रविष्ट हो सकें। द्वेष और प्रतिहिंसा की भावनाओं का उन्मूलन करके ही यह प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा। ऐसे ही कृत्यों की ओर दशम मण्डल में संकेत हैं भी :

सो अध्वरानस ऋतून् कल्पयाति (१० म मण्डल)

अर्थात् यह अग्नि अध्वर और ऋतुओं को निर्धारित करता है। अध्वर का अर्थ है हिंसक प्रवृत्ति का निवारक। प्रथम मण्डल का शब्द रयिषाट् (१।४८।१३) भी इस प्रसंग में लेना चाहिये। ज्ञान और शारीरिक बल के आधार पर कमायी गयी सम्पत्ति भोग और संचय मात्र के लिए नहीं है। आदर्श व्यक्ति का स्वास्थ्य (शारीरिक बल) और उसकी सम्पत्ति जन-सेवा के लिए हो (सर्वजन हिताय, भावना-हिताय), तो ऐसे ही विश्वनागरिक को हम रयिषाट् कह सकेंगे। नवम मण्डल में फिर इसी रयिषाट् का उल्लेख मिलता है।

दूसरे मण्डल का केन्द्र-शब्द रयिवित् है। यह अग्नि अब ब्रह्मा रयिवित् बन जाता है, धन के वास्तविक प्रयोग से परिचित ब्राह्मण। पहिले वह रयिषाट् बनता है और अब रयिवित्। तीसरे मण्डल में यही विकसित भावना रयिवित्, रयीणाम् शब्दों से व्यक्त होती है। यह व्यक्ति अब रयिओं का रयिवान् या रयिवेत्ता बन जाता है। अब वह धन द्वारा सार्वजनिक कार्य के लिए नहरें और सुविधा-जनक मकान बनवाता है, वह पानी से ऊर्जा का (विद्युत् का) दोहन करता है, वह पत्थरों और वन-पादपों से अग्नि की उपलब्धि करता है (२।१।१)। दूसरे मण्डल का प्रयोजन-प्रतीक शब्द रयिवित् है। पहले मण्डल के तनूकृत् और ज्योतिष्कृत् से आगे बढ़कर वह जनसेवक रयिवित् हो जाता है।

तीसरे मण्डल में रयिविद्, रयीणाम् शब्द यह बताते हैं, कि वही विश्वनागरिक अब धन का उपभोक्ता और धन से आनन्द प्राप्त करने वाला बन जाता है। आनन्द के इन स्रोतों का नाम ही

'रयीणाम् रयिः' है। आनन्द का उद्गम काव्य, संगीत (सप्तवाली ३।१।६) और कला के विभिन्न माध्यमों में है, सम्पूर्ण कलायें वस्तुतः कविता हैं, कलाकार ही कवि है, चाहे किसी भी क्षेत्र का वह कलाकार क्यों न हो, इस दृष्टि से तीसरे मण्डल में कविभिः पवित्रैः (३।१।३) इन शब्दों की व्यञ्जना को समझना चाहिये। ये शब्द ऋग् के तृतीयमण्डल के पहले ही सूक्त में प्रयुक्त हुए हैं।

कला से माधुरी तत्त्व का उद्गम होता हैं, मधु और स्नेह के प्रतीक शब्द ऋचा में ये हैं;

श्चोतन्ति धारा मधुनों घृतस्य। (३।१।८)

मधु और घृत की धारायें जीवन-माधुर्य और पवित्र स्नेह की द्योतक हैं। तृतीय मण्डल का ऋषि विश्वामित्र है। शतपथ ब्राह्मण में श्रोत्र को विश्वामित्र ऋषि कहा गया है—

श्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः। (शतपथ० ८।१।२।६, यजु० १३।५७)

इस प्रकार तृतीय मण्डल में कविता-कला को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार शरीर से सुदृढ, ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति अब धनवान् भी हो गया, धनद्वारा और कलाओं के द्वारा उसने आनन्द और जीवन-रस प्राप्त करना आरम्भ कर दिया। सम्पत्ति के अर्जन का समाज पर एक विकृत परिणाम भी पड़ा, कुछ व्यक्ति धनवान् हो गये, किन्तु कुछ धनहीन। जो रयिवित् और रयिषाट् न बन पाये थे, पर जिनके पास सम्पत्ति बहुत थी, वे अब दुराचारी और दुष्ट प्रवृत्तियों के बन गये, अतः समाज की शान्ति भंग होने लगी। अब आवश्यकता इस बात की अनुभव होने लगी कि समाज की दुष्ट लोगों से रक्षा की जाय। इस उद्देश्य की दृष्टि से चौथे मण्डल के निम्न शब्दों का महत्त्व समझना चाहिये—

भ्रातरं वरुणम् आ ववृत्स्व। (४।१।२)

देवों की सहायता के लिए उसके भाई वरुण को लाओ। चतुर्थ मण्डल के प्रथम सूक्त के चौथे मन्त्र को इस प्रसंग में पढ़ना चाहिये :

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेलोऽव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥ (४।१।४)

हे अग्ने! तू वरुण से परिचित है, कुछ ऐसा कर कि हम पर प्रभु रुष्ट न हों, प्रभु के रोष हम से दूर ही रहें। जो हम से द्वेष करते हैं, वे हम से दूर ही रहें और फिर आगे भी एक ऋचा में (४।४।३)—

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुः।

अपने दूतों को बड़ी तेजी से तू आगे भेज, देरी मत कर, तू ही तो हमारा रक्षक है।

अथर्ववेद में भी इसी प्रकार का उल्लेख है—दो आदमी चुपके-चुपके भी जो बातें आपस में करते हैं, राजा वरुण उनको भी सुन लेता है। मानो दिखाई न देने पर भी वह कोई तीसरा वहां उपस्थित है। (४।१६।२)

राजा वरुण से छिपकर हम कहीं भी नहीं भाग सकते, वरुण सदा हमारे पीछे बना रहता है। वरुण के दूत मानो हजारों आंखों से हमें ताकते रहते हैं। (अथर्व ४।१६।४)

चतुर्थ मण्डल में अग्नि न्यायाधीश का काम करता और उसका भाई वरुण पुलिस-विभाग का अधीक्षक है, जिसकी सहायता से गृह-मन्त्रालय अपना काम सुचारु ढंग से सम्पादित करता है।

पञ्चम मण्डल में सेना और सैनिक विधान का संकेत है। इस मण्डल के प्रथम सूक्त में ही ये शब्द आते हैं :—

गणस्य रशनामजीगः (५।१।३)

तेरे द्वारा गण की या सैनिक टुकड़ियों की रशनायें (रश्मियें, रासें) जागृत हो उठी हैं। ऋग्वेद में गण शब्द का प्रयोग बहुधा मरुतों के साथ हुआ है—**मरुद्गणः**। मानो ये मरुत् सैनिकों के समूह हों। इन पर इन्द्र की विशेष कृपा है, ये चमचमाते वस्त्रों, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हैं। पञ्चम मण्डल में मरुत्-सम्बन्धी सूक्तों की ही प्रधानता है।

पञ्चम मण्डल में सेना का प्रकरण है इसकी पुष्टि के लिए एक ही मन्त्र पर्याप्त होगा—

'शर्धं शर्धं व एषां व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः।

[स्तुतियों और सूक्तों के साथ-साथ हम तुम्हारी सेनाओं के अनुगामी बनें, बल के साथ बल, टुकड़ी के साथ टुकड़ी, गण के साथ गण] (ऋ. ५।५३।११—ग्रिफिथ का अनुवाद) स्पष्ट है कि पञ्चम मण्डल में सेना-सञ्चालन का विधान है।

षष्ठ मण्डल में शब्द आते हैं:

क्षितयः पृथिव्याम् (६।१।५) अर्थात् पृथ्वी पर अनेक उपनिवेश या बस्तियां।

यहाँ अब फिर अग्नि का उल्लेख है, जो साहस और परस्पर सहयोग सिखाने आता है—

सहसे विश्वस्मै सह्यै (६।१।१)

और इस सीख का उद्देश्य है 'महोराये' (६।१।२) अर्थात् महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त। इन्द्र के लिए सहचोः विशेषण इसी मण्डल में आता है, अन्यत्र कहीं नहीं। अग्नि ने मानव मात्र को इस सहन-शीलता का उपदेश दिया है। सहन-शीलता की प्राप्ति आसान नहीं है, दुर्लभ है, मानो समुद्र का पार करना हो—दुष्टरीतु (६।१।१) (=दुस्तरीतु, दुः साध्य)। संसार में आर्थिक ऐक्य की स्थापना के पश्चात् राजनीतिक ऐक्य की बारी आती है। इस हेतु सप्तम मण्डल में हम वसिष्ठ का वर्णन पाते हैं।

स्वामी समर्पणानन्द जी का कथन है कि वैदिक शब्दावली में साधारण नागरिक को 'वसु' कहते हैं जिसे नगर में रहना आता हो। वसु के बाद 'वस्यान्' (६।४१।४) की गणना है। वस्य वह व्यक्ति है, जो आर्थिक क्षेत्र में निर्मल हो चुका हो, वसु और वस्य के बाद 'वसिष्ठ' की बारी आती है।

सप्तम मण्डल के प्रथम सूक्त के आठवें मन्त्र में अग्नि का विशेषण वसिष्ठ है। ग्रिफिथ ने वसिष्ठ का अर्थ वरिष्ठ (excellent) किया है। सप्तम मण्डल में वसिष्ठ शब्द नीतिज्ञ या नीति-

५

कुशल व्यक्ति के लिए आया है। समस्त राष्ट्रों के नीतिज्ञ इकट्ठे होते हैं, और वे अपना नेता चुनते हैं। इस बात का संकेत सप्तम मण्डल के निम्न मन्त्र में है :—

प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निः सुवीरासः शोशुचन्तः द्युमन्तः।
यत्रा नरः समासते सुजाताः ॥ (७।१।४)

[सभी नेताओं (अग्निभ्यः) में ये नेता सबसे अधिक देदीप्यमान हैं। ये वीरों से परिपुष्ट हैं। जहां कि श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मनुष्य साथ-साथ बैठते हैं।]

ये सभी चुने हुए वसिष्ठ अपना एक वसिष्ठ चुनते हैं, जिसके कारण पृथिवी पर राजनीतिक शान्ति की स्थापना होती है। ये सब मिलकर सभी राष्ट्रों के ऊपर एक राजा चुनते हैं—**राजा राष्ट्राणाम्** (७।३४।११) यह काम ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित होता है। इन्द्र स्वयं ब्राह्मण बन जाता है :—

ब्रह्मन् वीर ब्रह्म-कृतिं जुषाणः ॥ (७।२९।२)

(हे वीर इन्द्र ! हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मण की कृति या कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ तू हमारे पास आ)।

ऋग्वेद में सम्भवतया कहीं अन्यत्र इन्द्र को 'ब्रह्मन्' कह कर सम्बोधित नहीं किया गया। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल से विश्व-ऐक्य की भावना का आरम्भ होता है।

राजा का निर्वाचन या वरण जनता के द्वारा होना चाहिये। समस्त सप्तम मण्डल में इसी भावना को प्रश्रय दिया गया है। राजा का वरण प्रजा द्वारा हो इसके सम्बन्ध में दशम मण्डल का एक मन्त्र है :—

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ (१०।१७३।१)

[राजन् ! तू मेरे पास हो, मैंने तुझे चुना है, तू हमारे बीच में स्वामी हो, राज्य को धारण करने वाला अविचल हो, तुझे सभी प्रजायें चाहें, तेरे हाथों से राष्ट्र निकल न जावे।]

समस्त सप्तम मण्डल में इसी का उल्लेख है।

अब हम **अष्टम मण्डल** की बात लेते हैं। इस मण्डल में इन्द्र का उल्लेख है। उसी के सम्बन्ध में सारी परायणता है। इस मण्डल के प्रतीक-शब्द ये हैं :—

विश्वमनः (८।२३।२)
विश्वमनवे (८।२७।४)
विश्वमानुषः (८।४५।४२)

विश्वमानुष का अर्थ है विश्वनागरिकों का क्षेत्र। समस्त राष्ट्रों के नीतिकुशल व्यक्ति मिलकर अपना एक चुनाव-क्षेत्र बना लेते हैं। यह क्षेत्र ही **विश्वेमानुष** है। यह शब्द एकवचन है।

विश्वमानुष के समान सब मिलकर एक व्यक्ति को चुनते हैं--**भुवनस्य एकराट्** (८।३७।३)। यह व्यक्ति मानो समस्त विश्व का एकमात्र राजा है। विप्र-राज्य में भी उसकी प्रशंसा है—**सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये** (८।३।४)।

इस व्यक्ति की जो प्रशंसा की जाती है वह उसकी सत्य-निष्ठा के कारण। वह विप्रराज्य में सर्वोपरि है। अष्टम मण्डल के ४८ वें सूक्त में सोम को राजा कहा गया है। यजुर्वेद में भी ब्राह्मणों का राजा सोम बताया गया है—**सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा** (यजु० ९।४०)।

नवम मण्डल का मुख्य विषय यह **सोम** ही है। **सोम** शब्द √ सु से निकला है, अर्थात् किसी अनुपयुक्त पदार्थ से उपयुक्त पदार्थ का निकलना। वीर्य से पुत्र और पुत्री का जन्म होता है (**सुत और सुता**=पुत्र और पुत्री)। जो कुछ भी न पैदा करे या बनाये, ऋण पर ही जीवित रहे, उसे असुर कहते हैं। उपयोगी पदार्थों का बनाने वाला, और यह बना उपयोगी पदार्थ दोनों को ही प्रसंग के अनुसार सोम कहते हैं। सोम का एक नाम **वनस्पति** भी है। सोम के आचार्य को; जो वन में अपने शिष्यों के साथ आसीन है, उसे **वनस्पति** कहते हैं।

ऋग्वेद के नवम मण्डल का प्रारम्भ ही इस दृश्य से होता है। इस आचार्य को **विश्ववित्** भी कहा जाता है,—वह सभी कुछ जानता है। सभी शास्त्रों का यह ज्ञाता है। शिष्यगण अपने आचार्य के प्रति ये शब्द कहते हैं :

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ।। (९।१।१)

(हे सोम, सब ओर से मुझ पर स्वादिष्ठ और मदिष्ठ ज्ञान की वर्षा करके मुझे पवित्र बनाओ) इन्द्र की प्रसन्नता के लिए तुम लाये गये हो। उसके शिष्य सवन की समाप्ति पर गृहस्थी बनने के अधिकारी हो जाते हैं। इनका नाम अब वधूयुः (वधु का इच्छुक पुरुष, ९।६९।३) हो जाता है। वे आचार्य के आश्रम (वनस्पति) से अब पृथक् होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। यहाँ से वे फिर वानप्रस्थ में जाते हैं और चतुर्थाश्रम संन्यास में प्रविष्ट होते हैं—**तुरीयं धाम विवक्ति** (९।९६।१९)। नवम मण्डल की समाप्ति **'इन्द्रायेन्दो परिस्रव'** शब्दों से होती है। सोम को भी एक मन्त्र में **रयिषाट्** (९।६८।८) कहा है।

प्रथम मण्डल से नवम मण्डल तक मनुष्य के विकास के लिए (ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यास आश्रम तक के) जो कुछ भी उपचार या कर्म किये जाते थे, उन्हें यज्ञ कहते थे (मनुष्य के सम्पूर्ण उत्थान के निमित्त)। सम्वत्सर का रूपक भी इसी आयोजना का प्रतीक है। ऋग्वेद के **दशम मण्डल** में इसका निरूपण है। जीवन-नाटिका को इस रूपक द्वारा विश्व के महान् कवि ने सुगम और बुद्धिगम्य बनाया है। जीवन का उदय और अस्त सूर्योदय और सूर्यास्त के समान है। वसन्त ऋतु तो सबको आनन्द विभोर कर देती है। (**वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्**, १०।९०।६)। काव्य के इस आनन्द के लिए कल्पना शक्ति को प्रौढ़ बनाना होगा। दशम मण्डल में √ **कलृप्** धातु से बने हुए शब्दों की प्रधानता है :

कल्पयत् (१०।१८४।१); **कल्पयन्तः** (१०।११४।५६);
कल्पयन्ति (१०।११४।५६) **कल्पयावहै** (१०।८६।२१)

कल्पयत् (१०।१९०।३) आदि ।

दशम मण्डल एक प्रकार से कल्पशास्त्र है (सायण, १०।१३०।६) :—

चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।

पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥(१९।१३०।६)

ऋषियों और मनुष्यों ने इस नाटिका के आधार पर अपने जीवन को सार्थक किया, जीवन-निर्माण किया । इस तत्त्व-ज्ञान के आधार पर मनुष्य ऋषि बन गया ।

उपसंहार

स्वामी समर्पणानन्दजी ने ऋग्वेद के मन्त्रों की मणिसूत्रता इस ग्रन्थ में दी है, वह विचारशील व्यक्तियों के लिए बड़े काम की है । इसमें सन्देह नहीं, वेद की ऋचाओं का तत्त्व-ज्ञान मानव-जीवन के चरमोत्कर्ष के लिए है—न यह केवल अधिभूतवाद है, न अध्यात्मवाद । जीवन की पूर्णता के लिए मानव का पार्थिव शरीर भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि विज्ञानमय और आनन्दमय शरीर—व्यष्टि—व्यक्ति भी उतने ही महत्त्व की है जितनी कि समष्टि । आसक्ति से लेकर वैराग्य तक का सब कुछ उतना ही आवश्यक है जितना कि शैशव से लेकर वार्धक्य तक की आयु ।

मेरे लिए यह कहना कठिन है कि जिन प्रतिज्ञाओं और आस्थाओं के आधार पर स्वामी जी ने मणिसूत्रता तैयार की है, उनका निर्वाह कहां तक वस्तुतः सम्भव है । कम से कम उन्होंने हमारे समक्ष एक दृष्टिकोण तो रखा, जिससे ऋग्वेद के महत्त्व को समझने में सहायता मिलेगी । ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी प्रयास करने पर ऐसी ही मणिसूत्रतायें प्राप्त हो सकेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है । स्वामी समर्पणानन्द जी गम्भीर मौलिक चिन्तक थे और इसी दृष्टिकोण से हमें उनके इस ग्रन्थ का स्वागत करना चाहिये । प्रभु और उसकी सृष्टि के प्रति हमारी आस्तिक भावना इस ग्रन्थ के अध्ययन से बढ़ेगी, इस विश्वास के साथ मैं इस ग्रन्थ का अभिनन्दन करता हूँ ।

प्रयाग
२६-४-७८

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

—ग्रन्थकार की आशंसा

नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधया पथः प्रत्नवद् रोचयारुचः ।
(ऋग्वेद, मण्डल ९, सूक्त ९, मंत्र ८)

तू प्रतिदिन नये और उससे भी नये सुभाषितों के लिये रास्ता बना और उस रास्ते को ऐसा रुचिकर बना, जैसे तुझसे पहिले विद्वान् बनाते आये हैं ।

साटोपं वादिवृन्दैरहमहमिकया सम्पतद्भिस्सलीलम्,
खेलन् मन्दस्मिताभामयसुर-सरितादत्तलोकाभिषेकः ।
छिद्रान्वेषेऽप्यलाभादुपहतमतिना वीक्षितश्चित्तजेन,
योगीन्द्रः कोऽपि चित्ते मम कृतवसतिः पापबुद्धिं दुनोतु ।।

—पण्डित बुद्धदेव

ग्रन्थ-लेखक का प्राक्कथन

ऋषि दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली

ऋषि दयानन्द अपने समय में अपने ढंग के अकेले, थे। अकेले बिल्कुल अकेले, सौ में अकेले, हजार में अकेले, लाख में अकेले, करोड़ में अकेले, दुनिया के दो अरब मनुष्यों में अकेले। बस, साथी था तो वह भगवान् था जिसने उन्हें सारे विश्व से निराले होकर वेद के सच्चे अर्थ समझाने की सामर्थ्य दी।

उन्हें किस-किस का सामना करना पड़ा?

भारत में अन्ध-विश्वास तो थे ही, किंतु वेद के अर्थ को विपरीत करने में उनके सामने जो सबसे बड़ा अन्ध-विश्वास खड़ा था, वह विकास-वाद का अन्धविश्वास था। इस घोर अन्धविश्वास को पश्चिमीय विज्ञान तथा पश्चिम की कुटिल राजनीति दोनों का समर्थन प्राप्त था। पश्चिमी विकासवादी कहते थे, 'प्राचीना आर्या मूर्खाः, प्राचीनत्वात्, अस्मदीय-प्राचीन-पुरुषवत्।' इस हेत्वाभास-भरे अनुमान को देखकर हंसी भी आती थी और रोना भी। हंसी इसलिये आती थी मानो कोई किसी सती को कह रहा हो 'सति पत्यौ त्वं विधवा, स्त्रीत्वात्. प्रतिवेशिनीवत्'।

वेद में कितनी ही बुद्धिमता पूर्ण बात लिखी हो, किन्तु उसका अर्थ उलटा ही होना चाहिये, नहीं तो समझ लो कि वेद का पाठ विकृत हो गया है। वेद में बुद्धि-पूर्वक बात हो ही नहीं सकती, क्योंकि मानव के वैदिक पूर्वज हमारी अपेक्षा बन्दर के अधिक समीप थे। यदि आप इस विकासवाद के अन्धविश्वास का खेल देखना चाहें तो अथर्ववेद के इस मंत्र का सायण तथा ग्रिफिथ का अनुवाद देख लीजिये।

मुग्धा देवा उत शुना यजन्त उत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ (अथर्व कां ७ सू० ५ मंत्र ५)

इसका सायणकृत भाष्य इस प्रकार है—

एवं कर्मयज्ञात् ज्ञान-यज्ञस्योत्कर्षं श्रुत्वा कर्मयज्ञं निन्दन्नविनाशिफल-कामस्तटस्थो ब्रूते— "मुग्धाः" कार्याकार्य-विवेक-रहिता—(देवाः) यजमानाः (उत) शब्दोऽयमप्यर्थः, शुनाऽपि अयजन्त। यज्ञो हि पशु-साधनकः। तत्र अत्यन्त-गर्हितस्यापि शुनः पशुत्वेन निर्देशात् कर्मयज्ञस्य निन्दा दर्शिता। अखाद्यानां परमावधिःश्वा। तथा। 'उत' शब्दः अप्यर्थे। (गोः) गोरूप-पशोरङ्गैः अवयवैरपि। "हृदयस्याग्रेऽवद्यति" (तै. सं. ६/३/१९/७४) इति अङ्गावदानश्रवणात् अङ्गैरित्युक्तम्। अवध्यानां परमावधिर् गौः। पुरुधा बहुधा अयजन्त। एकदा करणे प्रमादाज्ञानादिकृतम् इति सम्भावना भवति, अतस्तन्निरासाय पुरुधेत्युक्तम्। सर्वदा शुनकगवादिरूपैः पशुभिः यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः। एवं पूर्वार्धेन कर्मयज्ञं निन्दित्वा उत्तरार्धेन ज्ञानयज्ञप्राप्तये तदभिज्ञं प्रार्थयते। यो विद्वान् इमं यज्ञं यष्टव्यं परमात्मानं मनसा चिकेत जानाति स्म। तं तथाविधं गुरुं नः अस्माकं प्रवोचः प्रकर्षेण ब्रूहि। तेन प्रदर्शितं गुरुं ब्रूते। इहेह इहैव इदानीमेव ब्रवः परमात्मस्वरूपं ब्रूहि।

मंत्र का यह भाष्य तो सायण का है, इस पर ग्रिफिथ का अनुवाद और टिप्पणी देखिये—

With dog the Gods, perplexed, have paid oblation, and with cow's

limbs in sundry sacrifices. Invoke for us, in many a place declare him who with his mind hath noticed this our worship.

देवों ने परेशान होकर कुत्ते की भेंट अर्पित की और गउ के अंगों के साथ छोटी भेंटें दीं। अनेक स्थानों पर उसको हमारे लिए जगाओ जिसने हमारी इस भेंट-पूजा को देखा है।

With dog : no legend refering to this extraordinary sacrifice has survived. Perplexed : it seems impossible that mugdh's (perplexed, infatuated) can be the right reading here. A substantive in the instrumental case is required by the context. M. victor henry reads murdhna, with the head, that is, with the horse's head given to Dadhyach, which, according to M. Beraigne (Religion, Vedique, 11 page 458) symbolizes Agni or soma.

इस प्रकार कुत्ते की यज्ञ भेंट करने वाली कोई दन्त-कथा हमें उपलब्ध नहीं होती, इस मंत्र में 'मुग्धा' का पाठ असम्भव प्रतीत होता है। प्रकरणानुसार यहां तृतीया विभक्ति होनी उचित प्रतीत होती है, इसलिये यहाँ 'मुग्धा:' के स्थान पर 'मूर्ध्ना' घोड़े का सिर दधीचि को भेंट में दिया जाना सम्भव हो सकता है। श्री मौशियर बर्गेन (Religion Vedic 11 Page 458) पृ० ४५८ जो कि अग्नि और सोम हो सकता है।

यह देखिये, विकासवाद की करामात, क्योंकि ग्रिफिथ साहिब की विचारधारा से यह मंत्र मेल नहीं खाता, इसलिये मंत्र ही बदल डालना चाहिये।

सुनते हैं कि गवर्गण्ड के राज्य में एक मनुष्य को फांसी हुई। फांसी का फंदा उसके गले में पूरा नहीं आया, हुक्म हुआ कि जिसके गले में पूरा उतरे उसी को फांसी टांग दो। यही हाल यहां है। हमारे विकासवाद का फन्दा इस मंत्र के गले में पूरा नहीं उतरा तो बस, नया मंत्र बनाकर उसी को अथर्ववेद का मंत्र समझ लो। यह है विकासवाद का अन्धविश्वास।

इस बात का आज के युग में इतना आतङ्क है कि इसके विरुद्ध कुछ बोलना उपहास को नियन्त्रण देना है, परन्तु हमारी समझ में नहीं आता कि इसमें जान क्या है।

विकासवाद का मूलाधार है प्राणयात्रा-जन्य परिवर्तन, प्राण की रक्षा के लिए जिसे नंगे पांव चलना पड़े उसके पैर का चमड़ा धीरे-धीरे मोटा तथा शीतोष्णादि-द्वन्द्व-सहन-समर्थ हो जाता है। जिसे नंगे पैर न चलना पड़े उसका चमड़ा नरम पड़ता जाता है, परन्तु यह नियम एक सीमा तक ही चलता है।

सींग, पूंछ, पंख आदि जो अंग मनुष्य के पास नहीं हैं, उन सब की उसे आवश्यकता है। यदि न होती तो नाना प्रकार के शस्त्र, नाना प्रकार के नौका, विमानादि तथा चामर और बिजली के पंखे आदि वह क्यों बनाता? परन्तु आज तक उसके यह अंग क्यों प्रकट नहीं हुए? जो जातियां सहस्रों वर्षों से नदी के किनारे रहती हैं और केवल मछली मारकर जीवन-निर्वाह करती हैं, उनका सद्यो-जात शिशु तैरना क्यों नहीं जानता? क्या करोड़ों वैज्ञानिक अन्धविश्वास-वश हम पर रौब डालने के लिये हाथ उठाकर चिंघाड़ चिंघाड़ कर कहेंगे कि उन्हें तैरने की आवश्यकता

नहीं रही, इसलिये वे तैरना भूल गये, तो भी इस बात पर अन्ध श्रद्धा के सिवाय किसी दूसरे आधार पर विश्वास किया जा सकता है ? कदापि नहीं।

दूसरी ओर जो भैंस सहस्रों वर्ष से राजपूताने में रहती है, जिसे कभी डूबने योग्य पानी में तैरने का अवसर वर्षों में एक आध बार आता होगा। उसका सद्यो-जात शिशु पानी में घुसते ही क्यों तैरने लगता है ?

मानव-जगत् तथा मानवेतर जगत् का यह पर्वताकार भेद आंखों से कैसे परे किया जा सकता है ? इसे आंखों से परे करने का एक ही उपाय है। विकासवादियों के भय के मारे आंखें बन्द करलें। बस, फिर तो अन्धकार के सिवाय कुछ नहीं, परन्तु जब तक मस्तिष्क में तर्क की एक चिनगारी भी शेष है कोई आंखें कैसे मूंद ले ?

अब लीजिये कछुए को, यह विचित्र जन्तु है इसे जरा उलट दीजिये, बस फिर एक पग भी नहीं चल सकता, इसलिये यदि कोई मोटर कार उलट जाये तो अंग्रेजी में कहा जाता है :—The car has turned turtlle. परन्तु इससे भी विचित्र बात यह है कि इस जन्तु की पीठ पत्थर से भी अधिक कठोर है। दूसरी ओर इसका पेट अति सुकुमार है, हम पूछना चाहते हैं, कि इस जानवर की पीठ कब और कहां रगड़े खा-खा कर कितने करोड़ वर्ष में इतनी कठोर हो गई ? तब क्या यह पीठ के बल चलता था, और फिर इस का पेट बराबर नरम है; यह कितने करोड़ वर्ष में कठोर होगा और अब यह पीठ के बल चलना एक दम क्यों भूल गया, वह करोड़ों वर्षों की आदत एक दम कहां रफूचक्कर हो गई ? इसके पेट की सुकुमारता को देख कर तो कहा जा सकता है कि इसे पैरों के बल चलते मुश्किल से कुछ हजार वर्ष हुए होंगे, वह करोड़ों वर्षों की पीठ के बल चलने की आदत कुछ हजार वर्ष में कहां भाग गई ? और इसके पैर तो अभी तक पत्थर के समान कठोर नहीं हुए।

अब एक और जीव-श्रेणी लीजिये। इन में से मैं मोर और कोयल को लेता हूँ। प्राण-रक्षा के निमित्त परिश्रम करने से मोर के पञ्जे तीक्ष्ण हो गये हों, डैने बलवान् हो गये हों। चोंच कठोर हो गई हो, यह सब कुछ तो समझ में आता है, परन्तु यह सुन्दर पूंछ के चन्दे कहाँ से आ गये। मोर के कण्ठ तथा पूंछ की सुन्दरता तथा कोयल के कण्ठ की काकली का जन्म कैसे हुआ ? इस लम्बी सुन्दर पूंछ का सौन्दर्य कहाँ से आया और नृत्य-कला मोर ने कहां से सीखी ? उत्तर मिलता है कि सौंदर्य पर ही मोहित होकर मोरनी मोर की ओर आकृष्ट होती है, इसलिये यह उसकी प्राण-रक्षा के लिये आवश्यक है। वाह जी वाह ! यह भी एक रही ! पहिले सुन्दर पूंछ बनी तब मोरनी आकृष्ट हुई, परन्तु प्रश्न तो यह है कि सुन्दर पूंछ बनी कैसे ? चेतनाहीन प्रकृति में इस सुन्दर कला-कृति का विकास कैसे हुआ ? उत्तर एक ही हो सकता है, तर्क की आंख मूंद लो और विकासवादी महामहोपाध्याय जी के आगे हाथ जोड़कर कह दो—'सत्य वचन महाराज' नहीं तो आर्य-समाजी कह कर तुम पर धरती से मिटा दिये जाने का फतवा लगा दिया जायेगा, परन्तु हम तो टलने वाले नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव तथा मानवेतर जगत् में एक स्पष्ट भेद है।
मानव बिना सिखाए कुछ नहीं सीखता।

मानवेतर को जन्म से बहुत सी सिद्धिएं प्राप्त हैं। जिन्हें सीखने में मानव को सैंकड़ों वर्ष लग जाते हैं। कबूतर को उड़ने की सिद्धि, भैंस को तैरने की सिद्धि, रेशम के कीड़े को रेशम बनाने की तथा मधुमक्षिका को मधु तथा मधुकोष बनाने की सिद्धि, ये सिद्धियाँ इन जीवों को जन्म से प्राप्त हैं, इसीलिए यह पशु अर्थात् द्रष्टा कहलाते हैं।

दूसरी ओर मनुष्य मनु अर्थात् मननशील कहलाता है। मनुष्य में जो अपत्य प्रत्यय है, यह आलङ्कारिक है अर्थात् मनन की सन्तान, अन्यथा मनुष्य तथा मनु पर्यायवाची हैं, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण के इस प्रमाण से सिद्ध है—

होता मनुवृतोऽयं हि सर्वतो मनुष्यैर्वृतः ॥ (ऐतरेय, अध्याय १० खण्ड २)

हमने देख लिया कि यह विकासवाद एक थोथी, सारहीन, निराधार, तर्क-विरुद्ध, जर्जर कल्पना मात्र है, किन्तु यही आज एक दीवार बनकर हमारे और सच्चे वेदार्थ के बीच खड़ी है। इस दीवार को तोड़ दो।

अदृष्टवाद अथवा अपूर्व्ववाद

वेद का सच्चा अर्थ जानने में बाधक दूसरा वाद नवीन मीमांसकों का अदृष्टवाद अथवा अपूर्व्ववाद है। वेदवाणी की महिमा गान करते हुए पतञ्जलि महाराज ने कहा है—

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति ।

अर्थात्—वेदवाणी का एक शब्द भी ठीक जानकर उसे भली प्रकार प्रयोग में ले आवें तो वह कामधेनु है। इन मीमांसकों ने इसमें से 'सुप्रयुक्तः' यह कड़ी उड़ा दी है, 'सम्यग् ज्ञातः' का अर्थ ये करते हैं 'सम्यगुच्चारितः', इसीलिए इन्होंने यज्ञों का खूब विध्वंस किया और उसके साथ ही वेद का भी खूब विध्वंश किया, यज्ञ-प्रक्रिया का मूलतत्त्व जानने के लिये हमें दो शब्दों को समझना होगा।

तेज एव श्रद्धा, सत्यमाज्यम् अहुयतैव सत्यं श्रद्धायाम् ॥ (शत० ११।२।४।१)

अब इन मीमांसकों के कहे अनुसार उदात्तानुदात्त स्वरित का ठीक विचार करके सम्यक् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक घृत अग्नि में डाल दिया तो बस, यज्ञ का पूरा-पूरा फल मिल जाएगा, क्योंकि इस कर्म से एक में एक अदृष्ट अथवा अपूर्व पैदा होता है, फिर उस क्रिया-कलाप का प्रत्यक्ष फल उस यज्ञ से चाहे बिल्कुल विपरीत ही क्यों न हो, किन्तु अदृष्ट का जादू सब विघ्नों को पार करके मनुष्य को इष्टसिद्धि तक पहुँचा देता है। यह अदृष्टवाद ही समस्त अन्ध-विश्वासों का प्राण है। भारत का सारा अधःपतन इसकी कृपा से हुआ।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि प्रतीक है। श्रद्धा उसका प्रत्यायनीय है, प्रतीक प्रत्यक्ष है, प्रत्यायनीय अदृष्ट है, अर्थात् अग्निहोत्र में जब अग्नि जला कर उसमें घृत की आहुति करते हैं तो इस स्थूल क्रिया के पीछे 'श्रद्धा में सत्य की आहुति' यह सूक्ष्म भावना छिपी है, यह अदृष्ट है इसको जान कर जीवन में आचरण करने से मनुष्य का कल्याण होता है, किन्तु इसके विपरीत यह मध्य-

६

कालीन मांसल-प्रज्ञ मीमांसक लोग समझते हैं कि विधि-पूर्वक मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि में घृत डालते ही यज्ञ पूरा हो गया और उसी समय यजमान के परलोक बैङ्क में अदृष्ट का चैक जमा हो गया । यहां 'सम्यग् ज्ञातः' के पश्चात् 'सुप्रयुक्तः' का कुछ काम नहीं, बस 'सम्यगुच्चारितः' से काम पूरा हो गया । मीमांसकों के अदृष्ट का प्रतीक मात्र से सम्बन्ध है, प्रत्यायनीय से कुछ नहीं, इसीलिए शतपथ-ब्राह्मणादि समस्त ग्रन्थों के भाष्य उपहसनीय दीखते हैं ।

वर्तमान युग के एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

कम्यूनिस्ट झण्डे पर हँसिया और हथौड़े का चित्र बना है । यह हँसिया और हथौड़ा प्रतीक हैं । हँसिया का प्रत्यायनीय है किसान और हथौड़े का **प्रत्यायनीय है मजदूर** ।

अब यदि कहा जाय कि हँसिया हथौड़े की रक्षा करो । हँसिया हथौड़े के अपमान से राष्ट्र का नाश हो जाता है तो इसका अर्थ हुआ कि राष्ट्र के किसान मजदूरों की रक्षा करो, इनके अपमान से राष्ट्र का नाश हो जाता हैं । तब तो बिल्कुल ठीक है, परन्तु इसको न समझ कर कोई मनुष्य हथौड़े को नमस्कार करके फूल चढ़ाने लगे, तो उसे तो कुछ भी न मिलेगा और यदि हथौड़े को पैर से लात मारे तो थोड़ा सा पैर के तले में दर्द होकर रह जायगा, इस अपमान का और तो कुछ फल न होगा ।

इस प्रकार हँसिया हथौड़े का अदृष्ट किसान और मजदूर है, परन्तु मीमांसकों के विचारानुसार 'हँसियायै स्वाहा' कहकर घृत की आहुति अग्नि में डालते ही एक अदृष्ट पैदा हो जाता है, बस फिर कल्याण में क्या देर है ?

इस अदृष्ट शब्द के ठीक न समझने से कितना भयङ्कर परिणाम हुआ, यह कह कर नहीं बताना पड़ेगा । हम अपनी बात को पुष्ट करने के लिये यहां शतपथ-ब्राह्मण का एक प्रमाण उपस्थित करते हैं जो बिल्कुल पर्याप्त होगा—

तद्धैतज्जनको वैदेहः याज्ञवल्क्यम् पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या ३ इति । वेद सम्राडिति । किमिति पय एवेति ।२। यत् पयो न स्यात् केन जुहुया इति । व्रीहियवाभ्यामिति । यद् व्रीहियवौ न स्याताम् केन जुहुया इति । या आरण्या ओषधय इति । यदाऽऽरण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति । वानस्पत्येनेति । यद्वानस्पत्यं न स्यात् केन जुहुया इत्यद्भिरिति । यदापो न स्युः केन जुहुया इति ।३। स होवाच न वा इह तर्हि किंचनासीदथैतदहूयतैव सत्यं श्रद्धायामिति । वेत्थ याज्ञवल्क्याग्निहोत्रं धेनुश्शतन्ते ददामीति होवाच ।४।

॥ शत ११।२।२ से ४ तक ।

सो, यह इस प्रकार हुआ कि एक समय वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! अग्निहोत्र का तत्त्व जानते हो ?

याज्ञ०--हां सम्राट् ! जानता हूं ।

जनक—किस पदार्थ से हवन करते हो ?

याज्ञ०—दूध से ।

जनक—यदि दूध न मिले तो काहे से हवन करोगे ?

याज्ञ०—जौ चावल से ।

जनक—यदि जौ चावल न मिले तो किससे हवन करोगे ?

याज्ञ०—तो जो कोई जंगली अनाज मिलेगा उससे ।

जनक—यदि जंगली अनाज न मिले तो किससे हवन करोगे ?

याज्ञ०—तो जंगली फलों से ।

जनक—यदि जंगली फल न मिलें तो किससे हवन करोगे ?

याज्ञ०—जल से ।

जनक—यदि जल न मिले तो किससे हवन करोगे ?

तो इस पर याज्ञवल्क्य बोले—जब केवल वेद ही था, और यह सब क्रिया-कलाप कुछ नहीं था, तब भी हवन होता ही था, वह हवन सत्य का श्रद्धा में होता था । इस पर जनक ने कहा कि हां याज्ञवल्क्य ! तुम यज्ञ को ठीक जानते हो, मैं तुम्हें सौ गाय देता हूं ।४।

इसीलिये इसी प्रकरण में, प्रथम कांड में लिखा है कि—

वाग्ह वा एतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री । मन एव वत्सस्तदिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्तानेव तस्मात् समान्या रज्वा वत्सं च मातरं चाभिदधाति । तेज एव श्रद्धा सत्यमाज्यम् ।१।

इस अग्निहोत्र की दूध देने वाली गाय वाणी है, मन उसका बछड़ा है । सो, यह मन और वाणी एक समान होते हुये भी पृथक् से हैं, इसलिये एक रस्सी से गाय और बछड़े को बांधता है, यहां श्रद्धा अग्नि है और सत्य घृत है । यहां स्पष्ट है कि गाय वाणी का प्रतीक है और बछड़ा मन का प्रतीक है, रस्सी दोनों के घनिष्ट सम्बन्ध का प्रतीक है । अग्नि श्रद्धा का और घृत सत्य का प्रतीक है ।

इस पर कहा जायगा कि तब तो ये अग्नि-होत्रादि यज्ञ एक प्रकार के नाटक हुए, जिनमें शूर्प, अग्निहोत्रहवणी, पुरोडाशादि अभिनय करने आते हैं तो उसका उत्तर हां में है ।

भरतनाट्यशास्त्र में लिखा है—'यजुर्वेदादभिनयम्' । नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने अभिनय यजुर्वेद से लिया, इसीलिये अबतक नाटक में अभिनय-कर्ताओं को पात्र कहा जाता है । यज्ञों में जो काम पात्रों से लिया जाता था वह नाट्य में स्त्री पुरुषों से लिया गया, किन्तु नाम वही पात्र रहा, यही नहीं, स्वयम् शतपथ-ब्राह्मण में अग्निहोत्र को काव्य कहा गया है । ऊपर जो वाक्य उद्घृत किया गया है उस प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य अपने से प्राचीन किसी ऋषि के श्लोकों का उद्धरण देकर अथवा स्व-निर्मित श्लोक उद्घृत करके कहते हैं—

तदप्येते श्लोकाः। किंस्विद् विद्वान् प्रवसत्यग्निहोत्री गृहेभ्यः कथमस्य काव्यम्। कथं संततोऽग्निरिति। कथंस्विदस्यानपप्रोषितं भवतीत्येवैतदाह ।५। यो जविष्ठो भुवनेषु स विद्वान् प्रवसन् विदे तथा तदस्य काव्यम् तथा संततोऽग्निरिति। मन एवैतदाह मनसैवानपप्रोषितं भवतीति ।६।

जब अग्निहोत्री विद्वान् प्रवास में ही घर से बाहर हो तो तब क्या होगा ? प्रवास में रहते हुए भी अग्निहोत्र की दृष्टि से अप्रवास हो, वह कैसे होगा, उसके काव्य का क्या बनेगा, अग्नि अविच्छिन्न कैसे रहेगा ? इस प्रश्न का उत्तर अगली कण्डिका में है, जो इस संसार में सबसे तीव्र गति वाला है, वह विद्वान् ज्ञान देने के लिये प्रवास में साथ है, उसी के द्वारा काव्य की रक्षा होगी, अग्नि अविच्छिन्न रहेगा। सो यह इशारा मन की ओर है, मन के द्वारा प्रवास, अप्रवास हो जायगा, क्योंकि श्रद्धा-रूप अग्नि मन में है और अग्निहोत्र-रूप काव्य उसके मन में उसके साथ है।

इस प्रतीक प्रत्यायनीय के रहस्य को न समझकर मध्यकालीन मीमांसकों ने विचित्र धांधली मचाई है। कात्यायन-श्रौत-सूत्र में लिखा है—"**अवकीर्णिनो गर्दभेज्या।**"

अर्थात् जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग कर बैठे उसे गर्दभेज्या करनी चाहिये। अब स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग करने वाले का प्रायश्चित्त अभीष्ट है, इसलिये मूर्खता का प्रतीक गधा चुना गया। साथ ही यह भी बताया गया कि यदि तू गधे से कठिन परिश्रम करना तथा जो मिले, खाकर प्रसन्न रहना, यह सीखेगा तो फिर ब्रह्मचर्य भङ्ग न करेगा यही प्रायश्चित्त का भाव है। प्रायश्चित्त का अर्थ प्र=अग्रे अय=गमनम्, चित्तम्=दृढ़—निश्चयः अर्थात् 'अग्रे गमनाय दृढ़-निश्चयः, इस प्रकार हुआ। तूने भूल की, गर्दभेज्या द्वारा तुझे दण्ड मिल गया, अब कमर कसके उठ और "आगे बढ़ने का दृढ़ निश्चय" कर। अब तक यह गर्दभेज्या, भारत के ग्राम-ग्राम में प्रचलित है। जब कोई ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी अपराध करता है, तो उसे गधे पर चढ़ाया जाता है। इस यज्ञ का स्थान भी वही शास्त्रोक्त है, अर्थात् चौराहा, सो ब्रह्मचर्य का अपराधी गधे पर चढ़ कर चौराहे में घूमे यह तो प्रायश्चित्त हुआ, किन्तु यह भी तब होगा जब प्रायश्चित्ती इसके भाव को ठीक जान कर, उसे सुप्रयुक्त भी करेगा। केवल रीति-निर्वाह-मात्र से कुछ लाभ न होगा। यहां गधा तो मूर्खता-अध्यवसाय और स्वल्पाहार का प्रतीक मात्र है। गधे पर चढ़ना तो दृष्ट है, अदृष्ट भावना तो गधे से कुछ सीखना है और कुछ भूलना है। मूर्खता का परित्याग, अध्यवसाय और तप का ग्रहण, यह इस प्रतीक का प्रत्यायनीय है, परन्तु अब मध्यकालीन मीमांसकों की लीला देखिये—

जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य भंग करे वह गधे को काटकर चौराहे में हवन करे।

भला पूछिये तो सही कि यह प्रायश्चित्त क्या हुआ, एक पाप को दूर करने के लिये उससे भी बड़ा पाप कर डाला, ब्रह्मचारी ने तो व्रत भङ्ग किया और गधा बेचारा निरपराध मारा गया, परन्तु बोलिये मत, अदृष्ट उत्पन्न हुआ, अपूर्व उत्पन्न हुआ। कहीं कोई मीमांसक आप पर भी प्रहार न कर बैठे।

जरा आगे और लीला देखिये। गधा मारा गया उसका बटवारा भी हो गया। एक भाग

होता को, एक अध्वर्यु को, एक उद्गाता को, एक यजमान को मिला, परन्तु सबसे बढ़िया भाग तो ब्रह्मा जी को मिलना चाहिये। सो देखिये, चौराहे में से कुछ दबाए लिये चले आ रहे हैं। आप उत्सुकता से पूछेंगे वह क्या है ? सो सुनिये। "शिश्नात् प्राशित्रावदानम्" अर्थात् ब्रह्मा जी को गधे का............मिले। जब घर पहुँचेंगे तो ब्रह्मा जी की पत्नी और बच्चे यह प्रसाद पाकर कितने प्रसन्न होंगे ? वाह-वाह ! कैसे उछलेंगे ? बोलो मत, अदृष्ट उत्पन्न हुआ।

इस पर आप पूछेंगे कि तुमही कहो कि इस सूत्र का अर्थ क्या है ? तो सो सुनिये, इस प्रकार उपस्थेन्द्रिय का दुरुपयोग करने वाले बालक को चतुर्वेदविद् ब्रह्मा, जो इस विज्ञान का विशेषज्ञ हो, उसकी शरण में ले जावें और उसकी देख-रेख में रह कर इस इन्द्रिय का पूर्ण सुधार करें, जिससे फिर भूल न हो, तब प्रश्न होगा कि फिर वह ब्राह्मण खावें क्या ? उत्तर यह है कि इस सुधार के विज्ञान से ही उनकी जीविका भी चलेगी, जिस प्रकार नेत्र-विशेषज्ञ नेत्र की कमाई खाते हैं इसी प्रकार शिश्न-विशेषज्ञ शिश्न-सुधार की कमाई खावेंगे और यह श्रद्धा-पूर्वक उन तक पहुँचाना यजमान का कर्तव्य है, इसलिये इसे यज्ञ का अंग बनाया। इस प्रकार हुआ "शिश्नात् प्राशित्रावदानम्"। सो इस प्रतीक प्रत्यायनीय के मर्म को न जान कर अदृष्टवादियों ने जो वेद का विध्वंस किया उससे ऋषि दयानन्द ने हमारा उद्धार किया, धन्य हो दयानन्द !

विनियोगवाद

अब वेदार्थ-ज्ञान का तीसरा महाविघ्न विनियोगवाद हमारे सामने आता है। विनियोग किसको कहते हैं ? **अन्यत्रोपात्तानां वाक्यानाम् यथास्थानमुपयोगो विनियोगः**—जो वाक्य किसी एक ग्रन्थ के विशेष प्रकरण में पड़े हों। उनको प्रसङ्गानुसार किसी वैसे ही प्रकरण में इस ढङ्ग से प्रयोग करना जिससे वे उस प्रसङ्ग में फब जावें, यही विनियोग कहलाता है। जैसे, गीता का यह वाक्य '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि**॥ (अ० २ श्लोक २७) जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। जो मरा है उसका जन्म अवश्य होगा, इसलिये अवश्यम्भावी बात पर तुम्हें शोक करना उचित नहीं।

यदि यह श्लोक किसी उपदेशक द्वारा किसी ऐसे अवसर पर पढ़ दिया जाये जहां किसी जवान पुत्र की देश-सेवा के कार्य में मृत्यु हो गई तो वह इसका ठीक विनियोग होगा।

परन्तु किसी कन्या के विवाह पर कन्या की विदाई के समय यह वाक्य पढ़ा जावे, तो इसका अनुचित उपयोग होगा। यह विनियोग नहीं दुर्नियोग होगा। अब किसी वाक्य का विनियोग हुआ है अथवा दुर्नियोग इसके निर्णय करने का उपाय यह है कि पहिले उस वाक्य का ठीक अर्थ जानकर पीछे विनियोग को देखना चाहिये कि विनियोज्य वाक्य का ठीक अर्थ के अनुकूल है या नहीं, किन्तु इसके ठीक विपरीत मध्यकाल के मीमांसकों ने विनियोग-वाक्यों का अर्थ निश्चित करके वेद को उसके पीछे चलाया। उदाहरण के लिये, मैं यजुर्वेद में अध्याय ३७ मंत्र १२ को लेता हूँ।

मन्त्र इस प्रकार है —

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः।
पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजाम्मे दाः॥

सुषदा पश्चाद् देवस्य सवितुराधित्ये चक्षुर्मे दाः ।
आस्रु तिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषम्मे दाः ।।
विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये ओजो मे दाः ।
विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि ।।

पति पत्नी की प्रशंसा में पत्नी से कहता है—"हे पत्नि, मेरा धर्म है कि मेरे रहते कोई तेरी ओर आंख न उठा सके और तुझे सदा उचित आदर से देखे। इस प्रकार अनाधृष्टा तू अग्नि के राज्य में मुझे आयु देने वाली हो, मेरी दक्षिण दिशा में अर्थात् वीर्य्य-शक्ति सम्पन्न होने की दशा में तू पुत्रवती होकर इन्द्र के राज्य में मुझे प्रजा देने वाली हो, उचित रूप से घर की देख-रेख के लिए घर में बैठने वाली सुषदा होकर तू मेरे घर रूपी सवितृ-मण्डल में मुझे आंख देने वाली हो। चारों ओर का ठीक-ठीक गृह-वृत्तान्त मुझे सुनाने वाली, अतएव आश्रुति बन कर तू उत्तर दिशा में अर्थात् मेरे वामाङ्ग में धाता के राज्य में मेरी गृहलक्ष्मी की षोषक बन, मेरे सिर पर धारने योग्य विधृति अर्थात् छत्र-रूप बनकर तू बृहस्पति के राज्य में अर्थात् मेरे मस्तिष्क में ओज भरने वाली बन। तू सब नाष्ट्रा अर्थात् व्यभिचारादि द्वारा हमारा जीवन नष्ट करने वाली दुराचारिणी स्त्रियों से मेरी रक्षा कर, सो किस प्रकार? कि—

मनोरश्वासि=अन्तःकरणस्य व्यापिका भवसि ।

भावार्थ—तू मेरे मन में इस प्रकार व्याप जाती है कि किसी दुराचारिणी के लिए उसमें स्थान ही नहीं रहता।"

यह इस मन्त्र का ऋषि-दयानन्द-कृत अर्थ है। कितना स्पष्ट, कितना प्रकरणानुकूल, कितना युक्ति-सङ्गत। मन्त्र में पड़ा हुआ पुत्रवती शब्द पुकार पुकार कर कह रहा है, कि इसमें पत्नी का वर्णन है, इसका विनियोग पृथिवी में हुआ है। सो इस में कुछ अयुक्त बात नहीं। विवाह-संस्कार में पति पत्नी से कहता है "द्यौरहं पृथिवी त्वम्" हे पत्नी! मैं द्यौ हूं, तू पृथिवी है। यहां पति को बताने वाला द्यौः शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इसका चमत्कार दिखाने का यहां प्रसङ्ग नहीं, वह यथास्थान दिखाया जायगा, किन्तु यहां पृथिवी कह कर वेदवाणी ने स्पष्ट-रूप से पत्नी का वर्णन किया है। अब यदि मूल के पुत्रवती शब्द के पीछे पृथ्वी को चलाकर इस मन्त्र का अर्थ समझा जाय तो वह कितना शिक्षाप्रद तथा उत्साह-वर्धक गृहस्थाश्रम में हमारा दर्शन बनता है। वेद की महिमा इससे कितनी स्पष्ट दिखती है, परन्तु मध्यकालीन भाष्यकारों ने वेद के पीछे विनियोग को न चलाकर विनियोग के पीछे वेद को चलाया है।

उनका व्यवहार ठीक इसी प्रकार है जैसे कोई तैय्यार कपड़ों की दूकान पर जाकर एक पाजामा मांगे। जब वह पहिन कर देखे तो पता लगे कि पाजामे की टांगे छोटी हैं तब बड़ी टांगों वाला पाजामा दिखाने के स्थान में दूकानदार ग्राहक से मांग करे कि कृपा कर के टांग कटा कर आजाइए, पाजामा आपको पूरा आ जाएगा। विनियोग के पीछे मूल को चलाना, पजामे के पीछे टांग को कटाने के सदृश घोर अत्याचार तथा पराकाष्ठा की मूर्खता है, किन्तु इसी मूर्खता का

साम्राज्य मध्यकालीन मीमांसकों के द्वारा किए गए भाष्यों में दीखता है। ऊपर वर्णित मन्त्र का महीधर कृत भाष्य देखिए।

"हे पृथिवी जो तू पूर्व दिशा में राक्षसों से अनाधृष्टा है, अग्नि के आधिपत्य में मुझे (यजमान को) आयु दे। जो तू दक्षिण दिशा में इन्द्र के आधिपत्य में पुत्रवती है, सो तू मुझे संतान दे, जो तू पश्चिम दिशा में सुषदा अर्थात् जिसमें सब भली प्रकार बैठें ऐसी है, सो सविता देव के आधिपत्य में मुझे नेत्र दे। हे पृथिवी, जो तू उत्तर दिशा में ब्रह्मा के आधिपत्य में आश्रुति है अर्थात् ब्राह्मणों के वेद-श्रवण से युक्त है, सो तू मुझे धन की पुष्टि दे। जो तू ऊपर की दिशा में वृहस्पति के आधिपत्य में विधृति है, सो मुझे ओज दे। हे महावीर पात्र के दक्षिण ओर की भूमि, तू सब नाशकारक पिशाचादि से हमारी रक्षा कर। हे महावीर के उत्तर भाग की भूमि, तू राजा मनु की घोड़ी है।

इसी प्रकार पशुयाग में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उनका ऊट-पटांग अर्थ इस लिए किया गया कि इनका विनियोग पशु-संज्ञपन में है, अब यदि मूल मन्त्र के पीछे विनियोग को चलाते तो इन भाष्यकारों को पशु शब्द का भी ठीक अर्थ ज्ञात हो जाता और संज्ञपन का भी, परन्तु इन विनियोग के दास मन्दमति लोगों ने पशु और संज्ञपन दोनों शब्दों के साथ जो लीला की है उस पर रोयें अथवा हंसें, यह कहना कठिन है। हंसी इस लिए आती है कि यह अर्थ बिल्कुल असम्भव है। पशु के माता पिता से अनुमति मांगना, फिर उनका अपने बच्चे को मारने की अनुमनि देना, फिर मरे हुए बच्चे की वाक् प्राण आदि की शुद्धि सब ही नितान्त असम्भव है। उधर रोना इसलिए आता है कि इन लोगों ने वेद जैसे अमूल्य निधि को सारे संसार का उपहास-पात्र बना डाला है। प्रथम तो संज्ञपन का मारना अर्थ सम्भव ही नहीं और यदि कदाचित् व्याकरण द्वारा यह उपपन्न भी हो सकता हो तो सम्यग् ज्ञान देना इस प्रसिद्धार्थ को छोड़कर प्रकरण-विरुद्ध असम्भव अर्थ को मन्त्रों पर क्यों लादा जाय, यह बिल्कुल नहीं समझ में आता। संज्ञपन शब्द के अर्थ का निर्णय करने में निम्न बातें विचारणीय हैं —

संज्ञपन का अर्थ मारना करने में मरे हुए पशु को यज्ञ में डालना पड़ेगा, किन्तु शतपथ स्पष्ट करता है कि—

जीवमेव देवानां हविरमृतममृतानाम्

(शत० ३।८।२।४)

देव लोग जीवित हैं, मुर्दे नहीं हैं, इसलिये उनकी हवि भी सजीव ही हो सकती है, मुर्दा नहीं।

इसलिए स्पष्ट है कि पशुयाग में जो मंत्र दिये गये हैं वे जीवित पशु के ही अंगों में प्राण संचार करने वाले हैं, न कि मुर्दे के, और यह आहुति जीवन-काल में ही दी जाती है। यत: प्राण-संचार से पशु के अंग और भी सजीव हो उठते हैं।

कहा जा सकता है कि पशुयाग में जो पशु के अङ्ग-अङ्ग विभक्त करने का वर्णन है सो यह भी जीवित का ही होना चाहिये, क्यों कि शतपथ ने स्पष्ट कह दिया है, "जीवं वै देवानां हविः"— जिंदा देवताओं की हवि जिंदा ही हो सकती है, मुर्दा नहीं।

अब प्रश्न यह होगा कि क्या यह भी सम्भव है, पशु जिंदा भी रहे और उसके अङ्ग-अङ्ग विभक्त हो जावें ? तो इसका उत्तर 'हां' में है। इम गोरखधन्धे को सुलझाने से पहिले हम पशु शब्द का अर्थ खोलकर दिखलाना चाहते हैं। पशु का अर्थ है बालक, क्योंकि बालक में मनन-शक्ति पीछे प्रादुर्भूत होती है, आरम्भ में उसका जीवन निसर्ग-बुद्धि (Instinct) से चलता है। पशु जीवन भर (Instinct) निसर्ग-बुद्धि से ही देखते हैं, किंतु मनुष्य मनन-शक्ति की औलाद है उसकी मनन-शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, सो वह पशु (पश्यतीति पशुः) अवस्था से निकल कर मनु होता जाता है।

अथर्व-वेद में मन्त्र आया है—

वितिष्ठन्ताम् मातुरस्या उपस्थात् नानारूपाः पशवो जायमाना।

(अथर्व का. १४. अनु. २. मन्त्र २६.)

इस मन्त्र में नववधू के स्वागत में आशीर्वाद दिया गया है कि इस माता की गोद से पशु जन्म ले उन्हें प्रतिष्ठा लाभ हो।

इस मन्त्र के अनुवाद में ग्रिफिथ जैसे कट्टर पन्थी को भी पशु का अर्थ babies करना पड़ा है। यजुर्वेद में भी लिखा है।

देवा यद् यज्ञम् तन्वाना अबध्नन् पुरुषम् पशुम्।

(यजु० ३१।५१)

विद्वान् जो पवित्र यज्ञ करते हैं उसमें पुरुष पशु को बांधते हैं। यह तो हुई पुरुष सामान्य की बात, अब जो घोड़ा, गधा आदि पशुओं के नाम आते हैं वे ब्राह्मण क्षत्रियादि गुण वाले पुरुषों के नाम हैं। देखिए—

क्षत्रं वा अन्वश्वो वैश्यं च शूद्रं चानुरासभो ब्राह्मणमजः

(शत ६।४।४।१४)

घोड़ा क्षत्रिय के अनुकूल गुण वाला है, वैश्य गधे के और ब्राह्मण बकरे के गुण वाला।

सो जो छाग अर्थात् बकरी का बच्चा है यह गुरुकुल में प्रवेशार्थी छोटे बालक का नाम है, क्योंकि वह ऐसा नम्र तथा भोला-भाला है, इसी लिए अंग्रेजी में भी Innocent as a lamb यही उपमा दी जाती है।

इस बालक को जब व्यायाम की शिक्षा दी जाती है तो उसका एक-एक अङ्ग अलग दिखने लगता है और वह जिंदा भी रहता है, इस प्रकार का बालक ही देवताओं की हवि होता है अर्थात् राष्ट्र के जिस विभाग के लिए उसे तैयार करना हो उसके लिये उपयोगी होता है। बेडौल शरीर वाला अर्थात् चर्बी से लदा हुआ अथवा अस्थि-पञ्जर-मात्र बालक यज्ञ अर्थात् संगठन के किसी काम का नहीं, उसकी चर्बी पेट से कटकर व्यायाम द्वारा जगी हुई, प्राण-शक्ति द्वारा जहां उसकी आवश्यकता है, वहीं पहुंचनी चाहिये, यही चर्बी के हवन का भाव है। इस प्रसंग में कालिदास का यह श्लोक लीजिये—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम् सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ।।

(कुमारसम्भवः १. ३१)

कालिदास पार्वती के शैशव से यौवन में प्रवेश का वर्णन कर रहे हैं ।—

जिस प्रकार चित्रकार की तूलिका चित्र में एक-एक अङ्ग को विभाग करके अलग-अलग दिखा देती है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल की पंखड़ी खिल जाती हैं उसी प्रकार नवयौवन ने पार्वती के अङ्ग-अङ्ग का विभाग करके उसे सुन्दर बना दिया । अब यहां क्या आप यह अर्थ करेंगे कि नवयौवन ने छुरी लेकर पार्वती के अङ्ग-अङ्ग काट डाले । इसी प्रकार कालिदास का एक श्लोक और लीजिये, मृगया की प्रशंसार्थ 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में वे लिखते हैं कि—

"मेदश्छेद-कृशोदरं लघु भवत्युत्थान-योग्यं वपुः" । अर्थात् मृगया से चर्वी कट जाती है और शरीर हलका और फुर्तीला बन जाता है । अब यहां क्या यह अर्थ किया जायगा कि मृगया छुरी लेकर पेट की चर्वी काट डालती है, कदाचित् नहीं, तो चर्वी जाती कहां है, अग्नि के अर्पण हो जाती है, किसी डाक्टर से पूछ लीजिये, वे आपको बता देंगे कि व्यायाम से चर्वी ईंधन के समान जल कर छंट जाती है । यही चर्वी की अग्नि में आहुति है ।

जब तक, शतपथ का **"जीवमेव देवानां हविः"** जिन्दा ही देवताओं की हवि हो सकता है मुर्दा नहीं, यह वाक्य विद्यमान है, तब तक करोड़ों पण्डित भी इकट्ठे होकर यज्ञ में पशु-हिंसा सिद्ध नहीं कर सकते ।

इसके अतिरिक्त सारे वैदिक वाङ्मय में पशु-याग-वादी एक स्थान पर भी "पशुम् मारयन्ति अथवा प्राणैर्वियोजयन्ति" ऐसा वाक्य नहीं दिखा सकते । हां, इसका उल्टा तो अवश्य उपस्थित है—

तन्नाह जहि मारयेति मानुषं हि तत् संज्ञपयांन्वगन्निति तद्धि देवत्रा स यदाहान्वगन्निति एतर्हि एष देवाननु गच्छति तस्मादाहान्वगन्निति ।।

(शत० ३८।२।१४)

पशु के संज्ञपन काल में जहि, मारय, यह शब्द नहीं कहे जाते, क्योंकि वह मनुष्यों का व्यवहार है । उस समय शब्द बोले जाते हैं संज्ञपन, अन्वगन्, क्योंकि संज्ञपन के द्वारा यह देवों का अनुगामी बन जाता है । इसी लिये कहा 'अन्वगन्' ।

यह सचमुच बड़ी विचित्र बात है कि पशुयाग में संज्ञपन और आलम्भन शब्दों का ही व्यवहार होता है, मारण का कहीं नहीं । इसका कारण अवश्य विचारना चाहिये । बात स्पष्ट है, पशुयागवादियों की यह तो हिम्मत नहीं हुई कि वे नये ग्रन्थ बना डालें, उन्होंने वैदिक साहित्य के शब्दों के ही अर्थ बदल डाले । उदाहरण के लिये, हम इस लेख में संज्ञपन शब्द को लेंगे । यह संज्ञपन शब्द सम् उपसर्ग-पूर्वक ज्ञा धातु से णिच् प्रत्यय और उसके पश्चात् ल्युट् प्रत्यय करने से बना है ।

इसमें पहिले सम्+ज्ञा का अर्थ देखते हैं। इसका अर्थ है भली प्रकार जानना और पहिचानना, चारों वेदों में यह शब्द और किसी अर्थ में नहीं आया, इसका निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा—

संगच्छध्वं संवदध्वम् सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ।।

(ऋग्० १०।१९१।२)

हे मनुष्यो ! तुम संगठित होकर चलो, परस्पर सम्वाद (Harmony) से चलो, तुम्हारे मन परस्पर एक दूसरे को समझते हों, तुम्हारे अन्दर (Perfect mutual understanding) हो। जिस प्रकार तुम्हारे पूर्व विद्वान् लोग अपने-अपने कार्य-भाग की उपासना परस्पर संज्ञान-पूर्वक करते आये हैं।

मन्त्र का अर्थ इतना निर्विवाद है कि इसमें टिप्पणी की आवश्यकता हो नहीं। इस अर्थ में सब सहमत हैं।

अब संज्ञपित को लीजिये। यह सम्+ज्ञा का हेतु+हेतुमद्-भाव का रूप है। इसका अर्थ हुआ सम्यक् ज्ञान अथवा भली प्रकार परिचय कराना। फलतः उत्तम शिक्षा देना। इसी से संज्ञपन शब्द बना।

अब इस 'संज्ञपि' का प्रयोग भी देखिये, मनवाणी के झगड़े में वाणी कहती है कि, हे मन, मैं तुझसे बड़ी हूँ। इसके लिये वाणी यह युक्ति देती है—

अथ ह वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि यद्वै त्वं वेत्थ अहं तद् विज्ञपयामि अहं संज्ञपयामीति ।।

(शत० १।५।७।१०)

इस पर वाणी बोली—"मैं ही तुझसे बड़ी हूँ। क्योंकि जो कुछ तू जानता है उसे मैं ही विज्ञापन करती हूँ, मैं समझाती हूं।" यहाँ सायण भाष्य (तथा कथित) में भी 'सम्यक् प्रतिपादयामि' यही अर्थ किया गया है।

यह प्रसंग प्रथम काण्ड का है। पशुयाग-वादियों का प्रसंग तीसरे काण्ड में है। पता नहीं लगता कि जिस शब्द का अर्थ प्रथम कांड में सम्यक् ज्ञान देना है उसका अर्थ तीसरे काण्ड में मारना किस प्रकार हो गया ?

कहा जा सकता है कि एक शब्द के दो अर्थ हैं, सो, प्रकरण के बल से वहां ऐसा अर्थ कर दिया गया होगा। सो, प्रथम तो इस शब्द का दूसरा अर्थ जबरदस्ती के बिना किया ही नहीं जा सकता, परन्तु यदि दुर्जनतोष-न्याय से इसके दो अर्थ मान भी लिए जावें, तो अब देखना चाहिये कि प्रकरण क्या कहता है ?

पशुयाग-वादियों के मतानुसार

बकरी के बच्चे को जब संज्ञपन अर्थात् मारने के लिए ले जाते हैं तो उसे फांसी लगाकर मारते हैं, उस समय मन्त्र पढ़ते हैं—"ऋतस्य त्वा देव-हविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि" (यजु० ६।८)

अर्थात् हे देवताओं की हविः, तुझे हम ज्ञान के पाश से बांधते हैं। यह गला घोटना खूब ज्ञान का पाश हुआ। अब कहिये प्रकरणानुसार सम्यक् ज्ञान देना अर्थ हुआ अथवा गला घोटना, फिर मन्त्र पढ़ते हैं—

अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।

(यजु० ६/९)

हम अब तुझे मारेंगें, अब तेरे माता, पिता, सहोदर भाई और टोली के मित्र सब इस शुभकार्य में अनुमति दें।

भला विचारिये कि पहले तो बकरी के बच्चे का उस प्रकरण में कहीं वर्णन नहीं, फिर यदि यहाँ छाग मान भी लें तो यह वर्णन छाग के समान विनीत बालक का हुआ, जो ब्राह्मण गुण वाला है। भला बकरी के बच्चे के माता पिता आदि का प्रथम तो पता ही किस प्रकार लगेगा ? फिर वे अनुमति किस प्रकार देगें, फिर यदि उनमें अनुमति देने की शक्ति होती, तब वे तो यजमान को ही स्वर्ग पहुंचाने को कहेंगे, अपने बच्चे को नहीं।

आगे चलिये। यजमान की पत्नी मरे हुए बकरे के अंग स्पर्श करके मन्त्र पढ़ती है—

वाचं ते शुन्धामि प्राणन्ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रन्ते शुन्धामि नाभिन्ते शुन्धामि मेढ्रन्ते शुन्धामि पायुन्ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि।

(यजु० ६/१४)

हे बकरी के बच्चे, मैं तेरी वाणी शुद्ध करती हूँ, प्राण को शुद्ध करती हूँ, चक्षु को शुद्ध करती हूँ, कान को शुद्ध करती हूँ, नाभि को शुद्ध करती हूं, उपस्थेन्द्रिय को शुद्ध करती हूं, गुदा को शुद्ध करती हूं, तेरे चरित्रों को शुद्ध करती हूँ। भला यह चरित्र-शुद्धि तो जीवित बकरे की भी असम्भव है, मरे की तो कहना ही क्या ?

फिर अगले मन्त्र में मरे बकरे को आशीर्वाद देते हैं—

वाक् त आप्यायताम् प्राणस्त आप्यायताम् चक्षुस्त आप्यायताम् श्रोत्रं त आप्यायताम्।

(यजु० ६/१६)

हे मरे हुए बकरे, तेरी वाणी फले-फूले, तेरा प्राण फले-फूले, तेरे चक्षु फले-फूलें, तेरे कान फले-फूलें।

(शमहोभ्यः) तेरे दिन सुख-शान्ति से बीतें। अब यदि संज्ञपन के दो अर्थ भी मान लें तो देखिये कि प्रकरण में सङ्गत अर्थ कौन-सा है।

संज्ञपन का अर्थ विद्यादान मानने से अर्थ यों हुआ, हे विनीत बालक ! आज घर से गुरुकुल के लिए विदाई देते समय हम तुझे ज्ञान के पाश से बांधते हैं, माता, पिता, सहोदर भाई, टोली के साथी सब तुझे प्रसन्न होकर गुरुकुल के लिए बिदा करें। गुरुपत्नी कहती है, मैं तेरी वाणी को शुद्ध करती हूँ, तेरे प्राण शुद्ध करती हूँ, तेरे नेत्र शुद्ध करती हूँ, नाभि शुद्ध करती हूँ, कान शुद्ध करती हूँ, लिंग

शुद्ध करती हूँ, गुदा शुद्ध करती हूँ, अतः इन सब इन्द्रियों की शुद्धता तथा सदुपयोग सिखाकर मैं तेरा चरित्र शुद्ध करती हूँ। फिर स्नातक होने के समय उसे आशीर्वाद दिया जाता है—"तेरी वाणी फले-फूले, तेरे प्राण फले-फूलें, तेरे कान फलें-फूलें, तेरे दिन सुख से बीतें।

अब एक ऐतरेय ब्राह्मण का भी प्रमाण लीजिए—

ता भृगुरपश्यदापो वै स्पर्धन्त इति। ता एतयर्चा समज्ञपयत्।

(ऐतरेय, अध्याय ८ खण्ड २)

बसतीवरी और धना नाम की दो 'आपः' में झगड़ा हो गया। इस झगड़े को भृगु ऋषि ने देखा, सो उसने उन्हें आपस में एक मत कर दिया। यहां स्वयं सायण ने भी झख मार कर 'समज्ञपयत्' का अर्थ "संज्ञानम्=परस्परमैकमत्यम् प्रापयत्" इस प्रकार किया है, फिर पशु के सम्बन्ध में इसका अर्थ किस प्रकार बदल गया।

इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस शब्द का अर्थ षड्यन्त्र द्वारा जान-बूझ कर बिगाड़ा गया है।

अब यह स्पष्ट हो गया कि इस विनियोग-वाद ने वेद की कैसी दुर्दशा की है। इन तीन वेद-विघातक वादों अर्थात् (१) विकास-वाद (२) अदृष्ट-वाद (३) विनियोग-वाद से ऋषि दयानन्द ने वेद को मुक्त करके सारे संसार के लिए मोक्ष का रास्ता खोल दिया, क्योंकि जब संसार के मोक्ष का उपाय बताने वाला वेद ही स्वयं दास बन गया था तो संसार का मोक्ष किस प्रकार हो सकता था?

यहां तक हमने वेद-विघातक तीन वादों का वर्णन किया। अब हम ऋषि दयानन्द की वेद-भाष्य-प्रणाली के आधारभूत तीनों वादों का वर्णन आरम्भ करते हैं। वे तीन वाद निम्न-लिखित हैं:

(१) यौगिक वाद (२) समकक्ष-वाद (३) विज्ञाताश्रय-वाद।

यौगिकवाद

सब से पहले यौगिक वाद को लीजिए। वेद के शब्दों का अर्थ लौकिक शब्दों की अपेक्षा व्यापक है। यह सब को मानना ही पड़ता है, यदि ऐसा न मानें तो :—

अश्वा भवत वाजिनः गावो भवत वाजिनीः।

(अथर्व० १।४।४)

यहां वाजी और वाजिनी शब्द का क्या अर्थ करेंगे?

घोड़े घोड़े हो जावें और गौवें घोड़ी हो जावें! कदापि नहीं।

यहाँ सायण को भी 'वाज इति बलनाम' यह निरुक्त-प्रमाण दे कर 'अश्वाः बलयुक्ता भवथ' और 'गावः प्रभूत-क्षीरा भवथः', ऐसा अर्थ करना पड़ा। यदि अश्वादि शब्दों का रूढ़ अर्थ लेंगे तो—

आविद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैरथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।

(ऋ० १।८८।१)

अश्व-पर्णं शब्द जो रथ का विशेषण है सो कैसे बनेगा ?

अश्वाः आशुगामिनः पर्णा येषाम् ।

ऐसा अर्थ करना ही पड़ेगा, सो अश्व का अर्थ यहां शीघ्र-गामी के अतिरिक्त क्या होगा ?

इसी प्रकार यदि कण्वादि नाम वेद में व्यक्ति-विशेष में रूढ़ हों तो उनमें तमप् प्रत्यय नहीं लग सकता। क्या दुनिया में कभी देवदत्त, देवदत्ततर तथा देवदत्ततम अथवा Napolian, Napolianer, Napolianest का प्रयोग भी देखने में आता है ? कभी नहीं ! किन्तु ऋग्वेद १।३१। २ में 'त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः' ऐसा प्रयोग है और इस प्रकार का प्रयोग ११ स्थलों पर देखने में आता है।

ऋग्वेद १।८४।४ में 'कण्वतमो नृणाम्' यह प्रयोग है जिसका अर्थ मनुष्यों में मेधावितम इस प्रकार करना पड़ता है, इसी प्रकार ऋग्वेद १०।१५५।५ में 'अग्निः कण्वतमः कण्वसखा' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ बुद्धिमानों का मित्र तथा सबसे बड़ा बुद्धिमान् ऐसा करना पड़ता है।

यह यौगिकवाद ऋषि दयानन्द ने चलाया हो सो ही बात नहीं, इस विषय में सायण की लीला भी देखिये—

उच्छन्त्यां मे यजता देवक्षत्रेरुशद्गु भुवि सुतं सोमं न हस्तिभिरापद्भिर्धावतम् नरा बिभ्रता वर्चनानसम् । (ऋ० ५।६४।6)

यहां सायण ने 'हस्तिभिः' का अर्थ किया है, 'अश्वैः', सो किस प्रकार वह भी देखिये— "इदानीं हस्तिभिः हस्तिवद्भिः हन्तेर्गति-कर्मणो हस्त-शब्दः गमन-साधन-पादवद्भिरित्यर्थः। पद्भिः पादचतुष्टयोपेतैरश्वैः। अर्थात् गमन-क्रिया का साधन होने से हस्त नाम पाद का हुआ, इस लिए हस्ती का अर्थ "पैर वाले घोड़े" इस प्रकार हुआ। अच्छा ! फिर आ पड़े हुये 'पद्भिः' का क्या बनेगा ? यह सायण ही जाने, इस प्रकार सायण यदि हाथी का घोड़ा बना दे तो उस पर खैंचा-तानी का दोष नहीं लगता। बात तो इतनी है कि इस सूक्त का विनियोग अश्विदेवता की स्तुति में है। बलिहारी है विनियोग की।

अब हम यौगिकवाद पर होने वाले एक आक्षेप का भी समाधान कर देना चाहते हैं। लोगों का प्रश्न है कि यदि 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो चले उसका नाम गौ, ऐसा माना जाय तो लट्टू, घड़ी,, नदी, घोड़ा, खच्चर, रेल गाड़ी, मोटर, बाईसिकिल सबका नाम गौ होना चाहिये ! नहीं ? यह ठीक नहीं ! यौगिकवाद का यह तात्पर्य कदापि नहीं।

किसी शब्द का यौगिक अर्थ जानने का प्रकार यह है कि वेद में यह कहां-कहां किस-किस प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है, यह देखकर ऐसा अर्थ ढूंढ़ निकालना जो उन सब अर्थों का अपने अन्दर समावेश करता हो। जैसे—गौ शब्द वेद में धरती, वाणी, इन्द्रिय, स्त्री तथा गाय इन अर्थों में आया है, तो गौ का अर्थ हुआ प्रिय वस्तु को उत्पन्न करने के लिए गति करना। गाय दूध को उत्पन्न करने के लिए विचरती है, स्त्री संसार को, इन्द्रियें ज्ञान अथवा विषय सुख को, वाणी अर्थ को, धरती अन्न को, इसी प्रकार ऋ धातु को ले लीजिए, यद्यपि व्याकरण में 'ऋ गतौ' इस

प्रकार अर्थ दिया है, परन्तु ऋ धातु का अर्थ जानने के लिए इसके प्रयोगों को देखना होगा। ऋ धातु से ऋतु शब्द बना है जिसका अर्थ है शीतोष्णादि अवस्था विशेष के लिए नियत काल। ऋतु का अर्थ है सत्य अर्थात् अन्यूनानतिरिक्त यथार्थ ज्ञान। जिसका उल्टा अनृत न्यून अथवा अतिरिक्त ज्ञान हुआ, इससे ऋ धातु का अर्थ है परिमित। गति का आशय वेद में स्वयम् अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

ते नो अर्वन्तो हवन-श्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः। (१०।६४।६)

वे हमारी आवाज सुन कर इशारे पर चलने वाले 'मितद्रु अर्वा' हमारी बात सुनें, यहाँ 'अर्वन्तः' के अर्थ को 'मितद्रवः' ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। वे इतने सधे हुए घोड़े हैं कि दौड़ने के समय द्रुत गति में भी नाप के साथ चलते हैं।

इन्हीं अर्थात् सधे हुए घोड़ों के कारण आर्यों ने अरब देश का नाम अरब रक्खा। अरबी भाषा में इस अर्व नाम का कुछ अर्थ ज्ञात नहीं, क्योंकि यह शब्द संस्कृत भाषा का है और इस देश का नाम आर्य-भाषा-भाषी लोगों ने ही रक्खा। आज भी इस के घोड़े through bried के नाम से पुकारे जाते है।

इसी ऋ धातु से अर्य्य शब्द बना है जिसके अर्थ पाणिनि के अनुसार स्वामी अथवा वैश्य हैं (अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः अ. ३ पा. १ सू. १०३) इस शब्द को देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने खूब धांधली मचाई है। उनका कहना है कि ऋ धातु से अर्य्य शब्द बना। वैश्य का काम कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य है, इस लिए ऋ धातु का अर्थ है खेती करना। इसकी पुष्टि अंग्रेजी भाषा के arrablel land अर्थात् खेती योग्य भूमि इस शब्द से करते हैं, किंतु यह उनकी भूल है, वैश्य अर्थ इसलिए कहलाता है कि उसके साथ हर बात नाप-तोल में की जाती है। आप मां के साथ मचल सकते हैं, मां लड्डू खायेंगे, हो सकता है मां आप के हाथ में ताली दे दे, जा जितने जी में आएं खाले, परन्तु हलवाई से आप मचल नहीं सकते, जहाँ आपने कहा कि आज लड्डु खायेंगे और उसने तराजू पकड़ी कि बोलो, कितने तोलूं ? सो अर्य्य का अर्थ हुआ 'मित्या प्राप्तव्यः'। जिसके साथ नाप-तोल में ही बात की जाय, स्वामी भी अर्य्य इसीलिए कहलाता है, क्योंकि वह सेवक के काम को नाप-तोल कर उसके अनुसार वेतन देता है। अंग्रेजी भाषा में जो खेती के योग्य भूमि को arrable कहते हैं वह भी इसलिए कि उसे ठीक-ठीक नापना पड़ता है। निरुक्त में लिखा है "अर्य्यः ईश्वर-पुत्रः" अर्थात् अर्य का अर्थ है सबसे बड़े स्वामी परमात्मा का पुत्र अर्थात् जिस प्रकार परमात्मा का हर कार्य याथातथ्य पर अवलम्बित है (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजुः० अ. ४० मं. ८) जो उसके गुण कर्म स्वभाव अपने अन्दर धारण करे अर्थात् जिसका पूर्णतया नपा-तुला जीवन हो वही आर्य है। इस शब्द को एक जाति-वाची शब्द मान कर योरोपियन लोगों ने जो बवण्डर खड़ा किया है वह आज दक्षिण देश में अपने रंग दिखा रहा है कि पण्डित जवाहर लाल सरीखे सच्चे देश-भक्त तथा पुरुष भी इस क्षेत्र में योरोपियन धूर्तों के चक्र में फंस कर इतने अन्धे हुए हैं कि इस भूल को नहीं सुधारते। आपने देखा कि एक शब्द के साथ किया गया अत्याचार कैसे-कैसे गुल खिलाता है। सो वेद के शब्द यौगिक हैं और यौगिकवाद का अर्थ अन्धाधुन्धवाद नहीं, किंतु सर्वार्थ-समावेशवाद है।

इस विषय में ऋषि दयानन्द का पक्ष सत्य की चट्टान पर खड़ा है और वह समय दूर नहीं है जब विदेशी धूर्तों के जहाज इस चट्टान से टकरा कर अवश्य चकनाचूर होंगे। हो सकता है कि मेरे धूर्त्त शब्द पर कई लोग आपत्ति करें, किन्तु पण्डित गुरुदत्त जी आदि विद्वानों द्वारा सत्यज्ञान कराये जाने पर भी जिन्होंने राजनैतिक स्वार्थवश आर्य द्रविड़ का झगड़ा करने के लिए आर्य जैसे पवित्र शब्द की मट्टी पलीद की उन्हें धूर्त्त न कहूं तो फिर क्या कहूं ? परमात्मा हमारे देश के इतिहासविदाभासों का इनके चंगुल से कब उद्धार करेगा ?

समकक्षवाद

अब यौगिकवाद के साथ ही लगे हुए हम एक और वाद की ओर आते हैं, यह है 'समकक्ष-वाद'। उपनिषत् में कहा—"अनन्ता वै वेदाः" स्कन्द आदि भाष्यकारों ने भी आधिभौतिक, आधि-दैविक, आध्यात्मिक तीन अर्थ मन्त्रों के बताये हैं। वस्तुतः यह तीन ही क्यों, वेद के एक ही मन्त्र के अनन्त अर्थ हो सकते हैं, परन्तु इन सब अर्थों में एक व्यवस्था काम कर रही है। सच पूछिये तो पुरुष-सूक्त वेद की कुञ्जी है। इस ब्रह्माण्ड में जो सूर्य चन्द्रादि देव हैं उनकी कल्पना मनुष्य शरीर में करके फिर उनका प्रतिनिधि मानव-समाज में ढूंढना, यही पुरुष-सूक्त का सार है। भाव यह है कि इस संसार में जितने भी प्रकार के यंत्र विज्ञान द्वारा बनाये जा सकते हैं वे सब मनुष्य की किसी न किसी इन्द्रिय की सहायता के लिए ही तो हैं, उन यन्त्रों में प्राण, चिन्तन, मननादि शक्तियें नहीं हैं, इसलिये वे मनुष्य से कुछ कम ही काम करेंगी, अधिक नहीं कर सकतीं। हां, मात्रा में वे मनुष्य-शक्ति को बहुगुणित कर सकती हैं। सो, हम जिस विद्या की भी खोज करना चाहें उसे एक पुरुष कल्पना करके पुरुष के अंग उसमें खोज द्वारा उत्पन्न कर दिये जावें। सो, अग्नि सोमादि जो देवता ब्रह्माण्ड में हैं वे ही मनुष्य-शरीर में हैं। उन्हीं को हमें सर्वत्र उत्पन्न कर देना है। उदाहरण के लिए, मैं अग्नि तथा सोम को लेता हूं। शतपथ में लिखा है :—

द्वयं वा इदं तृतीयमस्ति आर्द्रं चैव शुष्कञ्च यच्छुष्कं तदाग्नेयम् यदार्द्रं तद् सौम्यम् ॥

(शत० १।६।२।२३)

फिर अगली कण्डिका में लिखा है—

सूर्य्य एवाग्नेयः चन्द्रमाः सौम्योऽहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या ।

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड में सूर्य के उदय होने पर शुष्कता आती है वह आग्नेय है। चन्द्रोदय पर ओस पड़ती है, आर्द्रता आती है वह सौम्य है। जहां शुष्कता है वहां अग्नि है, जहाँ आर्द्रता है वहां सोम है। बस, यह ब्रह्माण्ड आर्द्र तथा शुष्क इन दो में बंटा हुआ है। तीसरा नहीं। अब रोटी में आटा आग्नेय है। जल व घृत सौम्य है। शरीर में पित्त आग्नेय है, कफ सौम्य है, इसी लिए सुश्रुत में मानव-शरीर को अग्नीषोमीय कहा है। ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय ६ खण्ड ३ में—

नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयाद् पुरुषस्य वा एषोऽश्नाति योऽग्नीषोमीयस्य पशोरश्नाति ॥

इसी प्रकार चरक शरीर-स्थान पञ्चाध्याय का आरम्भ इस प्रकार होता है—

पुरुषोऽयं लोक-सम्मितः । तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः आपः क्लेदः तेजोऽभिसन्तापः वायुः प्राणः वियन्सुषिराणि, ब्रह्मान्तरात्मा, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽन्तरात्मनो विभूतिः ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वम् । यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः आदित्यस्त्वादानम् सोमः प्रसादः ।।

इसी प्रकार सूत्र-स्थान अध्याय ६ में लिखा है—

विसर्गः सोम्यः आदानम् पुनराग्नेयम् ।।

इसी प्रकार हमने देखा कि दिन, रात, सूर्य, चन्द्र, ग्रीष्म, वर्षा, कफ, पित्त इन सबको अग्नि तथा सोम कहा गया है, किन्तु इसमें इतना स्पष्ट है कि एक क्षेत्र में अग्नि का एक ही अर्थ होगा और उस पर यह नियम लागू होगा कि—

यदेव शुष्कम् तदाग्नेयम् यदार्द्रम् तत् सोम्यम् ।।

इस प्रकार लोक में अग्नि अग्नि है, जल सोम है, आकाश में सूर्य अग्नि है, चन्द्र सोम है, यह नहीं कि आकाश में चन्द्र का नाम अग्नि हो जाय। शरीर में पित्त अग्नि है तो कफ सोम है। हम शुष्कम् और आर्द्रम् के नियमानुसार जब किसी एक क्षेत्र में अग्नि और सोम का अर्थ पता लगा लें तो दूसरे हर क्षेत्र में उनके समकक्ष अग्नि और सोम कहलावेंगे। इसका नाम समकक्षवाद है। इस प्रकार हम यदि वेद के किसी एक क्षेत्र में अर्थ ठीक-ठीक जान लें तो हर क्षेत्र में उन शब्दों का अर्थ जानना सुगम हो जायेगा। इस बात को हम मानचित्र के दृष्टान्त से भली प्रकार समझ सकते हैं। हम एक मानचित्र के छोटे बड़े अनेक मानचित्र बना सकते हैं, परन्तु उनमें कलकत्ते और दिल्ली की दूरी का अनुमान सदा एक रहेगा।

समकक्षवाद का एक सुन्दर उदाहरण शतपथ ब्राह्मण में ऋतु, दक्ष शब्दों की व्याख्या में मिलता है—

क्रतुदक्षौ हैवास्य मित्रावरुणौ एतन्न्वध्यात्मं स यदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रियः ।

(शत० ४।१।४।१)

ऋतु और दक्ष का अर्थ है मित्र और वरुण। अपने अन्दर देखने पर इनका अर्थ होगा कि जो मन में सोचता हैं मुझे यह प्राप्त हो उसके लिये मैं यह करूं वह ऋतु है और जब उसका वह संकल्प फल-समृद्ध होता है तब वह दक्ष कहलाता है (दक्ष समृद्धौ) मित्र ऋतु, दक्ष वरुण है। ब्राह्मण मित्र है, क्षत्रिय वरुण है, क्योंकि मार्गदर्शक विधान बनाने वाला ब्राह्मण है जो आगे चलता है वह ब्रह्म है। उस कार्य को करने वाला क्षत्रिय है।

इन्हीं मित्र वरुण को प्रथम काण्ड में—

"प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ"

॥ शत० १ । ९ । ३ । १२ ॥

इस प्रकार आधिदैवत पक्ष में जो प्राण उदान हैं वही अधिराष्ट्र अर्थ में मित्र तथा वरुण हैं। वही अध्यात्म क्षेत्र में संकल्प तथा प्रयत्न हैं। इन तीनों क्षेत्रों में इनका नाम ऋतु दक्ष अथवा मित्र वरुण है। सो, मित्र तथा वरुण एक क्षेत्र में एक ही हैं, किन्तु क्षेत्र-भेद से वह संकल्प तथा प्रयत्न, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, प्राण तथा उदान तीनों हैं। हां, उनमें समकक्ष भाव है, एक अभिगन्ता है, दूसरा कर्त्ता।

इसी प्रकार छान्दोग्य द्वितीयाध्याय दशम से इक्कीसवें खण्ड तक हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन पांच संगीत के अंगों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समकक्षवाद के आधार पर दिखाया गया है।

संगीत के आरम्भ में जो राग का मन ही मन में आस्वादन किया जाता है गुनगुनाया जाता है वह हिङ्कार है। राग की स्थायी प्रस्ताव है, तान अलाप का फैलाव उद्गीथ है, धीरे-धीरे समाप्ति की ओर मुड़ने के लिये उतार का नाम प्रतिहार है और सुन्दर समाप्ति का नाम निधन है। यह पांच अंग मानसिक क्षेत्र में अग्नि-प्रज्वालन, स्त्री-सहवास, सूर्योदय, मेघ-वृष्टि, ऋतुपरिवर्तन, द्यौः पृथिवी, पशुपण्डल, शरीर रचना, चन्द्रोदय अग्नि, वायु, आदित्यादि देव मण्डल इन ११ क्षेत्रों में दिखाये गये है। इन प्रकरणों से समकक्षवाद बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। वेद में जो अनन्त विद्या भरी है उसका यही रहस्य है। हम यदि समाजशास्त्र में अग्नि सोम इन्द्र आदि के अर्थ ठीक-ठीक जान लें तो यन्त्र-विद्या में उनके समकक्ष क्या हैं यह जानकर यन्त्र-विद्या भी उन्हीं मन्त्रों द्वारा जानी जा सकती है। यह बात यौगिक वाद के सहारे ही खड़ी रह सकती है। यदि हम जान लें कि, अग्नि का अर्थ अग्रणी है, तब तो यह सब अर्थ ठीक समझे जा सकते हैं, परन्तु यदि हम अग्नि का रूढ़ अर्थ अङ्गारों से जलने वाली अग्नि ले लें तो फिर हम वेद का रहस्य कुछ नहीं जान सकते, यह समकक्ष वाद ही है जिसके सहारे वेद समस्त विद्याओं का बीजरूप ज्ञान देने वाला कहाता है।

अब हम इस वाद-माला के अन्तिम वाद विज्ञाताश्रय-वाद पर आते हैं।

विज्ञाताश्रय वाद

विज्ञाताश्रय वाद यह नाम नया है, वैसे यह कोई नई बात नहीं है, किसी अज्ञात वस्तु का स्वरूप जानने के लिए हमें ज्ञात वस्तुओं का आश्रय लेना पड़ता है।

मान लीजिए कि कोई नौकर अंग्रेजी के आयल शब्द अर्थ नहीं जानता, यदि कोई अंग्रेज टूटी-फूटी हिन्दी जानता है, किन्तु आयल शब्द की हिन्दी भूल गया है वह अपने नौकर से कहता है कि इस दीवे में बत्ती है, पर आयल नहीं रहा, तुम इस बोतल में से आयल डाल लाओ जिससे रोशनी हो जाय। इसमें बत्ती है पर आॅयल नहीं है तो नौकर झट समझ जाता है कि आयल तेल को कहते हैं। वह साहब से पूछता है, साहब तेल डाल लूं। अंग्रेज झट कहता है, हां! तेल, तेल हम भूल गया था।

तो यहां इस विज्ञाताश्रय वाद के सहारे उसने आयल शब्द का अर्थ जान लिया। उसे दीया, बत्ती, जलाना, रोशनी इन शब्दों का अर्थ ज्ञात था, केवल आयल शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं था, सो उसने दीया, बत्ती, जलाना, रोशनी इन विज्ञात शब्दों के आश्रय से ऑयल इस अज्ञात शब्द का अर्थ जान लिया। बस, इस विज्ञाताश्रय-वाद के सहारे हम वेद के सब विवादास्पद शब्दों के ठीक अर्थ का निर्णय कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए, वैदिक शब्द मरुत् को ले लीजिए। हमारे विचार से मरुत् का अर्थ सैनिक है। पौराणिक भाष्यकार तथा उसके पिछलग्गू योरोपियन विद्वान् इसका अर्थ पवन का देवता करते हैं। सो इस विवाद का निर्णय 'नृ' शब्द से हो सकता है। ऋग्वेद में मरुत् देवता के ३७ सूक्त हैं, इनमें १७ स्थलों पर इनको नरः कहा गया है। इस शब्द ने सायण के लिए कठिनाई उत्पन्न कर दी जिन्हें वह देवता कहता है उन्हें वेद नरः कहता है, इससे बचने के लिए सायण ने उसी यौगिकवाद का आश्रय लिया जिसकी आज सर्वत्र हंसी उड़ाई जाती है। वह कहता है, "नरः मेधानाम् इतस्ततो नेतार इत्यर्थः" परन्तु इस विवाद का अन्तिम निर्णय मृ धातु करती है। मृ धातु का अर्थ प्राण-वियोग सर्ववादि-सम्मत है। इधर सायणादि सब पौराणिक भाष्यकार देवों को अमर बताते हैं। उधर वेद में चार स्थलों पर इन मरुतों को मर्याः अथवा मर्त्ताः कहा गया है। अब यहां तो यौगिक अर्थ भी सायण का साथ नहीं देता, उधर मरुत् शब्द स्वयं इस मृधातु से बना है (मृग्रोरुतिः उणादिः १ पाद ८४ सूत्र) इस प्रकार मृ धातु के विज्ञातार्थ के सहारे मरुत् एक प्रकार के मनुष्य हैं, यह निर्णीत हुआ, फिर उनका उत्तम शस्त्र धारण करना, पंक्ति बांध कर चलना, कन्धे पर हथियार रखना आदि सारा वर्णन एक सैनिक का चित्र खेंच कर रख देता है। इसका विशेष वर्णन मेरे "मरुत्सूक्त" नामक निबन्ध में देखना जो गुरुकुल काङ्गड़ी से प्राप्य है। यहां विस्तार के भय से नहीं दिया जाता, फिर इनको अनेक स्थानों पर 'रुद्रस्य मर्याः' 'रुद्रस्य पुत्राः' 'रुद्रस्य सूनवः' आदि विशेषणों से लक्षित किया गया है जिससे रुद्र का अर्थ सेनापति स्पष्ट हो गया। जो यजुर्वेद रुद्राध्याय में दिए गए सेनान्ये (यजु० अ० १६ म० २६) इस विशेषण से बिलकुल मेल खा जाता है। ऋषि दयानन्द ने रुद्र का अर्थ सेनापति किया है सो, उसकी इस प्रकार बड़े प्रबल प्रमाणों से पुष्टि होती है।

इस प्रकार हमने मृ धातु के सहारे मरुत् का अर्थ जाना, फिर मरुत् के सहारे रुद्र का अर्थ जाना, इस प्रकार पूर्व विज्ञातार्थ शब्दों के आश्रय से हम उत्तरोत्तर अविज्ञातार्थ शब्दों का अर्थ ठीक निश्चय कर सकते हैं, यह विज्ञाताश्रयवाद ही वेद का ठीक अर्थ निश्चय करने की वैज्ञानिक कुञ्जी है, इसको छोड़कर जो पाश्चात्य लोगों ने भाषोत्पत्ति-शास्त्र (Philology) के नाम से लाल बुझक्कड़ों-सी लीला की है उस का कुछ भी मूल्य नहीं है।

मृ धातु का अर्थ वेद में तथा लौकिक संस्कृत में मरना है, इस सत्य को करोड़ भाषातत्त्वविद् किसी प्रकार भी नहीं पलट सकते, परन्तु योरोपियन भाषातत्त्वविद् तो हमें निरुक्त, निघण्टु तथा समस्त भाषा के कोषों को तिलाञ्जलि देने को कहते हैं। Vedic age नामक पुस्तक जो विद्या-भवन बम्बई की ओर से प्रकाशित हुई है उसमें लिखा है—

Shiva and Vedic god Rudra have been identified, it is just likely that the name of the red god of Dravidion speakers the most important divinity in their pantheon was first rendered in Aryan speach as Rudra.

(S. K. chatergy Vedic age)

इस विचित्र पुस्तक Vedic age में एस० के० चैटर्जी श्रीमुख से कहते हैं कि वैदिक देवता शम्भु तामिल चम्पू है जिसका अर्थ है तांबा। तांबा लाल रंग का होता है। सो रुद्र देवता भी लाल रंग का होता है। सो रुद्र शब्द पहिले रुधिर था वह तामिल लाल रंग का देवता था। क्योंकि रुधिर अर्थात् खून का रंग लाल होता है, इसलिए लाल देवता का नाम रुधिर हुआ और पीछे से वही आर्यों का रुद्र देवता हो गया। बलिहारी है इस सूझ की ! शम्भू शब्द शम् और भू दो शब्दों से बना है, यह हम भली प्रकार जानते हैं, फिर हम उसे तामिल चम्पू से क्यों मिलाएं ! क्योंकि श्री चैटर्जी ने ऐसा करने का नादिरशाही हुक्म सादिर किया है, पहिले हम उसका नाम रुधिर रक्खें, फिर आर्यों के देवता रुद्र से उसे मिला दें। ऐसा हम क्यों करें ? इस प्रकार का कोई नियम अभी तक हमारी लोक-परिषद् (पार्लियामेण्ट) ने नहीं बनाया। बना भी दें तो फिर हमें उसके विरुद्ध घोर सत्याग्रह करना होगा। यदि इन महाशय को सर्व-सम्मति से 'लाल बुझक्कड़ शिरोमणि' की उपाधि दे दी जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा। वह विचित्र पुस्तक जो देश का लाखों रुपया बर्बाद करके श्री के० एम० मुन्शी ने प्रकाशित करवाई है, जिसकी चारों ओर धूम है हमें तो संदेह है कि कभी चण्डू खाने में भी किसी ने ऐसा असम्बद्ध प्रलाप किया होगा, किन्तु आज इसी का नाम स्कौलरशिप और ओरिजिनेलिटी है। फिर जब यह पुस्तक देश-देशान्तरों में जावेगी तो लोग वेद के सम्बन्ध में कितने घोर अज्ञान के गढ़े में गिरेंगे। विदेशी ही क्यों, हमारे देश में भी सम्पूर्ण विश्वविद्यालयों में यह पुस्तक बड़े आदर के साथ पढ़ाई जाती है। निस्सन्देह हमें इतना कट्टरवादी नहीं होना चाहिये कि हमारी धर्म-पुस्तक पर कोई युक्तिहीन प्रहार करे तो हम उसका उत्तर युक्तियों के सिवाय किसी अन्य प्रकार से दें, किन्तु हमें इतना आत्म-विहीन भी तो नहीं होना चाहिए कि हमारी धर्म-पुस्तक का ऐसा युक्ति-हीन उपहास विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाया जाय। मेरी सम्मति में आर्य-समाज को इसके विरुद्ध घोर आन्दोलन करना चाहिये जिससे इस प्रकार की पुस्तकें पाठ्य पुस्तकों का स्थान न पा सकें। इसी प्रकार के कपोल-कल्पित इतिहासों का परिणाम यह आर्य-द्रविड़-संघर्ष है जो इस समय दक्षिण को विलोडित कर रहा है और जिसका दुष्परिणाम न जाने क्या होगा ? क्या देश के शासक चेतेंगे ? क्या आर्य-समाज के अधिकारी चेतेंगे ? क्या आर्य-जनता चेतेगी ?

मण्डलाद् मण्डलं गच्छेत्

मण्डल १

—: पुष्टिवर्धन :—

जीवन [अनुकरण] के लिए आदर्श = माडल = पुरो-हित: [अग्र—नी] अग्नि—जीवन की सार्थकता: 'तम से मुक्ति' + 'ज्योति से संगम'—होता [अग्नि] = उद्बोधक [आत्मा तथा परमात्मा का] = संगति-कारक १

ऋग्वेद के उपक्रम (मण्डल १) तथा उपसंहार (मण्डल १०) में एक-सूत्रता = पुरोहित १-२ -ज्ञान-यज्ञ (ऋग्वेद) का सर्वश्रेष्ठ साधन: परस्पर संवाद [अनु-प्र-वहन] १-२

प्रथम मण्डल की विशिष्टता [तत्सूचक पदादि]: पुष्टिवर्धन = पोष [तथा उसके देवता: ब्रह्मणस्पति, अग्नि, सोम], इष् [अन्न], रयि, तनुकृत् [स्वास्थ्य की लालिमा, दृष्टि की स्वच्छता]-इष् उषा, सूर्य [परमात्मा] क्षत्र, सोम [आचार्य] ३-४

प्रथम मण्डल का मुख्य विषय: स्वास्थ्य की उन्नति ३—**दो प्रकार के अन्न की मांग [प्राणमय एवं मनोमय की उन्नति के लिए]** ५ सर्ववीरा विश्ववीरा (उषा सन्ध्या) की अद्भुत ज्योति; उषा सन्ध्या-परक साहित्य का विभेदक संकेत ४ धरती को स्ववंती बनाने में ब्रह्म + क्षत्र = मित्र + वरुण का सहयोग—सोम [आचार्य] का ध्येय: तमोहरण + प्र-नयन = मार्ग-दर्शन [ज्योति-दान = उल्लास] ५

उपसंहार—प्रथम मण्डल का विशिष्ट-विषय: स्वास्थ्य तथा विद्या ५

मण्डल २

—: रयिवित् :—

द्वितीय मण्डल का अग्नि के लिए अपना विशेषण: **रयिवित्**—रयि-वित् अग्नि और बृहस्पती का अविभाज्य युगल: अर्थात् प्रजाजन में 'सुवीरत्व' कायम रखने के लिए ब्रह्म + क्षत्र का राष्ट्र-सम्पद् पर अंकुश ६-७ मण्डल का प्रतिपाद्य: **'सुयमस्य रायः पतिः'** सम्पन्नावस्था में भी क्या सुवीरत्व यथावत् स्थिर रहा ? ६

ब्रह्म + क्षत्र के युगल की युक्ति : 'विप्रराज्य की [इन्द्र की] स्थापना' (ब्र०) + जन-जन में मघोनी [दक्षिणा] का समुचित वितरण (क्ष०): धर्म द्वारा धरणी का द्वि-विध = द्विगुणित धारण ७-८

स्थापना की समर्थक शब्द साक्षी—पद एवं मंत्रांश ८-११; मंत्र ११-१४

सम्पत्ति के स्रोत ८ सम्पद्-वितरण का अन्तिम अधिकार: सविता [= संगथ = विधान सभा] के हाथ में १०

सम्पत्ति के जनक = सोम + पूषा—वितरण-विभाग : नियुत्वान् [वायु] १०-११ सु-राज्य का

'नाडी तंत्र': आवास; यातायात; जल। वायु-शक्ति [अपांनपात् १] का संयत उपयोग, तद्वत् सेना-संचालन [अपांनपात् २] का भी १२-१४

उपसंहार-मण्डल १ > २ का संगति-सूत्र: स्वस्थ सुशिक्षित प्रजाजन को ही अर्थ-सम्पादन का अधिकार-ब्रह्म-निदेशन एवं क्षात्र अनुशासन में ही रचनात्मक कार्यक्रमों की अविसंवादी, अबाध प्रगति १५

मण्डल ३

—: कविक्रतु :—

समृद्धि के अनन्तर, अब, 'कला की उन्नति' कला की दो धाराएं: विपाट् (खण्डन) तथा शुतुद्री (मण्डन)-जीवन में सरसता का अवतरण १६

स्वच्छ हृदय से फूट निकला रस का-रस का स्रोत-काव्य के मिष से कला-कला का विस्तार-वात्सल्य की स्वाभाविक परिणति वीर रस की स्थिरता में—देव पथ १७: जातवेदा: द्वारा हृदय-हृदय में प्रसुप्त दैवी संस्कारों का उद्बोधन-लोक कवि द्वारा अतिथि बनकर, गांव-गांव की गीत-यात्रा, और वैश्नानर वन, पुन:, लोक वाङ्मय द्वारा जन-जन में क्रान्ति का सन्देश-वहन १८

'नेता' वह जो प्रजाओं को पुनर्-नव कर दे, देवों का भी उन्नयन कर दिखाए, धरती पर स्वर्ग उतार लाए १९-२०-'वात्सल्य' में व्याघात से 'वीर' की निष्पत्ति: अपांनपात्-मानुष की अदम्य सिंह-गर्जना २०-२१

रात्रि में उषा का विहान, अन्धकार पर वसु का प्रहार: विजय के पूर्वाभास २२-दुर्गति दूर हुई; 'प्रथमानि धर्माणि' की पुन: प्रतिष्ठा हुई; अमृत की नाभि पुन: सजग हुई—आलस्य, प्रमाद, भोग, दुराचारादि सब भाग गये २३-२४; अहिंसा, सत्य आदि के आगमन से हर मनुष्य 'वीर: कर्मण्य: सुदक्ष:' बन गया ! वीर+भक्ति द्वारा [नगरों में, वनों में] सर्वत्र यज्ञ का [स्नेहिल, सर्व-प्रिय] प्रणयन २४-२५ 'पीर पराई' पर कुशिक का सानुक्रोश रोदन—सत्य-परायण, सर्वहितकारी कवि का घर-घर स्वागत वात्सल्य+वीर की मूर्ति 'रोदसी पिपर्त्ति:' कथनी+करनी का परिणय २५-२६

वीर रस और [वीर-] कवि का जन्म: वात्सल्य की ऋत्विय योनि से; दोनों का ४ कोटियों से गुजरना, अनिमिष [मुसलसल रियाज का, दैवी] जीवन २७

और इन्द्र [राजा] का कर्तव्य [खण्डनात्मक], अन्ध विश्वासों के दुर्ग ढहाना [पुरं-दर-ण]-उस में भी पुन: सहयोग बस्तीराम की प्रत्युत्पन्न 'धमन्ती (वाणी)' का २७-२८ राजा का राजकवि लोक-कवि के प्रति धर्म: (१) कवियों द्वारा 'मूक बलिदानों का इतिहास' लिखवाए; (२) नूतन विज्ञान के लिए साधन जुटाए; (३) महा-कवियों के सही टीकाकारों की खोज करवाए २९-३०

+कवि का इति कर्त्तव्य: (१) इन्द्र [राजा] में विक्रमादित्य होने का, और प्रजा में महा-प्राण होने का, संदेश फूंक दे ३०-०३१—विपाट्+शुतुद्री धाराओं का लोक-जीवन में प्रवर्तन करे; (२) किन्तु सत्यान्वेषण में दुर्भेद्य पर्वत, विपाट्-शुतुद्री (तथा सरमा) का रूपक: अर्थात्-सत्यान्वेषण के सम्बन्ध में भी राजा द्वारा मर्यादा-निर्धारण ३१-३२; एवं (३) दास तथा दस्यु, दोनों की प्रकृति

[धातु] में मूल परिवर्तन कर शुक्र वर्ण की ओर, आर्यत्व की ओर, स्वामित्व = अन्तःसमता की ओर अनुपरम प्रगति—३२-३३

काव्य-शक्ति द्वारा राज्य में समृद्धि, तथा ब्रह्म-राज्य की स्थापना—मानो सारी व्यवस्था खुद ब खुद [स्वधया' वि-धया] चल रही हो! ३३-३४-राज्य की खुशहाली में हर व्यक्ति [भरत] के हर साधन [भारती] के सवन का योग [भक्ति]-सूखी धरती हरयाली से लहलहा उठी, वसिष्ठ बन गई: अर्थात् कर्म से अद्भुत रस की संभूति ! ३४-३६—यत्सत्यम्: वाचस्पति ही हम भरतों का [वसुओं का] वसोष्पति है, प्रजापति है ! और यह हरियाली [हर्यश्व=सोम] [उसकी] वाणी की ही देन है ! ३६-३८

इन्द्र की शरण में—वीर की छाया में पनपता वात्सल्य के क्रम-बद्ध पार्वतीय दुर्ग, ये जीवट वाले वीर, सतीत्व पर अनिमिष चौकसी; और 'फिर' सभी पर एक-सा हावी हो रहा कवियों का यह उद्बोधक गीत ! वीर रस का वह प्रसन्न स्रोत, वह नशा, और 'वह उर विशाल' ! ३८-४२

उषस्पुत्र ये राष्ट्र-पुरुष—ज्योति, वात्सल्य एवं भक्ति की विश्ववारा वेला—कर्म-भूमि के स्व-सर ऋतु ४२-४४

थं ४ -मण्डल की भूमि का: 'सुव्यवस्था' के लिए 'प्रचेता:' वरुण और उसके सह-देवों का आह्वान ४४

[मण्डल ४]

—: प्रचेता :—

'रमीणां रयि' [काव्य-सम्पद्] की अभिरक्षा के लिए, अब, **दण्डव्यवस्था की आवश्यकता**— प्रचेता: [पोलीस के अधिकारी] में अपेक्षित गुण: मरुतों में से ही वरुण का उद्भव ४५-४६

वरुण का कार्य : दुष्ट-दमन; बिना पुरुषार्थ फल-प्राप्ति के इच्छुक **पणियों** पर नियन्त्रण; और उनकी वर्जित गतिविधियां खोज निकालने के लिए **सरमा (गुप्तचर) विभाग** की नियुक्ति; प्रजा में कर्मठता तथा ईमानदारी का प्रचार—अग्नि+वरुण की जोड़ी ४६-४८ : शुचि+सुकर्मा जनों की दुष्टों के जाल से अभिरक्षा के लिए **'वरुण के जागृवि पाश'** ४८-५० इस प्राक् प्रतीकार के अनन्तर दण्ड-व्यवस्था : 'प्रतिस्फुर' प्रकृष्टसेना [प्रसिति] की नियुक्ति ५०-५२

पोलिस के सिपाहियों के गुण ५२—दुष्टों के लक्षण : (१) अनृतमय, (२) असत्यमय ५२-५३—प्रचेता वरुण उनको निरस्त्र कर दे, उनके पाप-संस्कारों को दूर करे: अज्ञान, पाप, दुर्मति का उपचार ५३-५६

वरुण के सुप्रबन्ध से, परिणामतः, राष्ट्र की निरन्तर बढ़ती सुख-समृद्धि ५७—किन्तु चौकसी में ढील फिर भी नहीं, **अश्विना द्वारा सूचनाओं का आहरण**, तथा दण्डाध्यक्ष के यहां उनकी अग्नि-परीक्षा = सत्य निष्कर्ष तक ५७-५८

इन्द्र [राजा] का इति कर्त्तव्य [१] : अभिसारी पापियों में [गुप्तचारी] सरमाओं की नियुक्ति ५९-६०; विपद्ग्रस्तों (कुत्सों) का सान्त्वन; पतितों का हृदय-परिवर्तन, राष्ट्र हितकारी

कोई आप निभाये, जैसे 'ऋतावरी द्यावा-पृथिवी ऋतं पिप्रती' १०१-१०३ : पुरुषार्थ में रस और फल-प्राप्ति में श्री १०३

दण्ड के पीछे छुपी सहृदयता [साम]—हृदय [वामदेव] की भ्रांति रक्त-शोधन+संचार+शक्ति-आधान+उल्लास-दान : दण्डाध्यक्ष का कर्त्तव्य १०३-११४—हृदय की भांतिः कवि की भांति; [मधु+घृत का रूपक] किन्तु दण्डाध्यक्ष की 'मधुमान्' 'ऊर्मि' सदा उसके हृदय में गुप्त ही रहती है १०४-१०५—हृदय, अर्थात् **दण्डाध्यक्ष का कार्यालयः** शासन के दो भाग [दमन और शमन]; यज्ञ में मधु-कलश की अभिरक्षाः जीवन-तन्त्र का अन्तः सूत्र+स्रोत=प्र+सविता १०५-१०८—**वीर रस** के तीन स्वाभाविक रूपः ज्ञान [सूर्य], बलः [विद्युत्] क्रिया [वेन]>घृत=जीवन-सार=स्वधा १०८-१०९

हृदय—समुद्र से निकलती धाराओं का त्रिवेणी में कायाकल्प : अर्थात् पशु [स्वाभाविक वीर]>पशुपति [प्रज्ञावीर]=रुद्र [दण्डाध्यक्ष]=गोपति=जितेन्द्रिय=इन्द्र—प्रतिधाराओं से समुद्र में ज्वार भी, पुनः, शान्त-रसता भी १०९-११०-इस महा तरंग का संयमन+सदुपयोग ही, अब, हृदय-देश से (दण्डाध्यक्ष के प्रतिनिधित्व से) : इन्द्र का परम कर्त्तव्य [धर्म] ११०

मण्डल ५

—: गणपति :—

मण्डल का प्रतिपाद्य : आन्तरिक सुव्यवस्था के अनन्तर राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों से **अभिरक्षा का प्रबन्ध :** सेना-व्यवस्था ११३-११४

[तत्र प्रमाणम्ः] [क] अग्निर् गणस्य रशनामजीगः-अग्नि=गणस्य सेनानीः=बृहस्पति=रुद्र=गणपति;=रशना=रासः गण [मारुतों की]=सेना [ए]-[ख] अग्नि के कतिपय विशेषणः वाजयत्, बृहत्केतु, सहस्य=सासहत्=[पृतना=सह]=सासह्यत्=सहसान=अभिमातिषाट्, सहस-स्पुत्र=ओजिष्ठ, परिभू 'सिहं न क्रुद्धम्' [आजिषु=पृत्सु=भरे-भरे, धृषक् ११४-१२३

सेनाध्यक्ष [तथा राजा] के गुण : विशाल अध्ययन, सूक्ष्म बुद्धिः, अपराजितजेता, अश्वमेधी, 'क्षत्र'-मूर्ति, दस्यु-हन्ता, सूर्य के समान नक्षत्र-पति [प्रतिमास तीस सेनापतियों का शिक्षक] ! ११६

इन्द्र का रूप [१] प्रेरणा-स्रोत 'धेहि ओजो जनेषु' सुक्षत्र (सत्पति), विश्रुत, महावध, साधिष्ठ, [वि] भीषण ११६-१२०; [२]="विजयः सव्य आहितः" विजयी का स्वागत-गीत, सुशासन, अपव्रत-रूप तमस् का निराकरण, **अभय-दाता** १२०-१२१

रुद्र-प्रमुख 'सह-देव' : उर्वशी [विधान-सभा] पुरन्धीः मरुतः, इळस्पति, अश्विना १२२-१२३; **विश्वे देवाः- १ विश्वे मरुतो [जनाः]**, सप्त सिन्धवः शविष्ठवाज (suicide squad), जागृवि अग्नि; विश्वे देवाः- २, सत्य-अंगिराः [विज्ञानमय], देव पत्न्यः १२४-१२५

वीरों का प्रबोध-गीतः [क] उषा के श्री मुख से [१] चातुर्वर्ण्य शासन-सूत्र (२) राजनीति में शारीरक त्रिधातु-प्रक्रिया [३] सेनापति विरोधियों का प्रत्यनीक हो— प्रत्याक्रमण के लिए सेना को समुचित अनुदान की व्यवस्था १२६-१२७ [ख] सविता के श्री-मुख सेः 'युवा [यूयुविः] वह जो विश्व भर को

द्वेष की भावना से मुक्त करा दे'—इस द्वेष-मुक्ति-यज्ञ में मरुतों का आवाहन, सेनाओं की व्यूह-स्थापना, स्व-राज्य के हित अहिंसा-व्रती ब्रह्म+क्षत्र का योग, अ-परिहेय लोक-सम्पर्क द्वारा राष्ट्र-सम्पत्ति की सुरक्षितता १२७-१३३

उषा+सविता का प्रत्यभिनन्दन १३३-'वन्दे मातरम् पृथिवीम्' १३३-१३४

उपसंहार : सेना में कितवों/रिपुओं के प्रवेश पर प्राक्-प्रतिबन्ध, सूक्त के उपक्रम उपसंहार में (वरुण के साथ) मरुतों के स्मरण की संगति १३४

मण्डल ६

—: सहसे सहध्यै :—

मण्डल १-५ का संगति-सूत्र : 'राष्ट्र' १३२-[मण्डल ३-५ का अन्तः सूत्र एक बार फिर १३५-१३६] मण्डल ६ का प्रतिपाद्य : "बस्तियों [राष्ट्रों] में परस्पर आर्थिक सहयोग" [और इस प्रकार विश्व-राजनीति की आधार-शिला]: 'अतिराष्ट्र' १३५

मण्डल में अग्नि का नया [सौम्य] रूप : सहकार और सहिष्णुता का-दाह नहीं, पुनर् वासः विशः > वसवः > वस्यसः > वसिष्ठाः [मण्डल ७ में विश्व-राजनीति के प्राण]-विश्व-मानुष [मण्डल ८] के लिए भूमिका निर्माण : आर्थिक सहयोग [सहसे सहध्यै] > विश्व-प्रेम १३६-१३८

सौम्य अग्नि शब्द-प्रमाण : (क) वसु > वसीयस् > वसिष्ठ-यजत >यजीयस् >यजिष्ठ [प्रसंगात् ऋक् (अन्त) यजुष् (आरम्भ) की संगति] १३८; [ख] अग्नि का उग्र>मंगल रूप समनाः सौभगानि, अ-वृकेभिः समानान्; 'विश्ववारा द्रविणानि', अध्रुक्, 'स्पृधो बाधस्व', दहन्ति (समजन्ति), वैश्वानर अतिथि 'विद्याधन [ज्योति] का दानी' १३८; [ग] रयिवित् > सदनं रयीणाम्-विश्व-सम्राट् [संन्यासी] =वैश्वानर-संगीत-सप्तक-ऋग्मिय राजा-'कृष्ण-अर्जुन का अभेद भाव' संगथ-मुख से दैवी [द्वितीय] जन्म 'तमसि तस्थिवांसं [दीपमिव]-धान्यं [सुवृक्ति] धत्ते'-वेधस्तमः [ऋषिः] विश्वासां विशां पतिं[अतिथिम्]-पृणक्षि शवसा उत रायः, १४१-१४७

शब्द-प्रमाण : [सौम्य एकराट् इन्द्र] वृत्रघाती नहीं, 'वृषभो मतीनाम्' ऋतस्य मातरा अधारया' १४७-१४८ इन्द्र+विष्णु+पूषा के तीन 'अतिराष्ट्र कोष' [सरोवर] १४८; पाचों कृष्टियों का सहवास-सम्पादक [सहिष्ठ], आर्यत्व का प्रचारक-सहसे सहध्यै-नृतम नयी वृत्र-हत्याः 'कुत्स का आतिथ्य' क्रत्नु-'राष्ट्राणां राजा', सहिष्ठ महेन्द्र १४८-१५१

इन्द्र के नये कारनामे : 'अदित्सन्तं दापयति', उदात्ती-करण द्वारा निम्न प्रवृत्तियों में सुधार-व्यसन की दिशा बदलते हुए : काम, मोह आदि का कायाकल्प-प्रतिभा की मुक्त-कण्ठ-प्रशंसा, हृदय में उजाला कर दासों को आर्य कर दिया ! १५२-१५६- सहृदयताः 'गवामिव स्रुतयः संचरणीः', किन्तु आलस्य का शत्रु १५७-तप और बलिदान की सराहना [२६-६] १५८-१६०

इन्द्रत्व : प्रदर्शन की वस्तु नहीं [२७-३]- अभ्यावर्त्ती चायमान द्वारा दम्भ की निस्सारता का साक्षात् [२७-४-६] ज्ञान+भक्ति का दोहरा संगीत १६१-१६२

इन्द्रत्व : गो-पालन, इन्द्रिय-जय-प्रभु की हर कलाकृति में [पुरुरूप] उषा के दर्शन-लोक-

सेवा-कार्यो का पोषण : क्षेत्र-क्षेत्र की 'गौ', क्षेत्र-क्षेत्र के 'गो-दान' १६३-१६४

इन्द्रत्व : भक्ति द्वारा शक्ति- संचय-ज्ञान+उत्साह [इष्+ऊर्ज] का युगल-आलस्य-दुर्ग का पतन, सत्य का सत्त्व, और अप्रमृष्य 'Great war' [महे रणाय चक्षसे]; इसीलिए [वि-वाचाः] विश्व-राष्ट्रों से तथा विश्व-कवियों से मैत्री-आर्य वृत्रों से भी युद्ध; वृत्रता मात्र का वध-वीर ही एक मात्र रस १६४-१६७

इन्द्रत्व : विश्वजन्-य विजयोत्सव-पुरुश्चन्द्र वसु एको विश्वस्य भुवनस्य राजा-विश्ववार रथ पर वापसी- विश्व-संघ के लिए [ऋत-राज्य के लिए] पुकार १६८-१६९

इन्द्रत्व : गो-मात्र [विनय की मूर्ति १७७] की 'एक शरण'-युद्ध में भी, निवेश-न में भी: फिर भी रयित्तम > द्युम्नवत्तम-बिश्वासाह > विश्वचर्षणि- अब वज्र हरामखोरों पर वृषभ भी वर भी-'अमृत' [सोम=दुग्ध] का वितरण; निर्बलों का बल=ब्रह्मवाहस्तम दूणाशं सख्यं तव [unfailing friend] जुआरियों तक में सद्बुद्धि जगा दी: उन्हें सन्मार्ग पर प्रेरित कर दिया !—सत्कर्मो के प्रवाह का युग १७०-१७५

इन्द्रत्व : सोम [क] वीर रस की महिमा [आल्हा-ऊदल] : विजयोपरान्त नव-निर्माण का [सुनीति का] युग-सोम=ब्रह्म=रस=स्वः > (धरती पर) ज्योतिं-अभय+स्वस्ति की [तीन-तीन स्वर्गों की] संभूतिः लोक > उरु=उर्वी=उरस्वती-पुरु-रूप समृद्धि। सोम [ख] भक्ति-रस की महिमा : मिथ्या स्तोक > प्र-स्तोक-शम्बर के आलस्य > प्रत्यग्रभीष्म कर्मवीरों का युगः 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'-तपोवनों में क्रान्ति के केन्द्र, गोधन के भी- [गौ] पृथ्वी रोम-रोम से प्रत्युच्छ्वसित हो उठी, [अश्व] क्षात्रों के पंख लग गये ! १७५-१७८

उपसंहार (१) अग्नि=जननायक [इन्द्र] : 'विश्वासां मानुषीणां विशां गृहपतिर्'—अग्नि ही लोक-हित की सीख, घुट्टी में मारण-मरण पिलाने वाला 'विश्व-दोहस्, विश्वभोजस्' धरती है, गौ है, मां है (४८-१२-१३) : 'अ-वृकमस्तु ते सख्यम्'—इस धरती-सी दूसरी धरती और-कहीं होगी क्या ? (२२) १७८-१७९

देव-देव : सुम्नयन्ता, सुक्षत्रासः, अदृप्त-क्रतवः, युवत्योः—अरतयः—मूक सत्यश्रुत कवि वायु—बृहद्, विश्ववार रयि के प्रदाता 'अच्छिद्रशरण, दुराधर्ष-शर्म हों',-पूषा के मुक्त-हस्त+त्वष्टा के शिल्पी हस्त+'भुवनस्य पितरं सुपुम्नं इन्द्र'—मारू के 'युवाना कवयो मरुतः'—वर्णाश्रम-व्यवस्थापक विष्णु—प्राण-दान के लिए उतावला प्राणी-प्राणी—वसुन्धरा दीक्षाग्नि के रक्षक आचार्य 'मातृतमा भिषजः=आपः' [देव+मनुष्य] सभी विश्व के निर्माण में हमारे सहायक हों। १७०-१८४

नमो नमः:—प्रणिपात : 'एक विनय में लाख विनय हैं'—किन्तु 'ब्रह्म+क्षत्र' शक्ति का तथा उस शक्ति के स्रोत, तपो-वनों का ह्रास न होने पाए। १८५

उपसंहार [२] पूषा—मण्डल का प्रतिपाद्यः एक विश्व की स्थापना की भूमिका-राष्ट्र-राष्ट्र में आर्थिक सहयोग १८६; सो, 'सर्व-तातये १९० मह्यै सख्याय स्वस्तये १९०-१९१'-कौड़ी-कौड़ी का सदुपयोग करने वाले, रथीतम, किन्तु शान्त, अ-दन्तक १९२ पौष-सम मृदु-स्वभाव, इन्द्र के दाएं हाथ

१९० देवता (पूषा) का आह्वान : १८६-१९२ —[१] हे पथस्पति, हे गृहपतिः तू, कंजूस का हाथ खोल, पणियों को लोक-कल्याणाभिमुख प्रेरित कर, नमुचि को वित्त-मोह से विमुक्त करा (तू 'विमुचो नपात्' है) ! कर्म-शील का मित्र है, ब्राह्मण-वृत्ति है ! [२] सहिष्णुता के प्रतीक आदर्श दम्पति, हे उभयतो भद्रा राति वाले, आराद्-भुवना संचक्षाण, 'विश्वं भुवनं अर्पित': 'वसुन्धरा' को विश्वराज्य की स्थापना में 'भूमिका' बना दे ! १८६-१९२

इन्द्राग्नी : इष्+रयि के दाता एक भ्रातृ-युगल [राजा और जननायक] को शान्ति-कालीन संघर्ष—'विश्व [आयु] पोषस् रयिः' की त्रिवेणी (१) सहयोग की सहज भावना; (२) परिस्थिति-जन्य साहस (३) स्वभाव बन चुकी सहिष्णुता—दुष्टताओं (वृत्राणि) का मुकाबिला सुम्न भाव से लोक-सेवा-कार्यक्रमों के चरिष्णु अर्णव, उद्वल प्रवाह १९२-१९६

सरस्वती [क] (१): इन्द्र-स्थानीय वृत्र-घ्नी लोक-वाणी [२] 'युद्ध छेड़ने से यथा-शक्ति बचना चाहिए': शान्ति-काल में सरस्वती की मूक (६२८) [विनशन] लोक-प्रेरणा (चरिष्णु अर्णवा) सामग्री-संग्राहिणी (ऋतावरी) 'विषमताएँ दूर हो जाएं, वह जाएं'— [ख] पूषा स्थानीय भीः 'रदा पूषेव नः सनिम्' 'वध्र्यश्व में भी जान फूकने वाला वर्णाश्रम-व्यवस्था का मूलाधार 'सप्त स्वसारः' (६१-९-१२) का त्रि-षप्त बल

अश्विना : (अ-द्रुह) सही सूचनाएं-हमेशा तैनात [प्रक्षाय=अश्विना=सादी (नासत्य)] सौहार्द [सुम्न] के, स्नेह के सदा युवा पुतले—आदित्यों वसुओं के प्रति-रूप भी, रुद्रों के भी, विपद्ग्रस्तों के लिए आदर्श वैष्णव जन— २००-२०२

उषा : अश्विना की सहचरी का उत्साहवर्धक साहित्य, देव-समागम [जागरण] गीत—'श्रवो वाजमिषमूर्जं वहन्ती' चतुर्मुखी मघोनी २०३-२०५

मरुतः की [श्रिया अवद्यानि पुनानाः, शुचयः] शान्ति—सेनाएं-अब 'जीवन-गीत' २०५

मित्रा-वरुणा : ब्रह्म+क्षत्र का अविभाज्य युगल [बुद्धि+बल]—व्यवस्था के अन्तर्यामी (यविष्ठ) सूत्रधार एवं छत्रधर—प्रजाजन में 'यज्ञ सावी' भावना एवं वृत्ति—मातृ-वात्सल्य की प्रति-मूर्ति युवतियां-ऋतेन-वृत्रतुरा सर्व-सेना के नये उपक्रम (६८-२)— बाह्य अभिरक्षा के लिए इन्द्र का भुज-बल, तो अन्तर्व्यवस्था के लिए वरुण का बुद्धिबल-जन-जन में आत्म-विश्वास [सोमः वृष्णः सोमस्य वृष्णा वृषेथाम्] एक और 'घन-माला' २०६-२०७

[विष्णु]=वृष्णु=वृष्णी ? : इन्द्रस्य युज्यः सखा—प्रजाजनों द्वारा ही इन्द्र-वरुण की नियुक्ति—हरामखोर—स्वार्थी असुरों के लिए दण्ड-व्यवस्था भी मूलतः एक यज्ञांग ही २०८-परिणाम-स्वरूप [मधुना, घृतेन संरराणे] [धृतव्रते] 'विश्व शंभुवा रोदसी' [द्यावा-पृथिवी] 'एकसमा' २०८-२०९

सविता : 'विश्वस्य-भूमनः प्रसवे, निवेशने विश्वजन के लिए 'वामं सावीः'—विश्वसुत की उच्छ्वासमयी [वयन्ती] नयी सवन-दृष्टि २१०

सोम : आचार्य का 'महि/महित्व'—इन्द्रसोमा श्रुत्यं रराथे—बृहस्पति के अधीन गुरुकुलों की परम्परा : (विद्यया) देव-लोकः—विप्र-राज्यः रुद्र+सोम का मस्तिष्क में विकास 'अविद्यया—मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'—'शं द्विपदे चतुष्पदे' २१०-२१३

उपसंहार [३] जीमूत-वाहन [मण्डल ७ की भूमिका]: क्षिति-क्षिति में [आर्थिक] सहयोग के अनन्तर विश्वराजनीति, **विश्व-सेना की आवश्यकता** विश्वसेनानी [६-७५]: सम्पूर्ण मानवता को एक परिवार समझने का नजरिया भी एक **यज्ञ-दृष्टि** है (७५-८) जहाँ अश्व-अश्व प्रचेता है ! इस सेना का हर सैनिक मौत को हथेली में लिए एक जीवट **जीमूत**, पीर-पराई को शान्त करने वाला **पर-जन्य है**, क्षत्र जिसके मर्मस्थल **ब्रह्म के अन्त: कवच में नित्य-सुरक्षित** हैं ! २१३-२१९

[मण्डल ७]

—:वसिष्ठाः—

स्थापना : कुशल राजनीति के दो सूत्र–[१] राज्य का आर्थिक ढांचा सही हो (मण्डल ६) (२) राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध सही हों (मण्डल ७) वर्ण-व्यवस्था-मूलक राजनीति में 'शक्ति की एक [छत्र] ता की महत्ता २२०

शब्दसाक्षी—[क] क्षितयः < राष्ट्राणि <एक राष्ट्र, एक राजा, एक महासेना—इन विश्व-चेतना प्रबुद्ध वसिष्ठ 'अग्नियों' के विशेषण (२-९-१;७.१.४—८)

(ख) सुमहान्, महासेन, भूमा, ब्रह्म [इन्द्र] सुम्नाः—विश्वजन्य विश्ववार-बृहतो अध्वरस्य ईशे-विश्वशुच्-वैश्वानर 'विश्वस्य राजसि' २२२

मण्डल का प्रतिपाद्य : विश्व भर के राजनीति-विशारद नेताओं द्वारा एक-छत्र विश्वराष्ट्र का निर्माण २२२

प्रतिपादन [१] स्थिर गार्हपत्य [कुटुम्बकम्] किन्तु दूरेदृक् [वसुधैव] (संकीर्ण-हृदय नहीं) उर विशाल [द्युमान्] गार्हपत्य भावना द्वारा संकीर्ण स्वदेश-भक्ति का उदात्ती-करण [उत्+शशाधि] रुद्र < वसु जब घृताची युवतियां 'घर बसाने को कटिबद्ध [वसूयु] हों' (१-५) और अनुभव-वृद्ध 'नरः' मित्यासः < पुरुत्राः हों-२२३-२२५

[शान्ति] **अहिंसा+वृत्रहत्या की युगल-बन्दी** [वसिष्ठ के सैनिकों में] गृहमेधाग्नि का विस्तीर्य-माण लोक (१३) 'वीरतम' सत्य के पुजारी [ऋतावा] का शस्त्र : 'अहिंसा अ-वीरता नहीं २२६

(२) नू मे ब्रह्माणि उत्-शशाधि [उदात्तीकरण] मा वीरो अस्मत् नर्यो विदासीत् (दासता-मुक्ति) मा दुर्भृतये, दुर्मतये [भुखमरी, बुरे विचार] यं, सूरिर् (सुपात्र) अर्थी पृच्छमान एति [अभिगम्य-अ-विक्षितासः] [not uprooted exited] २२८-२२९

[३] **'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संभावना के १२ तत्त्व और उन में क्रम** (आप्री चक्र) २२९-एक घर का चित्र यज्ञिय [अध्वर्यु] वृत्ति से भरा सत्यवाक्, उदात्तीकार का सजीव वातावरण-इळ देवैर्मनुष्येभि तीन देवियाँ, वीरः कर्मण्यः सुदक्षो=देवकामः-पशुशक्ति की उपद्रव-मुक्ति-इन से धरती धन्य हुई 'अदितिः सुपुत्रा' । 'चित्रो न सूरः पूर्भिरायसीभिर् नि पाहि'—देवयज्याय सुक्रतुः-सु-पूत, मेधावी-'सदा त्वे सुमनसः स्याम'-गर्भभूमिश्च विश्वधावसं बिभर्ति, मा अवीराः, मा अपव्रतः, मा अद्रुहः परिषदाप' २३२-२३६

[४] वचन-दान की महिमा [सूक्त ५] 'हव्य-मति-गी' की एक-रूपता-वैश्वानर के संमुख शपथ २३७ [वसिष्ठ पद पर चिन्तन]—सुजातः 'उरु ज्योतिर् जनयन् आर्याय'—सार्व-भौम महाव्रत-ग्रहण के क्षेत्र द्वि-जात वैश्वानर के आँसू २३८-२३९

[५] 'पुरंदर' [इन्द्र-सम] अग्नि : 'पाप' का चिन्तनावस्था में ही 'विनाश'-कायाकल्पः 'अयज्यून् अपरान् अकः ।'—मूल [चारित्र्य-] संपद् ही [बुध्न्या वसूनि एव] ग्राह्य २३९-२४१

[६] चुने हुए विश्ववृत् नेता में आवश्यक ये तीन भौतिक गुणः मन-वचन-कर्म में अभेद (७-४)-सुमहान्+सु-जात का द्वि-बर्हं सु-जन्म-कवितम, पावक; द्रविणोधाः पुरुनीथ २४२-२४५

[७] वृहस्पति की विश्वजन्या अदिति और विश्व-वार ऋक्व (१०-४) सर्वजुष्-विश्वतः-प्रत्यङ् 'स्वे दमे'-पतिः २४५-२४७

[८] त्याग-मूर्ति की देखभाल-ब्रह्म-वृद्ध २५४ विश्व-दूतः ब्रह्म-पूत+ ब्रह्म-जूत+[ब्रह्मवीर]: राजा-इव, 'धेनुवत्या'=गो-पति=वचन-बद्ध [जिसका 'शंसन' ही शासन है ।] २४७-२५२ कोई चैन नहीं [सदामुदः] प्रलोभन-विमुख इन्द्र का यः-अस्ति-सः चित्र ।=पूर्व+ज्यायान्+अमृत+पुरु-हूत २५३

[९] जनीरिव पतिरेकः समानः—निमामृजे ९—एको विभक्ता तरणिर् मघानाम्-युद्धों में भी+गोचरों में भी गो-पति—विश्व-मित्र=विश्व-मोहन । २५४-२५८

[१०] ब्रह्मा+अषाळ्ह+तूतुजि—ब्रह्मकृती : 'ब्रह्म वीर ब्रह्म-कृतिं जुषाणः... ....उप ब्रह्माणि शृणव इमानः' २५८-२५९

—महे नृम्णाय, महे क्षत्राय-विश्वेषु सेन्यः । 'त्वं वर्माऽसि' सप्रथ [ब्रह्म-वर्म ममान्तरम्] २५९-२६१

[११] न त्वदन्यन्मघवन्-श्रद्धा इत् ते वाजम् २६१-२६२; विश्व-वसिष्ठ का राष्ट्र-वसिष्ठों को संदेशः [सूक्त ३३] दृढनिश्चयी और कर्मठ राजनीति-विशारदों की कृपा से यह सुयोग प्रभुभक्तों का अनुशासन-तन्त्र-आश्रम-व्यवस्था और गार्हपत्यः तीन लोक-शक्ति-तंत्र, उत्साह का मंत्र-वसिष्ठ-तंत्र की परिधियाँ-तंत्र का 'आवाप'-नेता का स्वयं खुशी-खुशी नियमों में बंधना-वसिष्ठ प्रशास्ता के लिए मैत्रावरुण=ब्राह्म संस्कार होना अपरिहेय २६९ : 'आचार+विधान का पुतलाः दो-दो विद्याएं/शास्त्र लोकमति [उर्वशी] वसिष्ठ की दूसरी मां २७०

विश्व-इन्द्र का चुनाव : [सूक्त ३४] अनुत्तम क्षत्र 'राजा राष्ट्राणाम्' के वरण की मनीषा-प्रजा+सेना+विद्वन्मण्डल की सहमति-स्पष्टदर्शी बुद्धि+अ-क्षुद्र हृदय, धाराओं का संगम, 'उद्वल' [सजूर्देवेभिः] लोक-प्रेम में डूब रहे विरोधी-'बुध्न्य' पुरुषों की आधार-शिला-स्वर्ण-युग में अनथक [अ-रमति] वसू-यु त्वष्टाजन स्त्री जाति का [वरूत्री] आंचल-स्वर्ण युग के पंच [जन] यज्ञिय तत्त्वः राजा+पोलीस+सदाचार [ब्राह्मण]+पुरोहित+विद्यार्थी २७०-२७४

विश्व-सेना का निर्माण—ज्ञान की खोज, नये शिल्प, इन्द्र की पदयात्रा-सविता की ज्योति [विदधाति] विश्व-सावित्री [विदधाति] विधान सभा के निर्णय [प्रसवे] २७४-२७५ वसु-वस्यस्-

वसिष्ठों [तीन-तीन सम्राटोंः मित्र+वरुण+अर्यमा] की शपथ-अदिति की भौतिक+आध्यात्मिक उन्नति<दोष-उपेक्षा+गुण-उन्नयन [भग-दृष्टि] २७५-२७७

विश्वे देवाः [प्रभात-वन्दन सूक्त ४१] क्षेत्र-क्षेत्र के इन्द्र [—पदस्थ] : देव-जनों में 'क्रम', [उक्त विश्व-प्रणीति का फल]—बीती ताहि बिसार दे; [भग] नव जीवन का आरंभ सौभाग्योदय-शुचि पद २७७-२८०—नये आधार, नये संग्राम;-नये सौहार्द्र, नये पथः एक अटूट सिलसिला २८०-२८२ विश्व-भोजन, स्वास्थ्य आदि की व्यवस्था के लिए—तप में अशिथिलता—संन्यासियों की प्रभुता [प्रभाव],आदित्य ब्रह्मचारियों की, अदिति-आश्रमों/कुलों की २८२-२८४, गुरुकुल में शिक्षा पा रहे स-ब्रह्मचारियों-मरुतों (सूक्त ५६) की **स-नीडता,** अज्ञात-कुलशील-वृत्ति। श्री, सर्वतः—शुचिता [शिशवो न शुभ्राः] सुम्नः राष्ट्र-जीवन की आधार-शिला-माताओं द्वारा पुत्र-दान—[मृत्युञ्जय]=त्र्यम्बकः घर-घर मरुतों का स्वागत २८५-२८८—सूर्य का सत्य-आलोक=उपदेशः 'ऋतं वर्धयत'-तीनों आदित्यों [मि० व० अ०] की भाँति निण्य अनृत के 'चेतारः' वनों—ऋतु,क्रत्व, क्रती का त्रैत [सूरयः] और तुरीय [अदिति=अग्नि] को भी मत भूलो २८८-२८९

मित्र-वरुण-अर्यमा [ख] महान् अर्णवः सूर्यस्य केतुः—सिन्धु-पती मित्रावरुणौ-ऋत के इन तीन विदथों में सब कुछ आ गया ! (६४-१३-१०)—इन्द्र+मित्रः ब्रह्म+क्षत्र २९०-२९१

संदेशहर [अश्विना]: मनोजव, शचीवसू—ऋषियों के प्रथम साम के [उषसि] श्रोता-विश्वतः-पाञ्चजन्य रै के 'वाहक'—'विश्वजन्य राधः'=प्रभुभक्ति के उषसि २९२-२९५

'अंगिरस्तमा' उषा (सूक्त ७५-८१)—जितेन्द्रिय (सृंजय) **प्रभु-प्रेमी का भजनः विश्वराधसे ! महे सौभगाय !**—अन्तरिक्ष में वर्ण (व्रत) व्यवस्था [७५.३; विधान ६]—मघोनी (यज्ञ की देवी—उषा और गाएं [७]-धरती पर वर्ण-व्यवस्था के प्रतीक [८] २९५-२९७

[खः उद्बोधन] कलह समाप्त>ऋतु का आरम्भ-विश्वानर [सविता] की विश्वजन्य संजीवनी -देवों का सधमाद-काव्यमयता-चर्याः गोचर्या+ब्रह्मचर्या-गवालिन का नेतृत्वः उषा की सेना [केतवः] उपस्पुत्रः सूर्य, यज्ञ, अग्नि (७८.३)—चैतन्य, उत्साह का पारावार—बोध एवं भावना का उदर्क—इन्द्रतमा, मघोनी, अंगिरस्तमा; वसूनि २९७-३०२

[ग] प्रतिबोध [मानुषीषु क्षितिषु] विप्रासः उषसं गीर्भिः प्रत्यबुध्रन्: एषा स्या नव्यमायुर् दधाना अबोधि [उत मातेव] प्राचिकितत् सूर्यम्, यज्ञम्, अग्निम्; द्यौः का पृथिवी को वरदानः[संयजन]: श्रव-अमृत-वाज के अजस्र छलकते स्रोत भोगस्थली ३०२-३०८

इन्द्र+वरुणः 'वृत्र [अविद्या] का नाश'+व्रत [विद्या] की अभिरक्षा—-दो-दो वृत्र [८३.१]--महे शुल्काय; महावसू—पुरुक्ष, विश्ववार [रयि] ३०४।

सोमः स्निग्धता+उत्साह+ओज ३०५ वरुण [कवितर] में इन्द्र [कवि] का निलय : वरुण के ४ शत्रु [८६.३], ४ गुप्तचर [८७.३]—'वसिष्ठ का वरुण से हर वक्त सम्पर्क बना रहे', समुद्र में वसिष्ठ को प्यास ३०६

वायु [प्राणमय]: कोष-बल युद्धार्थ अर्पित कर दे ३०७ **सरस्वती** इस कोष को निरन्तर

प्रवाह में रखे, समृद्ध रखे, ऋत के दोनों द्वार सरस्वती के लिए सदा खुले रहें—'इषे+ऊर्जः' सरस्वती का पयोधर स्तन ३०८-३१०

सोमशाला में सवन—बृहस्पति का स्मरण—सोम के पुतलों का प्रस्थान-विष्णु नींद से जागा: जनगण का प्रसुप्त अज्ञान बल [विश्वजन्या सुमति] ३११

न्याय के पुतलों को वसिष्ठ का उपदेश :—तिस्रो 'वाचः', त्रिधातु 'शरण' त्रि-वर्तु 'ज्योतिः' त्रयः 'कोशासः', तिस्रो 'द्याव':—मेघ-वृष्टि का हृदय में प्रतिग्रहण [१०१.३]—'अयि भुवन-मन-मोहिनि' ! [ऋतम्भरा]' (४) : प्रभु ऊजड़ चित वस्ती करिये ! : पृथिवी के [इस देह के] हृदय में प्रसुप्त बीजों को 'जिन्वः' धरती की कोख को सशक्त करो हे ! ३१२, ३१३

सोम-सरोवर : मण्डूकों, व्रतियों की पर्जन्यजिन्विता वाक्—वर्षा का उत्सव: गीत, अनुगीत, संगीथ, संस्वर, माधुरी [पंचवाण] बरसने की प्रतीक्षा—प्रणव=उद्गीथ [८]: परिवत्सरीण ब्रह्मोद्य [प्रसंगात्-संवत्सर>ऋतुचक्र>ग्रीष्मोत्तर वर्षा की युक्ति]—सहस्र-साव सवन: षड्ज [जल/आलाप] ३१४-३१७

सर्वश्रेष्ठ सवन : पृथ्वी>अन्न>रेतस्>संतान>स्नातक [वधूयु] ब्राह्मण [सौम्य]= सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा=विप्रराज्=परिव्राजक=सम-राज=न्यायमूर्त्ति ३१७ [ख] न्याय-मूर्त्ति (सुविज्ञानं चिकित्वान्) का स्वरूप: सत्य का, 'ऋजीयस् का' अन्वीक्षक हो—विश्व-न्यायालय की आवश्यकता: धनुष>वाणी के द्वारा=आत्मशोधन द्वारा ३१८ [ग] सोम की वि-चक्षणता, इन्द्र की प्रति-चक्षणता: ब्रह्मद्विष् के प्रति [जब लोकमत से (मेधया) काम न चले] द्वेष भी, मन्यु/सहस् भी, किमीदिनों के दुर्गों पर वज्र भी—असतो वक्ता न असत् : 'पिल्लरी हिम्, इन्कासंरेट् हिम्' !—अन्न-दूषण, जाति—दूषक को मृत्यु दण्ड तक [कम से कम निर्वासन]—राक्षस और असत्यवादी 'उभौ इन्द्रस्य प्रसितौ शयाते' (१३)—अपराधियों द्वारा शपथ-ग्रहण (१४-१५); असत्य पर महावध (गिलोटीन, फ्लैजिलेशन)—स्त्री [मायावी यातुधान] का भी कोई लिहाज नहीं (१७,२४);यज्ञ-विध्वंसकों की पिसाई-सोमास्त्र (१९), ब्रह्मास्त्र (६)-पंचतन्त्र की सीख छह 'यातुओं' पर (२०-२२-) कातिल [भूरदेव] को एकरात की भी मोहलत न दे-न्याय और दण्ड : सोम और इन्द्र सुस्त न पड़ें ३१९-३२३

मण्डल ८

—: 'इन्द्र त्वमसि साधारण : विश्वमानुषः' :—

मण्डल का प्रतिपाद्यः [मघोनां ज्येष्ठः (सम्-राट्) : विश्वमानुषः] राजा 'राष्ट्राणाम्' (७-३४-११)='एकराड् अस्य भुवनस्य' इन्द्र=महेन्द्र का ज्येष्ठ राज [५४ सूक्तों में स्तुति]; विश्व-जित्, विश्वतो-धीः, विश्व-तूः, विश्व-पूषा [रयिः], विश्व-प्सु, विश्व-मनसः, विश्व-मनुषः, विश्व-वार्य, विश्व-मानुष की प्रतिष्ठाः सार्वभौम चक्रवर्ती प्रजा ३२४-३२५

इन्द्रः 'विश्व मनुषां मरुताम् इयक्षसि' [यजिष्ठ]-ब्रह्मा, ऋषि, पुरुहूत-समुद्र इव [गाम्भीर्यें] [स्थैर्ये च अद्रिवत्]; वसुत्वनाय राधसे [वासवः 'वसूनां=जनानां प्रियः']-विप्र=विपश्चित्, धर्मकृत्, अरंगम, मीळ्हान् [सुख-वर्षक मेघ]=प्रसाद-क [यज्ञियता का पुतला]-सत्यस्य

सत्पत्ति = मीळ्ह्न्, किन्तु दर्दरि ३३१, लौह पुरुष [३३०] ३२५- ३३०

इन्द्र-राज्य : एकं वा इदं विबभूव सर्वम्-विश्वमनुषां मरुतां 'पतिः = सेनानीः' = मरुत्वान् [इन्द्र] = जनेन्द्र (७-६४-३)-**विप्रराज्यः सूक्तमणि** [सूक्त ५८] : प्रजा में यज्ञभावना : बुद्धि + कर्म का युगल [धिषणे] (इन्द्रस्य = आत्मनः) [स्व-राजं निष्टतक्षतुः]-अंशुमती के तट पर त्यागी = तपस्वी वृहस्पतियों की बस्ती-विश्व-याग की आग ३२७-३३१

उपसंहारः इन्द्र की स्तुति समाप्त, अब सोम की स्तुति अपेक्षित (मण्डल ९)-धरती एक हो गई: सुम्न > द्युम्नः धरा का [अपने ही प्रयत्न से सोद्भरि] अभ्युत्थान— स्वर्ग स्वर्नरः घर-घर में सोम-सरोवर ३३१-३३२

मण्डल ९

—: विश्वमनुषाम् पुनर् अंगिरस्तमा :—

इन्द्र + सोम का अविभाज्य युगल—इन्द्र की एकराट् नियुक्ति के अनन्तर, उस पर अंकुश की आवश्यकता : [इन्द्रसनि ३७०] **सोम** [कुल-गुरु = **विश्वतस्पति** ३३७] का सवन ३३३

सोम : 'अस्माकं ब्राह्मणानां-राजा'—सोम के ४ धाम [समुद्र = आश्रम ३५६] पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यौः-स्वः ३३४-३३५

सोम का इति कर्त्तव्यः मण्डल के क्रमानुसार रजिष्ठ **'पथ का दीप'** : 'वानप्रस्थ' तपोमूर्त्ति = 'आचारं/व्रतं ग्राहयति, 'अर्थान् चिनोति', पवमान—यज्ञभूमि में सरस्वती-इळा-मही का आमन्त्रण-सत्य की हिरण्मयी शिखा ३३५-३३८

सोम का आश्रम : वात्सल्य के निर्झर-काव्य के अजस्र स्रोत; भक्ति की पावनी—**गृहस्थ और संन्यास की भूमिका**—मनुष्यता = आर्यत्व का निकष ३३८-३४२—क्रान्ति का कुण्ड; युग-निर्माण-३ वाजों [= इषों ३६२] का सवन ३४३ > **ऋणमोक्ष की कला (व्रत-बन्धन)** ३४४-धनुर्वेद और सेना-सप्तपदी; सेनापति की योग्यता, अन्तर्मन के संघर्ष और ब्रह्मचर्य ३४५-३४६—प्रचार-कार्य की आग [वाणी में माधुर्य द्वारा] ३४७-३४८

नवस्नातक : वाग्वज्र द्वारा ब्रह्महत्या का चमत्कार = (वृत्र की नहीं, वृत्रत्व की हत्या [हृदय-परिवर्तन] हत्या अघ की नहीं, अघ-शंस [विचार] की हत्या) ३४९-३५०—स्वर्-जित् + विश्वजित् = मनसस्पति ३५१

समावर्तन : उपस्नातक—गृहस्थ-वानप्रस्थ ३५१-३५२ संन्यास की संधि [भक्ति]—स्वाध्याय शीलताः नया कदम [विद्या-शास्त्र] = वेधस्-रस का उद्रेक : सृष्टि > इन्दु > व्रत > राये > नवीयः पदम् [प्र-अक्रमु] : विवेक-बुद्धि ३५३-३५५

गृहस्थ : व्यवस्था-सूत्रों का आदर्श—पवित्रता का धूम-जाति में नयी जान—कवि-प्रेरित ४ वसु, ४ आरोह ३५८—श्येन की जययात्रा; कुलपति की वनज्योत्स्ना, पर्जन्य-वृत्ति; नगर में आगमन-ज्ञान + भक्ति का उमड़ता समुद्र ३५९-३६०

वानप्रस्थ : दूसरा ब्रह्मचर्य [द्विवर्हस् रयि]—प्रोत्साहन-प्रदा वाणी, चारित्र्य बल-सावन की कड़ी और विद्युत् का चमत्कार-संजीवनी (**बासवी वाणी**) ३६२—[शास्त्रार्थों में] 'तूफानों में डेरा; अवतार'; वीरता का ब्राह्म संस्कार/संचार ३६२-३६३—सत्संग; कीर्त्तन-मण्डल [मानो विद्यालंकृता कन्या हो !]-कर्मयोगी ३६३-३६४

शिष्य की सुकृत्याओं [. अमृत-वर्षा] से गुरु की महिमा ३६५—गृहस्थ : सोम-क्रयण का प्रतिरूप-वाग्वज्रः समुद्र-गर्जना : वाग्यज्ञ ३६६—वीररस की परम्परा-ध्वस्त, पुरुषन्ति के दान का उद्धार ३६७-३६८—पौर-जानपदप्रिय जगद्गुरु की स्तुति : रेतस् का द्विविध उपयोग (√यज्) प्रज्ञा+प्रजनन (√ज्ञा+√जन्) ३६९-३७०

सिन्धुतट पर तपोवन : व्रततिजनों पर जागृवि आंख+ज्योति [अग्निः शिव [तृतीयनेत्र]: मूल शंकर (दयानन्द की।] ऋण-मुक्ति की लोरियाँ, वाग्बद्ध गुरु और शिष्य- रथ यात्रा (६२-१७) सुदीक्षित [पारंगत] कर्मठ, आर्द्र-हृदय वृष्णियों [स्नातकों=धर्मोपदेशकों] का कार्य-क्षेत्र में अवतरण जन-हृदय समुद्र में चन्द्रमा की छाया ३७१-३७३

[विश्वदर्शतः] सोमो वधूयुरभवत् : अभिसरणीय (सूर) का घर-घर में आतिथ्य, विवस्वतों के आजि में एक विप्र ३७३-३७५—शूरवीर+दानवीर सोम ३७५

वानप्रस्थ में दीक्षा : भिक्षापात्र ३७५ पुरुजनों की झोली ३७६-कल ब्रह्मचारी था, आज वानप्रस्थ-आश्रम-परिवर्तन की वेला में भक्ति-गीत ३७७ गीत का अन्तस् में अवतरण-प्राज्ञ [पुराने] (असश्चत) अनासक्त जागृवि वानप्रस्थ का आशीर्वाद [निगरानी] गृहस्थ पर परदा; तम का अनावरण-सनातन प्रतिमान :—'गीत' का सार-ग्रहण [प्रणव] कर्म-कांड से मुक्ति, किन्तु ज्ञान+उपासना का सातत्य ३७७-३८०

सद्यो वनस्थ : असहाय शिशु-सा-नव-संकल्प-विश्रुत आचार्य का नया गुरुकुल-सूर्य-पथ पर [नया ब्राह्म उत्साह] स्वतंत्रता के खुले घोंसले में विश्वराट्; ऋषित्व वहन-योग्य 'विद्या-वारिधि' ३८०-३८१ विद्या—सत्र में देव-ऋण से निष्कृतिः विद्या का प्रसाद, भिक्षण—विप्रसम्मेलन, उपनयन संस्कार-नये शिष्य, और राज्य-तंत्र ३८२-३८४

वाणी-वाणी तेरी प्रतिभा से अन्तर्-गर्भित हो, किन्तु तू अनवद्य रहे ! ओ विश्व-वीणा के मूल वादक, ओ अध्यात्म के सविता, ओ मधुमय, पवमान, ब्रह्म-पुत्र [द्विज] ८५-६ देवों में तेरी [लोक-लोक में] तेरी वि [वेक] ख्याति हो ३८३-३८६

संन्यासोन्मुख : परम तत्त्व— दिव्+आचार्य+सभी क्षेत्रों में परम प्रमाण; मूर्धन्य – द्वितीय -जन्म के दाता (उपनेता) का आभार ऋण-मुक्ति—केंचुली का त्याग ३८६-३७७

अतिमुक्तक : ऋषि की अन्तर्दृष्टि-देव मन्दिर—'नदी-तट पर अग्नि का बसेरा' नदी-पति भी, श्येन भी—धनुर्वेद का मर्म भी और 'अभय-दान' ३८८-३८९

संन्यास की संधि : मनीषिणे, प्रवक्त्रे [नमः] शान्ताय तेजसे—स्वर्-गा उषासः, स्वर्-गा अपसः—विश्व देवो (परिव्राट् ९३-१) अनुजनान् यतते (९२-३) स्वर्-विदे भुवनानि प्रथन्त (९४-२)! श्रीमय, ज्योतिर्मय, स्वधावान्, आविष्कर्ता ३८९-३९२

[ख] जीमूत-वाहन: गो-भक्त, सदा केसरिया बाने में—**सर्व-जनिता (परमात्मा का भी जनक ९३-६)** लोक—प्रिय, कवियों का उपजीव्य—नवजात (त्रि-ज) शान्ति-दूत, सान्त्वना [साम] की मूर्ति ३९४ आजौ प्रचेतयन्; सौमनसम् आ पवमान:; 'जीवट वाला' [ऋतस्य धाम] भड़क उठी प्र-बह्नि ३९२-३९६—धर्म-धुरन्धरों का अभिपूज्य: 'वाचस् पतिर् मखस्यते'—हर किसी की जुबान पर एक उसी का नाम— उसके तीन आश्रमों का पूर्वेतिहास, आज 'ऋतं बृहत् पवमान':=सूर्य:, 'जनयन् ज्योतिर् मन्दना' ३९६-४००

'एकतारा' : अमृत मन्त्र का उपदेष्टा-निर्णिजं दधे-'परिव्रज्या+प्रव्रज्या'—कितने व्रती, कितने इन्द्र—'शर्यणावति बलं दधान:' दिशापति—सोम के जनक ४ तत्त्व, ३ पोषक—स्वर् लोक ४०१-४०५ विरोधाभासों का पुतला-'सप्त-युत' उन्माद से विमुक्ति : संन्यास ४०५-४०६

मण्डल १०

—: तानि धर्माणि प्रथमानि आसन् :—

मंडल १-१० तक का मणि सूत्र : अग्नि=पुरो-हित (आदर्श)—मण्डल १-९: पुष्ट देह>सौम्य संन्यासी ४०७

मण्डल १० का सूत्र : परिव्राजक—'घर-घर का अतिथि'—फेरी वाला: विश्व-व्यापिनी मनुष्यता का सन्देश-वाहक [वह्नि] विश्वमेकनीडम् की कवि-कल्पना : यज्ञ ४०७

यज्ञ-कल्पना [कृपू सामर्थ्ये] के प्रत्यक्ष प्रतीक संवत्सर-ऋतु-दिवा-रात्रि 'चक्र'; ऋत्विक् के यज्ञ। ऋतु-चक्र—देव-यज्ञ का पृथ्वी पर अनुकरण=नाटक [यजुर्वेदादग्निनयम्]—पुरुष-सूक्त की वे प्रथम व्यवस्थाएं; कल्पवेदांग का सूत्रपात—जीवन की मर्यादाएं—गृहमेधाग्नि [पुरो-हित] की घर में, विश्वमेकनीड में, प्रतिष्ठा—द्यावा-पृथिवी में परस्परं-भावयन्तौ की संगती—करण-व्यवस्था-देव-पथ पर ४०७-४०८

शब्द-साक्षी: कृपू>कल्प [सूत्र] का क्षेत्र—सामर्थ्य=आत्मनिर्भरता—सो अध्वरान् ऋतून् कल्पयाति : २-३) चारों ऋत्विजों के कार्य (७१-११)—पुरुष-सूक्त (९०) की सृष्टि—यज्ञ+पुरुप-सम्बन्धिनी व्यापक व्यवस्था (१२९); (२) आश्रम-व्यवस्था का निदर्शन-सूर्या का विवाह [८५>९०>१२९]; विश्व-तन्तु [यज्ञ] के अनुकरण पर राजा, समाज आदि अन्य व्यवस्थाएं [तन्त्र, अवाप]—वसिष्ठ के निर्देश, साम्राज्ञी गृहिणी—४०९-४१२

[ख] गृहिणी का स्वाराज्य : सौभाग्योदय [असपत्न-ता का, प्रफुल्लता का] मंत्र [सूक्त १५९]: सूर्योदय>ऋतु>हवि>वर्चस्व>स्थेयोराध:>'जनस्य च विराजनि'>उद्योग-शीलता;

[ग] गर्भाधान: विष्णुर् योनिं कल्पयतु (सूक्त १८४) (घ) **सृष्टि-चक्र : यथा-पूर्वमकल्पयत्** [सूक्त १९०] **[ङ] मन-वचन-कर्म में संगति संगीथ ऋक् यजुष्:** संगच्छध्वम्, संवदध्वम्>श्रेष्ठ-तमाय कर्मणे : **'ऋक्>यजु' का समन्वय-सूत्र** ४१२-४१४

———

प्रथम मण्डल

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र में **अग्नि** को **पुरोहित** कहा है। वह है भी उचित। जब भगवान् मनुष्य मात्र के मार्गदर्शन के लिये कोई उपदेश देने लगें, तो सबसे प्रथम कोई **आदर्श** उपस्थित करना चाहिये, जिसका अनुकरण उन्हें अपने जीवन में करना है। सो पुरोहित शब्द का अर्थ है **आदर्श (Model)**। जिसको जिस किसी क्षेत्र में भी किसी का अनुकरण करना हो, उसके लिये आदर्श उसके 'सामने रक्खा जायगा'। बस, यही पुरोहित शब्द का अर्थ है। पुर:=सामने, हित= रक्खा हुआ। उस आदर्श में से भी जिस विशेष गुण को आगे रखना है, वह है—आगे बढ़ना, इस लिये इस वेद का आरम्भ 'अग्नि' शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है—**अग्र+णी=अग्र+नी** अर्थात् आगे ले जाने वाला।

आगे बढ़ने के लिये दो बातें अपरिहेय हैं। १-शक्ति-सूचक गर्मी। २-प्रकाश। ये दोनों बातें भौतिक आग में विद्यमान हैं, इसी लिये इसे भी अग्नि कहते हैं। अब यह 'आगे बढ़ना' किस प्रकार का आगे बढ़ना है इसे १९ वें मण्डल के प्रथम मन्त्र में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात् ॥

अग्नि की कृपा से साधक यजमान अन्धकार से निकलकर ज्योति के साथ आ मिला है। स्पष्ट है कि आगे बढ़ने का अर्थ यहाँ 'अन्धकार से प्रकाश की ओर' अथवा 'अज्ञान से ज्ञान की ओर' बढ़ने का है। यह अग्नि कौन है ? यह बात चौथे मन्त्र में 'विक्षु मानुषीषु होता ऋ० ।१०।१।४।। इन शब्दों में प्रकट की गई है। मनुष्य प्रजा में आहुति करने वाले दो ही हो सकते हैं, मनुष्य अथवा परमात्मा। सो यही दो अग्नि के मुख्यार्थ हैं। यही बात छठे मन्त्र में पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान् ऋ० १०।१।६।। से प्रकट होती है। 'हे अग्ने ! तू हमारा पुरोहित अर्थात् आदर्श बन कर देवों के साथ संगठन करता है अथवा देवों को संगठित करता है।' ब्राह्मण-पक्ष में 'देवों के साथ सङ्गतिकरण करता है' यह अर्थ होगा और परमात्मा के पक्ष में 'देवों को सङ्गतिकरण में लाता है' यह अर्थ होगा। इस प्रकार जिस पुरोहित शब्द के साथ प्रथम मण्डल का आरम्भ हुआ था उसी पुरोहित शब्द के साथ अन्तिम दशम मण्डल का भी आरम्भ होने से उपक्रम और उपसंहार की एकता स्थापित हो गई। अब इस पुरोहित शब्द को ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के साथ मिलाइये तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। अन्तिम सूक्त में वही पुरोहित कहता है—कि सङ्गच्छध्वं संवदध्वम् ।। १०।१९१।२ ।।

'हे मनुष्यो ! अपने कल्याण के लिये अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ो। जड़ सूर्य, अग्नि आदि देवों से तथा चेतन विद्वान् तथा परमात्मा से और पशु-पक्षी आदि से भी यह ज्ञान प्राप्त करने के लिये संगठित पुरुषार्थ करो।' इस ज्ञान-यज्ञ का सर्वश्रेष्ठ साधन है **परस्पर संवाद**। बस, यही इस वेद का तात्पर्य है कि हम अन्धकार से प्रकाश में आ जावें। अब वह ज्ञान प्राप्त किस प्रकार हो इसको १०।२।३।। मन्त्र में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

आ देवानामपि पन्थामगन्म, यच्छक्नवाम तदनु प्रवोढुम् ॥

[पिछले नौ मण्डलों में] हमने देवों का (जड़ चेतन दोनों का) मार्ग पा लिया है और वह इस लिए कि हम यथाशक्ति अपने जीवन-रथ को उनके अनुसार वहन करने में समर्थ हो सकें।

इस प्रकार **उपक्रम** तथा **उपसंहार** की एकता स्थापित करके हम प्रत्येक मण्डल की विशिष्टता की ओर आते हैं।

पुष्टिवर्धनः' यह प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाला अग्नि का विशेषण प्रथम मण्डल के अतिरिक्त कहीं नहीं आया। प्रथम मण्डल में यह—

यो रेवान् वसुवित् पुष्टिवर्धनः। १।१८।२॥
त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धनः। १।३१।५॥
गयस्फानो....वसुवित् पुष्टिवर्धनः। १।९१।१२॥

इन तीनों स्थानों पर आया है।

प्रथम स्थान में इसका देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय **ब्रह्मणस्पति** है, दूसरे में **अग्नि** तथा तीसरे में **सोम**। स्पष्ट है कि ब्राह्मण-राज्य के राजा ब्रह्मणस्पति, अग्नि अर्थात् पुरोहित तथा सोम अर्थात् गुरुकुल के आचार्य इन तीनों का कार्य शारीरिक पुष्टि की वृद्धि बताया गया है।

यही बात प्रथम सूक्त के तृतीय मन्त्र में आई है—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥

हम अग्नि द्वारा इस प्रकार का धन प्राप्त करें जो दिनों-दिन पुष्टि देने वाला हो, यशोवर्धक हो तथा हमें वीरों से युक्त बनाने में सर्वश्रेष्ठ हो।

यह बात ८९ वें सूक्त के ८ वें तथा ९ वें मन्त्र में और स्पष्ट हो गई है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रम् पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

'हे देवो! हम अपने कानों से भद्र ही सुनें। हे यज्ञ-शीलो! आँखों से सदा भद्र अर्थात् कल्याण-कारक बात ही देखें।'

'स्थिर अङ्गों से गुण वर्णन (तथा अनुकरण) करके हम अपने शरीरों से देवों द्वारा हित-रूप में निर्धारित आयु का उपभोग करें।'

वह आयु क्या है सो अगले मन्त्र में बताते हैं—

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥

'वह समीप से समीप बिन्दु सौ वर्ष ही हो जहाँ देवों ने हमारे शरीर का जीर्ण होना निश्चित किया है।'

'वही यह आयु है जब हमारे पुत्र भी पितर कहलाने लगते हैं। हे दिव्यगुण-युक्त शक्तियो! तुम इस प्रकार का साधना-बल हमें दो कि हमारी आयु का रथ इस जीवन-यात्रा में चलने में कहीं अटक न जावे।'

फिर ३१ वें सूक्त के नवम मन्त्र में तो अग्नि को स्पष्ट ही 'तनुकृत्' अर्थात् शरीर बनाने वाला कहा गया है। अग्नि का यह विशेषण भी प्रथम मण्डल के अतिरिक्त और कहीं नहीं आया। फिर १६५ से १९० तक के (१८७, १८८ को छोड़ कर) १४ सूक्तों की टेक इस प्रकार है—

विद्यामेषं........................जीरदानुम्

'हम जीरदानु अर्थात् जीवनदायक अन्न प्राप्त करें' ('जीवेरदानुक्' महाभाष्य इष्टि)

जो दो सूक्त छूट गए हैं उनमें से भी १८७ वें सूक्त में 'पितु' अर्थात् अन्न की स्तुति की गई है जिसे खाने वाले को कहा कि खाकर पूरी मेहनत भी कर और हे (वातापे!) सदा गति-व्यस्त व्यायामशील! (पीव इद् भव) खूब मोटा-ताजा बन।

१८८ वें सूक्त में भी (सहस्रिणीः इषः) हजारों बोरों में भरे अन्न की प्रार्थना है और कहा (स्फातिमावह ९ वां मन्त्र) हमारा डील-डौल खूब विशाल करदे।

फिर १९१ वाँ सूक्त जो प्रथम मण्डल का अन्तिम सूक्त है उसमें शतायु होने में बाधक सब प्रकार के विष-नाश का उपाय बताया है जिसमें सब से मुख्य स्थान सूर्य-किरणों का है अथवा यदि सूर्य का अर्थ शतपथानुसार वीर्य समझें तो वीर्य का है।

इसके अतिरिक्त इन्द्र का 'सुरूप-कृत्नु' यह विशेषण भी प्रथम मण्डल, चतुर्थ सूक्त के अतिरिक्त कहीं नहीं आया। भेद केवल इतना है कि इस मन्त्र में शारीरिक सौन्दर्य का वह रूप दिया गया है जो आत्मिक पवित्रता से उत्पन्न होता है। इन सब प्रसङ्गों से यह बात स्पष्ट हुई कि प्रथम मण्डल का एक मुख्य विषय 'स्वास्थ्य की उन्नति' है।

किन्तु एक दूसरे प्रकार के भी शब्द हैं जो प्रथम मण्डल में ही आये हैं। वे शब्द हैं—

ज्योतिषकृत् १।५०।४ ॥

ज्योतीरथम् १।१४०।१ ॥

ज्योतिषाम् १।११३।१ ॥

ज्योतिष्मत् १।१३६।३ ॥

ज्योतिष्मती १।४६।६ ॥

ज्योतिष्मतीम् १।१३६।६ ॥

४६ वें सूक्त के ६ ठे मन्त्र में अश्विनौ से कहा गया है—

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः ।
तामस्मे रासाथामिषम् ॥

'विद्या को विद्यार्थियों तक, विद्यालय तक पहुँचाने वाले हे अश्विनौ ! जो ज्योतिष्मती इष् अर्थात् ज्योतिष्मान् अन्न हमें पार उतार कर अन्धकार से परे पहुँचा दे वह (ज्योतिष्मती इष् अर्थात् ज्योतिष्मान् अन्न) हमें दो ।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम मण्डल में दो प्रकार का अन्न मांगा गया है । एक पुष्टिवर्धन दूसरा ज्योतिष्मान् । पुष्टिवर्धन शरीर का अन्न है, ज्योतिष्मान् मन का । ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ५० वें सूक्त का चौथा मन्त्र इस प्रकार है ।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमाभासि रोचनम् ॥

इसमें सूर्य के दृष्टान्त से राजा को कहा है कि 'हे राजन् ! तू इस संसार का तारने वाला है । अपनी प्रजा को विश्व अर्थात् समस्त ज्ञान का दर्शन कराता है । तू ज्योति का उत्पन्न कराने वाला है । हे सूर्य ! तू अपनी किरणों से संसार को रोचक बना देता है' ।

जिस ज्ञान के बल से लोग उस परम सूर्य परमात्मा तक पहुंचते हैं । उसके लिए यह ज्योतिष्कृत् शब्द प्रथम मण्डल में ही आया है ।

फिर ११३ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में इस ज्ञान-प्रकाश की ओर प्रसङ्ग से पुनः निर्देश किया है ।

यहां फिर उसके प्रसङ्ग से राष्ट्र में प्रसार का वर्णन है, उषा उदित हुई—इदं श्रेष्ठम् ज्योतिषाम् ज्योतिरागात् ॥

यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति का उदय हुआ । यदि यहां केवल स्थूल अंधकार तथा स्थूल प्रकाश का ही वर्णन होता तो उषा के लिए 'सर्व्ववीरा' तथा 'विश्ववारे' ये सम्बोधन प्रयोग में न आते ।

यहां यह लिख देना अप्रासङ्गिक न होगा कि वेद में उषा के नाम से उदयकाल में उत्साह-वर्धक साहित्य का तथा संध्या के नाम से विपत्ति में अवष्टम्भक साहित्य का वर्णन है ।

१३६ वें सूक्त के तीसरे मन्त्र में मित्र तथा वरुण को अर्थात् ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को सम्बोधन करके कहा है—

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत् क्षितिम् स्वर्वतीम्
आसचेते दिवे-दिवे जागृवांसा दिवे-दिवे ।
ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती
मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः ॥

'इस धरती पर बसने वाली प्रजा को ज्योतिष्मती-ज्ञान-प्रकाशवती अदिति अर्थात् अखण्ड उत्साह वाली और स्ववंती अर्थात् सुख-सम्पन्न बना-बना कर धारण करते हुए प्रतिदिन राष्ट्रहित में जागरूक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परस्पर सहयोग से काम करते हैं।'

इसके अतिरिक्त प्रथम मण्डल के ९१ वें सूक्त में गुरुकुल के आचार्य के रूप में सोम का वर्णन है।

इस सोम का क्या काम है ?

त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ। ऋ० १।९१।२२॥

'हे सोम ! तूने सदा ज्योति के द्वारा अन्धकार को दूर किया है।'

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥ १।९१।१॥

'हे सोम ! तू प्रकृष्ट मनीषा का प्रकाश करता है। तू ज्ञान के देदीप्यमानतम मार्ग पर हमें ले जाता है। हे विद्यारस से सब को स्नान कराने वाले इन्दो ! तेरे मार्ग-दर्शन द्वारा ही धीर जन विद्वानों में बैठकर ज्ञान के छिपे रत्न प्राप्त करते रहे हैं।'

सोम जो ज्योति प्रदान करता है उस का फल क्या है—

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं
सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यम् सभेयम् पितृश्रवणं
यो ददाशदस्मै ॥१।९१।२०॥

'जो सोम के लिए भक्ति-पूर्वक दान करता है। गुरुकुल का आचार्य सोम उसे पशुपालन-विद्या सिखाकर दूध देने वाली गाय, सुशिक्षित, नियम में सधा हुआ अर्वा अर्थात् घोड़ा तथा कर्मठ व्यवहार-कुशल, युद्ध-कुशल, सभा-कुशल, आज्ञा-पालक वीर अर्थात् सन्तान देता है।'

यह **'कर्मण्यं वीरं ददाति'** वाक्य भी ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं नहीं है। तथा **सादन्यम्, पितृ-श्रवणम्, सभेयम्, कर्मण्यम्** ये चारों विशेषण भी ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं नहीं हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्योतिष्मान् अर्थात् कर्म-व्यवहार-कुशल, युद्ध-कुशल, सभा-कुशल और वीर सन्तान मानव-समाज को देना तथा स्वस्थ बनाना पहिले मण्डल का उद्देश्य है।

फिर १४० वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में अग्नि के 'ज्योतीरथम्—तमोहनम्' दो विशेषण और हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण का रथ जहां जाता है वहां ज्योति साथ जाती है, अन्धकार दूर होता है। **बस, स्वास्थ्य तथा विद्या प्रथम मण्डल के विशिष्ट विषय हैं।**

इति प्रथमं मण्डलम्

द्वितीय मण्डल

अब दूसरे मण्डल को लीजिये। इस मण्डल में प्रथम ही सूक्त में अग्नि का एक विशेषण रयिवित् (धन प्राप्त करने वाला) (३ रा मन्त्र) दिया गया है। अग्नि का यह विशेषण सारे ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं नहीं आया। यह धन प्राप्त होता है 'द्युभिः' दिन-दिन के परिश्रम से।

कहां से प्राप्त होता है? जल से, पत्थर से, वन से, अन्न से। वह सब काम 'ब्रह्मा रयिवित्' —धन प्राप्ति का मार्ग बताने वाला रयिवित् ब्रह्मा कराता है, परन्तु धन के साथ एक अंकुश है—

माहं....रायः........ सुयमादवं स्थाम् । २।२७।१७ ॥

'मैं सुनियन्त्रित धन से पृथक् कभी न होऊं।' ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद किया है —

May I never lack wellorderd riches.

परन्तु यह नियन्त्रण क्या है? यह भी स्पष्ट कर दिया है। हम धन पर ऐसा नियन्त्रण रखें जिससे हम सुवीर हों। याद रखिए, सुवीर हों केवल वीर नहीं। सुवीर का लक्षण यही है कि वह ब्राह्मण के नियन्त्रण में हो।

ब्रह्मणस्पते सुयमस्य विश्वहा रायः स्याम रथ्यो वयस्वतः । २।२४।१५ ॥

ग्रिफिथ का अनुवाद लीजिए—

'O Brahmanaspati ! may we be ever masters of wealth wellguided, full of vital strength.'

फिर ब्रह्मणस्पति से कहते हैं—

'O Brahmanaspati ! be thou controller of this our hymn.'

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य ।

वह ब्रह्मणस्पति कौन है और कैसा है ?—

उताशिष्ठा अनु शृण्वन्ति वह्नयः सभेयो विप्रो भरते मतीधना ।
वीळुद्वेषा अनु वश ऋणमाददिः स ह वाजी समिथे ब्रह्मणस्पतिः ॥ २।२४।१३

'उसके सन्देश को शक्तिशाली से शक्तिशाली सन्देशवाहक विद्वान् (वह्नयः) सुनते हैं। वह सभा-कुशल ब्राह्मण अपने विद्याबल से सुमति का भरण करता है और उसके द्वारा धन भी देता है। बड़े से बड़ा द्वेषी भी उसके ऋण से दबा है और वह उससे डरता है कि वह अपना ऋण मांग बैठे तो हम क्या देंगे? और युद्ध-क्षेत्र में अपनी विद्या के द्वारा बल देने वाला भी वही ब्रह्मणस्पति है।'

उसका अपने द्रोहियों के प्रति क्या व्यवहार है वह भी सुनिये—

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाऽजनत् साम्नः साम्नः कविः ।
स ऋणचिद् ऋणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥ २।२४।९७ ॥

'हे ब्रह्मणस्पते ! विधाता ने ब्रह्माण्ड में जहां-जहां सङ्गीत तत्त्व था उसे उपादान कारण बना कर तुझे पैदा किया और वह स्वयं कवि बना ।'

संगीत का एक ही मूल मन्त्र है—मार खाकर मीठा बोलना चाहे कण्ठ हो चाहे वाद्य, आघात से मीठा सर्वत्र उत्पन्न होता है । बस, यह संगीतमयता तेरे जीवन में है । तू अपने द्रोहियों को इस प्रकार मारता है कि उनके सिर पर ऋण का पहाड़ चिन देता है, इसलिए तू ऋणचित् है । और हे ऋतम्भरा के स्वामी ! तुझसे नाना प्रकार का ऋण-ज्ञान प्राप्त करके वे धर्ता तथा अधमर्ण बन जाते हैं (under debt हो जाते हैं)

इसलिए इस मण्डल में 'अर्वंता' घोड़े से अर्थात् क्षत्रिय-शक्ति से तथा 'ब्रह्मणा' अर्थात् विद्या से धन-शक्ति पर अंकुश लगाना है ।

इसलिए 'सुवीराः' शब्द इस मण्डल में २३ बार आया है ।

अन्य मण्डलों में—प्रथम मण्डल में दो बार, तृतीय में एक वार, पाँचवे में एक बार, छठे में एक तथा दसवें में दो बार आया है ।

द्वितीय मण्डल के ४३ में से २२ सूक्तों के अन्त में 'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः' यह वाक्य आया है—'हम वीर पुरुष अपनी सभा में गौरव-युक्त बात कहें ।'

परन्तु यह सब योजना है किसलिए ?

इस मण्डल में आर्थिक वैभव-प्राप्ति का वर्णन है । प्रथम मण्डल में स्वस्थ तथा सुरक्षित सुशिक्षित पुरुष बना । वह शिक्षा ठीक थी वा नहीं इस की परीक्षा आर्थिक सम्पत्ति में होगी । सम्पत्ति में भी वीरता नष्ट तो नहीं हुई । 'ब्राह्मणों का राष्ट्र पर ठीक नियन्त्रण है वा नहीं .' इसका नाप इसी प्रकार होता है । यदि मानव-राष्ट्र अर्थ- शक्ति पाकर भी सुवीरत्व नहीं खो बैठा तो समझो कि वह 'सुयमस्य रायः पतिः' है । यह बात कैसे हो ?

सबसे प्रथम भक्ति से ।

इसलिए जितना सुन्दर भगवान् का नियन्त्रणकारी रूप इस मण्डल में 'स जनास इन्द्रः' इस १२ वें सूक्त में दिया है ऐसा किसी मण्डल में नहीं ।

फिर परमात्मा के इस स्वरूप की सच्ची भक्ति को प्रजा के घर-घर में पहुँचाने वाले ब्रह्मणस्पति का भी वर्णन, जैसा, इस मण्डल में है, वैसा कहीं नहीं । यह ब्रह्मणस्पति वही है जिसकी ओर यजुर्वेद में 'विप्रराज्ये' (यजुः ३३.८३) इस शब्द में निर्देश किया गया है ।

ब्रह्मणस्पति का काम है राजा को 'इन्द्र' बनाना । इसलिये १२ वें सूक्त में 'स जनास इन्द्रः' कहकर राजा का पूर्ण चित्र दिया है—'हे राजन् ! उस परमेश्वर की ओर देख । बस ! वही तेरे लिये

आदर्श है और हे प्रजाजनो ! जब तुम राजा चुनो, तो देख लो, कि वह इस चित्र का कहाँ तक अनुकरण करता है।'

इन्द्र के ऐश्वर्य के साधन इस प्रकार बताये हैं—

(१) **दक्षिणा मघोनी**। यह शब्द इस मण्डल में कई स्थानों पर आया है मघवा को 'मघवा' बनाने वाली मघोनी दक्षिणा ही तो है। वह भगवान् इस विशाल ब्रह्माण्ड-यज्ञ में एक-एक प्राणी को उसकी ठीक-ठीक नपी तुली दक्षिणा देता है। बस, राजा का भी यही धर्म है। यदि वह चाहे कि राष्ट्र अर्थ-शक्ति-सम्पन्न हो तो उसे 'दक्षिणा मघोनी' को कभी नहीं भूलना चाहिये। जहाँ इसमें गड़बड़ हुई कि दाह उत्पन्न हुआ, इसीलिये कहा है—

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग् भगो नो बृहद् वदेम विदथे सुवीराः॥ ऋ. २।११।२१॥

हर व्यक्ति को अपनी पसन्द का काम मिले। पसन्द का प्रमाण यह है कि वह अपने काम का स्तुतिगान करे। उस गान करने वाले को 'दक्षिणा मघोनी', 'दुहीयत्' = पूर्ण-काम कर दे। दाह उत्पन्न न हो और सुवीर लोग सभा में इकट्ठे होकर बड़प्पन की बात करें—कमीने-पन की नहीं। यह है इन्द्र का **इन्द्रत्व**।

अब यह आर्थिक सम्पत्ति आवे कहाँ से ? सो यह बात 'रयिवित् ब्रह्मा' से पूछिये। जो ब्राह्मण इन्हें आर्थिक सम्पत्ति प्राप्त करने का मार्ग बताता है उसका चमत्कार राष्ट्र की हर वस्तु से प्रकट होता है, इसलिये इस मण्डल के प्रथम मन्त्र में ही कहा है—

Thou again shining in the glory through the days, art brought to life from out of water, from stones, from out of forest, trees and herbs that grow on ground.❀

अब हम सूक्त-क्रम से उन शब्दों को तथा मन्त्रांशों को दर्शाते हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि द्वितीय मण्डल का अर्थ-सम्पत्ति से सम्बन्ध है—

प्रथम सूक्त

रयिवित्—(३य मन्त्र)
पृक्ष (=अन्नम्)—(१५श मन्त्र)

द्वितीय सूक्त

रयिमस्मासु दीदिहि (६ष्ठ मन्त्र)
गोअग्राम् अश्वपेशसं रातिम् उपसृजन्ति सूरयः। (१३श मन्त्र)

'विद्वान् लोग अर्थ सम्पत्ति के लिये हमें वह 'राति' देते हैं, जिसमें **गौ** मुख्य है और जिसका परिधान **अश्व** है।'

❀ त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥ ऋ. २.१.१॥

वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शग्मिनः । (१२श मन्त्र)

'Help us to wealth, exceeding good and glorious, abundant rich in children and their progeny.'

तृतीय सूक्त

बर्हिः....स्तीर्णं राये.... । (४र्थ मन्त्र)

'सब सामान धन के लिये फैलाया है ।'

चतुर्थ सूक्त

अस्मे अग्ने संयद्वीरं बृहन्तं क्षुमन्तं वाजं स्वपत्यं रयिं दाः । (८म मन्त्र)

'O Agni ! give us wealth with store of horses and mighty strength, in food and noble offspring.' (ग्रिफ़िथ)

षष्ठ सूक्त

द्रविणस्युं द्रविणोदः (३य मन्त्र)

'धनप्रवाह के लिये हम प्रवाही धन देने वाले अग्नि की सपर्या करें ।'

स नः सहस्रिणीरिषः (५म मन्त्र)

'यह हमें हजारों वाहनों वाला धन दे ।'

सप्तम सूक्त

आभर......पुरुस्पृहं रयिम् (१म मन्त्र)

'हमें वह धन दे जिसकी सब स्पृहा करें ।'

नवम सूक्त

सहस्रम्भरः.......अग्निः (१म मन्त्र)

अग्ने.......त्वं रयिपती रयीणाम् (४ र्थं मन्त्र)

'हे अग्ने ! तू धनों का धनपति है ।'

एकादश सूक्त

रयिं रासि वीरवन्तम् (१३ श मन्त्र)

'तू हमें वीरवाला धन देता है ।'

त्रयोदश सूक्त

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते । (४ र्थं मन्त्र)

'सभा में प्रजा के लिये पुष्टि बांटने के लिये बैठते हैं ।'

एकविंश सूक्त

हमें क्या क्या मिले—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

'हे इन्द्र ! हमें श्रेष्ठ-प्रवाह युक्त धन दे । हमारें कार्यदक्ष कार्यकर्त्ताओं को दृढ़ निश्चय दे । हमें सुभगत्व दे, धन की पुष्टि दे, शरीरों का आरोग्य दे, वाणी का मिठास दे और दिनों का सुदिनत्व दे ।'

त्रयोविंश सूक्त

हे ब्रह्मणस्पते ! हमें ऐसा कर जिससे—

स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि (९ म मन्त्र)

'हम मनुष्य स्पृहणीय से स्पृहणीय धन लोककल्याण के लिये दान कर दें ।'

पञ्चविंश सूक्त

गोभी रयिं पप्रथद्........ब्रह्मणस्पतिः (२ य मन्त्र)

'ब्रह्मणस्पति अपनी वाणियों से हमारे धन का विस्तार करता है ।'

सप्तविंश सूक्त

मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थाम् (१७ श मन्त्र)

'मैं सुनियन्त्रित धन से परे कभी न होऊँ ।'

अष्टात्रिंश सूक्त

आर्थिक सम्पत्ति के बंटवारे का अन्तिम अधिकार सविता को है, अर्थात् राष्ट्र की विधानसभा को है, इसलिये कहा—

........सङ्गथे रयीणां प्रिया देवस्य सवितुः स्याम (१० म मन्त्र)

'सविता का सदन सब प्रकार के धनों का सङ्गम स्थान है, सो हम सविता के प्यारे हों, जिससे राजनियम में अपने अधिकार से वञ्चित न रहें ।'

चत्वारिंश सूक्त

सोमापूषणा जनना रयीणाम् (१ म मन्त्र)

'माल उत्पन्न करने वाला 'सोम' तथा उसकी गणना आदि द्वारा पुष्टि करने वाला 'पूषा' ये दोनों राष्ट्र की सम्पत्ति के जनक हैं ।'

एकचत्वारिंश सूक्त

माल उठाने वाले, वायुवत् माल पैदा करने वाले के घर—पहुँचें—

...सहस्रिणो रथासः... ।

हजारों मन ढोने वाले रथों वाला Train वायु नियुत्वान् की नियुक्ति करे।

द्वाचत्वारिंश सूक्त

इस ऐश्वर्य से सम्पन्न राष्ट्रपति कपिञ्जल पक्षी के समान मीठा राग सुनाकर सबको आनन्द दे। इसी में आर्थिक सम्पत्ति की सफलता है।

अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते । (३ य मन्त्र)

'हे पक्षी के समान मस्त प्रजाजन ! हमारे घर की शोभा इसी में है कि तू हमारे घर की प्रदक्षिणा करे और हर ओर तुझे मङ्गल मिले तथा तू हमारे लिये कल्याण की कामना करे।'

त्रयश्चत्वारिंश सूक्त

इस आर्थिक सम्पत्ति के वल से ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों मस्त होकर अपना काम करें—

उपसंहार इस प्रकार है—

आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः ।
यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ।। (३ य मन्त्र)

'हे राष्ट्र के आर्थिक वैभव से शक्ति-सम्पन्न अतिथि जन ! जब आप हमारे घर में आकर बैठें तो भद्र बात वोलें। चुपचाप बैठे हों तब भी आपका मूक प्रभाव सुमति-वर्धक हो और उड़ते समय ऐसी उड़ान की बात कह जायें—जैसे—'करो, कुछ करके मरो'। इस प्रकार उद्बोधन करने वाला रणवाद्य कहता है जिससे हम सुवीर लोग अपनी सभा में ऊँची बात ही कहें, कमीनी नहीं।'

कुछ विशिष्ट मन्त्र

अब इस मण्डल के कुछ विशिष्ट मन्त्र देते हैं जिनसे इस मण्डल के प्रतिपाद्य विषय पर विशेष प्रकाश पड़ता है—

भोजं त्वामिन्द्र वयं हुवेम ददिष्ट्वमिन्द्रापांसि वाजान् ।
अविड्ढीन्द्र चित्रया न ऊती कृधि वृषन्निन्द्र वस्यसो नः ।। ऋ २.१७.८ ।।

'हे इन्द्र ! भोजन देने वाले तुझे हम पुकारते हैं, तू हमें काम भी देता है और अन्न भी। अपनी विचित्र सहायता से तू हमारी रक्षा कर और हमें वसुतर बना दे।'

इस प्रसङ्ग में १३ वां सूक्त विशेष ध्यान देने योग्य है। इन्द्र अर्थात् राजा की प्रशंसा में कहा गया है—

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते । (४ र्थ मन्त्र)

'इन्द्र की सभा में अर्थात् राजसभा में सभासद् लोग हर आने वाले के लिये, उस धन की तरह जो उनकी पीठ का काम करता है, पुष्टि के साधन बांटते हुए बैठते हैं।'

फिर छठे मन्त्र में कहा है—

यो भोजनञ्च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ ।
यो शेवधिं निदधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः ॥

'हे इन्द्र अर्थात् राजन् ! तू भोजन की रक्षा करता है और गन्ने आदि पदार्थों के गीले रस से शुष्क गुड, खांड आदि दोहन करवाता है और फिर उस भोजन की रक्षार्थ शेवधि अर्थात् भण्डार बनाकर राज्य-प्रबन्ध-कर्त्ता विवस्वान् के अधिकार में रखता है। इस सारे विश्व का तू एक स्वामी है। यह तेरा प्रशंसनीय स्तुतिगान है।'

फिर सातवें मन्त्र में कहा है—

यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाधिदाने व्यवनीरधारयः ।
यश्चासमा अजनो दिद्युतो दिव उरुरूर्वाँ अभितः सास्युक्थ्यः ॥

एक तेरी प्रशंसा यह है कि—'तू धर्म्मानुकूल (जलादि-विभाग की व्यवस्था करके) धरतियों को पुष्पिणी और फलवती बनाये रखता है तथा विशाल प्रदेशों में विद्युत् का अप्रतिम प्रकाश उत्पन्न करता है।'

१५ वें सूक्त में नहरों का वर्णन है—

सद्मेव प्राचो विमिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम् ।
वृथासृजत् पथिभिर्दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ (२ य मन्त्र)

'इन्द्र अर्थात् राजा ने प्रजा से जो कर लिया है, उस सोम [=कर-रूप सोम] की मस्ती में; उसने जिस प्रकार मकान बनाने से पहिले मानचित्र बनाते हैं, इस प्रकार नहरों के मानचित्र बनवाकर उनके अनुसार नहरों के रास्ते खुदवाये और उसी [सोम=] धन की मस्ती में जिधर चाहा उधर लम्बी-लम्बी यात्रा के लिये लम्बी-लम्बी सड़कें बनवाईं।'

फिर ३५ वें सूक्त में 'अपांनपात्'-अर्थात् जलपुत्र के वर्णन में तो नहरों से उत्पन्न होने वाले वैभव का इतना स्पष्ट वर्णन है कि उसमें सन्देह का स्थान ही नहीं। वह अपांनपात्=जलधाराओं का पुत्र अर्थात् जल को व्यर्थ न गिरने देने का अधिष्ठाता राष्ट्र का जलाध्यक्ष क्या करता है सो सुनने योग्य है। सारे सूक्त को यहां देने से ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा, इसलिये कुछ स्थलों को उद्धृत करते हैं—

अपांनपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान । (२ य मन्त्र)

'इस जलाध्यक्ष ने अपनी महिमा से जो निरुपयोगी पदार्थ पड़े थे उन सबको ऐसा बना दिया कि आज उनका स्वामी होना गौरव की बात है।'

इस जलाध्यक्ष ने क्या किया—

समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यः पृणन्ति ।
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपांनपातं परितस्थुरापः ॥ (३य मन्त्र)

—कुछ नदियां तो इसका जलभण्डार भरने के लिये एक स्थान पर इकट्ठी होती हैं और कुछ वहां से खेतों को जाती हैं। परन्तु ये सब नदियां राष्ट्र के भण्डार को समान रूप से पूर्ण करती हैं।

फिर राष्ट्रिय ऐश्वर्य से देदीप्यमान इस पवित्र जलाध्यक्ष के चारों ओर नाना प्रकार की जलधाराएँ आज्ञाबद्ध होकर खड़ी रहती हैं।

सेनापति अपनी सेना के सञ्चालन की विद्या भी यहीं से सीखता है। जिस प्रकार एक चतुर जलाध्यक्ष नहरों के केन्द्र के स्थान पर बैठा हुआ कहाँ किस समय कितना जल भेजना है इसका पूरा नियन्त्रण रखता है, इसी प्रकार चतुर सेनाध्यक्ष भी सेनाओं का सर्जन और विसर्जन यहीं से सीखता है। 'अश्व' का अर्थ है 'कब्जा करने वाला'। घोड़ा भी, क्योंकि रास्ते पर कब्जा कर लेता है, इसलिये अश्व कहलाता है। 'क्षत्रिय राज्य पर कब्जा रखता है, इसलिये राज्य के प्रकरण में वह अश्व कहलाता है' इसीलिये शतपथ ब्राह्मण में लिखा है 'क्षत्रं वा अश्वः' (शत० १३।२।२।१७) अब देखना चाहिये कि इस सूक्त के निम्नलिखित मन्त्र में 'अश्व' का क्या अर्थ है ? मन्त्र इस प्रकार है—

अश्व॑स्या॒त्र जनि॑मा॒स्य च॒ स्व॑र्द्रुहो॒ रि॒षः स॒म्पृचः॑ पाहि सू॒रीन्।
आ॒मासु॑ पू॒र्षु प॒रो अ॑प्रमृ॒ष्यं नारा॑तयो॒ वि न॑शन्नानृ॑तानि ॥ (५म मन्त्र)

यहां इस जलाध्यक्ष के जल-नियन्त्रण-स्थान में ही अश्व का जन्म होता है। यहीं सुख मिलता है।

'हे सेनाध्यक्ष ! जलाध्यक्ष से जलनियन्त्रण सीखकर तू सेनाओं की रचना कर उन्हें पूरी युद्ध शिक्षा दे और द्रोही शत्रुओं के आक्रमण के सम्पर्क से हमारे अग्रेसर लोगों को बचा।'

'यदि तू इस प्रकार की शिक्षा नहीं देगा तो हमारे दुर्ग कच्चे रह जायेंगे और 'पर' अर्थात् शत्रु असह्य हो जायगा, न शत्रु नष्ट होंगे, न अनृत व्यवहार।'

इसी प्रकार के सेनाध्यक्षों के द्वारा सेना के निर्माण का स्पष्ट वर्णन ऋग्वेद १०।६६।८॥ में भी इस प्रकार है—

धृ॒तव्र॑ताः क्ष॒त्रिया॑ यज्ञनि॒ष्कृतो॑ बृहद्दि॒वा अ॑ध्व॒राणा॑मभि॒श्रियः॑।
अ॒ग्निहो॑तार ऋत॒सापो॑ अ॒द्रुहो॒ऽपो अ॑सृजन्नु वृ॒त्रतू॑र्ये ॥

'सो अपांनपात् के अनु अर्थात् अनुकरण द्वारा वृत्रवध में क्षत्रियों ने 'अपः असृजन्' सेनाओं का निर्माण किया।'

इस प्रकार के प्रकरण को न समझकर ग्रिफ़िथ ने 'अश्व का जन्म' इस शब्द का अर्थ 'घोड़े के जन्म' ऐसा कर दिया। वेदानभिज्ञ विदेशी होने के कारण एतदर्थ वह क्षम्य है, परन्तु है यह भयङ्कर भूल।

आगे वह जलाध्यक्ष अन्न उत्पन्न करने के लिये नहरें चारों ओर भेजता है, इसका अति स्पष्ट वर्णन है—

स्व आ दमे॑ सु॒दुघा॒ यस्य॑ धे॒नुः स्व॒धां पी॑पाय सु॒भ्वन्न॑मत्ति।
सो अ॒पांनपा॑दू॒र्जय॑न्न॒प्स्व१न्तर्व॑सु॒देया॑य विध॒ते वि भा॑ति ॥ (७ म मन्त्र)

'नदी रूपी इस जंगली गाय को, 'अपांनपात्' (=जल के एक बूंद को भी व्यर्थ न गिरने देने वाले) ने अपने वश में करके, उसे सुदुघा बना दिया है। अतः अब वह अपने दमे (=जलदमनस्थान में=जलनियन्त्रणस्थान में) उत्तम रस पीता है और उत्तम उत्पन्न होने वाला अन्न खाता है।'

'वह जल में इस प्रकार बल पैदा करता है कि चतुर परिश्रमी किसानादि निर्माण-कार्य में लगे हुए विधाताओं के लिये नाना प्रकार से धन उत्पन्न करके उन्हें देता है और इस प्रकार इस राष्ट्रोन्नति से चमकता है।'

अगले मन्त्र में फिर इसका वर्णन सुनिये—

योऽअप्स्वा शुचिना दैव्येन ऋतावाजस्र उर्विया विभाति ।
वया इदन्या भुवनान्यस्य प्रजायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः ॥ (८ म मन्त्र)

यह 'ऋतावा' नपे-तुले ज्ञान से आगे बढ़ने वाला अजस्र-अनथक जलाध्यक्ष अपनी दिव्य ईमानदारी तथा विद्याकौशल से खूब चमकता है। इसके दिये हुए जल द्वारा वृक्षलतादि की खूब शाखा-प्रशाखाएँ फूटती हैं और उन शाखाओं के सदृश नित्य नये क्षेत्र तथा नई बस्तियां भी लहलहाने लगती हैं।

अगले मन्त्र में जल-विद्युत्-प्रवाह का इतना स्पष्ट वर्णन है कि यदि ग्रिफ़िथ आदि पक्षपात में अंधे न होते तो उनको भी दीख जाता। मंत्र इस प्रकार है—

अपां नपादा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः ।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परियन्ति यह्वीः ॥ (९ म मन्त्र)

यह जलाध्यक्ष उन नियन्त्रित जलधाराओं की ठीक गोद में बैठा हुआ है। टेढ़े मेढ़े पेचदार विद्युत-यन्त्रों के बीच उसका स्थान सबसे ऊपर है। जहाँ से वह सबका नियन्त्रण करता है। उसने विद्युन्मय वस्त्र पहिना हुआ है। यहाँ से यह्वीः=बड़ी लम्बी लम्बी, हिरण्यवर्णाः=प्रकाशमयी दीपस्तम्भ-पंक्तियां उसकी श्रेष्ठ महिमा का गान करती हुई चारों ओर फैलती हैं, फिर इसी जलाध्यक्ष की छाया से १० वें, ११ वें तथा १२ वें मन्त्र में ब्रह्मचारी और संन्यासी का, एवं च १३ वें और १४ वें में योगी का तथा फिर अन्त में १५ वें मन्त्र में इन उपमेयों के उपमान भूत जलाध्यक्ष का वर्णन है।

ब्रह्मचारी 'अपांनपात्' है। क्योंकि वह रक्तवाहिनी नाड़ियों को वश में करके रुधिर को ब्रह्मकुण्ड में भेजता है और जहाँ नहीं भेजना चाहता वहाँ नहीं जाने देता। इसलिये वह हैरण्यरूप हो जाता है। अतः वह भी (=सेदु) एक 'अपांनपात्' है।

वह ब्रह्मचारी जब गृहस्थ में प्रवेश करता है तो 'धर्मं जनयति' और जब नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर संन्यास में जाता है तो संसार भर की स्त्रियों के लिये शिशु बन जाता है, उन्हें माता मानता है और वे भी उसकी ओर वैसी ही वात्सल्यमयी दृष्टि रखती हैं जैसी बछड़े को चाटने वाली गाय की अपने बछड़े के प्रति होती है। जब वह ब्रह्मचारी अम्लातवर्ण अर्थात् अपने वर्णधर्म का कलङ्करहित पालन करके जीते जी दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब उस सर्वोच्च संन्यासी के पद पर प्रतिष्ठित उस संन्यासी की सारी प्रजाएँ घृत, अन्न, वस्त्रादि से पूजा करती हैं।

इस प्रकार प्रथम मण्डल में स्वस्थ तथा सुशिक्षित मनुष्य बनकर मानव, राष्ट्र की आर्थिक सम्पत्ति बढ़ाने में प्रवृत्त हुआ, परन्तु उसकी शिक्षा इतनी अच्छी हुई कि न तो उसकी वीरता में ह्रास आया, न उसने कमीनी बात कही। सदा बड़े दिलवालों की बात बोली। न धन का अपव्यय होने दिया। **'सुयम रैं'** से कभी भी पृथक् नहीं हुआ।

इस प्रकार प्रथम मण्डल में **रयिषाड् पुष्टिवर्धन** अग्नि का तथा ज्योतिः प्राप्ति का वर्णन करने के पश्चात् मनुष्य सुशिक्षित, सुपुष्ट तथा तपस्वी होने के कारण रयिवित् होकर धनोपार्जन का अधिकारी होता है, यह बात द्वितीय मण्डल में बताई गई और एतदर्थं **रयिवित्** अग्नि का वर्णन हुआ।

इति द्वितीयं मण्डलम्

तृतीय मण्डल

सुशिक्षित और संयमी मनुष्य धनसम्पन्न होकर क्या करे ? उत्तर है—जीवन को कला की उन्नति में लगावे। कला धन का भी धन है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति पवित्र कवियों **'कुविभिः पुवित्रैः'** (३.१.५) से होगी। इसीलिये तीसरे मण्डल के आरम्भ में ही मानव-समाज के नेता कहते हैं कि संयम, पुष्टि, ज्योति तथा आर्थिक सम्पत्ति से युक्त होकर हम लोग—

प्राञ्चं यज्ञं चकृम ॥ ऋ. ३.१.२ ॥

—मानव राष्ट्र को (=यज्ञम्) अपुष्टि से खींचकर पुष्टि में और अन्धकार से हटाकर ज्योति में ले आये हैं; फिर उसे रयिमान् भी बना लिया और सुवीर तथा सुसंयत व्ययी भी बना लिया। यहाँ तक आगे खींच लाये, परन्तु यह वीरता सदा स्थिर रहनी चाहिये। बस, यहीं से तृतीयमण्डल का आरम्भ होता है। इसी वीरता को स्थिर रखने के लिये हमारा क्या कर्त्तव्य है ? उत्तर है—तन की वृद्धि हुई, ज्योति का रथ घूम गया, रयिमान् भी हुए; अब मैं **शमाये**—शान्ति खोजता हूं। तू शान्तिदायक होकर, **तन्वं जुषस्व** (३.१.१) मेरे शरीर में घुस जा और अब तेरे द्वारा—**वर्धतां गीः** (३.१.२) वाणी (=वाङ्मय) आगे बढ़े।

वाणी तो केवल उपलक्षण मात्र है। चित्रकला, सङ्गीतकला आदि सब कलाओं का वर्णन इस मण्डल में है। कला की दो धाराएँ बताई गई हैं। एक **'विपाट्'** अर्थात् सत्यमार्ग के पाशों को छिन्न-भिन्न करके नष्ट करने वाली और दूसरी **'शुतुद्री'** अर्थात् सन्मार्ग के लिये प्रेरणा देने वाली सामग्री को आशु (=तत्काल) दौड़कर पहुंचाने वाली। इनके संगम से ही कल्याण है। अकेला खण्डन तथा अकेला मण्डन दोनों उपाय इसमें असमर्थ हैं। किंच ये दोनों धाराएँ किसी दूसरे का दर्द सुनकर उसको दूर करने के उपाय सोचने वाले सच्चे ऋषि के ही वश में आ सकती हैं, इसीलिये तीसरे मण्डल का ऋषि विश्वामित्र है, जिसे यजुर्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में 'श्रोत्र' (कान) का पर्यायवाची कहा है। (यजुः, १३.५७)

इस वाणी को कौन बढ़ावे ? किस प्रकार बढ़ावे ? बस, वही अग्नि अर्थात् पुरोहित। इसके लिये प्रथम मन्त्र में उसी से प्रार्थना है।

सोमस्य मा तुवसं वक्ष्यग्ने।

शतपथ में लिखा है—'यदेव शुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत् सोम्यम्' (१.६.२.२४)। अब मन्त्रांश का अर्थ देखिये—'हे अग्ने ! तू मुझे सोम की 'तवसम्' अर्थात् शक्ति तक भी पहुंचा दे। मैं मानव राष्ट्र का अङ्गभूत मनुष्य स्वास्थ्य-सम्पन्न बना, विद्वान् भी हुआ, धनवान् भी हुआ, पर मैं अपने जीवन में सरसता भी चाहता हूं। मैं अब शुष्क नहीं रहना चाहता हूं।' उस परम अग्नि भगवान् ने उत्तर दिया—

वर्धतां गीः

सरसता के लिये सरस साहित्य उत्पन्न कर। वह सरस साहित्य किनके द्वारा प्राप्त होगा ? इसका उत्तर पांचवें मन्त्र में दिया है— 'कुविभिः पुवित्रैः' अर्थात् पवित्र कवियों द्वारा। ये 'कविभिः पवित्रैः' शब्द भी अन्यत्र कहीं नहीं आये। 'कविभिः' अकेला आया है, 'पवित्रैः' भी अन्य किसी का विशेषण होकर आया है, परन्तु 'कविभिः' विशेष्य तथा 'पवित्रैः' विशेषण यह सङ्गम अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। यहाँ यह प्रश्न उठे कि सामान्य विद्वान् को भी तो कवि कहते हैं, इसके निराकरण के लिये ८ वें मन्त्र में स्पष्ट कहा है—

श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन।

यह रसवर्षी विद्वान् जब अपने मार्ग में काव्य के बल पर बढ़ता है तो घृत और मधु की धाराएँ वह निकलती हैं।

फिर 'विश्वानि काव्यानि विद्वान्' (ऋ ३.१.१७) यह वाक्य भी अन्य किसी मण्डल में नहीं आया। वाक्य की तो बात ही क्या, 'काव्यानि' यह शब्द भी एक बार प्रथम मण्डल के ९६ वें सूक्त में तथा चतुर्थ मण्डल के तीसरे सूक्त में आया है। सो इस प्रकार स्पष्ट है कि इस मण्डल में रसवर्षी की ललित कलाओं का विस्तार है। तभी तो वीररस की रक्षा हो सकेगी। इसलिये 'कविभिः' पर 'पवित्रैः' का अङ्कुश लगाया गया है। इस प्रकार काव्य यद्यपि वाङ्मय का वाचक है; तथापि रसोत्पत्ति के साधनभूत चित्रकला तथा सङ्गीतकला को भी नहीं भुलाया गया है। इस तृतीय मण्डल के प्रथम सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में सात बड़ी नदियों द्वारा श्वेत वर्षा की उत्पत्ति बताई गई है सो सात रङ्गों की किरणें मिलकर श्वेत रंग उत्पन्न करती हैं, इन्हीं के द्वारा चित्रकला रस को व्यक्त करती है।

पञ्चम मन्त्र में 'शुक्रेभिरङ्गैः' वीर रसमय तेजस्वी अङ्गों से देदीप्यमान ताना तना गया है। इस प्रकार नाट्यकला का वर्णन है। इसीलिये इन नाट्यकला के कवियों पर 'पवित्रैः' का अङ्कुश लगाया गया है। फिर छठे मन्त्र में 'सुप्तवाणी' सात स्वर-लहरियों ने एक नादमय गर्भ को धारण किया है। सातवें मन्त्र में ये सब 'विश्वरूपाः' (=नानारूपाः) कलाएँ रस उत्पन्न करने के लिये एक स्थान पर 'संहत' अर्थात् घुलमिल कर एक जान हो गई हैं।

उद्देश्य एक है, घृत की (=वात्सल्य-रस की) तथा मधु की वर्षा। परिणाम है— 'रभसा वपूंषि' (८ म मन्त्र) अर्थात् सदा पराक्रमयुक्त, हर रसमय कार्य को प्रारम्भ करने के लिये सदा उद्यत शरीर। यह काम अग्नि का है। वह केवल स्वयं पराक्रमयुक्त नहीं है, किन्तु 'दुधानः.... रभसा वपूंषि' —सारी प्रजा के शरीरों को रभस=कार्यशील बनाता है। क्यों न हो, उसका सम्बोधन है—'सहसः सूनो' [...सूनो सहसः ८ म मन्त्र] हे सहनशक्ति के पुत्र। इसीलिए वह 'देवानां... केतुः' (=देवों का झण्डा कहलाता) है (ऋ. ३.१.१७)। यह सदा रथ पर सवार है, इसलिये स्थिर है। इस प्रकार राष्ट्र में 'देवान् अनुयासि' (अनु देवान्...यासि ऋ० ३।१।१७) देवों का अनुगमन करता है। किसलिये ?—'साधन्' जो देव नहीं हैं उन्हें साधना द्वारा देव बनाने के लिये [ऋ. ३.१.१७]

इसलिये १६ वें मंत्र में 'हस्तैः' शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह कवियों की सेना है; यह लड़ने चली है। किनसे? 'पृतनायूँरदेवान्' (१६ श मन्त्र)—जो देव नहीं हैं और हम पर आक्रमण करना चाहते हैं, उनसे। फिर उन्हें आक्रमण से पहिले ही रोक लें तो क्या अच्छा हो। यह है 'सुरेतसा श्रवसा' (१६ श मन्त्र) वीर्यवान् वचन सुनाकर उनका मन दुष्टता से हटा दें। झूठी खुशामद से नहीं—गालियों से नहीं, अपि तु 'सुरेतसा श्रवसा'। कवि का कार्य यही है। हर मनुष्य के अन्दर सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करने वाला 'जातवेदा अग्नि' छिपा पड़ा है—'जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदाः' (ऋ. ३।१।२०) जन्म-जन्मान्तर से यह संस्कार हर मनुष्य लाया है, पर वह सोया पड़ा है, परन्तु यह प्रबुद्ध कैसे हो? '**विश्वकर्मा**' ऋषि तथा '**विश्वामित्र**' ऋषि के सहयोग से। '**विश्वकर्मा**' नाम है वाणी का*। '**विश्वामित्र**' नाम है कान का‡। बस, कवि अपनी वाणी में घृत और मधु भरे। प्रजा कान से उसका पान करे। ऐसे पवित्र कवियों की कृपा से तथा प्रजा के कानों के सहयोग से मानव-राष्ट्र का कल्याण न होगा तो कैसे होगा? यही २१ वें मंत्र में कहा है। इसी से हम कल्याणकारी सौमनस में रहेंगे। अत एव इस मंत्र की समाप्ति निम्नलिखित वाक्य से हुई है—

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।

—उस **यज्ञप्रेमी** (=विश्वसङ्गठन-प्रेमी) परमात्मा अथवा कवि के कल्याणकारी सौमनस में हम सदा रहें। सूक्त की समाप्ति पर '**अग्नि**' (=परमात्मा अथवा तदनुकारी पुरोहित) से प्रार्थना है—

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावा ऽग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ऋ० ३।१।१३॥

—हे अग्ने! हमारी **इडा** (=वाणी) को तथा उसके द्वारा भूमि को ऐसा बना कि हमारा पुत्र आज्ञा-पालक (=सूनु) तथा नाना प्रकार के क्षेत्रों में कौशल दिखाने वाला हो, हमें तेरी ऐसी सुमति प्राप्त हो।

'**इडा**' नाम वाणी का है, देखिये—**इळा येषां गण्या माहिना गीः।** (ऋ० ३।७।५)

इस प्रकार प्रथम सूक्त में जिस साहित्यनिर्माण की चर्चा आरम्भ हुई है वही सूत्र इस तृतीय मण्डल के अन्त तक बराबर चला गया है। मण्डल का विशेष बल इस बात पर है कि यह साहित्य सारी प्रजा तक पहुंचे। इस मण्डल में वैश्वानर को '**विशां कविः**' (विशां कविं ऋ. ३.२.१०) कहा है। **वैश्वानर** देवता का अर्थ भी यही है—'प्रजामात्र का हित करने वाला'। यह संन्यासी का ही दूसरा नाम है, इसलिये यह विशेषण वैश्वानर के अतिरिक्त किसी अन्य का नहीं आया (ऋ.७.१३.१)। यह कवि करता क्या है? 'रथीॠतस्य' (३.२.८)—ज्ञान को अपने रथ में बैठा कर प्रजा के हर मनुष्य तक पहुंचा देता है, इसीलिये उसका नाम **वैश्वानर** है, किन्तु यह 'ऋत' अर्थात् ज्ञान को

* ...विश्वकर्म ऋषिः...वाचं गृह्णामि...। यजुः १३.५८॥ वाग्वै विश्वकर्मर्षिः (शत.८.१.२.९)
‡ ...विश्वामित्र ऋषिः...श्रोत्रं गृह्णामि...। यजु: १३.५७॥

रोचक बना देता है, इसीलिये वह प्रजा तक पहुंच जाता है। अतः इसे **'रोचनस्थाम्'** (३.२.१४) कहा गया है। इसका डेरा ही **'रोचन'** में (=ज्ञान के सर्वरुचिकर बनाने में) है।

इस कवि का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह धर्म को रोचक भाषा में तो पहुंचावे, पर दूषित भाषा में नहीं, **'अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यति अथा धर्माणि सनता न दूदुषत्'** (ऋ. ३.३.१), इसीलिये लोग उसके सामने **'रत्ना विधन्त'** (ऋ. ३.३.१) नाना प्रकार के रत्न रखते हैं।

इस कवि का रथ जहाँ जाता है वहीं आह्लाद पहुंचाता है। इसीलिये इसे **'चन्द्ररथ'** कहा गया है (५ म मंत्र)। चौथे मंत्र में इसे **'कवि'** स्पष्ट ही कहा गया है।

वह घर-घर जाता है, इसलिये उसे **'अतिथि'** कहा है। (८ म मंत्र)। वह ऐसा कवि है कि उसने माता-पिता का नाम उज्ज्वल कर दिया है (११ श मंत्र)।

चतुर्थ सूक्त

उस का काम है यज्ञ को **मधुमान्** बनाना—**'सेमं यज्ञं मधुमन्तं कृधी नः'** (२ य मंत्र)। उसकी किरण **विश्ववारा** है (३ य मंत्र)। एक **उषा** (=कार्यारम्भ में उत्साहवर्धक साहित्य), दूसरी **उषा** अर्थात् सन्ध्या (=विपत्ति में धैर्यवर्धक साहित्य) ये दोनों **'उषसा'** उसके पास खड़ी मुस्कराती रहती है— **उषसा उपाके...स्मयेते'** (६ ष्ठ मंत्र)।

हर व्यक्ति का व्यक्तित्व इस कवि की कृपा से क्या परिणाम उत्पन्न करता है, यह ९ वें मंत्र में कहा है— **...वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः।**

पञ्चम सूक्त

५ म सूक्त में उसे **'पदवीः कवीनाम्'** (कवियों के लिये आदर्श) कहा है (१ म मंत्र)।

उसे नदियों के किनारे और पर्वत प्यारे हैं। **'मित्रः सिन्धूनामुत पर्वतानाम्'** (४र्थ मन्त्र)।

ये ज़मीन, आसमान जो हमारे प्रतिदिन के देखे हुए हैं, उसकी कविता के बल से नित्य नये रूप में हमारे सामने आते हैं। उसके हृदय में इतना स्नेह भरा है कि वह उसमें डुबोकर इन्हें भी स्नेहास्पद बना देता है। उसके हृदय में गान भरे हैं। वे गान जब प्रकट होते हैं, तो सब उन्हें गाने लगते हैं—

आ योनिमग्निर्घृतवन्तमस्थात् पृथुप्रगाणमुशन्तमुशानः।
दीद्यानः शुचिर्ऋष्वः पावकः पुनः पुनर्मातरा नव्यसी कः॥ (७म मन्त्र)

(उशन्तम् उशानः)—

—दुनिया उसे प्यार करती है और वह दुनिया को।

षष्ठ सूक्त

उसके महान् व्रत हैं। वह प्रजाओं का नेता है—

व्रता ते अग्ने महतो महानि ......त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम (५म मन्त्र)

जहाँ भी रोचक वस्तु हैं, तू उनके सौन्दर्य में मस्त होकर चमक उठता है—दिवश्चिद्दा ते रुचयन्त रोका उषो विभातीरनु भासि पूर्वीः ॥ (७ म मन्त्र)।

इसलिये उससे प्रार्थना है—'आवह देवान्' (६ ष्ठ मन्त्र) संसार भर के दिव्य गुणों को धरती पर उतार ला, परन्तु सुखी वही है जिसका जन्म ऋत में है और परिणाम सत्य में—'ऋतजातस्य सत्ये' (१० म मन्त्र)

सप्तम सूक्त

इस सूक्त का आरम्भ भी 'सप्त वाणीः' से हुआ है। वे वाणियां कसी हैं? 'मधुमद्वहन्तीः' (२ य मन्त्र)।

इसीलिये वह रयीणां रयिवित् है ('रयिविद् रयीणाम्' ३ य मन्त्र)। द्वितीय मण्डल का अग्नि 'रयिवित्' था, परन्तु धन का अन्तिम उद्देश्य तो राष्ट्र को मधुमय बनाना है। इस लिये कवि धनों के भी धन—आनन्द को उत्पन्न करता है, अत एव कहा—'रयिविद् रयीणाम्'।

अष्टम सूक्त

वे कवि लोग वन के पति अर्थात् गुरुकुलों के आचार्यों को भी अपनी कविता से मधुमान् बना देते हैं—अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन (१ म मन्त्र)।

उन आचार्यों के प्रभाव से वसु, रुद्र, आदित्य सब ब्रह्मचारी इस मानव-राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाते हैं और अहिंसा का झण्डा ऊंचा करते हैं—

आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् ।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ॥ (८म मन्त्र)

यह सब कवियों का ही प्रभाव है, इसलिये कहा—

उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद् देवा देवानामपि यन्ति पाथः । (९म मन्त्र)

क्योंकि हर ब्रह्मचारी को कवि ही उन्नत करते हैं—तं धीरासः कवय उन्नयन्ति(४र्थ मन्त्र)

नवम सूक्त

इस सूक्त में अग्नि को 'अपांनपात्' कहा गया है। यहां काव्य का प्रकरण है। वीर रस उत्पन्न करना है। वीर रस का प्रतीक अग्नि है। वह अग्नि जल-विद्युत् के समान वात्सल्य रस से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार चुम्बक-धारा का व्याघात होने से जल-विद्युत् उत्पन्न होती है। उसी प्रकार वात्सल्य की धारा में व्याघात होने से वीर रस उत्पन्न होता है। गाय और बछड़े में वात्सल्य की चुम्बक धारा बहती है, इसका व्याघात करके देख लीजिये कि वीर रस उत्पन्न होता है वा नहीं? जिसके हृदय में जिसके प्रति वात्सल्य अर्थात् निष्काम प्रेम है उस पर आक्रमण होते ही प्रेमी के हृदय में वीर रस का

प्रादुर्भाव हो जाता है। वह वात्सल्य-धारा ही वीररस की जननी है। कविहृदय में प्रवल वेग से बहने वाली अनुभूति-धारा इस विद्युत्-यन्त्र का सञ्चालन करके वीररस उत्पन्न करती है, इसलिये कवि को **'अपां नपात्'** कहा है और **'अपः'** को **'मातरः'** कहा है (२ य मन्त्र)।

अच्छे कवि की पहिचान है कि-कटु से कटु परिस्थितियाँ भी उसका मन कलुषित न कर सकें, इसलिये कहा--**'अतिं तृष्टं ववक्षिथाथैव सुमना असि'**—तूने कठोर यातनाएं सही हैं, फिर भी तू प्रसन्नचित्त है।

प्र प्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः। (३य मन्त्र)।

तेरे यहाँ श्रोताओं का तांता लगा रहता है। आगे बढ़-बढ़ कर लोग तेरी कविता सुनने आते हैं। वे चले जाते हैं तो दूसरे आ बैठते हैं। क्यों न हो, जिनका तू सच्चा सखा है, वे तुझे क्यों न घेरे रहें ?

वह वीर रस का कवि निरा कोरा कवि नहीं है। लोगों ने उसे—

ईयिवांसमति स्रिधः शश्वतीरति सश्चतः।
अन्वीमविन्दन्निचिरासो अद्रुहोऽप्सु सिंहमिव श्रितम्। (४र्थ मन्त्र)

—ढूंढने वाले गुणग्राहकों ने, उसे शत्रुओं को लांघते हुए तथा चारों ओर से घिरती हुई शत्रुसेनाओं को पार करते हुए और उन सेनाओं की धाराओं में सिंह के समान डटते हुए भी देखा है।

यह कोई आलङ्कारिक पदार्थ अथवा देवलोक का जीवन नहीं है। ६ ठे मन्त्र में उसे स्पष्ट सम्बोधन करके कहा है—**'मानुष'** !

दशम सूक्त

जो इस कवि की सङ्गति करता है। वह....**'धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति** (३ य मन्त्र) —उत्तम वीरता धारण करता है और पुष्ट होता है।

विद्वान् समालोचक स्तुति द्वारा उसका उत्साह बढ़ाते हैं—

तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम्॥ (९ म मन्त्र)।

—वह प्रजा के कानों में ठीक हवि पहुँचाता है, सहन शक्ति बढ़ाता है। वह अपने यश से अमर है।

एकादश सूक्त

हर यज्ञ में उसका झण्डा आगे है—**केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः** (३य मन्त्र)।

इसकी कविता क्या है, राष्ट्र की नौका है—**अर्थं ह्यस्य तरणिः** (३य मन्त्र)।

वह प्रजाओं का अदम्य अगुआ है—**अदाभ्यःपुरएता विशामग्निर्मानुषीणाम्** (५म मन्त्र)।

उसका रथ वेगवान् है और कविता सदा नई—**तूर्णी रथः सदा नवः** (५म मन्त्र)।

द्वादश सूक्त

हे राष्ट्र के राजा तथा ब्राह्मणो(=इन्द्राग्नी) ! इस कवि ने नाना वाणियों का सार निचोड़कर निकाला है। यह सार बहुत बढ़िया है, इसका अपनी बुद्धियों द्वारा यथेच्छ पान करो—

इन्द्राग्नी आगतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् ।
अस्य पातं धियेषिता ॥ (१म मन्त्र) ।

राजा और ब्राह्मण ही तो कवियों के ठीक गुणग्राहक हैं, इसलिये उन्हें **'कविच्छदा'** कहा (३ य मन्त्र) ।

इस काव्य-रूपी सोमरस के पान से वे **'वृत्रहणौ, अपराजितौ और वाजसातमौ'** हो गये। (४र्थ मन्त्र) ।

त्रयोदश सूक्त

ज्ञान की खोज करने वाले इस कवि को नाना प्रकार की सामग्री देकर प्रदीप्त करते हैं, पर वह अपनी प्रतिभा से उस ज्ञान में एक अपूर्वता पैदा कर देता है, इसीलिये वह प्रजा के नेताओं का भी नेता कहलाया है—

दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः ।
ऋक्वाणो अग्निमिन्धते होतारं विश्पतिं विशाम् ॥ (५ म मन्त्र) ।

चतुर्दश सूक्त

वह **'कवितम'** है (१ म मन्त्र) ।

स्वयं विद्वान् है, इसीलिये विद्वानों को खैंच लाता है और उनके बीच में बैठता है—
विद्वाँ आवक्षि विदुषो निषत्सि मध्ये (२य मन्त्र)

तेरे अन्दर से दो—**उषा और सन्ध्या**=उत्साहवर्धक तथा धैर्यवर्धक दोनों प्रकार की काव्य-धाराएँ वह निकलें और हमारे अन्दर बल उत्पन्न करें—

द्रवतां त उषसा वाजयन्ती (३ य मन्त्र) ।

पञ्चदश सूक्त

यह अग्नि है देहधारी मनुष्य, इसीलिये उसे कहा—**'तन्वा सुजात'** (२ य मन्त्र) ।

तू प्रजाओं में इस प्रकार उत्साह की ज्योति बढ़ाता है जैसे काली रात में अरुणोदय—
'कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि' (३ य मन्त्र) ।

पाप की काली रातों से तू पार उतारता है—वसो नेषि च पर्षि चात्यंहः (३ य मन्त्र) ।

हर सौभाग्य-समारम्भ में पहिला विजेता तू है—पुरो विश्वाः सौभगा सञ्जिगीवान् । यज्ञस्य नेता···। (४ थं मन्त्र) ।

कवि का काम है वीररस की वर्षा करके प्रजा की दुर्गति दूर करना, युद्ध में विजय दिलाना और ऐसी रुचि उत्पन्न करना—

प्रपीपय वृषभ जिन्व वाजान् अग्ने त्वं रोदसी सुदोघे ।
देवेभिर्देव सुरुचा रुचानो मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परि ष्ठात् ॥ (६ष्ठ मंन्त्र)।

षोडश सूक्त

कवि क्या न करे ?—

मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः । माऽगोतायै... (५ म मन्त्र)।

—हे अग्ने ! हमें ज्ञानहीन, वीरताहीन तथा गोहीन मत होने दे। कवि क्या करे ?—हमारे अन्दर से द्वेष दूर करके शत्रुओं को भगा दे—अप द्वेषांस्या कृधि (५ म मन्त्र)।

सप्तदश सूक्त

अहिंसा, सत्य आदि जो मूल धर्म हैं उनके अनुकूल तेरी शिक्षा हुई है— समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा । (१म मन्त्र), इसीलिये तू 'विश्ववार' है।

देवों ने तुझे अपना दूत बनाया है, तू इस संसार में अमृत का केन्द्र है, तू अनथक है— त्वां दूतमरतिं हव्यवाहं देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् । (४र्थ मन्त्र)।

अष्टादश सूक्त

इस धरती पर बसने वाली बस्तियाँ आपस में न लड़ें, यह कवि का काम है। वह काम, क्रोध आदि शत्रुओं को जला दे, जिससे भयङ्कर द्रोह मिटे—

भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ सखेव सख्ये पितरेव साधुः ।
पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानां प्रति प्रतीचीर्दहतादरातीः ॥ (१ म मन्त्र)।

इसलिये 'तपोष्वग्ने अन्तराँ अमित्रान्' (२य मन्त्र)—हमारे आभ्यन्तर शत्रुओं को तू तपाकर बाहर निकाल दे।

चिकितानो अचित्तान्'—अज्ञानियों को ज्ञान दे। (२य मन्त्र)। तू तो 'वसु' है, तेरा काम है उजड़ों को बसाना।

एकोनविंश सूक्त

दूसरे मण्डल में 'रयिवित् अग्नि' ने हमें धन दिया, पर 'वह धन हमें आलसी, प्रमादी और भोग-जर्जर न बना पावे' यह कार्य, हे कवे ! हम तुझे सौंपते हैं— अग्ने रायो नृतमस्य प्रभूतौ भूयाम (३य मन्त्र)।

इसलिये तू दिव्य सेना—अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि की दिव्य सेना को बुला—आवह दिव्यं शर्धः (आ वह... शर्धः... दिव्यं...(४ र्थं मन्त्र)।

विंश सूक्त

तू हमारी साहित्य-धाराओं की अप्रमत्त होकर रक्षा कर— पाहि गिरो अप्रयुच्छन् (२य मन्त्र)।

कवि का काम है प्रजा को दुराचार से पार उतारना और देवों के गुण मनुष्यों में लाना—

अग्निर्नेता भग इव क्षितीनां दैवीनां देव ऋतुपा ऋतावा।
स वृत्रहा सनयो विश्ववेदाः पर्षद् विश्वाति दुरिता गृणन्तम् ॥ (४र्थ मन्त्र)।

एकविंश सूक्त

हे कविशस्त! (=कवि-मण्डलों में प्रशंसित!) कवे! तूने हमें परिश्रम करना सिखाया, इसलिये हमारे मध्य भाग की अर्थात् पेटों की चर्बी छँट गई है। हम तेरे बनाये वीर मार्ग पर चलते हैं, इसलिये हमारा हर मनुष्य—**वीरः कर्मण्यः सुदक्षः** होता है। (३.४.५)। बस, वह पेट की चर्बी हमने तेरी भेंट चढा दी है—ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्भृतं प्र ते वयं ददामहे (५म मन्त्र)।

द्वाविंश सूक्त

राजा की जठराग्नि उत्तम भोजन मांगती है। वह अपने कोष में उत्तम से उत्तम साहित्य चुन-चुन कर संग्रह करना चाहता है जिससे कि उसका उपयोग, आने वाले विद्वान् कर सकें। सो, यह सुकवि वह अग्नि है जिसमें राजा अपने चुने हुए साहित्य-रूपी सोम का समर्पण करना चाहता है—अयं सो अग्निर्यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः। (१म मन्त्र)

हे कवि! तू प्रभुभक्ति-रूपी जल की ओर लपकता है। सूर्य, चन्द्र आदि देव भी तेरे सम्पर्क में आकर तेरे द्वारा दिव्य सन्देश देते हैं तथा बुद्धिवर्द्धक विद्वानों को भी तू उनके ज्ञानकोष का संग्रह करने के लिये कहता है और वे तेरा कहा मानते हैं। कौन? जो सूर्य अर्थात् वीर्य से परे हैं और जो सूर्य अर्थात् वीर्य से नीचे हैं। अर्थात् वीर्यरक्षा द्वारा अन्तिम ध्येय ब्रह्म-प्राप्ति तक पहुँचे हुए महापुरुष और उनसे वीर्य-रक्षा-विधि के ज्ञान के इच्छुक साधक-वर्ग, ये दोनों प्रकार की प्रजा तेरे पास आती हैं, क्योंकि तू उन्हें रुचिकर (=कान्तिमान्) बनाना जानता है; तू स्वयं रोचक लोक तक पहुँचा हुआ है—

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥ (३य मन्त्र)।

त्रयोविंश सूक्त

यह कवि यज्ञप्रणेता है—'कविरध्वरस्य प्रणेता' (१म मन्त्र)।

मैं तुझे पृथ्वी के श्रेष्ठ वरणीय पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ। तू इडा के मुख्य पद पर प्रतिष्ठित है। (इडा की व्याख्या इसी मण्डल के ७ वें सूक्त के ५ वें मन्त्र में 'गण्या माहिना गीः' इस प्रकार की गई है अर्थात् वह वाणी जो अपनी महिमा के कारण 'गण्य' है) सो मैं वाङ्मय के

प्रतिष्ठित पद पर तुझे स्थापित करता हूँ। तू इस धरती पर सुदिन लाने वाला है। है तो तू मनुष्य, पर अद्भुत मनुष्य है। कोई विद्वानों की सभा में चमकते हैं, कोई मूर्खों में, परन्तु तू तो सरस्वती नदी अर्थात् विद्वानों की सभा तथा दृषद्वती नदी अर्थात् जड़मति मूर्खों की सभा दोनों नदियों में तैरने वाला है। सो तू इस प्रकार चमक कि सब तुझे 'रयीणां रयिवित्' (३.७.३) कहने लगें। इसीलिये कहा—

चतुर्विंश सूक्त

नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि॥ (४र्थ मन्त्र)।

हे कवे! बाह्य तथा आभ्यन्तर—दोनों अभिमानभरी सेनाओं को हटा। तू शत्रुओं से हमें पार कर दे, पर वे तुझे पार न कर सकें—

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चोधा यज्ञवाहसे॥ (१म मन्त्र)

तेरा कार्य-क्षेत्र क्या है?—देवेभिर्महया गिरः (४ र्थ मन्त्र) दिव्य पुरुषों तथा भावों से हमारी वाणियों को महान् बनादे।

पञ्चविंश सूक्त

कवि के सम्पर्क में आकर जमीन आसमान-विश्व-कल्याणकारी हो जाते हैं और इस प्रकार की कविता भी अमर हो जाती है और कवि भी—

अग्निर्द्यावापृथिवी विश्वजन्ये आ भाति देवी अमृते अमूरः।
क्षयन्वाजैः पुरुश्चन्द्रो नमोभिः॥ (३य मन्त्र)

इस प्रकार की कविता के साधन दो हैं—वाज और नमः—वीररस और भक्तिरस। ऐसी कविता से वह पुरुश्चन्द्र सर्वलोकवल्लभ कहलाता है।

षड्विंश सूक्त

हम कौन हैं?—'कुशिक'। कुशिक के सम्बन्ध में निरुक्त में लिखा है—'क्रोशतेः शब्दकर्मणः'। वेद(यजुः० १३।५७) में लिखा है—विश्वामित्र नाम कान का है। जब किसी दुःखी की हाय सुनें तो उसके क्रोश में सानुक्रोश होकर जो रोएँ, उन कानों का नाम है 'कुशिक'।

ऐसे सहृदय लोगों की सभा उत्तम कवि से कहती है—हम प्रजा के दुःखों की वेदना से पीड़ित प्रजा-हितैषी लोग (=कुशिकासः), जब खूब मनन करके जान गये कि यह कवि वैश्वानर अर्थात् विश्व-भर के मनुष्यों का हितैषी है, सत्य-परायण (=अनुषत्य) है तथा सबको सुख दिला सकता है, अपनी विद्या का खूब सुदान करता है, सदा लोकप्रियता के कारण रथ पर चढ़ा रहता है; तो इस प्रजा के

सुखपूर्वक बसने की कामना से प्रजा को मुग्ध करने वाले इस कवि को हम लोग बुलाते हैं। इसकी सेवा के लिये हमने वहुत उत्तम हवि तैयार की है—

वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्या हविष्मन्तो अनुषत्यं स्वर्विदम् ।
सुदानुं देवं रथिरं वसूयवो गीर्भी रण्वं कुशिकासो हवामहे ॥ (१म मन्त्र)

हमने इसे इसलिये बुलाया है कि यह मनुष्यों को देव बना दे— 'मनुषो देवतातये' (२ य मन्त्र)। ओजस्वी उपदेशों से सैनिक क्या करने लगते हैं यह ६ ठे मन्त्र तक बताया गया है।

यह कवि कहता है—'आज मेरा जन्म सफल हुआ; आज मैंने जो जन्म पाया, सो इस जन्म से मैं जातवेदा अग्नि कहलाया। मेरी आंखों में वीर रस को दीप्त करने वाला घृत है तथा मुख में अमृत है—यह मैंने आज अनुभव किया है'—अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् । (७ म मन्त्र)

जहां इस प्रकार के सच्चे कवि प्राप्त हों वहाँ क्या करो, यह उपसंहार में बताते हैं—

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम् ।
मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम् ॥ (९म मन्त्र)

हे रोदसी अर्थात् राजा और प्रजा ! गुरु-शिष्य ! अथवा दम्पती ! तुम दोनों मिलकर ऐसे सच्ची वाणी बोलने वाले बनकर परमेश्वर पिता तथा धरती माता की गोद में मस्त होकर खेलते हुए, इस सैंकड़ों ज्ञान की और रस की धाराएँ बरसाने नाले फव्वारे का—इस ओजस्वी व्याख्याताओं के पिता व्याख्याता का सदा आदरपूर्वक पालन करो और इसकी **इच्छाएं पूरी करो**।

सप्तविंश सूक्त

यह अग्नि यज्ञ को किस प्रकार सिद्ध करता है—

ईळे अग्निं विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम् (२य मन्त्र)

—वाणी द्वारा यज्ञ को सिद्ध करता है।

इसका प्यारा रस क्या है ?—ऊर्जो नपातम् (१२ श मन्त्र) यह **ऊर्ज** का=वीर रस का पुत्र है। इसकी वाणी में बल क्यों है ? कविक्रतुम् (१२ श मन्त्र) जो कविता में कहता है वही आचरण में करता है।

इसे हम देवताओं को देवलोक से भूलोक पर लाने वाला **'अश्व'** कह सकते हैं। जड़ देवताओं से दिव्य कल्पना और चेतन देवताओं से दिव्य उपदेश—यह हमें लाकर देता है, इसलिये हम कहते हैं—
अश्वो न देववाहनः (१४ श मन्त्र)

अष्टाविंश सूक्त

चतुर्थ मन्त्र में फिर **'कवे'** यह सम्बोधन है।

एकोनत्रिंश सूक्त

यह कवि वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः (७ म मन्त्र) है, परन्तु अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् (९ म मन्त्र)—इसने युद्ध में दस्युओं का दमन भी किया है। यह दस्यु-दमन, वीर रस के कवि का 'ऋत्विय-योनि'—ऋतु के अनुकूल घर अथवा जन्म-स्थान है। माँ के पेट से पैदा होने पर इसे चन्द घरवाले पूछते, पर आज तो यह संसार का रुचिभाजन हो गया है।

इसी जन्म की ओर इस सूक्त के १० वें मन्त्र में निर्देश किया है—

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।

अब ग्यारहवें मन्त्र में उस जन्म की प्रक्रिया बताते हैं। सुनते हैं कि उर्दू काव्य के उस्ताद कविता सिखाने के समय सबसे पहिली बात यही कहते थे कि—**'पहले आशिक बनकर आओ'**। यह बात वेदानुकूल ही है। देखिये, वेद भी वीर रस के कवि की जन्म-प्रक्रिया किस प्रकार बताते हैं—

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत् सरीमणि ॥ २९.११ ॥

वीर पुरुष चार कोटियों में से गुजरता है। पहिली का नाम है—**'तनूनपात्'** अर्थात् परिस्थितियों से मार नहीं खाऊँगा—'मैं अपनी तनू को गिरने नहीं दूँगा', परन्तु यह भावना आसुर भावना है; 'हारना नहीं, चाहे कुछ भी करना पड़े'। यही राजनीति में सारे भ्रष्टाचार का मूल है, परन्तु वीर रस का ठीक विकास होना है, उसे नर की प्रशंसा करनी आनी चाहिये; चाहे वह विरोधी ही क्यों न हो। इस गुण-ग्राहकता के कारण वह **'नराशंस'** कहलाता है। यही वीर की दूसरी कोटि है। इसके पश्चात् जब प्रशंसा की भावना इतनी बढ़ जाती है कि वह कोई माँ बना लेता है अथवा किसी की मां बन जाता है तब वह **'मातरिश्वा'** कहलाता है क्योंकि वह मां में समा जाता है। यही वीर की तीसरी कोटि है, परन्तु जब उस माँ पर अथवा उस वत्स पर आक्रमण होता है, तो वह मातरिश्वा से **'वातस्य सर्गः'** हो जाता है—मन्द पवन से प्रभञ्जन—मीठी हवा से तूफान हो जाता है। १२ वें मन्त्र में इसे फिर कवि कहा है।

वह सुरण सुरुचियुक्त अथवा उत्तम योद्धा रात-दिन मानव-समाज के हित में जागरूक रहता है, कभी झपकता नहीं। उसे अपने अन्धकारमय दिन याद हैं, वह निकम्मे आलसी असुर समाज के ही पेट से पैदा हुआ है; उससे प्रतिदिन लड़ता है, इसलिये कवि ही नहीं **'कविक्रतु'** भी है—न निमिषति सुरणो दिवे दिवे यदसुरस्य जठरादजायत (१४ श मन्त्र)

त्रिंश सूक्त

इसमें इन्द्र का वर्णन है। इन्द्र क्या करता है?—जो मानव-समाज के शत्रुओं के दुर्ग गिरते नहीं थे उन्हें भी गिरा देता है और इस प्रकार हर प्रकार के उन्नति-विरोधी वृत्रों को मारता हुआ घूमता है—

त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतान्येको वृत्रा चरसि जिघ्नमानः (४र्थ मन्त्र)

'पाप्मा वै वृत्रः' (शत० ११।१।५।७)

यह सब कार्य करने में उसे सफलता क्यों मिली ? वहां फिर कवि की सहायता आ खड़ी हुई।

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार ।

सुगान् पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन् वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः ॥ (१० म मन्त्र)

'वल' नाम उस रूढ़िवाद का है जो मनुष्यों को अन्धे विश्वासों में फंसाये रखता है। यह शब्द **'वल वेष्टने'** [?, **'वल संवरणे....'** भ्वा०] धातु से बना है। इसी से **वलय** शब्द बना है। सो यह मनुष्यों की गौवों को अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने वाली इन्द्रियों को घेरे रहता है, अपने क्षेत्र से बाहिर चरने ही नहीं देता। इसका उदाहरण **विनियोगवाद** है, जो सायण जैसे प्रतिभाशाली शास्त्राक्षर—भण्डार विद्वानों को भी सत्य तक नहीं पहुँचने देता। यह **'अलातृण'** है। ज्ञानप्राप्ति के लिये मनुष्य का मस्तिष्क जिधर से बाहिर निकलना चाहे, अन्धविश्वास के डण्डे से उधर से मारकर फिर उसे अपने **व्रज** अर्थात् अपनी चरागाह में घुसेड़ देता है। इन्द्र राज्य को जब आगे बढ़ाना चाहता है, तो उसका काम सबसे पहिले इससे निपटना होता है। इससे छूटते ही इन्द्रियां सत्यज्ञान-प्राप्ति का काम करने लगती हैं और इस प्रकार गौवों के लिये वलासुर के बाड़े से छूटकर ज्ञान-क्षेत्र में चरने का मार्ग सुगम हो जाता है, परन्तु ऐसे समय इन्द्र को दादा बस्तीराम की सी **'धमन्ती'** अर्थात् धमाकेदार वाणियों की आवश्यकता पड़ती है। उस समय **पुरुहूत** (=सर्वलोकशरण) की रक्षा, यह 'धमन्ती' वाणियाँ ही करती हैं।

इस प्रकार यहाँ कवि की लोकप्रिय खण्डनात्मक कविताओं की ओर निर्देश है।

परन्तु केवल खण्डनात्मक साहित्य ही पर्याप्त नहीं, स्वादु भोजन भी आवश्यक है, नहीं तो केवल लोप-लीला होती रहती है। इसलिये कहा—

महि ज्योतिर्निहितं वक्षणास्वामा पक्वं चरति बिभ्रति गौः ।

विश्वं स्वाद्म सम्भृतमुस्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद् भोजनाय ॥ (१४श मन्त्र)

इन ज्ञान-वहन करने वाली लोकप्रिय कविताओं में (=**वक्षणासु**) महान् ज्योति रोचक-रूप में रख दी गई है। यह लोकवाणी गौः यद्यपि **'सद्यः- प्रसूता'** है, परन्तु इसके स्तनों में जो दूध है, वह परिपक्व ज्ञान का है। हर स्वादु भोजन का इस वाग्धेनु के स्तनों में राजा ने सम्भरण किया है। यही तो वह लोकप्रिय ज्ञान-संग्रह है, जिसे इन्द्र ने प्रजा के मानसिक भोजन के लिये यत्नपूर्वक सम्भाला है।

एकत्रिंश सूक्त

हर कलाकार की कृति उसकी दुहिता है और यश उसका यमज पुत्र। जो कलाकृति अत्यन्त प्रसाद-गुणयुक्त होती है वह भ्रातृमती पुत्री है। जो कलाकार ऐसी गूढ़ कृति तैयार करते हैं कि उनका यश सच्चे गुणग्राहक समालोचकों द्वारा होता ही है। उनका वंश जामाता के द्वारा चलता है। क्योंकि सच्चे समालोचक कलाकारों के जामाता होते हैं और दुष्ट समालोचक व्यभिचारी पुरुष।

राजा का धर्म है कि अपने शासन में किसी कलाकार को (यदि वह सच्चा कलाकार है तो) तथा उसकी कृति को अच्छे समालोचक कलाकार तक पहुँचा दे। इस अलङ्कार को न समझने के कारण आज तक कोई भाष्यकार इस सूक्त के देवता इन्द्र के साथ इसकी प्रथम दो ऋचाओं का सम्बन्ध न समझ सका।

हर मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने कुलतन्तु का वहन करे। इसीलिये वह 'वह्नि' कहलाता है। कलाकारों का भी कलामय कुलतन्तु है। जिसका वंश नष्ट होता हो उसका कुलतन्तु स्थिर करना राजा का धर्म है। महापुरुषों का जीवन उनकी सर्वश्रेष्ठ कला है, उसके समालोचक कवि होते हैं। वे ही उस वंश को अपनी कविता द्वारा स्थिर रखते हैं। जिन चुपचाप काम करने वालों का कोई गुणग्राहक न हो; इन्द्र का धर्म है कि वह उनके जीवन के भी प्रशंसनीय भागों को खोजकर उनका तन्तुवहन करे। बस, इसी प्रकार का शासन राजा को करना चाहिये। सो राजा जिन इस प्रकार के कवियों को निष्काम—चुपचाप काम करने वालों के गुणगान में नियुक्त करता है, उन्हें तीसरे मन्त्र में 'अग्नि' कहा गया है। ऐसे मूक बलिदान करने वालों की प्रशंसा प्रजा में यज्ञ-भावना बढ़ाती है और फिर यज्ञों से अर्थात् निष्काम-सेवा-युक्त कर्मों से इन्द्र की प्रजा में यश की प्रवृत्ति बढ़ती है।

इसीलिये चारों ओर से उषा अर्थात् उत्साहवर्धक साहित्य की धारा उसका स्वागत करती हुई आती है— तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः (४ थं मन्त्र) और इन्द्र वाणियों का पति हो जाता है —पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः (४ थं मन्त्र)

इस साहित्य के प्रभाव से ही विजयशील सेनाएँ सदा उसके सामने उपस्थित रहती हैं— अभिजैत्रीरसचन्त स्पृधानम् (४ थं मन्त्र)।

क्योंकि जिनका यश अन्धकार में छिपा हुआ था, उन्हें यह राजा प्रकाश में ले आया और इस प्रकार प्रजाओं ने अन्धकार में छिपी हुई बहुत बड़ी ज्योति को बाहिर निकाल लिया।

इस प्रकार 'सरमा'—छिपे रहस्यों को खोजने वाली विद्वानों की बुद्धि ने अज्ञात तत्त्वरूपी पर्वत में एक प्रवेश द्वार पा लिया और फिर एक सीधा, सुगम, लम्बा मार्ग वहाँ बना लिया। एवञ्च इस 'सुपदी'—मङ्गल चरणों वाली ने; अक्षरों के भण्डार को—अनश्वर तत्त्वज्ञानों के भण्डार को और आगे बढ़ा दिया तथा अन्दर छिपी हुई व्यवहारोपयोगी ज्ञान-दूध से भरी जो वाणियाँ रंभा रही थीं उनके स्वर की पहिचान से उन्हें जा पकड़ा—

विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ (६ष्ठ मन्त्र)

अन्धविश्वास से निकल कर (=अलातृणः ३०।१०) नये ज्ञान की खोज तक पहुंचने का क्या सुन्दर वर्णन है। अब यह अज्ञान का अद्रि (=अविदार्य पहाड़) ही हमारा परम मित्र बन गया, क्योंकि विद्वान् भी उस के पास मित्र बनकर गया और मित्रों की तरह लड़ा— 'अगच्छदु विप्रतमः सखीयन् असूदयत् सुकृते गर्भमद्रिः' (७ म मंत्र)—अद्रि ने भी अपने गर्भ में लीन ज्ञान को प्रजा के कल्याण में झोंक दिया।

क्यों न हो, जिस इन्द्र ने कलाकारों की इतनी परवाह की है, उसका बल भी किसी दूसरे से हुकुम लेने वाला नहीं—

गिरो यस्मिन्ननवद्याः समीचीः विश्वा इन्द्राय तविषीरनुत्ताः ॥ (१३श मन्त्र)

इस प्रकार इस महान् इन्द्र ने—इस प्रजाप्रेमी (=विश्व) इन्द्र ने, ऐसी आनन्ददायक ज्ञान-धारा तथा सदा प्रफुल्लवदन प्रजा उत्पन्न कर दी; जो पवित्र कवियों द्वारा आनन्द के स्तर को पवित्र से पवित्रतर बनाती जाती थी और रात-दिन मस्त होकर आगे बढ़ती थी—

अपश्चिदेष विभ्वो३ दमूनाः प्र सध्रीचीरसृजद् विश्वश्चन्द्राः ।
मध्वः पुनानाः कविभिः पवित्रैर्द्युभिर्हिन्वन्त्यक्तुभिर्धनुत्रीः ॥ (१६श मन्त्र) ।

क्यों न हो, **दमूना** :—घर-घर का प्यारा जो हुआ। उससे 'आपश्चन्द्राः, (मनुष्या वा चन्द्राः (शत. ७.३.१.३०) उत्पन्न न हों तो क्या हो ।

वेद हर राजा से कहता है कि हे राजन् ! इस प्रकार खोजवाली बुद्धियों के धनी विद्वानों को खोज में लगा। खोज करने वाले निष्काम पुरुषों के विस्मृत यश को कवियों तक पहुंचा। गूढ़ार्थ कवियों को सच्चे टीकाकारों तक पहुंचा।

इस प्रकार **पतिर्भव···सूनृतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः** (१८ श मंत्र)—तू प्रिय तथा सत्य वाणियों का स्वामी बन, विश्व पर सुख-वर्षा करने वाला बन, आयुभर शक्ति स्थिर रखने वाला बन।

द्वात्रिंश सूक्त

इस सूक्त में, वीर रस की कविता को सुनकर इन्द्र अर्थात् जीवात्मा अथवा राजा पाप के साथ युद्ध करने के लिये किस प्रकार तैयार हो जाता है, यह बात **विश्वामित्र** अर्थात् दूसरे के दुःखों को सुनकर उनको दूर करने के लिये उपायों का द्रष्टा वीर कवि कह रहा है—'हे अपने आध्यात्मिक राज्य के इन्द्रवीर योद्धा ! अथवा राष्ट्र के इन्द्रवीर राजा ! तू मेरी इस कविता पर मस्त होकर वृत्रासुर के वध के लिये कटिबद्ध हो जा। तेरे जीवन का सूर्य आज **माध्यन्दिन** है अर्थात् चरम सीमा पर है; यह वीरता की रक्षा का समय है; नहीं तो प्रगद से प्रमाद उत्पन्न हो जाता है। तू ही नहीं, तेरे इन्द्रिय-रूप मरुत् भी सदा तेरा साथ दें, क्योंकि वे मरुत् तेरे प्राण हैं ।

परमात्मा के पक्ष में—कवि कहता है कि हे प्रभो ! माध्यन्दिन सवन—मेरी इस वीर रस की कविता को सुनकर ऐसा वरदान दे कि मैं सदा ऐसी ही कविता करता रहूं और मेरे इस हृदय में सदा **'मादयस्व'**—निवास करके मुझे मस्त बनाता रह। ऐसी मस्ती दे कि मैं ज्ञान के सूर्य और उत्साह की उषा की सृष्टि, तेरे रचे सूर्य और उषा को देखकर करता रहूं। इन उत्साह और विश्रान्ति का संदेश मुझ तक पहुंचाने वाले प्रातः काल और सायङ्काल के सूर्य रूप दो संदेशहरों को मेरे हृदय-शाद्वल में छोड़कर तू मेरे हृदय में रमा रह। तब उसका परिणाम यह होगा कि जिन अद्रियों में अर्थात् गूढ़ ज्ञान-रहस्य को छिपाने वाले जिज्ञासा-क्षेत्रों में अज्ञान का वृत्रासुर छिपा हुआ है, वहाँ से ज्ञान की

धारा फूट निकलेगी। इस अज्ञान-रूप अति अविदारणीय वृत्रासुर के वध के लिये भगवान्—निष्पाप ज्ञान-रूप ऐश्वर्य के भण्डार उस परम इन्द्र भगवान् को और उसका अनुकरण करने वाले राजा तथा जीवात्मा को बुलाते हैं।

सूक्त का उपसंहार इस प्रकार है—

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ (१७ श मन्त्र)

—हम सुखदायक मघवा=पाप-रहित ऐश्वर्य वाले इन्द्र को; इस धन, अन्न तथा बल के देने वाले ज्ञान और अज्ञान के संग्राम में सदा बुलाया करें। जो हर मुठभेड़ में ज्ञान-प्राप्ति में बाधक कारणों को मारता है और शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तीनों प्रकार का धन जीतने की शक्ति हमें प्रदान करता है।

त्रयस्त्रिंश सूक्त

उस प्रभु की सृष्टि में इन कवियों के पुरुषार्थ से दो प्रकार की धारायें फूट निकलती हैं। एक **वृत्रघ्न धारा**, दूसरी **धनञ्जय** धारा। वृत्रघ्न धारा का नाम **'विपाट्'** (=विपाश्) है, क्योंकि वह ज्ञानप्राप्ति में बाधक पाशों के बन्धन से ज्ञान-मार्ग को वियुक्त करती है अथवा वृत्रों का विपाटन करती है। दूसरी धनञ्जय धारा का नाम—**'शुतुद्री'** है, जो प्रबल वेग से उत्तम ज्ञानसहायक पदार्थों को पहुंचती है। यह जहाँ कहीं होती है वही पवित्रतम स्थान है, क्योंकि अज्ञान के खण्डन के साथ-साथ सुज्ञान का प्रतिपादन मिले तो ज्ञान पूरा होता है, नहीं तो अधूरा। उदाहरण के लिये, आहार के हीन मिथ्याऽतियोग रूप वृत्र के नाश से मनुष्य की मौत नहीं होगी—विनाश नहीं होगा; परन्तु ठीक आहार-योग को जानकर उसके सेवन से पुष्टि होगी। सो हीन मिथ्यातियोग का नाश और युक्ताहार की संम्भूति दोनों आवश्यक हैं—

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते। (यजुः ४०.११)

सच्चे श्रोता अर्थात् विश्वामित्र जब वेदादि शास्त्रों में अथवा सृष्टि-रूपी पुस्तक में आते हैं तो अज्ञानान्धकारग्रस्त प्रजा पर करुणार्द्र होकर कहते हैं कि हे प्रभो! आपकी कृपा से मैंने तो इन अगाध धाराओं का गाहन कर लिया है, इसलिये मैं तो **गाधेय विश्वामित्र** कहलाया, परन्तु ये जो नाना प्रकार के सम्भार—लोककल्याणार्थं भरण करने के लिये उत्सुक **'भरत'** लोग मेरे साथ चल रहे हैं, इनके लिये भी तो उनको **गाधा** कर दो। हे ज्ञान-धाराओ! जरा देर रुक जाओ, मैं ही तुम्हारा मन्थन करके तुम्हें प्रजा के लिये गाहनीय कर दूँ। सो अज्ञानग्रस्त प्रजा की दुःखभरी, वेदनामय आवाज सुनकर, उनके दुःख दूर करने के सच्चे उपाय सोचने वाले विश्वामित्र-ऋषि लोग, इन अगाध ज्ञान की नदियों को कहते हैं—**रास्ता दो, हम पार उतरेंगे**, तो ये नदियाँ उन्हें रास्ता देती हैं।

जिस विद्वान् ने जो सत्यान्वेषण का क्षेत्र निश्चित किया है वह उसका पर्वत है। पहिले वह **'अद्रि'** होता है। पर विद्वान् उसे पर्व-पर्व करके, उसमें रास्ता बना लेते हैं तब उसमें से ज्ञान की ये दो धाराएँ—एक अज्ञानोच्छेदक **विपाट्**, दूसरी सद्यः (=शु=आशु) सत्प्रतिपाद्य-प्रतिपादक **'शुतुद्री'**, पूर्णज्ञानी इनके संगम पर निवास करते हैं। प्रजा की वेदना सुनते हैं और गुरुओं से ज्ञान-रहस्य सुनते

हैं। इन विश्वामित्रों के बल से ये दोनों अगाध-ज्ञान-गम्भीर नदियाँ **सुपारा** हो जाती हैं और अन्त में साहित्य-सिन्धु में जा मिलती है। इस सुन्दर रूपक का पूर्ण रसास्वादन करने के लिये **सम्पूर्ण सूक्त पढ़िये।** हमें तो केवल यह दिखाना है कि इस तीसरे मण्डल का मुख्य उद्देश्य पवित्र कवियों द्वारा साहित्यसागर को भरना है।

साथ ही इन्द्र अर्थात् राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने भी इन्द्र अर्थात् परमात्मा की आज्ञानुसार इन ज्ञानधाराओं को मर्यादातिक्रमण न करने दे, जिससे वे ज्ञानधाराएं बह सकें—**'तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः** (६ ष्ठ मंत्र)। परन्तु विश्वामित्र तो स्वयं **'कारु'** है। ज्ञानधारा का शिल्पी है, अतः ज्ञानधाराएं कहती हैं कि, यद्यपि हम इन्द्र के शासन के अतिरिक्त किसी का शासन नहीं मानतीं तथापि तेरा कहना मानेंगी, क्योंकि तू स्वार्थ से प्रेरित नहीं है, तेरा उद्देश्य तो यही है कि—**'भरताः सन्तरेयुः'** भरत पार हो जावें। (११ श मंत्र)

इस सूक्त में वर्णित नदियाँ, सामान्य नदियाँ नहीं हैं, अपितु ज्ञानधारा-रूपी नदियाँ है, इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण ५ म मंत्र में पठित **'ऋतावरी'** सम्बोधन पद है।

चतुस्त्रिंश सूक्त

अब उस **इन्द्र** (=परमात्मा और तदादेशानुवर्त्ती राजा) की कौन-सी मर्यादाएँ हैं, जिनका पालन करती हुई **विपाट्-शुतुद्री** कहती हैं कि **'तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः** (३.३३.६) —हम अपनी नाना शाखाओं के साथ उसके शासन में चलती हैं। उन्हीं का वर्णन इस ३४ वें सूक्त में है।

'दास' और **'दस्यु'** ये दो मानवसमाज के शत्रु हैं। **'दास'** वे हैं जो अन्याय सहते हैं और **'दस्यु'** वे हैं जो अन्याय करते हैं। इन्द्र को **दासता** और **दस्युता** दोनों का नाश करना होगा। वैसे शत्रुओं पर दया करके **दा+स** अर्थात् दानशील बनाना होगा। दस्युओं को दण्ड देकर (**विपाट्** में स्नान कराके) नम्र बनाना होगा। दासों को—क्षीणों को, उत्साह बढ़ाकर (दा+स) दाता बनाना होगा। कहना होगा-तुम अपने अंदर हीन भावना लाकर मांगने वाले **'दसु उपक्षये'** वाले 'दास' मत बनो, अपितु **'डुदाञ् दाने'** वाले 'दास' बनो। मैं तो उसे बढ़ाता हूं जो जितना अधिक दान करता है—**वावृधानो भूरिदात्रे** (१ म मंत्र)। देखो, मैंने समुद्र को नदियों द्वारा और आकाश को मेघ द्वारा जल से भर दिया है कि नहीं ? मैंने मनुष्य मात्र के लिये दिन के समय प्रकाश का झण्डा फहराया है कि नहीं ?

मेरी सेना अंधकार को दूर कर ज्योति फैला रही है। मैं इस **'बृहते रणाय'** (४ म मंत्र) —महान् युद्ध के लिये निकला हूँ। ज्ञानवृद्धि के लिये मैंने मनुष्य मात्र को एक **शुक्र** अर्थात् तेजस्वी (वीर्यवर्धक) शब्द दिया है, वह शब्द है—**'वर्ण'**। यही तुझे भक्तों का **वरेण्य** बनाता है। इसी लिये परमात्मा ने मनुष्यों की बुद्धि तथा कर्मों को वर्ण शब्द की चेतना दी है—**अचेतयद् धियः** (५ म मंत्र)। यह **'वर्ण'** सबको सिखाता है कि जीवन को व्यर्थ मत गवाँओ। शारीरिक श्रम का दान, सञ्चित का दान, अभिमान-दान और ज्ञान-दान इन शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के

व्रतों में से एक चुनकर फिर उसे अपना ध्येय बनालो। चुनाव अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार करो। तब तुम अपने जीवन के अर्य अर्थात् स्वामी बनोगे और क्योंकि तुम्हारे जीवन का हर क्षण उसके अनुसार परिमित होकर व्यय होगा, तो यह तुम्हारा वर्ण आर्य अर्थात् परिमितता से उत्पन्न होगा। बस यही मर्यादा सिखाती हुई विपाट्-शुतुद्री नामक ज्ञानधारा ब्रह्माण्ड में बहती आई है और बहती रहेगी। इसीलिये कहा—'हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् (९ म मंत्र)।

पञ्चत्रिंश सूक्त

हे इन्द्र! हम अग्नि को (= अपने पुरोहित ब्राह्मण को) सदा यह उपदेश देते पाते हैं कि **'यज्ञ पवित्र कवियों द्वारा पवित्र होता है'** और इसलिये सदा ऐसा ही पुरोहित मांगते हैं (३.१.५)। परन्तु हम स्थूलदर्शी हैं। जब तेरे संदेशहर उषा और संध्या के सूर्य शोणा धृष्णू नृवाहसा (१.६.२), हमें तेरा उत्साह और विश्रांति का संदेश देने आते हैं, तो हम उन लाल-लाल संदेशहरों को तो देखते हैं, पर हे इन्द्र! ऐसी कृपा कर कि उस रथ पर आरूढ़ तुझको देख पावें। वायु का अपना रंग कोई नहीं, इसलिये जब वह नाना पदार्थों को गति देता हुआ आता है, तो हम गति के कारणभूत वायु को जिस प्रकार देखते हैं और वायु की 'नियुत्'=आंधी पानी-वाली लम्बी ट्रेन जब आती है, तब जैसे वायु के दर्शन हठात् हो जाते हैं, ऐसे ही तेरे इन्द्ररूप के भी तो दर्शन हों। जिस दिन वे दर्शन होंगे, उस दिन हमारे कवि पवित्र होंगे। नहीं तो इस रंग-बिरंगी दुनिया के रंगों में उलझे रहेंगे पर तेरा रंग नहीं पा सकेंगे। हम अपना सब कुछ तेरे अर्पण करते हैं, पर तू भी तो इसे स्वीकार कर। हमें वह सूक्ष्म दृष्टि दे, कि हर रंग में हमें तेरा रंग दीखे; हर संदेशहर तेरा संदेशहर हो, जिससे हमारे कवि पवित्र हों—

तिष्ठा हरी रथ आ युज्यमाना याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छ।
पिबास्यन्धो अभिसृष्टो अस्मे इन्द्र स्वाहा ररिमा ते मदाय॥ (१म मन्त्र)

हे प्रभो! मेरे हृदय में काव्यशक्ति का हरा मैदान है। ये तेरे दो लाल घोड़े (सायं-प्रातः के सूर्य) मेरी इन काव्य-भावनाओं को चर के, मेरे हृदय में हिन-हिनावें, बस मैं कवि बन जाऊंगा, परंतु तेरे घोड़े ही क्यों? तू भी तो इस हृदय में अपना भोजन पाकर उसका आस्वादन कर। यह स्थूल हरी घास, स्थूल घोड़ों के लिये है और संसार के प्राकृत भोग, प्रकृति के बंधन में बंधे हुए जीवों के योग्य हैं; ये तेरे सदृश अर्थात् अनुरूप नहीं हैं—तेरे आस्वादन के योग्य नहीं हैं। मेरे प्रेमाग्नितप्त हृदय में भक्तिभाव के जो 'धानाः' भुन रहे हैं—ये तेरे सदृश हैं। इन सदृशी उपयुक्त धानाओं को खा—

उपो नयस्व वृषणा तपुष्पोतेमव त्वं वृषभ स्वधावः।
ग्रसेतामश्वा वि मुचेह शोणा दिवेदिवे सदृशीरद्धि धानाः॥ (३य मन्त्र)

इसलिये इन तेरे संदेशहर शोण हरियों (घोड़ों) को मैं सदा ब्रह्म के साथ अर्थात् तेरे साथ जोड़ता हूं। ये **'घासयुजो हरी'** नहीं, **'ब्रह्मयुजो हरी'** हैं। ये मुझे ब्रह्म से मिलाते हैं, फिर मैं जब

इन्हें ब्रह्म से मिलाकर प्रजा के पास तेरा संदेश देने भेजता हूं तो वह मुझे पवित्र कवि कहती है, अश्लील कवि नहीं—

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ (४थं मन्त्र)

हे इन्द्र ! यह काव्यरस हमने वीररस की वृद्धि के लिये बनाया है, इसलिये ऐसा उपाय कर कि इस वीररस-रूप सोमरस की सुगंध, पृथ्वी की हर हवा में फैलकर मनुष्य मात्र में प्राण संचार करके संसार की हवा बदल दे अथवा हे इन्द्र ! अर्थात् राजन् ! तू और तेरे सैनिक दोनों इस रस का पान करें—

याँ आ भजो मरुत इन्द्र सोमे ये त्वामवर्धन्नभवन् गणस्ते ।
तेभिरेतं सजोषा वावशानोऽग्नेः पिब जिह्वया सोममिन्द्र ॥ (९म मन्त्र)

हे परमात्मन् ! जिस जिह्वा से तुझे इस रस का पान करना है, वह तुझ निराकार के पास कहाँ ? तू हमारा पालन करने वाली अपनी सामर्थ्यरूप **स्वधा** से इसका पान कर अथवा तेरे भक्त ब्राह्मण इसका गान करें और फिर उस गान को सुनकर दूसरे गान करें, जिससे गान-परम्परा फैले, इसलिये अग्नि की जिह्वा से इसका पान कर अथवा इस कविता को सुनकर संसार से हिंसा का नाश करने वाले क्षत्रियों के शक्तिशाली हाथों में, जो शस्त्रों के प्याले हैं, वहाँ से इसका पान कर अर्थात् उन 'अध्वयु' (हिंसानाशक) वीर पुरुषों को आशीर्वाद दे, जिससे वे अनुभव करें कि तूने उनका प्राणोपहार स्वीकार किया—

इन्द्र पिब स्वधया चित् सुतस्याऽग्नेर्वा पाहि जिह्वया यजत्र ।
अध्वर्योर्वा प्रयतं शक्र हस्ताद्धोतुर्वा यज्ञं हविषो जुषस्व ॥ (१०म मन्त्र)

षट्त्रिंश सूक्त

ब्राह्मण (=कवि) और क्षत्रिय (=अध्वर्यु) ही क्यों, हर कर्मशील मनुष्य जो तुझे स्मरण करके, किसी न किसी पदार्थ का तेरी प्रजा की सेवा के लिये, उत्पादन कर रहा है, वह उसका **सोम है।** हर दम्पती की संतान उनके **सुत** और **सुता** हैं। इन सब सोमों को स्वीकार कर, जिससे कह सकें कि—सुते सुते वावृधे वर्धनेभिः यः कर्मभिर्महद्भिःसुश्रुतोऽभूत् (१म मन्त्र)

हे प्रभो ! इस सवन का विस्तार अनन्त है। आकाश के तत्त्व जानने के लिये चन्द्रलोक की यात्रा करने वाला विमान भी तो **सवन** ही कर रहा है, इसलिये **'नाह विव्याच पृथिवी चनैनम्'** (४ थं मन्त्र) —पृथिवी भी इसे नाप नहीं सकी।

यह सब शक्ति मनुष्यमात्र में आई कहाँ से—'···'वावृधे...काव्येन' (५ म मन्त्र) **पवित्र कवियों के काव्य से।**

ये **'सिन्धवः'** अर्थात् सेनायें, जलमय नदी जिस प्रकार समुद्र को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार युद्ध-क्षेत्र तक जो पहुँचती हैं; यह सब इन्द्र की सभा के कवियों का ही तो प्रताप है। कवियों का

दोहन किया हुआ सोम, इन्द्र की सभा से वहकर सेनाओं को वीररसमय बना देता है, तब ही तो इन्द्र सभा में श्रेष्ठ कहलाता है और जव उस राजा-रूप इन्द्र को कोई सन्देश लेना होता है तो परमात्मा-रूप इन्द्र की सभा—इस तारा-नक्षत्र-मण्डित गगन-मण्डल से ले लेता है—

प्र यत्सिन्धवः प्रसवं यथायन्नापः समुद्रं रथ्येव जग्मुः ।
अतश्चिदिन्द्रः सदसो वरीयान् यदीं सोमः पृणति दुग्धो अंशुः ॥ (६ष्ठ मन्त्र)

वड़े बड़े व्यापार-केन्द्र-रूप समुद्रों में यह जो नाना पदार्थों की, **सिन्धवः** बह रही हैं इनमें हर '**भरत** (Producer) अपना '**सुषुत**' (=बढ़िया से बढ़िया तैयार माल) लिये जा रहा है। ये कुशल-हस्त लोग, अपने माल ढोने वाले '**भरित्रों**' से, प्रजा के कल्याए के लिये मधु की धारा को छानकर दे रहे हैं। क्योंकि कवियों ने अपनी मधुर कविता, इन्हें छानकर दी है—

समुद्रेण सिन्धवो यादमाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तः ।
अंशुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रैर्मध्वः पुनन्ति धारया पवित्रैः ॥ (७म मन्त्र)

हे इन्द्र ! '**अस्मे वीरान् शश्वतः**' (**प्रयन्धि**) (१० म मन्त्र) हमें सदा वीरपुरुष दे। इस लिये वीररस के उन कवियों को प्रोत्साहन दे, जिन की वीरता भक्तिरस से पवित्र हो चुकी हो।

सप्तत्रिंश सूक्त

हे इन्द्र ! हम वाणी कोई बोलें पर नाम तेरा ही लें; जिससे हम वीरत्व-सुलभ दोष-अभिमान को सहन कर सकें—अभिमान के वेग को दबा सकें—

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे । इन्द्राभिमातिषाह्ये (३ य मन्त्र)

जिससे हम वृत्र को मार सकेंगे, परन्तु अभिमान हमें नहीं मार सकेगा—न अपना और न शत्रु का—

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो । इन्द्र वृत्राय हन्तवे । (६ष्ठ मन्त्र)

हमें अभिमान न हो कि बल हमारा है। '**उत्ते शुष्मं तिरामसि** (१०म मन्त्र)—**'तेरे बल से हमने कठिनाइयों को पार किया है'** यह हम सदा याद रक्खें।

अष्टात्रिंश सूक्त

फिर केवल छन्द गाने वाले ही तो कवि नहीं है; शुष्क से शुष्क विषय में ज्ञान का रस लेने वाले भी तो महाकवि हैं; जिन्हें कि सर्वत्र तेरी कविता का दर्शन होता है। बस वे हमारा मार्ग-दर्शन करें—**कवीँरिच्छामि संदृशे सुमेधाः** (१म मन्त्र)

इन विज्ञानवेत्ता महाकवियों से पूछता हूँ, तुम्हारा जन्म कहां से हुआ ? वे कहते हैं—उस महान् मन व शक्ति के भण्डार **सुकर्मा** परमात्मा से; बस हमारी कविता का लाभ यह है कि तुम इस **धरती** को '**तक्षत द्याम्**' (२ य मन्त्र) **—घड़घड़ कर द्यौ बना दो** । इनके प्रणीत विज्ञानमार्गों से

मनुष्य ने मन का वेग धारण कर लिया है और वह अपने कर्त्तव्य पालन के लिये, मन के वेग से कर्त्तव्य-स्थल तक पहुँच जाता है। क्या यह अद्भुत रस की कविता नहीं है? परन्तु ये कवि पवित्र हैं, इस लिये 'धर्मणि ग्मन्' (२ य मन्त्र) न तु पापे।

एकोनचत्वारिंश सूक्त

परन्तु यह याद रक्खो कि ये मेधा-कवि (=वैज्ञानिक लोग) मानसिक क्षेत्र में कितनी भी अद्भुत रस की कविता करें, किन्तु जब तक कलाकार कवि उनके हृदय भक्ति-रस तथा वीररस से न भर देंगे, तब तक वह सही अर्थों में 'रस' नहीं कहलायेगा; अपितु वह अद्भुत रस, अद्भुत विष बन जायेगा। इसलिये कहा—इन्द्रं मतिर्हृद आवच्यमानाऽच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति।

(१ म मन्त्र), इन भक्त कवियों के प्रभु-भक्तिमय स्तोतों से घड़ी हुई (=स्तोमतष्टा) जागरूक मति, जो सदा हृदय से उठकर वाणी द्वारा प्रकाशित होती है तथा अपने पति परमात्मा को अभिमुख करके स्तुतिगान करती है—जब कवि—सम्मेलनों में प्रशंसा पाती है तो हर श्रोता समझ लेता है और कहता है—हे इन्द्र! जो तेरे द्वारा पैदा किया जाता है, वह माल तेरा नहीं, उसका है॥

यह पुण्यरूपा शुक्लाम्बर-धरा सत्त्विकी बुद्धि है। कवि लोग प्रभु की दिव्य सृष्टि में, अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इसे प्राप्त करते हैं। जिसके पास यह दृष्टि हो वही 'पितृ' पद के योग्य है—

भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः॥ (२य मन्त्र)

जिस राष्ट्र में राजा 'गोषु योधाः' वाणी के क्षेत्र के योद्धा अर्थात् वीर रस के कवियों का 'दृंहिता'=पूर्णतया पृष्ठ-पोषक होता है, उन की निन्दा करने की सामर्थ्य किसो में नहीं। किंच वहाँ ऐसे विद्वानों के विद्यागोत्र चलते हैं*—

नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥ (४र्थ मन्त्र)

गुणग्राहक राजा और पुण्यापुण्यविवेक में समर्थ अन्तर्यामी भगवान् यह जानते हैं कि किस गाय के स्तनों में कितना दूध है। जिस प्रकार किसी का पाप प्रभु से छिपा नहीं, इसी प्रकार किसी का मधु भी उससे छिपा नहीं। किंच संसार में सत्कर्म का प्रतिफल अवश्य मिलता है। कोई दूसरा उस सच्चे कर्मकर को दक्षिणा दे या न दे, परन्तु हर मनुष्य के दक्षिण हाथ में उसकी दक्षिणा धरी है। पुरुषार्थ वह करता है, दक्षिणा इन्द्र देता है। इसलिये हे प्रभुभक्त कवियो! चाहे संसार तुम्हारी कविता का मूल्य जाने या न जाने, परन्तु प्रभु अवश्य जानता है। और यदि राजा सच्चा प्रभुभक्त है तो वह भी जानता है, वह गूढ़ तत्त्वों को जानने के लिये प्रभु के समान अदृश्य होकर (अपने प्रसिद्ध रूप से भिन्न रूप धारण करके) घूमता है—

इन्द्रो मधु सम्भृतमुस्रियायां पद्वद् विवेद शफवन्नमे गोः।
गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान्॥ (६ठ मन्त्र)

हे इन्द्र! हे राजन्! 'पुरुतमस्य कारोः'— श्रेष्ठतम शिल्पी की पहिचान यह है कि,

* जैसे भूषण सम्प्रदाय के कवि, भक्त सम्प्रदाय के कवि इत्यादि।

वह ज्योति को चुनता है। कहता है—'लोगो! ज्योति को प्यार करो और दुरित से दूर रहो।' बस ऐसे रसीले कवि को तू अपने पास रख।

अथवा हे इन्द्र! ऐसे कवि को तू अपने पास रखता है। हम भी उसकी कविता सुनें, जिससे हम भी ज्योति से प्यार करें और दुरित से दूर रहें—

ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके।
इमा गिरः सोमपाः सोमवृद्ध जुषस्वेन्द्र पुरुतमस्य कारोः॥ (७म मन्त्र)

जहाँ ऐसे कवि होते हैं वहाँ 'सुपारासो वसवः' (८ म मन्त्र)—वहाँ के निवासी सब कठिनाइयों से सुगमता से पार हो जाते हैं।

चत्वारिंश सूक्त

यह सोम, वाणी का सोम है; इस का प्रमाण ६ठे मन्त्र में 'गिर्वणः' (गिर्वणस्-सम्बुद्धौ) यह विशेषण है। हे सच्ची वाणी के रखैया! हम यह सवन करके तेरे लिये लाये हैं, इसे तुझे अर्पण कर दिया, तो बस मैंने यश पा लिया।

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद् यशः॥ (६ठा मन्त्र)

एकचत्वारिंश सूक्त

हे प्रभो! तेरे इस संसार में अनेक समस्याओं के पहाड़ ऐसे हैं, जो अद्रि हैं—टूटते ही नहीं हैं—(न विदारयितुं शक्यन्ते), परन्तु तेरे भक्त भी ऐसे हैं जो अद्रियों के भी अद्रि हैं, वे प्रातःकाल ही उठकर इन दुर्गों को तोड़ने में लग जाते हैं। और वे इस में अवश्य सफल होंगे. क्योंकि उनके सिर पर तेरी छत्र-छाया है—

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक्। अयुज्रन् प्रातरद्रयः॥ (२य मन्त्र)

ऐसे शूर अद्रियों को प्रजा बुला कर कहती है, 'शूर वीहि पुरोडाशम्' ('वीहि शूर पुरोडाशम्' ३ य मन्त्र)—यह तेरे सामने उत्तम भोजन रक्खा है, हे शूर! तू इसका आस्वादन कर।

यहां जिस 'सवन' का वर्णन है, वह वाणी का 'सवन' है; इस लिये चतुर्थ मन्त्र में फिर 'गिर्वणः' (वाङ्-मर्मज्ञः) यह सम्बोधन पढ़ा है।

इस ज्ञान-यज्ञ के सवन में सवनकर्त्ता इन्द्र को सुमतियाँ इस प्रकार चाटने लगती हैं, जैसे गाय बछड़े को—

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम्। इन्द्रं वत्सं न मातरः॥ (५म मन्त्र)

'मतयः' पद यहाँ ध्यान देने योग्य है।

द्वाचत्वारिंश सूक्त

हे कवि! तू युद्ध-क्षेत्र में अटल है, इसीलिये हम तेरा मङ्गल मनाते हैं—

विद्मा हि त्वा धनञ्जयं वाजेषु दधृषं कवे। अधा ते सुम्नमीमहे॥ (६ठ मन्त्र)

बात भी सही है, वीर रस का कवि ही क्या हुआ, जो रणक्षेत्र में जाकर लड़ न सके।

त्रयश्चत्वारिंश सूक्त

हे इन्द्र ! आज तो सधमाद है—कवि-सम्मेलन है। आज केवल दो लाल सन्देशहरों (प्रातः काल-सायङ्काल के सूर्य) से काम नहीं चलेगा। हर अपने नये घोड़े पर सवार कवियों पर, तू सवार होगा, परन्तु इतनी प्रार्थना है कि हर घोड़े पर सवार तू नजर आवे। कवि अपने-अपने घोड़ों पर सवार, तू कवियों पर सवार, इसलिये आज 'हरिभिः'—घोड़ों से मुक्त होकर आ—

आ नो॑ य॒ज्ञं न॑मो॒वृधं॑ स॒जोषा॒ इन्द्र॑ देव॒ हरि॑भिर्याहि॒ तूय॑म् ।
अ॒हं हि त्वा॑ म॒तिभि॒र्जोह॑वीमि घृ॒तप्र॑याः सध॒मादे॒ मधू॑नाम् ॥ (३य मन्त्र)

और वे तेरे जो दोनों सखा—उत्साह और विश्रान्ति हैं, वे तो साथ होंगे ही, उन्हें छोड़ मत आना— आ च॒ त्वामे॒ता वृष॑णा॒ वहा॑तो॒ हरी॒ सखा॑या सु॒धुरा॒ स्वङ्गा॑ ॥

हे प्रभो ! तू मुझे कभी प्रजा का रक्षक बनाता है, कभी राजा बनाता है, कभी ऋषि बनाता है और कभी अक्षय धन का स्वामी बनाता है, पर मैं हूँ कवि, जो करूँगा वाणी के क्षेत्र में, और गान करूँगा तेरा—

कु॒विन्मा॑ गो॒पां कर॑से॒ जन॑स्य कु॒विद्राजा॑नं मघवन्नृजीषिन् ।
कु॒विन्म॒ ऋषिं॑ पपि॒वांसं॑ सु॒तस्य॑ कु॒विन्मे॒ वस्वो॑ अ॒मृत॑स्य॒ शिक्षाः॑ ॥ (५म मन्त्र)

चतुश्चत्वारिंश सूक्त

हे इन्द्र परमात्मन् ! तूने अतिप्रेम से उषा को कवियों की अर्चना के योग्य बनाया। सूर्य को वीररस के कवियों की रुचि का पात्र बनाया। हे हर पदार्थ से संसार को सन्देश पहुँचाने वाले प्रभो ! इस प्रकार तू अपने अभिमुख आश्रितों को, उनके जीवन में वृद्धि करने वाले पदार्थों से बढ़ावा देता है। तू खूब पहिचानता है कि किसे किस प्रकार की अभिलाषा है और उसकी पूर्त्ति का साधन क्या है—

ह॒र्यन्नु॒षस॑मर्चयः॒ सूर्यं॑ ह॒र्यन्न॑रोचयः ।
वि॒द्वांश्चि॑कि॒त्वान्ह॑र्यश्व वर्धस॒ इन्द्र॒ विश्वा॑ अ॒भि श्रियः॑ ॥ (२य मन्त्र)

पञ्चचत्वारिंश सूक्त

हे इन्द्र ! वीर रस के कवियों को तेरे अन्दर क्या देखना है ! वृत्रनाशक, रूढ़िनाशक, दुष्टों के दुर्गों का नाशक और छिपे हुए रस-प्रवाह को उभारकर निकालने वाला ब्रह्माण्ड-रथ का अधिष्ठाता इन्द्र, वीर रस में वह स्वर निकालता है कि बड़े से बड़े जमने वालों के पैर उखड़ जाते हैं—

वृ॒त्र॒खा॒दो व॑लंरु॒जः पु॒रां द॒र्मो अ॒पाम॒जः ।
स्थाता॒ रथ॑स्य॒ हर्यो॑रभिस्व॒र इन्द्रो॑ दृ॒ळ्हा चि॑दारु॒जः ॥ (२य मन्त्र)

वीर की वीरता केवल शत्रुओं पर ही प्रकट नहीं होती। शरणागतवत्सलता भी एक वीर-गुण है। सो भगवान् का वह रूप भी देखिये। हे इन्द्र ! हमारी जीवन-यात्रा को धारण करने वाले

उस धन को हम पर बरसा, जिसके वियोग में हम दुःखी हो जाते हैं। इस धन को वैसे ही बरसा, जैसे प्रेमार्द्र पिता योग्य पुत्र को अपना पूर्व प्रतिज्ञात अंश बिना मांगे देता है अथवा जैसे पके फलों से लदा वृक्ष, परिपक्व फलों को स्वयं टपका देता है—

आ॒नस्तु॒जं र॒यिं भ॑रा॒ंशं न प्र॑तिजान॒ते ।
वृ॒क्षं प॒क्वं फल॑म॒ङ्कीव॑ धूनु॒हीन्द्र॑ सं॒ पार॑णं॒ वसु॑ ॥ (४र्थ मन्त्र)

षट्चत्वारिंश सूक्त

हे इन्द्र ! तेरे वीर कर्म अद्भुत हैं। तू योद्धा भी है और धारावर्षक भी। सारी शक्तियाँ तेरे पास स्वयं आ खड़ी होती हैं। तू उग्र युवा के समान सदा जोड़ भी करता है और कसौटी के पत्थर के समान स्थिर रहकर सब रत्नों की घिसने द्वारा परीक्षा का साधन भी है। वज्र लेकर सबको जीर्ण कर देता है, परन्तु स्वयं अजर है। तेरी महिमा बड़े से भी बड़ी है—

यु॒ध्मस्य॑ ते वृष॒भस्य॑ स्व॒राज॑ उ॒ग्रस्य॒ यूनः॒ स्थवि॑रस्य॒ घृष्वेः॑ ।
अजू॑र्यतो व॒ज्रिणो॑ वी॒र्या॒३॒॑णीन्द्र॑ श्रु॒तस्य॑ मह॒तो म॒हानि॑ ॥ (१म मन्त्र)

सप्तचत्वारिंश सूक्त

हे राजन् ! तू उत्तम फलों का रस उत्तम अन्न से मिश्रित करके सैनिकों-सहित पान कर। तुझे युद्ध के लिये जाना है। अपने कोष-रूप उदर में प्रजा द्वारा उत्पादित पदार्थों के मधुर सार को सञ्चित कर। तू राजा है—

म॒रुत्वाँ॑ इन्द्र वृष॒भो रणा॑य॒ पिबा॒ सोम॑मनुष्व॒धं मदा॑य ।
आ सि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिं त्वं राजा॑सि प्र॒दिवः॑ सु॒ताना॑म् ॥ (१म मन्त्र)

हे परमात्मन् ! तू अपने ब्रह्माण्डरूप उदर में उन सब पदार्थों का कोष सञ्चय करके हम कवियों को दे, जिससे हम काव्य-माधुरी का विस्तार करें।

हे राजन् ! तू शूर भी है, विद्वान् भी। अपने वीर सैनिकों के गणसमेत इस सारे राष्ट्र के सार रूप धन (सोम) का पान कर। शत्रुओं को मार, आक्रमणकारियों को भगादे। हमारे लिये चारों ओर से अभयावस्था की स्थापना कर—

स॒जोषा॑ इन्द्र॒ सग॑णो म॒रुद्भिः॒ सोमं॑ पिब वृत्र॒हा शू॑र वि॒द्वान् ।
ज॒हि शत्रूँ॒रप॒ मृधो॑ नुद॒स्वाऽथाभ॑यं कृणुहि वि॒श्वतो॑ नः ॥ (२य मन्त्र)

४८ से ५२ सूक्त तक तो स्पष्ट ही राजा तथा सैनिकों का वर्णन है। उसके विस्तार का यहाँ प्रयोजन नहीं।

त्रिपञ्चाश सूक्त

सेना के भिन्न-भिन्न दल जहां रहते हैं, उन भागों को पर्व कहते हैं। सो पर्वत नाम सेना के शिविर तथा सेना के अध्यक्ष का हुआ। अतः 'इन्द्र' राष्ट्रपति तथा 'पर्वत' सेनापति हुआ। हे

राष्ट्रपति तथा सेनापति ! तुम महान् रथ से वीर सैनिकों में शक्ति भरने वाला अन्न डालो और कवि लोग वाणी से तुम्हारा उत्साह बढ़ावें और उस उत्साहयुक्त वाणी से मस्त होकर पूरी कर्त्तव्य-परायणता से हिंसा-विनाशकारी यज्ञों में आनन्दपूर्वक युद्धरूप हव्य आहुत करो—

इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः ।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिळया मदन्ता ॥ (१म मन्त्र)

हे इन्द्र ! मैं कवि तेरा पल्ला पकड़कर पुत्र की तरह तुझ से मांग करता हूँ कि तू सदा हमारे पास रह, दूर मत हो । हमने राष्ट्र-रक्षार्थ बड़े परिश्रम से जो **सोम** (=नानाविध उत्तम पदार्थ) तैयार किये हैं उन सबको तेरे अर्पण कर रहा हूँ और तुझे राज्य-रक्षक समझकर स्वादिष्ट वाणी से तेरी स्तुति कर रहा हूँ—

तिष्ठा सु कं मघवन् मा परा गाः सोमस्य नु त्वा सुषुतस्य यक्षि ।
पितुर्न पुत्रः सिचमा रभे त इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः ॥ (२य मन्त्र)

हे इन्द्र ! हे राजन् ! हमारी सेवा को स्वीकार करके युद्ध की तैयारी के लिये घर जाइये । आप की पत्नी भी लोक-कल्याण-कामा है । इसलिये युद्ध के नाम पर वहाँ रोना-पीटना नहीं होगा, अपितु वीर पत्नी के वीर परिवार में **'सुरणम्-सुरणम्'** = **'युद्ध में सुख हो—विजय हो—अहा उत्तम युद्ध आया'** यही सुनाई देगा । वहाँ युद्ध के लिये महान् रथ तैयार होगा, जिसके घोड़े तभी खुलेंगे जब तुम विजयरूप दक्षिणा लेकर घर आओगे और सारा राष्ट्र तुम्हारी वीरता की दक्षिणा तुम्हें देगा—

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥ (६ष्ठ मन्त्र)

राष्ट्र के दुःखों की पुकार सुनकर, युद्ध में विजय के उपाय सोच निकालने वाला यह जो **विश्वामित्र** (= राष्ट्र का श्रोत्र) है, इसने राष्ट्ररक्षा के लिये सहायता मांगी है । राष्ट्र के सब **'भोजाः-दानी लोग'**—अपने अङ्गों का रस निकाल कर राष्ट्रहितार्थ देने वाले ये सब **देवपुत्र**—ये जीवट वाले सेनापति के वीर; आज इस **'सहस्रसव'** अर्थात् जहाँ सहस्रों का दान बरसे—उस राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में विश्वामित्र को नाना प्रकार का धन दे रहे हैं, यहाँ तक कि आयु भी दान कर रहे हैं—

इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ॥ (७म मन्त्र)

यह राजा बेमौसम के विपत्तिमय समय में भी प्रजा की रक्षा करता है और जैसा शत्रु सामने आवे, उससे लड़ने के लिये जिस प्रतिरूप का प्रयोजन हो वही धारण कर लेता है—

रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् ।
त्रिर्यद् दिवः परि मुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ (८म मन्त्र)

चतुःपञ्चाश सूक्त

इस सूक्त के १० वें मंत्र में वीर रस के कवियों का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन है। हे रोदसी ! हे नेता और नीयमान—हे एक दूसरे के दुःख में रोने वालो ! मैं वीर रस के कवियों का स्तुतिगान करता हूँ। मित्र, वरुण तथा अन्य आदित्य लोग जो इस मानव-समाज के सम्राट् हैं, सदा युवा हैं; वे अपनी काव्य-सन्तति का विचार करते रहते हैं। अग्निजिह्व लोग ही सच्चे कवि हैं—

इमं स्तोमं रोदसी प्रब्रवीमि—ऋदूदराः शृणवन्नग्निजिह्वाः ।
मित्रः सम्राजो वरुणो युवान आदित्यासः कवयः पप्रथानाः ॥ (१०म मन्त्र)

वीर रस के श्रवण के पात्र कौन हैं, यह १३ वें मन्त्र में कहा गया है और इसीलिये वीरों से युक्त धन इस मन्त्र में मांगा गया है—'धाता रयिं सहवीरं तुरासः' (१३ श मन्त्र)

कवियों की सफलता इसमें है, कि वे सब देवों को इन्द्र अर्थात् परमात्मा तथा राजा की ओर बढ़ाते चले आवें। हे कवियो ! जब सब देव इन्द्र के दरबार में हों—'महत्तद्वः कवयश्चारु नाम यद्ध देवा भवथ विश्व इन्द्रे' (१७ श मन्त्र)—हे कवियो ! यह तुमने बड़ा सुन्दर नाम पैदा किया है।

कवि कहते हैं कि सेनाओं के 'पर्वत' अर्थात् क्रमबद्ध सन्निवेश तथा 'अदिति' ये सब हमारा वीर गान सुनें, जिससे सैनिक लोग हमारा कल्याण करने में समर्थ हों—

शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः ।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम् ॥ (२०श मन्त्र)

सप्तपञ्चाश सूक्त

इस ब्रह्माण्ड की कर्मशाला में हर देव एक न एक प्रकार का युद्ध कर रहा है—···विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः··· (२य मन्त्र)

हर स्त्री जो गर्भ धारण करती है उसके गर्भ में पति की शक्ति होती है और उसके पालन के लिये शरीर शक्ति मांगता है। वीर रस के बिना कोई माता नहीं बन सकती—

या जामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन् ।
अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि ॥ (३य मन्त्र)

हे अग्ने ! =वीर रस की आग फूंकने वाले कवि ! अपनी जिह्वा से सबको वीररसमय मधु का पान करा—

या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा अग्ने देवेषूच्यत उरूची ।
तयेह विश्वाँ अवसे यजत्रानासादय पायया चा मधूनि ॥ (५म मन्त्र)

वीर रस का मूल वात्सल्य रस है। इसलिये तू हमें विश्वजन्या=विश्वकल्याणकारिणी मति दे…वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम् (६ष्ठ मन्त्र) विश्वकल्याण के मार्ग में बाधा होने पर वीर रस आप ही उत्पन्न हो जायगा।

अष्टपञ्चाश सूक्त

प्रतिदिन उषा इसी वीर रस को जगाती है—'उषसः स्तोमो अश्विनावजीगः' (१ म मन्त्र) रक्षक और रक्षणीय 'अश्विनौ' हैं। ये दोनों जाग गए तो भक्षक की खैर नहीं।

नवपञ्चाश सूक्त

वीर रस को जगाना है तो पहले सर्वभूत मैत्री को जगाओ—मित्राय…घृतवज्जुहोत (१ म मन्त्र)

सूर्य सब के प्रति मैत्री व्रत लेकर घूमता है, उससे यह गुण सीखो—
…यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन (२ य मन्त्र)

हम सूर्य से यह मित्ररूपता का व्रत ग्रहण करें— 'आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम' (३ य मन्त्र)

यह मित्र हमें सिखाता है कि राजा कैसा हो।

षष्टितम सूक्त

उत्साह शक्ति से 'ऋभु' लोग अर्थात् शिल्पकला के कुशल आचार्य किस प्रकार राजा की सहायता और प्रजा की सेवा द्वारा परमेन्द्र प्रभु की सच्ची पूजा कर सकते हैं, यह ६० वें सूक्त में बताया गया है—

इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशु र्मनो नपातो अपसो दधन्विरे।
सौधन्वनासो अमृतत्वमेरिरे विष्ट्वी शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया ॥ (३ य मन्त्र)

एकषष्ठ सूक्त

राष्ट्र के वीर पुरुषों की पहिचान यह है कि वे उषाकाल में निद्रा त्याग कर स्वकर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। नहीं तो धीरे-धीरे उनकी वीरता नष्ट हो जाती हैं। जहाँ उत्साहवर्धक कवि रहते हैं, वहाँ सामाजिक उषा भी सूर्य की उषा के साथ मिलकर एक स्वर में गाती है। यह उषा तथा तत्सदृश कविता मानव-समाज को प्रतिदिन व्रतपालन का पाठ पढ़ाती है, इसीलिये उसे 'प्रचेताः पुराणी युवतिः' कहा गया है और 'विश्ववारे' कहकर सम्बोधित किया गया है।

जहाँ यह आलस्य-त्याग और उत्साह-वृद्धि रहते हैं वहाँ की जनता नित्य पुरानी-नित्य नई रहती है—

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥ (१म मन्त्र)

इस उत्साह-युक्त कविता-रूप उषा के रथ में पूर्णतया नियम से नियन्त्रित रहने वाले तथा औरों को रखने वाले वीर, वात्सल्य तथा भक्ति-रस के कवि जुते होते हैं। उस मानव-समाज में चारों वर्ण हिरण्य-वर्ण अर्थात् सत्य ज्योतिर्मय होते हैं क्योंकि यह कविता 'सूनृता ईरयन्ती'—सत्य तथा मीठी वाणी की ओर प्रेरणा देने वाली होती है—

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥ (२ य मन्त्र)

हे पवित्र कविता रूप उषा ! तू सायंकाल सुश्रान्त पुरुषों की सुविश्रान्ति के पश्चात् प्रतिदिन आ और यह तेरा चक्र सदा चलता रहे—

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥ (३ य मन्त्र)

हे उषा! जिस प्रकार उत्तम पत्नी बिस्तर लपेट देती हैं, तूने अन्धकार-रूप बिस्तर, जिस पर सब सोये थे, उसे लपेट दिया। जो अब भी सोते रह गये थे, वे इस तमोमय बिस्तर में लिपट गये। प्रातः काल हर मनुष्य को 'स्व+सर'=अपने-अपने लिये Assigned Task पर चले जाना चाहिये, इस लिये सूर्य की हर किरण अपने अपने 'स्वसर' पर चली गई—'उस्रा इव स्वसराणि'। तू सबसे पहिले अपने लोक-जागरण के कर्त्तव्यपालन पर आई, इसलिये 'स्वसर' के पालन करने वालों में तू श्रेष्ठ है। तेरा यह रूप धरती, आकाश सर्वत्र एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया—

अवस्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी ।
स्व१र्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद् दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

इस संसार में रमणीय स्थल कहाँ नहीं ? परन्तु जिस प्रकार अन्धकार में वे नहीं दीख पड़ते, उसी प्रकार रमणीय स्थल के रसिक पवित्र कवियों की उत्साह-वर्धक कविता के बिना भी वे दीख नहीं पड़ते। बस हे पवित्र कवियो ! यह उषा तुम्हें 'रण्वसन्दृक्'=रमणीयता का सम्यग्दर्शन (कुत्सित दर्शन नहीं) कराने आई है। ए मनुष्यो ! इस उत्साहवर्धक कविता का प्राण तथा अन्नदान द्वारा सदा पालन करते रहो। यह ऊपर से मधुवर्षा करती है और तुम उस मधु को कटोरी में खाते हो। इस प्रकार यह इस संसार को रुचिकर बना देती है—

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम् ।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥ (५ म मन्त्र)

यह ज्ञान भी देती है और ज्ञान तथा कर्म के योग होने पर द्रविण भी। यह 'ऋतावरी' भी है और वाम=प्रशस्त द्रविण देने वाली भी। इसका आदर करना सीखो—

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात् ।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

यह नहीं भूलना कि उषा के भी पीछे कोई है, जो **'ऋतस्य बुध्ने'** (७ म मन्त्र) ज्ञान के मूल में रहता है। यह उषा उसी की **कठपुतली** है। यदि उसको भूल जाओगे तो उषा तुम्हें नहीं मिलेगी—जिस प्रकार प्रथम मण्डल के अन्त में मोरनियाँ नाच कर कह रहीं थीं—"अब राष्ट्र के दारिद्रय-निवारक **रयिवित्** अग्नि का स्वागत हो रहा है। क्योंकि सर्वश्रेष्ठ धन अन्न है, उसका उत्पादक मेघ है और उसके स्वागत में मोरनी नाच रही है", फिर जिस प्रकार तृतीय मण्डल के कवि के स्वागत के लिये द्वितीय मण्डल के अन्त में वीर-रसोत्तेजक **'कर्करि'** नामक युद्धवाद्य का स्वर लिये हुए कपिञ्जल ने गान किया था उसी प्रकार अब तृतीय मण्डल के अन्त में जो देवता आये हैं वे चतुर्थमण्डल की भूमिका बना रहे हैं।

मनुष्य ने प्रथममण्डल के उपदेश से स्वस्थ और सुशिक्षित होना सीख लिया। इस प्रकार संयम-शील होकर उसने द्वितीय मण्डल में नहरें खोदीं, खाने खोदीं, मकान बनाये, बिजली के प्रकाश के लिये **'यह्वी'** अर्थात् लम्बी-लम्बी प्रकाशस्तम्भों की पंक्तियाँ खड़ी कीं, बिजली उत्पन्न करने के लिये **अपां नपात्**=जल से उत्पन्न विद्युत् का सहारा लिया और **रयिवित्** बना। तदनन्तर रसमय होने के लिये—आनन्दपूर्ण जीवन के लिये तृतीय मण्डल में पवित्र साहित्य की—काव्य की रचना की। अब उसको कानून बनाने हैं, पोलिस बनानी है, न्यायालय बनाने हैं। इसलिये तृतीय मण्डल की समाप्ति पर निम्नलिखित देवताओं का वर्णन है। इस ६२ वें सूक्त में तीन-तीन मन्त्रों में एक-एक देवता का वर्णन हैं। कुल १८ मन्त्र हैं। इस प्रकार छह चित्र हैं इनका नाम इस प्रकार है—

१. **इन्द्रावरुणौ**—इन्द्र=राष्ट्रपति, वरुण=पोलिस विभाग का अध्यक्ष।

२. **बृहस्पति**—उपदेश द्वारा प्रजा का सुधार करने वाला विप्रराज्य का अधिष्ठाता।

३. **पूषा**—कर इकट्ठा करने वाला तथा अन्य शासन में चलने वाले कर्मचारी।

४. **सविता**—विधान-निर्माता।

५. **सोम**—न्यायाधीश।

६. **मित्रावरुणौ**—मित्र=आचार शास्त्र का विद्वान्, वरुण=पोलिस विभाग का अध्यक्ष।

इस प्रकार तृतीय मण्डल के अन्तिम सूक्त अर्थात् ६२ वें सूक्त का आरम्भ तथा अन्त, **'वरुण'** के साथ हुआ है। वरुण का सम्बन्ध सदा यज्ञिय पाशों के साथ आया है। वह गुप्तचरों से संसार भर के वृतान्त को जानता हैं तथा **'प्रचेताः'** है। सदा चेतावनी देता है*। इसलिये व्यवस्था के साथ सीधा सम्बन्ध उसी का है। बस जिस वरुण के साथ तृतीय मण्डल की समाप्ति होती है उसी के साथ चतुर्थ मण्डल का आरम्भ होता है। राष्ट्र के सब मनुष्य स्वस्थ हैं, सुशिक्षित हैं, सुसम्पन्न हैं, किन्तु इनमें सबके सब एक समान धर्मात्मा तो नहीं। विशेषकर सम्पत्ति पाने पर तो कुछ न कुछ बिगड़ेंगे ही, इसलिये अब सुव्यवस्था चाहिये। **बस यह सुव्यवस्था ही चतुर्थ मण्डल का ध्येय है।**

इति तृतीयं मण्डलम्

---

* अधिक विस्तार मेरी 'शतपथ में एक पथ' नामक पुस्तक में देखिये (ग्र. का.)

चतुर्थ मण्डल

प्रथम मण्डल में स्वास्थ्य का मधुर छंद कानों में गूंजा। द्वितीय मण्डल में आर्थिक सम्पत्ति के लिये मिलकर काम करने का उपदेश दिया, इसलिये इसका ऋषि 'गृत्समद' है। गृत्समद वह है जिसे मेधावियों की मण्डली में अथवा समूह में आनंद आता हो, अकेले काम करने में नहीं। तीसरे मण्डल में वीररस तथा उसके जन्मदाता वात्सल्य रस का वर्णन हुआ। अब पुष्ट-शरीर, अर्थ-समृद्ध पुरुष कितनी भी पवित्र कला से प्रेरणा प्राप्त करें, कुछ न कुछ मनुष्य काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों के शिकार होकर रहेंगे तथा दण्ड के बिना सीधे रास्ते पर नहीं चलेंगे, इसलिये चतुर्थ मण्डल का आरम्भ 'प्रचेताः' अग्नि को उत्पन्न करने से हुआ—अग्नि 'जनत प्रचेतसम्'।

(४।१।१)

हे अग्ने! हे पुरोहित! छोटे-छोटे परिवारों तक आपकी व्यवस्था चली। अब बहुत से परिवारों से मिलकर ग्राम, ग्रामों से जनपद और जनपदों से राष्ट्र बन गये। अब दुष्ट लोगों को दुष्टता करने का अवसर मिला। प्रजा में रोष हुआ। पर रोष से तो काम नहीं चलेगा। दुष्टता किसने की? इसका पता लगाना होगा। झूठ मूठ किसी ने आरोप तो नहीं लगाया, यह जानना होगा, फिर अपराधी को दण्ड देना होगा, इसलिये अब यह काम नो मनन-सहित रोष से होगा, इसलिये मन्युयुक्त प्रजा ने आपको प्रेरणा की है। आप सब मिलकर अग्नि की (पुरोहित की) सहायता से प्रचेता को पैदा करो,—'जनत प्रचेतसम्...जनत प्रचेतसम्' चारों ओर से यही आवाज आ रही है—प्रचेता को पैदा करो।

त्वां ह्यग्ने सदमित् समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे।
अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम्॥

(१ म मन्त्र)॥

इसलिये पुरोहित जी! अपने भाई वरुण को जा घेरो। पुलिस के अधिकारी में इतने गुण होने चाहियें—

१. सुमति अर्थात् तीव्र बुद्धि।

२. यज्ञवत्सल—संगठन के हित के सामने स्वार्थ को पीछे फैंक कर लोकहित चाहने वाला 'ऋतावान्' विद्वान् तथा नाप-तोल द्वारा बिना परखे, बात न मानने वाला।

३. 'आदित्य' अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी, निष्कलङ्क तथा न दबने वाला।

४. 'चर्षणीधृत्' अर्थात् प्रजा को प्रेम से वश में करने वाला तथा उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त करने वाला

५. 'राजा'—अपने को राजा तथा राष्ट्रजनों को अपनी आश्रित प्रजा समझने वाला।

इस प्रकार के प्रचेता को—सदा जागरूक वरुण को उत्पन्न करो और यह प्रयत्न करो कि अग्नि अपने भाई वरुण की ओर अभिमुख होवे—

स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं ज्येष्ठं यज्ञवनसम् ।
ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं राजानं चर्षणीधृतम् ॥ (२ य मन्त्र)

उसे सैनिकों से भी सहायता लेनी होगी । अपितु ऐसे वरुण का उद्भव भी चतुर्मुख प्रतिभावाले 'मरुतों' में—सैनिकों में—सिपाहियों में ही होगा— मरुत्सु विश्वभानुषु । (४.१.३)

इस प्रकार के योग्य मनुष्यों की पहिचान भी तो विद्वान् ब्राह्मण ही करेगा, इसलिये यह कार्य अग्नि को सौंपा गया—

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्…(४ र्थ मन्त्र)

वरुण का कार्य आगे स्वयं स्पष्ट हो जायेगा, परन्तु अग्नि को प्रचेताः क्यों कहा ? यह विचारणीय है । यह नाम पौराणिक साहित्य में तो वरुण का है । बात यह है कि, यद्यपि चतुर्थ मण्डल पोलिसविभाग का मण्डल है तथापि पोलिस का काम भी पहिले यथाशक्ति चेतावनी देकर लोगों को बुरे मार्ग में जाने से रोकना है । (संन्यासी तथा दण्डाध्यक्ष के, कुमार्ग से रोकने में इतना भेद अवश्य है— कि दण्डाध्यक्ष के पीछे वरुण के पाश तथा वरुण का दण्ड स्पष्ट सामने दीखता है), इसलिये इस मण्डल में अग्नि उस क्षत्रियशक्ति का प्रतिनिधि है, जो लोगों को दुष्ट मार्ग में फंसने से बचाती है, इसीलिये चतुर्थ सूक्त के अष्टम मन्त्र में कहा हैं—"अस्मे क्षत्राणि धारयेः"—हे अग्ने ! तू समस्त क्षत्रिय-शक्तियों को धारण कर, न केवल तू, किन्तु हम सब प्रजाजन भी 'स्वश्वाः…सुरथा मर्जयेम' अश्व-रथादि शक्ति से तेरा पूर्ण सहयोग करके तेरी अर्चना करें । इस अग्नि से कहा है—'विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्' (४.१.४) सम्पूर्ण द्वेषपूर्ण दुष्टों को हम से दूर करके हमें मुक्त कर—इस दुष्ट-दमन अग्नि ने पहिले भी हमें छुड़ाया । उस का इतिहास हमें वर्त्तमान दुष्टों से छुड़ाने तथा भविष्य में आने वाले दुष्टों के हनन का उपाय पहिले से सोचने में सहायक है ।

इस अनन्त काल की—भूत वर्तमान, भविष्यत् इन तीनों मणियों में यह सूत्रवत् पिरोया हुआ है । वह दुष्ट-दमनोपयोगी त्रिकालाबाध्य है ।

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः ॥ (७ म मन्त्र)

पांच इन्द्रियों का अनुभव—पांच प्रकार का प्रत्यक्ष, इस शास्त्र को जानने वालों का अनुभव तथा अपनी अनुमान शक्ति की प्रतिभा; ये प्रत्यक्षानुमानजन्य सात प्यारे इस अग्नि को जन्म देते हैं—

प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे ।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे ॥ (१२ श मन्त्र)

यह अग्नि हृदय के समान हैं। जिस प्रकार सूर्य से उषा का जन्म होता है, इसी प्रकार हृदय से वरुण की बनी नाड़ियाँ चारों ओर रुधिर लेकर जाती है। यह हृदय = यही 'वामदेव ऋषि' मनुष्य शरीर के वाम भाग में रहता है।

सो जिस प्रकार 'उषा' अन्धकार में, 'वव्रे' लाल रंग बखेरती है उसी प्रकार दण्डाध्यक्ष, वरुण की सहायता से उषाओं को जन्म देता है। दण्डाध्यक्ष के सबसे बड़े शत्रु कौन हैं ?—पणि लोग। पणि का अर्थ है 'जुआरी'। जो बात-बात में पण लगाता हो वह पणि है। चोरी, व्यभिचार, मद्यपान आदि सब बुराइयों का मूल कारण बिना पुरुषार्थ फल-प्राप्ति की इच्छा है। चोर चोरी, पुरुषार्थ से बचने के लिये करता है। व्यभिचारी, पत्नी तथा सन्तान के प्रति कर्त्तव्य-पालन से बचने की इच्छा से व्यभिचार करता है। वह बिना उत्तरदायित्व के उपस्थेन्द्रिय का सुख चाहता है। आलसी, प्रमादी तथा भक्तिरस-हीन स्वास्थ्य का शत्रु मनुष्य ही स्वास्थ्य के नशे को शराब से, बिना व्यायाम आदि परिश्रम के प्राप्त करना चाहता है। इसी प्रकार जुआरी इस काल का परमाचार्य है।

देवशुनी 'सरमा' इन दुष्टों की खोज में लगी रहती है। बस, राष्ट्र का स्वास्थ्य चाहने वाला दण्डाध्यक्ष भी पणियों को खोज-खोज कर उन दुष्टों के हाथ में पड़ी प्रजा की इन्द्रियरूपी गौओं का सदा उद्धार करता रहता है।

यही राष्ट्र के स्वास्थ्य का रहस्य है। जहाँ के दण्डाध्यक्ष वामदेव ऋषि ऐसा करते हैं, वहाँ की प्रजा के जन-जन के चेहरे पर उषा की गुलाबी-लाली खिली रहती है—...'आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः' ॥ (१६ श मन्त्र)

दण्डाध्यक्ष प्रजा की पशु-शक्ति को नष्ट न करे, नियन्त्रित करे। इन्द्रियनाश न करे, इन्द्रियों का नियन्त्रण सिखावे। उसका उपाय है— उन्हें 'कार' = कर्मपरायण बनावे। जो लोग ऐसी प्रज्ञा तथा कर्म करते हैं वे दुष्टों के दुर्गम से दुर्गम किले तोड़ने में समर्थ होते हैं—

ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो विवोचन्।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन् विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः ॥ (१४ श मन्त्र)

उनकी पांच प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये सारी शक्तियाँ तीनों-तीनों कालों में तिगुनी होकर और अबाध गति से चलकर दुष्टदमन में समर्थ होती हैं—

...'त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्' ॥ (१६ श मन्त्र)

यह प्रचेता अग्नि सदा जागरूक रह कर देखता है कि कौन मनुष्यों में ऋजु मार्ग से चल रहा है और कौन 'वृजिन' मार्ग से अर्थात् वर्जित मार्ग से ?

...आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु मर्त्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥ (१७ श मन्त्र)

ऐसे राष्ट्र में प्रतिदिन 'विश्वासु दुर्यासु'—घर-घर में पणियों के पञ्जे से, इन्द्रिय-रूप गौवों का मोक्ष होता है। हे मित्रवत् पुरोहित रूप में विद्यमान ब्राह्मणो ! तथा हे पाश द्वारा दुष्टों का दमन करने वाले वरुण लोगो ! तुम्हारे सामने एक ही लक्ष्य है—घर घर के द्युभक्त = देदीप्यमान

रत्न मिलें (न कि पणियों द्वारा जीते हुए)। याद रक्खो, जुए के नाश का एक ही उपाय है—घर-घर में 'सत्यमस्तु' ईमानदारी हो। जुए का सबसे बड़ा शत्रु सत्य है—

आदित्पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद् रत्नं धारयन्त द्युभक्तम् ।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु ॥ (१८ श मन्त्र)

ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व तथा उनकी परम सहायक शूद्रत्व की व्रतरूपी आग, सत्य की सबसे बड़ी रक्षक है। यह अग्नि ही 'विश्वभरस्' है—सबका सच्चा भरण करने वाली है। घर-घर में गोदोहन तथा जीविकोपार्जन से पूर्व इस व्रतरूप अग्नि का स्मरण करना आवश्यक है—

अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम् ।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः ॥ (१९ श मन्त्र)

यह अग्नि अदम्य है। घर-घर में सदा घूम-घूमकर रक्षा करता है—

···विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम् । (२० श मन्त्र)

द्वितीय सूक्त

इस नियन्त्रक अग्नि के दो काम हैं— 'शुचध्यै, ईरयध्यै' लोगों को शुचि रखना तथा सदा किसी न किसी प्रजा—हितकारी काम में लगे रहने के लिये प्रेरणा करते रहना—

···होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै । (१ म मन्त्र)

इस पवित्र कार्य में मित्र, वरुण, मरुत् आदि सब देवों की सहायता आवश्यक है—

अर्यमणं वरुणं मित्रमेषामिन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत । (४ र्थ मन्त्र)

इस अग्नि की सहायता से दृढ़ तथा विशाल जड़ों वाला धन मिलता है, क्योंकि इस धन पर सभा का नियन्त्रण है—

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः ।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान् ॥ (५ म मन्त्र)

हे अग्ने ! पापवृत्ति वालों से हमें बचा—

···विश्वस्मात् सीमघायत उरुष्य ॥ (६ ष्ठ मन्त्र) ॥

हम तुझे सर्वस्व देते है और तुझसे मांग करते हैं कि समस्त दुष्ट-मार्ग-गामियों से हमें पार निकाल—

·······तमंहसः पीपरो दाश्वांसम् । (८ म मन्त्र)

जो इस दुष्टदमन अग्नि की सेवा करते हैं, उनका धन से कभी वियोग नहीं होता तथा बुरा चाहने वालों का पापयुक्त व्यवहार उन्हें कभी नहीं घेर सकता—

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद् दुवस्त्वे कृणवते यतस्रुक् ।
न स राया शशमानो वियोषन्नैनमंहः परि वरदघायोः ॥ (९ म मन्त्र)

जब यह अग्नि दुष्ट-दमन के लिये हमें सहायतार्थ बुलावे तो हम सब प्रजाजन प्रसन्न होकर पहुँचें; जिससे यह होत्रा Rally प्रसन्नता से भरी हो तथा इस नेता के कार्य की वृद्धि हो जो हमारे लिये दुष्टदमन कर रहा है—

यस्य त्वमग्ने अध्वरं जुजोषो देवो मर्त्तस्य सुधितं रराणः ।
प्रीतेदसद्धोत्रा सा यविष्ठाऽसाम यस्य विधतो वृधासः ॥ (१० म मन्त्र)

कौन प्रसन्न होकर कार्य करता है? कौन चित्तहीन होकर ? किसी की पीठ भारी बोझ सहार सकती है ? किस की वर्जनीय है ? हे अग्ने ! तू इस विषय का विद्वान् है । हे अग्ने ! हमारे धन की रक्षा के लिये तू दिति अर्थात् दाता की रक्षा कर तथा अदाता को भली प्रकार बन्धन में कस दे, जिससे वह देना सीखे—

चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्त्तान् ।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥ (११ श मन्त्र)

हे अग्ने ! तू यह मत देख कि लोग क्या कहते हैं; तू यह देख कि उनके पैर किधर जाते हैं अर्थात् उनका आचरण क्या है । क्योंकि आचरण करना ही कठिन है, मुख से (=वाणी से) तो सभी देवता बन जाते हैं—

अतुस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः ॥ (१२ श मन्त्र)

जिस प्रकार चतुर शिल्पी पूर्ण नाप-जोख के साथ रथ का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार तेरी प्रेरणा से मनुष्य हाथ-पैर, शरीर से नपा-तुला जीवन बिताते हैं । यही दुष्टता के दमन का सर्वश्रेष्ठ उपाय है—

अधा ह यद् वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः ।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः ॥ (१४ श मन्त्र)

उत्साह-वर्धक साहित्य रूप माता उषा के गर्भ से हम कार्य-कुशल मनुष्य पैदा करें और न टूटने वाले समस्याओं के दुर्ग को तोड़कर छिपा धन निकालें—

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन् ।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः ॥ (१५ श मन्त्र)

जैसे हृदय में से निकलती हुई अरुण-वर्ण रुधिर से भरी नाड़ियाँ क्षाम (दुबले-पतले) को देदीप्यमान बना देती हैं, वैसे ही क्षीण राष्ट्र को उपभोग-पदार्थों की नाड़ियाँ देदीप्यमान बना देती हैं—

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ (१६श मन्त्र)

हे अग्ने ! तेरे भय से कामचोर लोग भी सुकर्मा बन जाते हैं और जिस प्रकार चर्म-धौंकनी लोहे को तपा देती है; जैसे फेफड़ों की धौंकनी लाल रुधिर का विस्तार करती है, वैसे ही

तेरी धौंकनी सुकर्मा मनुष्य पैदा करती है। जब वे कामचोर नहीं रहते, तो चोरी भी नहीं करते—

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन् ॥ (१७ श मन्त्र)

हे अग्ने! तू अपने भक्त मनुष्यों की 'उर्वशी' बनाता है। निरन्तर गमनशील, अविरत कार्यशील नर-पंक्तियाँ ही 'उर्वशी' हैं—

··· मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्······ ॥ (१८ श मन्त्र)

हे अग्ने! हम सौर-चक्ररूप देव के देदीप्यमान चक्षु इस सूर्य का प्रतिदिन स्वागत करते हुए उठते हैं और हर उषा हमें नये हुए ज्ञान के तेज से आच्छादित करती हुई उठाती है। उस उद्बोधन से हम न केवल कर्मशील बनते हैं, अपितु सुकार्यशील भी बनते हैं—

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षुः ॥ (१९ श मन्त्र)

हे अग्ने! हमें शिक्षा ने वसु बनाया है, धरती पर बसना सिखाया है, तू हमें 'वस्यम्' बना और परिष्कृत नागरिक बना—

···उच्छोचस्व कृणुहि वस्यसो नः······ ॥ (२० श मन्त्र)

तृतीय सूक्त

अग्नि ने अपने भ्राता वरुण के साथ मिलकर मानव-राष्ट्र को दुष्टों के जाल से बचाना है। सो इससे पहिले कि वे अपना जाला तानें, 'सत्ययज्' रुद्रदेव अग्नि को अपनी रक्षा के लिए बुलावें, दुष्ट जाल बिछने ही क्यों दें—

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥ (१ म मन्त्र)

यह दण्डाध्यक्ष चारों ओर से सब की सुनें तथा कभी दर्प में भरकर किसी दुर्बल से दुर्बल प्रजाजन की भी अवहेलना न करे— 'आशृण्वते अदृपिताय' (२य मन्त्र)। हर व्यक्ति का बिलकुल नपा-तुला लेखा तैयार करे—'ऋतस्य बोधि ऋतचित्' (४ र्थ मन्त्र)

कौन ग्रहीतव्य है ? किसने क्या अपराध किया है ? इसकी सूचना मित्र आदि को, न्यायाधीश को तथा दुष्टों का वध करने वाले (—नृघ्ने रुद्राय) सेनापति को देता है—

कद् धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद् वाताय प्रतवसे शुभंये ।
परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

सेना को भी, आवश्यकता पड़ने पर सूचना देता है—शर्धाय मरुताम् । (८ म मन्त्र)

जैसे, गाय घास को खाकर दूध बनाती है, जैसे, काली रात्रि दिन-रूपी उज्ज्वल दूध देती है; उसी प्रकार इस दण्डाध्यक्ष की कठोरता से उज्ज्वल लोक-कल्याण जन्म लेता है—

ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गो रामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने ।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय ॥ (९ म मन्त्र)

इसका हर काम नपे-तुले यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न होता है—'ऋतेन' (९-१०-११-१२)

यहाँ तक प्रजा को उत्तम कर्म में लगाकर, कमजोर न होने देने का—दुष्टता के प्राक्प्रतीकार का वर्णन हुआ, परन्तु फिर भी जो दुष्टता की ओर प्रवृत्त हों, उनकी ओर दण्डाध्यक्ष को १३ वें मन्त्र में अभिमुख किया गया है—

हे अग्ने ! तू दुष्टों का निमन्त्रण कभी स्वीकार न कर। उनके संगठन (=यज्ञ) में मत जा, वेशजीवियों में मत जा। हमें कभी कुटिल भाई के ऋण का ग्रास मत बनने दे और उस मित्रवेशधारी शत्रु के अन्न पर न पलने दे जो कि हमें बिना पुरुषार्थ का अन्न खिलाकर आलसी तथा अकर्मण्य बनाता है—

मा कस्य यक्षं सदमिद्धुरो गा मा वेशस्य प्रमिनतो मापेः ।
मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋणं वेर्मा सख्युर्दक्षं रिपोर्भुजेम ॥ (१३ श मन्त्र)

तू हमें बचा। 'प्रतिस्फुर'—दुष्टों का सामना करने के लिये उनसे भी अधिक फुरती वाला बन, बलवान् बन, बद्धमूल पाप को खदेड़, राक्षसों को मार। यदि वे विशाल आकार धारण कर रहे हों तो उससे पहले ही उन्हें नष्ट कर दे—

रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः ।
प्रतिष्फुर वि रुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद् वावृधानम् ॥ (१४ श मन्त्र)

यहां पोलिस विभाग का आदर्श 'प्रतिस्फुर' में कितना स्पष्ट हुआ है, इसका रस कोई अपराध-शास्त्रज्ञ ही ले सकता है।

चतुर्थ सूक्त

तू दुष्टों को पकड़ने के लिए दुष्टों की सेना के पीछे-पीछे अपनी प्रकृष्ट सेना (=प्रसिति) लगा दे और अपने गरम से गरम शस्त्रों से राक्षसों को मार—

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन ।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ (१ म मन्त्र)

चारों ओर तीव्र गति से तेरे उड़नदस्ते (=भ्रमासः) चक्कर काटें, चारों ओर जलती चिनगारियाँ उड़ रही हों—

तव भ्रमास आशुया पतन्ति···असंदितो वि सृज विष्वगुल्काः ॥ (२ य मन्त्र)

इस प्रजा का अदम्य रक्षक बनने के लिये चारों ओर गुप्तचरों को छोड़ जो पापकर्मा, प्रजा का बुरा चाहने वाला (=अघशंस) दूर भाग रहा हो अथवा समीप छिप गया हो, ऐसा कोई भी प्रजा को व्यथा पहुंचाने वाला (=व्यथि) तुझे परास्त न कर सके, तेरे सामने किसी प्रकार ताव न ला सके—

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः ।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥ (३ य मन्त्र)

तेरे पैने शस्त्र अमित्रों को भस्म कर दें। शत्रुओं के विरुद्ध शक्ति का ताना तान। जो कोई प्रजा को यह सिखाता हो कि—**'राजा को अपना देय मत दो'**, इस प्रकार के अरातियों को सूखे तृण के समान नीचे पटक कर फूंक दे, ऊँचा बना रह—

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते ।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

शत्रु एक मारे तो तू चार मार, अपनी दिव्य शक्ति का परिचय दे, चालबाजों की (=यातुजूनाम्) चेष्टाएँ जड़ीभूत कर दे, शत्रुओं को कुचल दे—

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून् ॥ (५ म मन्त्र)

हम केवल वाणीमात्र से ही नहीं, अपितु घोड़े और रथ लेकर सदा तेरी परिचर्या करें। तू हमारी क्षत्र-शक्तियों को सदा ठीक बनाए रख—

···स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेमाऽस्मे क्षत्राणि धारयेरनु द्यून् ॥ (८ म मन्त्र)

हे दण्डाध्यक्ष ! तेरी सारी सफलता का मर्म तीव्र गति में है, पिता गोतम से—गन्दे रुधिर को लाल कर देने वाले प्राण वायु के प्रवाह से, यही परम्परागत ज्ञान पाया है—

महो रुजामि बन्धुता वचोभिस्तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय ॥ (११ श मन्त्र)

पोलिस के सिपाही कैसे हों ? कभी कर्त्तव्य में न सोने वाले, आपत्तियों से तारने वाले, उत्तम सुखदायक, तन्द्रा-रहित, **अवृका** :—लोभ-रहित, कभी न थकने वाले और सदा परस्पर सहयोग द्वारा चलने वाले (—सध्र्यञ्चः) रक्षाकार्य में नियुक्त सेवक, तेरे सामने उपस्थित रहकर, सदा हमारी रक्षा करें—

अस्वप्नजस्तरणयः सुशेवा अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः ।
ते पायवः सध्र्यञ्चो निषद्याऽग्ने तव नः पान्त्वमूर ॥ (१२ श मन्त्र)

ये बच्चों की ममता में अन्धे बेचारे गृहस्थी, भला तेरी सहायता के बिना क्या अपनी रक्षा कर सकते हैं ? दुराचारी लोग तो इनकी सन्तान को दुरित मार्ग में ले जाने के लिये ताक में बैठे रहते

हैं, परन्तु हे दण्डाध्यक्ष ! तेरी कृपा से वे ठग लोग चाहते हुए भी उन्हें नहीं ठग सकते । तू जानता है कि नगर में कौन दुष्ट कहाँ छिपा है । तू उनसे नागरिकों की रक्षा करता है—

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन् ।

ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद् रिपवो नाह देभुः ॥ (१३ श मन्त्र)

हे सत्यताते ! तू प्रकट और प्रच्छन्न दोनों प्रकार के ठगों को, अपने सत्य-पाश से नष्ट करता है । हम तेरी रक्षा में निश्शङ्क अन्न भोग रहे हैं—

त्वया वयं सधन्य१स्त्वोतास्तव प्रणीत्यश्याम वाजान् ।

उभा शंसा सूदय सत्यतातेऽनुष्ठुया कृणुह्यह्रयाण ॥ (१४ श मन्त्र)

श्रद्धा-रहित राक्षसों को फूंक दे । द्रोह, निन्दा तथा दुष्ट कर्म से हमें बचा—

···दहाशसो रक्षसः पाह्य१स्मान् द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात् ॥ (१५ श मन्त्र)

पञ्चम सूक्त

पञ्चम सूक्त में 'तिग्मजम्भः' विशेषण बहुत ध्यान देने योग्य है, इसका अर्थ है—'तीक्ष्णदंष्ट्र' —जिसके पैने जबड़े से कोई दुष्ट बचकर नहीं निकल सकता । उससे कहा गया है कि तू अपनी दाहक-तम ज्वाला से उन्हें भर्त्सित कर—'तपिष्ठेन शोचिषा' (४ र्थ मन्त्र)

उन दुष्टों का लक्षण क्या है ?—जो मित्र के उन प्यारे धामों को हानि पहुँचाते हैं, जहाँ वरुण का राज्य है—

'प्र ये मिनन्ति वरुणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि' ॥ (४ र्थ मन्त्र)

'वरुण' पोलिस विभाग का अध्यक्ष है, यह बात तो स्पष्ट ही है । अथर्व० में कहा है—

'द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः' ॥ (अथर्व० ४।१६।२)

इस दण्डाध्यक्ष के पद का जन्म किनके कारण हुआ ?—···'पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्' । (५ म मन्त्र)—जो पापी होने के कारण यथार्थ ज्ञान को पाप के समर्थन में प्रयोग करने के कारण अनृतमय तथा झूठ बोलने के कारण असत्यमय हैं ।

वह गुप्त रहस्यों का पता लगाता है और जिस प्रकार प्यार से गाय का दूध निकाला जाता है, इस प्रकार वह रहस्य-दोहन करता है—

प्रवाच्यं वचसः किं मे अस्य गुहा हितमुप निणिग् वदन्ति ।

यदुस्रियाणामप वारिव व्रन् पाति प्रियं रुपो अग्रं पदं वेः ॥ (८ म मन्त्र)

झूठी निष्फल बात बोलने वाले, सैंकड़ों झूठे प्रत्यय दें और कितनी ही शपथ खावें,—तुझे तृप्त नहीं करते । तू उनका भण्डा फोड़ करके—उन्हें शस्त्रहीन करके ही छोड़ता है—

अनिरेण वचसा फल्ग्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः ।

अधा ते अग्ने किमिहा वदन्त्यनायुधास आसता सचन्ताम् ॥ (१४ श मन्त्र)

षष्ठ सूक्त

छठे सूक्त में 'प्रचेता': विशेषण है, जो कि वरुण का प्रसिद्ध नाम है और जिसका अर्थ है—सदा जागरूक।

उसकी 'घृताची' अर्थात् स्नेहभरी वाणी, सब में दीप्ति भरती है तथा ढाढ़स बंधाती है—'यता सुजूर्णी रातिनी घृताची···पश्वो अनक्ति सुधितः सुमेकः' ॥ (३ य मन्त्र)

वह लोगों की उत्तम नैसर्गिक प्रवृत्तियों को उत्तेजित करता है, इसलिये 'पशुपा:' कहलाता है 'पर्यग्निः पशुपा न होता' । (४ र्थ मन्त्र)

'भयन्ते विश्वा भुवना...' (५ म मन्त्र) सब लोक उससे डरते हैं। कितना स्पष्ट दण्डाध्यक्ष का रूप है।

यद्यपि वह घोर है, फिर भी उसका दर्शन कल्याणकारी है—(—घोरस्य सतः भद्रा संदृक्) उसकी ज्योति को विध्वंसक लोग अपने अन्धकार से दबा नहीं सकते और संसार में पाप का आधान नहीं कर सकते—

भद्रा ते अग्ने स्वनीक संदृग् घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः ।
न यत् ते शोचिस्तमसा वरन्त न ध्वस्मानस्तन्वी३ रेप आ धुः । (६ ष्ठ मन्त्र)

तू इतना बेलिहाज है कि मानुषी प्रजा में माता पिता तक तेरे दण्डदान को नहीं रोक सकते, अतः तू अपने न्याय से देदीप्यमान है—

न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरापितरा नू चिदिष्टौ ।
अधा मित्रो न सुधितः पावको३ऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु ॥ (७ म मन्त्र)

तुझे स्त्री-पुरुष दोनों प्रकार की पञ्चविध प्रजा ने अर्थात् चार वर्ण तथा इतर जनों ने मिल कर नियत किया है। तुझे उन्होंने मानो उसी प्रकार उत्पन्न किया है, जिस प्रकार शिशु-पालन-कुशल धात्री दांत उत्पन्न करती है—

द्विर्यं पञ्च जीजनन्त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु ।
उषर्बुधमथर्यो३ न दन्तं शुक्रं स्वासं परशुं न तिग्मम् ॥ (८ म मन्त्र)

यहाँ बड़ी विलक्षण उपमा दी है। वस्तुतः दण्डाध्यक्ष का काम वही है, जो मुख में दांत का है अर्थात् काटना और चबाना तथा यथा-सम्भव हर पदार्थ को शरीरोपयोगी बनाना; नहीं तो छीलकर फेंक देना।

सप्तम सूक्त

वन में भी लोग निर्भय होकर विचर सकें तो, समझो कि राज्य सुराज्य है। इसलिये वह वनों में भी प्रजा-प्रजा का रक्षक है—'वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे' ॥ (१ म मन्त्र)

वह घर-घर में भी रक्षा करता है—...'हस्कर्त्तारं दमेदमे' ॥ (३ य मन्त्र)

वह विवस्वान् का—राज्य शासन का दूत है तथा 'विशेविशे' प्रजा-प्रजा के लिये परिपाककारी अग्नि के समान है—

आशुं दूतं विवस्वतो विश्वा यश्चर्षणीरभि ।
आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशेविशे ॥ (४ र्थ मन्त्र)

वह देवमार्ग के वाधक तत्त्वों को खूब जानता है तथा निरोधकों से अधिक विद्वान् है, इसीलिये वह उनका प्रतीकार करने में समर्थ है—

वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान् ।
दूत ईयसे प्रदिव उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि । (८ म मन्त्र)

वह शत्रुओं पर छिपकर आक्रमण करता है, उनके तमोमय मार्गों को जानता है तथा अपने को छिपाने में वैसे ही कुशल है, जैसे—कुमारी गर्भ को—

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्व१र्चिर्वपुषामिदेकम् ।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥ (९ म मन्त्र)

अष्टम सूक्त

वह तीव्रगामी अस्त्र के समान मानव-प्रजा को अपने बल से दवाकर रखता है—

स विप्रश्चर्षणीनां शवसा मानुषाणाम् ।
अति क्षिप्रेव विध्यति ॥ (८ म मन्त्र)

नवम सूक्त

प्रजा के कष्टों की सूचना राजा तक पहुँचाने में, वह दूत का काम करता है—

स मानुषीषु दूळभो विक्षु प्रावीरमर्त्यः ।
दूतो विश्वेषां भुवत् ॥ (२ य मन्त्र)

दशम सूक्त

यदि तेरी प्रजा के हर मनुष्य का शरीर पापरहित है और धन तपे घृत के समान पवित्र है। हे दण्डाध्यक्ष ! यदि तेरे शासन में यह गुण है, तो यही तेरा स्वर्णाभूषण है—रुक्म है—

घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम् ।
तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

तू दण्ड देकर प्रजा के कृत पाप को भी दूर करता है—

'कृतं चिद्धि ष्मा सनेमि द्वेषोऽग्न इनोषि मर्तात्' । (७ म मन्त्र)

एकादश सूक्त

तेरी पहरेदारी रात में भी प्रकाश किये रहती है। तेरी सेना रात को दिन के समान निर्भय सञ्चार-योग्य बनाती है—

भद्रं ते अग्ने सहसिन्ननीकमुपाक आ रोचते सूर्यस्य ।
रुशद् दृशे ददृशे नक्तया चिदरूक्षितं दृश आ रूपे अन्नम् ॥ (१ म मन्त्र)

हे वीर-वेशधारी ! तेरे सहारे से ही प्रजा को आराध्य पदार्थ मिलते हैं—

'वि षाह्यग्ने गृणते मनीषां···शुक्रदेवैस्तन्नो राख सुमहो भूरि मन्म' ॥ (२ य मन्त्र)

तुझ शत्रुनाशक की सब पूजा करते हैं—'द्वेषोयुतमा विवासन्ति धीभिः' ॥ (५म मन्त्र)

तू अज्ञान, पाप और दुर्मति, इन तीनों को हमसे दूर रखता है। तू रात्रि में भी हमारा रक्षक है—

आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि ।
दोषाः शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित् सचसे स्वस्ति ॥
(६ ष्ठ मन्त्र)

द्वादश सूक्त

तू रात दिन धन की रक्षा करता है तथा धन-पुष्टि के शत्रुओं को मारता है.... स इधानः प्रति दोषामुषासं पुष्यन् रयिं सचते घ्नन्नमित्रान् । (२ य मन्त्र)

हम भूल से अपराध करें तो हमारे उन पाप के संस्कारों को दूर करके हमें निरपराध बना—

यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाऽचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः ।
कृधी ष्व१स्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हम तेरे भय से (भयन्ते विश्वा भुवना ४ । ६ । ५) कभी पाप के पास भी न फटकें। चाहे हम पर देवों का दबाव पड़े, चाहे साधारण मनुष्यों का, हम कभी सन्मार्ग से भ्रष्ट न हों—

महश्चिदग्न एनसो अभीक ऊर्वाद् देवानामुत मर्त्यानाम् ॥ (५ म मन्त्र)

हमें पाप से छुड़ा, हमें पार उतार, हमें दीर्घ से दीर्घ आयु दे, हमारे पैरों में पड़ी पाप की बेड़ियाँ, ऐसे काट, जैसे बंधी गाय के पैर के बन्धन—

यथा ह त्यद् वसवो गौर्यं चित् पदि षितामभुञ्चता यजत्राः ।
एवो ष्व१स्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

त्रयोदश सूक्त

जहाँ इस प्रकार का **दण्डाध्यक्ष** हो, वहाँ हर प्रातः काल नई उषा नये-नये रत्नों से भरी झोली लेकर आती है। यातायात निश्शङ्क होता है—**प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यद् विभातीनां सुमना रत्नधेयम्। यातमश्विना सुकृतो दुरोणम्।।** (१ म मन्त्र), दण्डाध्यक्ष की **सुव्यवस्था** से उत्पन्न होने वाली **सुखसमृद्धि** दिखाई देती है—'**ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम्** ।। (३ य मन्त्र)

संसार की हर वस्तु स्पष्ट दीखती है। अन्धकार का वस्त्र उघड़ जाता है—

'**अवव्ययन्नसितं देव वस्म···चर्मेवाधुस्तमो अप्स्वन्तः**' ।। (४ र्थ मन्त्र)

चतुर्दश सूक्त

यह दण्डाध्यक्ष का सुप्रवन्ध देवलोक का **आधार स्तम्भ** है—

'**दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्**' ।। (५ म मन्त्र)

पञ्चदश सूक्त

देखो ! **सृञ्जय** में—अर्थात् जहाँ दुष्टों के सब प्रकार के अभिसरण, उपसरण, संसरण आदि के मार्ग जीत लिये जाते है और दुष्टों की पूरी नाकाबन्दी कर दी जाती है, उस दण्डाध्यक्ष के सदन में ; यह मानव-समाज के शत्रुओं को चकमा देने वाला (**अमित्रदम्भन**) दण्डाध्यक्ष, किस प्रकार प्रदीप्त किया जा रहा है। इस **सृञ्जय** अर्थात् दण्डाध्यक्ष-सदन में सदा दिव्य वायु बहती है, इसलिये इसका नाम **देववात** है।

अयं यः सृञ्जये पुरो दैववाते समिध्यते ।
द्युमाँ अमित्रदम्भनः ।। (४ र्थ मन्त्र)

पांचवे मन्त्र में फिर अग्नि को '**तिग्मजम्भ**' अर्थात् पैनी दाढ़ों वाला कहा गया है।

इस अग्नि को प्रजा ने ही उत्पन्न किया है । (४. ६. ८), देवलोक के शिशु के समान ही इसकी प्रजा पूजा करती है—

तमर्वन्तं न सानसिमरुषं न दिवः शिशुम् ।
मर्मृज्यन्ते दिवेदिवे ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

अब वह अग्नि स्वयं बताता हैं कि मैं कैसे—'**उवरम्**'— उदित हुआ हूँ ?—मैं ऐसे उदित हुआ हूँ कि मानो प्रजा ने कहा कि—**सामने आ**। और मैं आ गया। कहाँ ?—समाचार और सामग्री को लाने वाले तथा ले जाने वाले हरणकर्त्ता '**हरि**' लोगों के पास, '**सृञ्जय**' अर्थात् दण्डाध्यक्ष के सदन में लोककल्याण के हृदय में, * इस रक्षा-केन्द्र के रक्षकों के हृदय में, '**साहदेव्य**' कुमार ने मेरा

* समाचार तथा सामग्री पहुँचाने वाले 'हृत्' कहलाते हैं। उनका 'अय' = संगमस्थान = हृत् + अय = हृदय।

इन सब हरियों से-उभयविध हरणकर्त्ताओं से परिचय करवाया और मैं इस प्रकार सबके समक्ष उपस्थित हो गया—

बोधद् यन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः ।
अच्छा न हूत उदरम् ॥ (७ म मन्त्र)

यह साहदेव्य कुमार कौन है ? पहिले देखना चाहिये कि 'सहदेव' कौन है ? इस मण्डल के आरम्भ से **अग्निदेव** दण्डाध्यक्ष के रूप में प्रकट हुआ और पञ्चम सूक्त के द्वितीय मन्त्र में अग्नि से कहा गया है—'भ्रातरं वरुणम्···आ ववृत्स्व' —अब तू अपने भाई वरुण की ओर झुक। बस अग्निदेव का सहकारी होने के कारण **वरुणदेव** ही यहाँ सहदेव है, क्योंकि वह सहकारी देव है—मुख्य सहकारी देव है। यह वरुण अर्थात् **पोलिस विभाग** जो भी तथ्य दण्डाध्यक्ष के सामने रखता है, वह तथ्य कुमार अर्थात् शिशु के समान अपरिपक्वावस्था में होते हैं। उन्हें नाना प्रकार के प्रमाण देकर पुष्ट करना है। जिस प्रकार **मधुच्छन्दा=जिह्वा** तथा **गृत्समद=पाचनसंस्थान** द्वारा उत्पन्न अन्नरस कुमारावस्था में होता हैं और हृदय में पहुँचने पर वह रक्तरूप धारण करके तरुणावस्था में आता है, किंच अन्ततः शुक्ररूप में परिवर्त्तित होने पर वह परिपक्व कहलाता है, उसी प्रकार **सहदेव=वरुण** द्वारा उपस्थित घटनाचक्र को न्यायाधीश के सामने पहुँचाने पर **सवन-चक्र** पूरा होता है। किंच जैसे अन्नरस जब तक रुधिर आदि की अवस्था में रहता है तब तक '**सोमक**' (अल्पार्थ अथवा ह्रस्वार्थ में सोम से क प्रत्यय) कहलाता है और वीर्य-रूप को प्राप्त होकर वही सोम कहलाता है (—रेतो वै सोमः···) वैसे ही, वरुण=पोलिस विभाग द्वारा पुरःस्थापित तथ्य तब तक '**सोमक**' ही कहलाते हैं जब तक कि वह, **दण्डाध्यक्ष=अग्नि** के दरबार में सुसिद्ध नहीं कर दिया जाता। तदनन्तर ही वह सोम कहा जाता है। इसी दृष्टि से नवम मन्त्र में उसे '**सोमक**' कहा गया है। वह '**सोमक**' परिपक्व होता हुआ अपनी पूर्ण आयु को पहुंचे, यही दण्डाध्यक्ष का कर्त्तव्य है—

एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः ।
दीर्घायुरस्तु सोमकः ॥ (९ म मन्त्र)

इस प्रकार वह खूब परखे कि पोलिस विभाग जो चित्र उसके सामने रख रहा है, वह न्यायाधीश के निर्णय की आंच सहन कर सकेगा वा नहीं। जब पूर्ण सन्तोष हो जाय, तभी उसे आगे भेजे। वह शतायु हो, परन्तु यह हो कैसे ? यह तभी सम्भव है, जब समाचार लाने और सन्देश ले जाने वाले '**अश्विनौ**' तथा सामग्री लाने और जांच की सामग्री प्रयोगशाला में पहुँचाने वाले '**अश्विनौ**' इस प्रकार की पुष्टि देने का कर्त्तव्य-भार अपने ऊपर लें। इसीलिये कहा—

तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम् ।
दीर्घायुषं कृणोतन ॥ (१० म मन्त्र)

हे अश्विदेवो ! तुम 'साहदेव्य' कुमार को दीर्घायु करो।

वेद में इतिहास पक्ष मानने वाले—सृञ्जय और साहदेव्य कुमार का यहाँ क्या प्रसङ्ग है ?, इस विषय में कुछ नहीं बता सकते। यही उनके पक्ष की निस्सारता का प्रमाण है।

षोडश सूक्त

यहाँ तक अग्नि के सूक्त थे। अब इन्द्र के सूक्त आरम्भ होते हैं। दण्डाध्यक्ष से प्रजा को क्या लाभ होता है यह आग्नेय सूक्तों में बताया गया था। अब यजमान के साथ (अथवा राष्ट्ररूप महायज्ञ के यजमान राजा के साथ) दण्डाध्यक्ष का क्या सम्बन्ध है, यह बतायेंगे। इस सूक्त का पाठ माध्यन्दिन सवन में 'मैत्रावरुण' करता है, इससे यह स्पष्ट है कि सूक्त का मुख्य सम्बन्ध 'मित्र = ब्राह्मण वरुण = क्षत्रिय' से है।

प्रजा कहती है कि दण्डाध्यक्ष तभी सफल हो सकता है जब इन्द्र के हरि अर्थात् सन्देशहर तथा सामग्री पहुँचाने वाले उस की सहायता करें, क्यों कि 'ऋजीषी'-अन्तिम निचोड़ निकालने का अधिकारी वही है—

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः॥ (१ म मन्त्र)

वह गूढ़ 'निण्य' गूढ़तम रहस्यों को निकालने में साधक है। जिस प्रकार सूर्य सात रश्मियों का विस्तार करता है तथा जिस प्रकार शरीर में सात धातु (रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा-शुक्राणि) हैं, इसी प्रकार राष्ट्र की भी सात धातु हैं और राजा उनका निर्माता है। प्राथमिक रूप से प्राप्त सूचना रस है। वरुण द्वारा परीक्षित होकर दण्डाध्यक्ष के पास पहुँची सूचना रुधिर है। न्यायाधीश द्वारा परीक्षित होने पर वह मांस है। उसके द्वारा उत्पन्न न्याय से सन्तुष्ट प्रजा का राजा के प्रति तथा राजा का प्रजा के प्रति स्नेह मेदस् है। परस्पर का विश्वास अस्थि है। भविष्य के लिये कार्य-निर्देशक लेखा (Record) मज्जा है। दुष्ट लोगों पर राजभय की धाक शुक्र है। इन सातों के कारु अर्थात् कर्त्ता = शिल्पी, इन विषयों में राज्य का ज्ञान बढ़ाते तथा 'गृणानाः' उसका प्रचार करते हैं—

कुविर्न निण्यं विदथानि साधन् वृषा यत् सेकं विपिपानो अर्चात्।
दिव इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः॥ (३ य मन्त्र)

राजा प्रजापीड़कों के निग्रह के लिये सदा इस प्रकार अन्धकार का निवारण करता है—

अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जिन बातों को साधारण लोग निस्सार समझते हैं, राजा उन्हीं में से शिल्पियों की सहायता से गूढ़तम रहस्य का पता लगाता है, इसी लिये उसे 'ऋजीषी' कहते हैं। इस प्रकार उसकी अन्तिम महिमा प्रकट होती है—

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्यु१भे आ पप्रौ रोदसी महित्वा।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव॥ (५ म मन्त्र)

इन्द्र के वे कारु अर्थात् शिल्पी इतने चतुर हैं कि पहाड़ फोड़कर उसमें से भी ज्ञान की धारा निकाल लेते हैं और तब ज्ञान-दुग्ध-धारा बहाने वाली ज्ञान-पयस्विनी में मेधाओं के व्रज, प्रजा के लिये

घूमने लगते हैं—

विश्वानि शुक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभिर्निकामैः ।
अश्मानं चिद् ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

प्रजा के सुख के निरोधकर्त्ता दुष्टमण्डल को तू परास्त करके मारता है—

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन्···(७ म मन्त्र)

तेरी दुष्टान्वेषिणी गुप्तचर सेना का '**सरमा**' नाम सार्थक है। क्योंकि वह चुपचाप दुष्टों में सरण करके, उन का ठीक-ठीक नाप लेती है। उसमें जासूसी कुत्तों की-सी सूंघने की शक्ति है। वे दुष्ट लोग समाज पर गुप्त आक्रमण रूप जो **वाज** (=युद्ध) सदा चलाये रखते हैं, उसे तू विदीर्ण कर देता है अथवा उन दुष्टों के अन्न-मार्ग विध्वंस करके उन्हें नष्ट कर देता है—

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ।। (८ म मन्त्र)

तेरी चतुराई से **मायावान्** दस्यु निगृहीत होता है—नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त (९म मन्त्र)

हे राजन् ! **कुत्स** अर्थात् कुत्सित अवस्था में पड़कर राज्य की निन्दा करने वाला हर मनुष्य तेरी मित्रता चाहता है और तू दस्युओं को मारकर, उसे इतना सुखी कर देता है कि वह अपने आप को तेरे सदृश समझने लगता है। उसकी पत्नी प्रणय-हास में कहती है कि गये तो थे रोते हुए, परन्तु धन्य है राजा जिस की कृपा से तुम ऐसे ठाठ बनाकर आये हो, मानो तुम स्वयं ही राजा इन्द्र हो गये हो—

आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत् ते कुत्सः सख्ये निकामः ।
स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी ।। (१० म मन्त्र)

हे राजन् ! तू इतना प्रजा-वत्सल है कि विपद्-ग्रस्त की सहायता के लिये तथा दुष्टों को कोड़े लगाने के लिये तू वायुवेग से वहाँ पहुँच जाता है। यह काम तुझे इतना प्यारा है, मानो तू कोई बढ़िया मिठाई खाने जा रहा हो—

यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः ।
ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन् कविर्यदहन् पार्याय भूषात् ।। (११ श मन्त्र)

हे राजन् ! तू दुष्टों को दिन चढते ही दबोच लेता है अर्थात् वे पूरी तरह तैयार भी नहीं होने पाते हैं कि तू जा पहुँचता है। वे तेरी प्रजा के विपत्ति-ग्रस्त निर्बल, दुःखी मनुष्यों का शोषण करना चाहते हैं; परन्तु तू अपने, दुःख-ग्रस्त, कुत्सों के हितकारी वज्र से ऐसे सहस्रों दुराचार-परायणों का नाश कर तथा दस्युओं को सदा वैसे ही कुचलता रह जैसे, सूर्य निर्भय होकर अन्धकार तथा मेघ का नाश करता रहता है—

कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हीः प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा ।
सद्यो दस्यून् प्र मृण कुत्स्येन प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीके ।। (१२ श मन्त्र)

हे राजन् ! जो दुराचारी नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा अथवा आंशिक कामनापूर्त्ति द्वारा फुसलाकर, तेरी प्रजा को **मार्गभ्रष्ट** करते हैं; उन शत्रुओं को अथवा जो सदा शिकार को तलाश में घूमते हैं तथा बेबसों पर जबर्दस्ती करके, उन्हें मार्ग-भ्रष्ट करते हैं, उन इन्द्रियलोलुप **'मृगयों'** को तू यथासम्भव तप द्वारा शोधकर मनुष्य बना देता है, परन्तु इस कार्य को तू इसलिये पूर्ण कर पाता है कि, तुझे समाज-कल्याण की कामना से प्रेरित तथा दुष्टों को ऋजु मार्ग में लाने की प्रबल कामना करने वाले (**=वैदथिन्- ऋजिश्वन्**) मिल जाते हैं। मनुष्य की १०० वर्ष की आयु में से प्रत्येक वर्ष के सहस्र-सहस्र भाग करलें तो एक लाख भाग हुए। जिनमें से ५० सहस्र भाग सामान्य मनुष्य के तो निद्रा में जाते हैं; परन्तु इन निशाचरों के वे भाग भी काली करतूतों में जाते हैं। रात्रिकालों में वे दुष्टकर्मों में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु तू अपनी राज्य-रक्षा की कुशलता से उन्हें वश में लाकर, धीरे धीरे उनकी दुष्टता वैसे ही छुड़ा देता है, जैसे बुढ़ापा यौवन को; अर्थात् उनकी दुष्टता जराजीर्ण हो जाती है और यौवन सद्वृत्ति पर आ जाता है—

त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः ।
पञ्चाशत् कृष्णा नि वपः सहस्राऽत्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः ॥ (१३ श मन्त्र)

हे राजन् ! सूर्य तो स्थूल अन्धकार दूर करता है, परन्तु जब तू इन दुष्टों के हृदयान्धकार को दूर करने में समर्थ होता है, तो सूर्य भी तेरे समीप फीका पड़ जाता है। तुझ पर एक अमर प्रताप का प्रदीप्त आवरण चढ़ जाता है। इस प्रकार तू शस्त्र-ग्रहण करके दुष्टों का दमन करता है। हे इन्द्र ! तुझ में हाथी का बल और सिंह का भयङ्कर पराक्रम है। दुष्टों के सुधार में तू हाथी बन कर बोझा ढोता है तथा पराक्रमशाली दस्युओं पर सिंह बनकर आक्रमण करता है। तेरी मार से न दस्यु बचते हैं, न पिप्रु और न मृगयु—

सूर उपाके तन्वं१ दधानो वि यत् ते चेत्यमृतस्य वर्पः ।
मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत् ॥ (१४ श मन्त्र)

इसीलिये धनरक्षा न होने पर अथवा दुष्टों से पीड़ा पाने पर इन दोनों प्रकार के युद्ध में लोग इस प्रकार के राजा की शरण में जाते हैं और राजा रमणीय भवन के समान उन्हें शरण देता है और ऐसी पुष्टि देता है कि वे विपद्ग्रस्त, दर्शनीय हो जाते हैं—

इन्द्रं कामा वसूयन्तो अग्मन्त्स्वर्मीळ्हे न सवने चकानाः ।
श्रवस्यवः शशमानास उक्थैरोको न रण्वा सुदृशीव पुष्टिः ॥ (१५ श मन्त्र)

इन्द्र की प्रजाराधना स्पृहणीय है—....'मक्षू वाजं भरति स्पार्हराधाः ॥ (१६ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! जो नाना प्रकार के धूर्त्त, तेरी प्रजा को जाल में फंसाकर ठग लेते हैं, उन मुहुकों पर तेरा तीव्र वज्र पड़ता है। घोर से घोर युद्ध में तू हमारा सहायक है—

तिग्मा यदन्तरशनिः पताति कस्मिञ्चिच्छूर मुहुके जनानाम् ।
घोरा यदर्य समृतिर्भवात्यध स्मा नस्तन्वो बोधि गोपाः ॥ (१७ श मन्त्र)

जिस प्रकार शरीर में वामभाग में स्थित हृदय, अत्यन्त वननीय रुधिर को सारे शरीर में पहुँचाता है, इसी प्रकार तू प्रजा के रक्षक **वामदेव** (=दण्डाध्यक्ष के प्रशंसक प्रजाजन) के प्रजारक्षार्थ कृत कर्मों का रक्षक बन। युद्ध में निष्कपट सखा बन। जैसे, शरीर में जो आन्तरिक शत्रु हैं, उनका नाश रुधिर-प्रवाह द्वारा होता है और इस प्रकार अन्तर्युद्ध चलता रहता है वैसे ही यहाँ प्रजा के चोर डाकू आदि आभ्यन्तर शत्रुओं से **वाजसाति**=युद्ध का वर्णन है। हे इन्द्र! अर्थात् आत्मन्! तेरी शक्ति के बिना रुधिर शक्तिहीन है तथा राजा की सहायता के विना, दण्डाध्यक्ष-रूप **अग्नि** तथा प्रजापीडकों के नाश के इच्छुक स्वयं सेवक **वामदेव**—ये दोनों शक्तिहीन हैं—

भुवोऽविता वामदेवस्य धीनां भुवः सखावृको वाजसातौ ।
त्वामनु प्रमतिमा जगन्मोरुशंसो जरित्रे विश्वध स्याः ॥ (१८ श मन्त्र)

हे इन्द्र! तेरी सहायता से हम **क्षपा** (=निद्रा द्वारा शक्ति-क्षयकारिणी रात्रि) में भी मस्त होकर सोते हैं और ठण्ड में ठिठुरने के समय, तेरे प्रताप से मस्त रहते हैं—

एभिर्नृभिरिन्द्र त्वायुभिष्ट्वा मघवद्भिर्मघवन् विश्व आजौ ।
द्यावो न द्युम्नैरभि सन्तो अर्यः क्षपो मदेम शरदश्च पूर्वीः ॥ (१९ श मन्त्र)

जिस प्रकार पूर्ण तपस्वी भृगु लोग शरीर-रूप रथ को सुन्दर बनाते हैं, इसी प्रकार तू हमारे राष्ट्र के शरीर का रक्षक है। हम तेरे लिये **सोम-रूप रथ** सजाते हैं। इस पर चढ़कर तू प्रजा की रक्षाकर, जिससे जिधर तू जावे उधर ही तेरा **कीर्त्तिगान** हो।

एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम् ।
नू चिद् यथा नः सख्या वियोषद्सन्न उग्रोऽविता तनूपाः ॥ (२० श मन्त्र)

हे राजन्! तेरे इन गुणों को सीखकर हम भी तेरे समान प्रजाहितार्थ नित्य हविर्दान करने वाले—**सर्वस्वदाता** बनें। अहा! तूने तो सुख की नदी बहा दी—

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ (२१ श मन्त्र)

सप्तदश सूक्त

दण्डाध्यक्ष निर्भय होकर दुष्टों का दमन करता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि, इन्द्र अर्थात् राजा अपनी सेना-सहित सदा उसकी पीठ पर है अर्थात् पोलिस की सहायता के लिये इन्द्र ने (राजा ने) सेनाओं की भी सृष्टि की हुई है। वह सदा आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार के युद्ध के लिये तैयार रहता है। (**विश्व आजौ** ४।१६।१९), अब दण्डाध्यक्ष की सहायता करने का, इन्द्र का वह रूप १७ वें सूक्त में दिखाया है।

हे इन्द्र! तेरे इस क्षात्र बल की **महिमा-छाया**, ब्रह्म आदि नेता गण तथा साधारण प्रजा सब पर छाई हुई है और वे इसी बल से तेरे पीछे चलते हैं। तूने वैसे ही इस आलस्य-ग्रस्त प्रजा में से क्षात्र-धर्म-युक्त सेनाओं की सृष्टि की है। जैसे, सूर्य मेघ को विध्वस्त करके, उसे प्रजापीडक मेघ से

पृथिवीपालक पर्जन्य बना देता है—

त्वं म॒हाँ इ॑न्द्र॒ तुभ्यं॑ ह॒ क्षा अनु॑ क्ष॒त्रं मं॒हना॑ मन्यत॒ द्यौः ।
त्वं वृ॒त्रं शव॑सा जघ॒न्वान्त्सृ॒जः सिन्धूँ॒रहि॑ना जग्र॒सा॒नान् । (१ म मन्त्र)

यदि यहां केवल मेघ का ही वर्णन होता तो क्षात्र बल की चर्चा का क्या प्रयोजन था ? क्षात्र वल से रची हुई 'आप:' सेनाओं के अतिरिक्त और क्या हो सकती हैं ? यह सेना का स्वरूप अगले मन्त्र में और भी स्पष्ट है।

हे इन्द्र ! तेरे उत्पन्न होने पर तेरी तीव्रता से 'द्यौ:' अर्थात् प्रजा में नेता कहलाने वाले भी कांपने लगते हैं। जैसे, मेघ पर वज्र-प्रहार होने पर आसमान गड़गड़ाहट से काँप उठता है, वैसे ही, तेरे मन्यु के भय से धरती तथा नेताओं द्वारा नीयमान लोग भी कांप उठते हैं। दुष्ट लोगों के छिपने के स्थान पर्वत भी 'सुभ्व' अर्थात् उत्तम भूमि कहलाने लगते हैं। उनका नाम 'ऋषि-भूमि' 'तपोभूमि' आदि हो जाता है। वहाँ ज्ञान-धारा-प्रवाह के विद्वान् मरुभूमियों को आक्रान्त करते हैं और वहाँ ज्ञान कीं गङ्गाएँ बहने लगती हैं—

तव॑ त्वि॒षो जनि॑मन् रेजत॒ द्यौ रेज॒द् भूमि॑र्भि॒यसा॒ स्वस्य॑ म॒न्योः ।
ऋ॒घा॒यन्त॑ सु॒भ्वः१ पर्व॑तास॒ आर्द॒न् धन्वा॑नि स॒रय॑न्त आपः॑ ॥ (२ य मन्त्र)

तू अपने वज्र की प्रेरणा से दुष्टों के पहाड़ी दुर्गों को तोड़ डालता है और तब वृत्रासुर की सेनाएँ स्व-सेनापति से रहित होने पर, तेरे अधीन होकर नहरों के समान नियन्त्रण में बद्ध होकर लोकपीड़ा के स्थान में लोककल्याणार्थ बहने लगती हैं—प्रवृत्त होती हैं। (यहाँ 'हतवृष्णी:' शब्द सेनापति की ओर कितना स्पष्ट निर्देश कर रहा है)। इस प्रकार तू अपना ओज प्रकट करता है—

भि॒नद् गि॒रिं शव॑सा॒ वज्र॑मि॒ष्णन्ना॑विष्कृ॒ण्वा॒नः स॑हसा॒न ओजः॑ ।
वधी॑द् वृ॒त्रं वज्रे॑ण मन्द॒सा॒नः सर॒न्नापो॒ जव॑सा ह॒तवृ॑ष्णीः ॥ (३ य मन्त्र)

जब इस प्रकार का प्रजा-प्रतिपालक राजा संसार में आता है, तो उसको चुनने वाला प्रजा-प्रतिनिधि-मण्डल (=प्रजापति) गर्व करता है कि, हम आज वीर-प्रसव करने वाले सुवीर कहलाये; क्योंकि हम एक उत्तम इन्द्र के कर्त्ता हैं (यहाँ 'जनिता' का अर्थ स्थूल-रूप में गर्भ से बाहर आना न समझा जाय) इसलिये 'इन्द्रस्य कर्त्ता' कहकर श्रुति ने अपना आशय स्वयं स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार के राजा को चुनकर निर्वाचक-मण्डल अपने आपको 'स्वपस्तम' =कृतकृत्यतम मानता है। वह निर्वाचकमण्डल कहता है—'हमने आज ऐसे मनुष्य को इन्द्र बनाया है, जो प्रजा को सदा सुख देने वाला (=स्वर्य) है। जिसका वज्र कभी अदण्डच को दण्ड नहीं देता है, इसलिये वह 'सुवज्र' है। उसे न तो कोई अपनी सभा से च्युत कर सकता है और न 'भूमा' (Prosperity) से ही—

सु॒वीर॑स्ते ज॒नि॒ता म॑न्यत॒ द्यौरिन्द्र॑स्य क॒र्ता स्व॒प॑स्तमो भूत् ।
य ईं॑ ज॒जान॑ स्व॒र्यं॑ सु॒वज्र॒मन॑पच्युतं॒ सद॑सो॒ न भूम॑ ॥ (४ र्थ मन्त्र)

ऐसा उत्तम राजा नाना प्रकार की 'कृष्टि' अर्थात् द्रव्य-निर्माण-क्रिया द्वारा इतनी खुशहाली उत्पन्न कर देता है कि वह 'प्रभूमा' कहलाता है। इस प्रकार वह दारिद्रय-जन्य दुष्टता का दमन करता है, साथ ही प्रजा में सत्यभाषण के प्रचार द्वारा ऐश्वर्य-जन्य दुष्टता का भी शमन करता है। तब इस सत्यवादी राजा को देखकर, सब आनन्द-विभोर हो जाते हैं और इसका अनुसरण करते हैं—

य एक इच्च्यावयति प्र भूमा राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो मघोनः॥ (५ म मन्त्र)

वैदिक भाषा में शिल्पजन्य पदार्थों को भी 'कृष्टि' कहा गया है। बढ़ई लकड़ी में से चारपाई आदि का कर्षण करता है, यह उसका शिल्प उसकी ठीक उसी प्रकार 'कृष्टि' है, जैसे किसान की फसल। गुरु शिष्यों के मस्तिष्कों में विचार तथा सदाचार के बीज बोकर सदाचार-वसु (Citizen) पैदा करता है, यह उसका शिल्प=कृष्टि है।

कृष्टि का अर्थ अंग्रेजी भाषा में Craft शब्द से अधिक से अधिक समीप है, किन्तु भूल से आज यह संस्कृति का पर्यायवाची माना जाने लगा है। 'संस्कृति' शब्द बिल्कुल स्पष्ट स्वतन्त्र रूप से यजुर्वेद में उपस्थित है—'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा'। (यजु० ७। १४), अब 'कृष्टि' निश्चय ही 'संस्कृति' से भिन्न है।

सो दुष्टदमन का एक उपाय, हर व्यक्ति को वेकारी से हटाकर, किसी न किसी शिल्प (Craft) में लगाना भी है। इस 'कृष्टि' से उत्पन्न होने वाले पदार्थ का नाम 'सोम' है और इस प्रक्रिया का नाम 'सवन' है। ये सोम तथा कृष्टि रूपी उपाय, दुष्टता को, उसके उत्पन्न होने से पहिले ही रोकने के उपाय हैं, यही ६ठे मन्त्र में कहा गया है। जब हर 'कृष्टि' वाला अपना सोम उत्पन्न करने में लग जाय तो दुष्टता का अवकाश ही कहाँ?—

सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः।
सत्राभवो वसुपतिर्वसूनां दत्रे विश्वा अधिथा इन्द्र कृष्टीः॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इस 'कृष्टि' द्वारा ही वृत्रासुर का बध होता है। दुष्टदमन का यही सबसे प्रथम उपाय है। जो इससे ठीक न हों, उनका उपाय दण्ड है—

त्वमध प्रथमं जायमानोऽमे विश्वा अधिथा इन्द्र कृष्टीः।
त्वं प्रति प्रवत आशयानमहिं वज्रेण मघवन् वि वृश्चः॥ (७ म मन्त्र)

वह प्रजा को अन्न तथा सुख देता है और वृत्र को मारता है—

'हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः'॥ (८ म मन्त्र)

'वह, सुसङ्गठित प्रजा-पीडक शत्रु-सेनाओं को खदेड़ देता है तथा युद्ध में अकेला ही बहुत है' इस प्रकार उसका यश सर्वत्र सुना जाता है—

अयं वृतश्चातयते समीचीर्य आजिषु मघवा शृण्व एकः॥ (९ म मन्त्र)

इस प्रकार यह उत्तम पदार्थों की उत्पत्ति द्वारा दारिद्र्यजन्य दुष्टता को तथा दण्ड द्वारा ऐश्वर्यजन्य दुष्टता को (जयन्नुत घ्नन्) नाश करता हुआ, गोसदृश शान्तिप्रिय प्रजा को उत्तम विधि प्रकृष्ट बनाता है। जब यह अपना 'सत्यमन्यु' (Righteous indignation) प्रकट करता है तो बड़े से बड़े अकड़वाज भय से कांपने लगते हैं—

अयं शृण्वे अध जयन्नुत घ्नन्नयमुत प्र कृणुते युधा गाः ।
यदा सत्यं कृणुते मन्युमिन्द्रो विश्वं दृळ्हं भयत एजदस्मात् ॥ (१० म मन्त्र)

यह राजा अपनी शक्ति के प्रताप से, धन के उत्पादन तथा उसके न्याय-युक्त विभाजन, दोनों में निपुण है—

समिन्द्रो गा अजयत् सं हिरण्या समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः ।
एभिर्नृभिर्नृतमो अस्य शाकै रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः ॥ (११ श मन्त्र)

जिस प्रकार वायु, गर्जनशाली धारावर्षी मेघ के सम्पर्क में आकर शीतत्व गुण ग्रहण करता है, इसी प्रकार यह इन्द्र 'मुहुकैः' = राष्ट्र को धोखा देने वाले राष्ट्र-शत्रुओं से भी बहुत कुछ सीखता है। किंच, माता रूप प्रजा और पिता रूप निर्वाचक-मण्डल से भी बहुत कुछ सीखता है—

कियत् स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत् पितुर्जनितुर्यो जजान ।
यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः । (१२ श मन्त्र)

सच्चा राजा, एक को (त्वम्)—क्षीण को अक्षीण बना देता है। जहाँ व्यर्थ के ढेर लग गये हैं, उन अयोग्यों की ढेरी को प्रबल आंधी की तरह उड़ाकर क्षीणों के गड्ढे भर देता है—

क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्ति रेणुं मघवा समोहम् ।
विभञ्जनुरशनिमाँ इव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात् ॥ (१३ श मन्त्र)

मनुष्य के शरीर में यौवन आने पर त्वचा में कान्ति तथा बालों में कालापन आ जाता है, जो कि बुढापे में फिर क्षीण हो जाता है। यह जिस तत्त्व का परिणाम है उसे यहां 'एतश' कहा गया है। एतश नाम निघण्टु में अश्व का है।

क्योंकि यह यौवन में रहता है, इसलिये इसका वीर्य से सम्बन्ध स्पष्ट है, परन्तु ये सब शक्तियां तभी तक कार्य करती हैं, जब तक इन्द्र अर्थात् जीवात्मा शरीर में विद्यमान रहता है, अतः रुधिर में प्रविष्ट सूर्य अर्थात् वीर्य के चक्र को यह इन्द्र ही प्रेरणा देता है। उससे प्रेरित यह रुधिर-स्थित 'एतश' तत्त्व, जरा के साथ युद्ध करता हुआ सारे शरीर में चक्कर लगाता है। इसी के बल से कुटिल-केश-कलाप काला होता है और मनुष्य की त्वचा के मूल में दीप्ति उत्पन्न होती है। एवञ्च उस दीप्ति की भी **योनि** (=कारण) वही कृष्णत्व उत्पन्न करने वाला तत्त्व है। यह 'एतश' तत्त्व सारे शरीर को कांतिमय बनाता हुआ इस इन्द्र के प्रताप को प्रदीप्त करता है—

अयं चक्रमिषणत् सूर्यस्य न्येतशं रीरमत् ससृमाणम् ।
आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ॥ (१४ श मन्त्र)

—इसी प्रकार उदीयमान राष्ट्र अपने राष्ट्र की सीमा पर, मायाजाल रचने में निपुण—कुटिल गति वाले पहरेदारों को नियत करता है, जो प्रच्छन्न रूप से अपने आपको काले अन्धकार में रखते हैं। ये राष्ट्र के सीमावर्ती पहरेदार तब तक ही जागरूक रहकर राष्ट्र के यौवन का परिचय देते हैं, जब तक कि राष्ट्रों में, **'एतश' = प्रदीप्त विजिगीषा का अश्व** चक्कर काटता हुआ आलस्य और अकर्मण्यता से युद्ध करता है। इसके विपरीत, राजा के ढीले होने पर **'एतश'** भी ढीला हो जाता है और तब सीमावर्ती गुप्तचर भी ढीले हो जाते हैं और जराजीर्ण होकर राष्ट्र मर जाता है, इसीलिये जागरूकता के मूल एतश को = प्रबल विजिगीषामय उत्साह को सदा बनाये रखना चाहिये। तभी दण्डाध्यक्ष दुष्टदमन में समर्थ होता है।

इन प्रच्छन्न अन्धकारमय शत्रुओं की पहुंच से बाहिर, रात्रि में आहुति करने में तत्पर यजमान के समान दण्डाध्यक्ष रूप अग्नि भी, इन्द्र के प्रताप को प्रदीप्त करता है—

असिक्न्यां यजमानो न होता ॥ (१५ श मन्त्र)

'अवत' = सुरक्षामय कूच (Safe deposite vault) में जिस प्रकार लोग अपने कोश का मुंह खोल देते हैं, इसी प्रकार हे इन्द्र! हम तुझे स्वेच्छापूर्वक कर देते हैं, जिसके वदले में हमें अश्वादि हर प्रकार की सम्पत्ति मिलती है—

गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ।
जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिमा च्यावयामोऽवते न कोशम् ॥ (१६ श मन्त्र)

हे इन्द्र! जिस प्रकार जीवात्मा शरीर में **'वयोधा'** = दीर्घायु का धारण करने वाला है, इसी प्रकार मानव राष्ट्र के शरीर में तू **'त्राता, आपिः, मर्डिता, सखा, पिता, पितृतम'** सब कुछ है—

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम् ।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥ (१७ श मन्त्र)

वह राजा प्रजा को सत्याचरण-युक्त बनाता है—

करत् सत्या चर्षणीर्धृदनुर्वा ॥ (२० श मन्त्र)

अष्टादश सूक्त

राजा दण्डाध्यक्ष के पद पर कैसे मनुष्यों को नियुक्त करे, यह १८ वें सूक्त में बताया गया है। जो कुल-परम्परा की दुहाई दे कि **'हमारी पीढ़ी से यह काम होता आया है, मैं भी उस परम्परा पर चलना चाहता हूं'** इत्यादि, उस योनिमार्ग (= शरीर-परम्परा मात्र से) से प्रकट होने वाले में चमत्कार नहीं। जो दण्डाध्यक्ष के पद पर पहुंचने के लिये इतना उत्सुक हो कि, जहां भी रक्खो, वहां से पार्श्व

फोड़कर कहे—'मुझे तो यही कार्य करना है,' वही दण्डाध्यक्ष अथवा किसी भी अध्यक्ष पद के योग्य है। योनिमार्ग से (शारीरिक परम्परा मात्र से) प्रकट होने वाले अच्छे सिपाही तो हो सकते हैं, पर अच्छे अध्यक्ष नहीं।

अध्यक्ष होने योग्य तो वह है, जिसकी उमङ्ग हो कि—'बहूनि मे अकृता कर्त्वानि'—मुझे बहुत से कारनामे करके दिखाने हैं जो, आज तक किसी ने नहीं किये। एक से लड़ूं और एक से मित्रता करूं—इन दोनों कार्यों में मुझे निपुणता दिखानी है—

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः॥ (१ म मन्त्र)
नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै॥ (२ य मन्त्र)

'ऐसा दृढ़व्रती पुरुष किसी के कहने से—'यहां तक कि वात्सल्यमयी माता के कहने से भी अपने वीरोचित, लोकोत्तर तथा कुल-परम्परागत रूढि-विद्रोही संकल्प को नहीं छोड़ सकता। कहता है—मां! मुझे दुष्टदमन करना है, मैं तुम्हारे कहने से प्रिय से प्रिय वस्तु छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपने वीरव्रत को नहीं छोड़ सकता। यह हो भी कैसे सकता है? क्या मैं उस वीरमार्ग का अनुसरण न करके कायर कहलाऊँ और तुम्हारी कोख को लजाऊँ? मैं वामदेव हूं। मैंने टेढ़ा मार्ग ही अपने लिये चुना है। यही मेरे भाग में आया है। मैं इस मार्ग का अनुगमन करूंगा ही। मैं तो इन्द्र का साथी बनने जा रहा हूं।' इसने लोक-कल्याण के लिये व्यक्तिवाद (=त्वष्टा) के पुत्र भोगवाद का मूल में ही जबरदस्ती नाश कर दिया। सबने इसे गाली दी कि, यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है, अत्याचारी है; परन्तु इसने कहा कि, लोक-कल्याण के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर चलने वाले भोगवाद नामक पाखण्ड (वृत्रासुर) का तो मैं विध्वंस करके ही रहूंगा। बस, ऐसे योग्य राजा (=इन्द्र) का योग्य साथी मैं क्यों न बनूं?—

परायतीं मातरमन्वचष्ट न नानु गान्यनु नू गमानि।
त्वष्टुर्गृहे अपिबत् सोममिन्द्रः शतधन्यं चम्वोः सुतस्य॥ (३ य मन्त्र)

जब कोई योग्य पुरुष चुना जाता है, तो उसकी भूमिका उसके जन्म से भी कितने ही वर्ष पूर्व तैयार होती है, इसलिये सामान्य जननी के गर्भ से जन्म तो १० मास में होता है, परन्तु प्रजा के गर्भ से जन्म, सहस्रों मासों के परिकल्प के पश्चात् अवक्रान्त होता है। गर्भ का सादृश्य व्यञ्जित करने के लिये ही यहां (केवल) वर्षों द्वारा गणना न करके मासों द्वारा की गई है। इसलिये कहा—'इसे सहस्रों मास लगे। तब अदिति माता ने अर्थात् पृथिवी ने (इस प्रकरण में प्रजा ने) इसे जन्म दिया। इसके लोकोत्तर निराले कर्मों के कारण ही तो इसे इन्द्र का पद प्रदान किया, जब प्रजा ने यह समझा कि, वर्त्तमान युग के पुरुषों में इसका प्रतिमान नहीं—जोड़ नहीं और न सुदूर भविष्य में कोई दूसरा ऐसा दिखाई देता है, तभी तो इसे इन्द्र बनाया'—

किं स ऋधक् कृणवद् यं सहस्रं मासो जभार शरदश्च पूर्वीः ।
नही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः ॥ (४ थं मन्त्र)

इसी बात की ओर पहिले भी निर्देश किया है—

'इन्द्रस्य कर्त्ता स्वपस्तमोऽभूत्' ॥ (४ । १७ । ४)

माता की दृष्टि में तो यह साधारण सा बालक था, पर जब यह अपनी वीरता से चमका और तेजोमय माला पहनकर उदित हुआ तो इसने, **द्युलोक तथा पृथिवी लोक को** (=श्रेष्ठ तथा सामान्य प्रजाजनों को) अपने प्रभाव से व्याप्त कर दिया—

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम् ।
अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ॥ (५ म मन्त्र)

जरा इन उत्साहमय शब्द करती हुई जल-भरी नदियों के समान वीरवाहिनियों से पूछो ये किसके गीत गा रही हैं ? किस शत्रु का दमन कर रही हैं ? बस, उन वीरगाथाओं का पात्र मैं भी क्यों न बनूँ ?

एता अर्षन्त्यललाभवन्तीर्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः ।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इन्द्रत्व की जननी प्रजा-रूप माता कहती है कि, मेरे पुत्र इन्द्र ने भोगवाद का वध करके इन सिन्धुओं की—सेनाओं की सृष्टि की । नाना युद्धों को कलङ्क नहीं लगा । उल्टा आज इसके दरबार में सबके निवेदन पत्र पेश होते हैं कि **'मैं भी कुछ करूंगा'**—

किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः ।
ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद् विसिन्धून् ॥ (७ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू जिधर गया तेरी माता ही क्यों, पराई युवतियाँ भी तुझे देख खिल उठती हैं और जो दुष्ट भाव वाली हृदय में तुझ से द्वेष रखती हैं, वे भी लोकमत के दबाव से तेरे प्रति (ऊपरी मन से ही सही) उल्लास भरे उपकार ही प्रकट करती हैं और ये सेनाएँ तो तुझ पर ऐसी प्रसन्न हैं कि तुझे अपना लाड़ला बेटा समझती हैं । इस प्रकार उल्लास के साथ तुझ इन्द्र का उत्थान हुआ—

ममच्चन त्वा युवतिः परास ममच्चन त्वा कुषवा जगार ।
ममच्चिदापः शिशवे ममृड्युर्ममच्चिदिन्द्रः सहसोदतिष्ठत् ॥ (८ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! कई ऐसे छली पैंतरे बाज भी हैं, जो प्रसन्नता का आडम्बर रचकर, तेरे मुँह पर मुक्का मारना चाहते हैं, परन्तु उनकी माया समझने में तू उनसे भी चतुर है—उनसे भी उत्तर है । तू ऐसे मायादासों का सिर कुचल डालता है अर्थात् उनके बुद्धि-कौशल को अपने उत्कृष्टतर कौशल से नष्ट कर देता है—

ममच्चन त्वा मघवन् व्यंसो निविविध्वाँ अप हनू जघान ।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाञ्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन ॥ (९ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! जननी के पेट से तो तू शिशु पैदा हुआ था, परन्तु इस इन्द्र पद देने वाली प्रजा माता के गर्भ से तेरा जन्म तब हुआ, जब तू 'स्थविर' (=प्रौढ़) हो चला था, तू 'अनाधृष्य' था, 'तुम्र' (=प्रेरणाप्रद) था, 'स्वयंगातु' था और 'अन्यनिरपेक्षगति' था। इन गुणों पर मुग्ध होकर लोकवाणी ने तुझे इन्द्र पद दिया—

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ॥ (१० म मन्त्र)

उसके 'स्वयंगातु' होने का प्रमाण यह है कि जब बड़े राज्याधिकारी देवों ने सङ्कट में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर, तुझे छोड़ने का ढंग पकड़ा; तो तूने अपने सखा 'विष्णु' को = 'राष्ट्र के संगठित जनसमूह को' कहा—'मित्र ! अब तुम जरा पहिले से भी बढ़कर पराक्रम दिखाओ'—

उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः ।
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व ॥ (११ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! निर्वाचकमण्डल तेरा पिता है तथा प्रजा माता, परन्तु यदि तेरा पिता भी मर्यादा तोड़े तो तू उसे भी दण्ड देने से नहीं चूकता। इससे बढ़कर मार्डीक अर्थात् प्रजा के लिये सुखदायक कौन होगा ? तू हां निर्वाचक-मण्डल को दण्ड दे सकता है; दूसरे किसकी हिम्मत है कि तेरी माता को विधवा कर सके। चाहे तू स्वयं जागता हो, चाहे सोता; परन्तु तेरा शासन सदा जागरूक है । उसे नष्ट करने की इच्छा वाला भी नष्ट हो जाता है, इसी लिये तू पादगृह्य है—आराध्यचरण है—

कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम् ।
कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत् प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य ॥ (१२ श मन्त्र)

जब प्रजा में दुर्भिक्ष हो तो लोग कुत्ते की आंत तक पकाने लगते हैं । ऐसे संकट के समय, तुझसे भिन्न किस अन्य को शरणदाता समझें। हर दुर्भिक्षपीडित प्रजाजन कहता है कि, 'मैं अपनी दुर्गति तो सह लूँ, परन्तु अपनी पत्नी की दुर्गति कैसे सहूँगा'। ऐसे समय तू वहाँ तुरन्त मधु-वर्षा करता है और दुर्भिक्ष पर ऐसे तीव्र वेग से झपटता है, जैसे, बाज अपने निशाने पर—

अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम् ।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार ॥ (१३ श मन्त्र)

एकोनविंश सूक्त

श्येनवत् तीव्र गति से सहायता पहुँचाने के लिये, उत्कृष्ट मार्गों का होना आवश्यक है । इस लिये इस अग्रिम सूक्त में कहा है कि स्वाभाविक-दुष्टता-वश पाप के पञ्जे में फंसने वाले निष्काम

दुरात्मा तो, निष्काम महात्माओं की तरह विरले ही होते हैं, किन्तु **'अर्वाति'** अर्थात् अभाव के कारण ही अधिकतर लोग पाप की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह **'अर्वाति'** ही साधारण प्रजा का चरित्र नीचे गिराने वाली शक्ति है। जिस बात को, **'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'** इस लोक-प्रवाद में स्थान मिला है उसी की ओर १८ वें सूक्त के अन्तिम मन्त्र में निर्देश किया गया है। इस 'अर्वाति' की निवृत्ति ही वृत्रासुर के वध का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। क्योंकि इसके निवृत्त होने से निष्काम दुरात्मा अकेले पड़ जाते हैं और अतएव वे सुसाध्य हो जाते हैं। इसी बात का उपक्रम इस १९ वें सूक्त में किया गया है—

हे इन्द्र ! समूचे मधु-सम्भारों को श्येनगति से प्रजातक पहुँचाने के लिये ही तो सब देवों ने 'वृत्रहत्य' में तुझे नेता चुना। वे **'ऊमा'** अर्थात् लोक-रक्षा-परायण होकर तेरा वरण करते हैं—

एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः ।
महामुभे रोदसी वृद्धमृष्वं निरेकमिद् वृणते वृत्रहत्ये ॥ (१ म मन्त्र)

जिस प्रकार की भी **'अर्वाति'** (अन्न की, वस्त्र की, विद्योन्नति-साधनों की, अथवा किसी अन्य प्रकार की) प्रजा पर आक्रमण करती है; उस सभी को दूर करने के लिये विद्वानों ने तेरा सर्जन किया है। हे इन्द्र ! तेरा मूल आधार **सत्य** है। तू **वज्रपाणि** अवश्य है पर वज्रयोनि नहीं। तू **सत्ययोनि** है। सत्य के—ईमानदारी के बल पर सम्राट् बना है। प्रजा की उमङ्गों की तरङ्गों पर पैंच मार कर उसे गतिहीन बना देने वाले अकर्मण्यता-रूप अजगर को मार कर तूने बिश्वकल्याणार्थ विश्वकल्याण-कारिणी **'वर्त्तनियाँ'** अर्थात् मार्ग खोद निकाले हैं। भाव यह है कि अर्वाति की निवृत्ति के लिये सड़कें बनाना सबसे अधिक आवश्यक है; जिससे विपत्ति में श्येनगति से सहायता पहुंचाई जा सके—

अवासृजन्त जिव्रयो न देवा भुवः सम्राडिन्द्र सत्ययोनिः ।
अहन्नहिं परिशयानमर्णः प्र वर्त्तनीररदो विश्वधेनाः । (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! जब **'अपर्व'** अर्थात् पालन-पूर्ण-विहीन बना देने वाली विपत्ति प्रजा पर आती है ; तो सात उत्तम प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन, निद्रामग्न, बोधरहित और भोगों से अतृप्त पाप के वृत्रासुर को तू वज्र से (कड़ी वर्जनाओं से—निषेधाज्ञाओं से) मार गिराता है—

अतृप्णुवन्तं वियतमबुध्यमबुध्यमानं सुषुपाणमिन्द्र ।
सप्त प्रति प्रवत आशयानमहिं वज्रेण वि रिणा अपर्वन् ॥ (३ य मन्त्र)

वे सात उत्तम प्रवृत्तियाँ, जिनके अवरोधक के विनाश का इस मन्त्र में वर्णन किया गया है, इस प्रकार हैं—

१. **गङ्गा** = चरित्र-निर्माण ।
२. **यमुना** = नियमित जीवन ।
३. **सरस्वती** = उद्योगशीलता ।
४. **शुतुद्रि** = तीव्र गति के यान तथा उत्तम मार्गों पर नियन्त्रण ।
५. **परुष्णी** = उत्तम व्यवस्थायुक्त सुविभक्त बस्तियाँ ।

६. असिक्नी=आत्मरक्षा के साधन ।

७. मरुद्वृधा=जनसंख्या की उचित वृद्धि ।

लोककल्याण के लिये इन्द्र धरती खोदता है। आसमान में पवन के समान प्रबल वेग से चलता है। पहाड़ों को तोड़ डालता है। लोककल्याण के लिये कुछ उठा नहीं रखता—

अक्षोदयच्छवसा क्षाम बुध्नं वार्ण वातस्तविषीभिरिन्द्रः ।
दृळ्हान्यौभ्नादुशमान ओजोऽवाभिनत् ककुभः पर्वतानाम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

तू जिधर गया, तूने नदियां बहा दीं। जो न टूटते थे (=अद्रि थे) उन्हें तोड़ डाला, परन्तु तोड़ना तो साधन था, साध्य नहीं। तेरा तोड़ना ऐसा था, जिससे हर वस्तु कुछ न कुछ जनती, जैसे—माता गर्भ को—

अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भं रथा इव प्र ययुः साकमद्रयः ।
अतर्पयो विसृत उब्ज ऊर्मीन् त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून् ॥ (५ म मन्त्र)

तेरे प्रताप से धरती माता ने क्षुधातुर के लिये अन्न-क्षरण किया, बुने पदार्थों के अर्थात् वस्त्रों के भूखों के लिये बुनने के सामान दिये। जहाँ नदियों को तथा समुद्र को पार करने के साधन नहीं थे, वहाँ तूने पार उतारने के उत्तम साधन उत्पन्न किये—

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम् ।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

जिस प्रकार सेना शत्रु से लड़ती है, इसी प्रकार तेरी शिल्पी सेनाओं ने मरुभूमियों को जलपूर्ण किया, प्यासों की प्यास बुझाई और जो सम्पत्ति अकर्मण्य लोगों के हाथों में पड़कर वन्ध्या बनी हुई थी उसे दुधार गाय बना दिया—

प्राग्रुवो नभन्वो३ न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद् युवतीर्ऋतज्ञाः ।
धन्वान्यज्राँ अपृणक् तृषाणाँ अधोगिन्द्रः स्तर्यो३ दंसुपत्नीः ॥ (७ म मन्त्र)

कितनी ही सुन्दर उषाओं को, कितनी ही शस्यश्यामला शरदों को अकर्मण्यता का वृत्रासुर निगल गया; परन्तु तूने उसे मारकर, हर उत्तम पदार्थ की नदियाँ बहा दीं। जहाँ जो भी पदार्थ रुके पड़े थे, उन्हें बन्धनमुक्त करके, धरती पर बहने के लिये नदी-मार्ग बना दिये—

पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून् ।
परिष्ठिता अतृणद् बद्बधानाः सीरा इन्द्रः स्रवितवे पृथिव्या ॥ (८ म मन्त्र)

'अग्रु' अर्थात् नदियों के पुत्र अन्न को दीमक आदि न खाजावें, इसलिये उनके उद्धार के लिये, तूने ऐसे निवेशन बनाये हैं जिनमें उल्टा अन्न अपने शत्रुओं को दबा लेता है। एवञ्च प्रजा की धारणा के साधन सुरक्षित हो जाते हैं। तन्दूरों का दुश्मन कीट-समुदाय निराश्रित हो जाता है—

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ ।
व्य१न्धो अख्यदाहिमाददानो निर्भूदुखच्छित् समरन्त पर्व ॥ (९ म यन्त्र)

हे राजन् ! हे प्रजा के स्वामिन् ! हमने तुझे हर नर्य में प्रजाहित के काम में व्याप्त पाया। साधारण प्रजा की बात तो एक ओर, विद्वान् विद्वानों के बीच बैठकर भी तेरे गुण गाते हैं—

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्राऽऽविद्वाँ आह विदुषे करांसि ।
यथायथा वृष्ण्यानि स्वगूर्ताऽपांसि राजन् नर्याविवेषीः ॥ (१० म मन्त्र)

तूने प्रजा के सुख की नदियाँ बहा दी हैं—

'इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपे'···(११ श मन्त्र)

विंश सूक्त

हे इन्द्र ! तू दूर के शत्रुओं से भी रक्षा की चिन्ता करता है और पास के शत्रुओं से भी। तू राज्य के किसी भाग की उपेक्षा नहीं करता। तू सर्वत्र अप्रमत्त है, सतर्क है और दुष्टों को तुरन्त ढूंढकर नष्ट करता है—

आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः ।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः संगे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ (१ म मन्त्र)

दुष्टों से रक्षा तथा अभाव की पूर्ति—दोनों प्रकार से तू वाजसाति अर्थात् युद्ध में लगा हुआ है—

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छाऽर्वाचीनोऽवसे राधसे च ।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ ॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! कुत्तों द्वारा चोर पकड़ने वाला जिस प्रकार हमारे धन की रक्षा करता है, इसी प्रकार तू भी करता है। तेरे द्वारा हम इस दुष्ट-दमन रूपी संग्राम में सदा विजयी हों—

'श्वघ्नीव वज्रिन्त्सनये धनानां त्वया वयमर्य आजिं जयेम' ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! हम भी कृतज्ञ हैं। हमारे सब सुसंवादित पदार्थ तेरे ही लिये हैं, हम भी पूरे राज-भक्त हैं—

उशन्नु षु णः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः ।
पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः समन्धसा ममदः पृष्ठ्येन ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू ऋषियों तक का स्तुतिभाजन है। तू, पके फलों से नम्र वृक्ष के समान, मदमस्त हाथियों को जीतने वाले विजेता के समान और मर्द के लिये दुल्हन के समान हमें प्यारा है—

वि यो ररप्श ऋषिभिर्नवेभिर्वृक्षो न पक्वः सृण्यो न जेता ।
सर्यो न योषामभि मन्यमानोऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम् ॥ (५ म मन्त्र)

तू प्यासे के लिये जलभरे डोल के समान है—

...'उदूगेव कोशं वसुना न्यृष्टम्' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे इन्द्र ! प्रजा ने जो तेरा वरण किया है, वह जन्म के आधार पर नहीं, अपितु गुणों के आधार पर किया है । कोई वर्त्ता (= Voter) जन्म के आधार पर तुझे वोट देने वाला नहीं है—

न यस्य वर्ता जनुषान्वस्ति न राधस आमरीता मघस्य ।
उद्वावृषाणस्तविषीव उग्रास्मभ्यं दद्धि पुरुहूत रायः ॥ (७ म मन्त्र)

तू प्रजा के धन और बस्ती का निरीक्षक है । गौवें बाड़े में बन्द न पड़ी रहें, चरागाह में चरने जावें जिससे वे स्वस्थ दूध दे सकें, इसकी भी तू देखभाल करता है । जो आलसी और लोभी लोग पशुओं को सदा बाड़े में बन्द किये रखते हैं उन्हें तू दण्ड देता है और गौओं का अपवरण करता है, तू प्रजा को शिक्षा दे तथा युद्ध में प्रहार के योग्य बना । धन-राशि का नेता बन । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन सबके कर्मों का तू नेता है—

ईक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीनामुत व्रजमपवर्तासि गोनाम् ।
शिक्षानरः समिथेषु प्रहावान् वस्वो राशिमभिनेतासि भूरिम् ॥ (८ म मन्त्र)

जिनमें दान देने का सामर्थ्य है उन्हें दाता बनाकर तू, पाप में फंसने से रोकता है अर्थात् अनुचित सञ्चय रूप पापमल से उन्हें छुड़ाता है और उस धन को द्रविण अर्थात् प्रवाहशील बनाकर जराजीर्ण तक पहुंचाता है—

कया तच्छृण्वे शच्या शचिष्ठो यया कृणोति मुहु का चिदृष्वः ।
पुरु दाशुषे विचयिष्ठो अंहोऽथा दधाति द्रविणं जरित्रे ॥ (९ म मन्त्र)

हमें वह धन दे जो दूसरों का भरण करे । हमें देने का सामर्थ्य दे—

मा नो मर्धीरा भरा दद्धि तन्नः प्र दाशुषे दातवे भूरि यत् ते ॥... (१० म मन्त्र)

हम सदा दान-सहित बने रहें और रथ पर चढ़कर खोज करें कि किसे सहायता की अपेक्षा है । उस तक पहुँच कर उसकी सहायता करें । इस बात की प्रतीक्षा न करें कि वह भिखारी बनकर हम तक पहुँचे—

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ (११श मन्त्र)

एकविंश सूक्त

राजा, हमें केवल समृद्ध ही नहीं, शूर भी बनावे। नही तो हम, अर्वतिजन्य पापों से छूटकर ऐश्वर्य-जन्य पापों में जा फसेंगे। यहीं बात २१ वें सूक्त में कही गई है। यह इन्द्र, शूर होकर हमारे बीच में शौर्यवर्धक खेलों में—खेल-कूद, आमोद-प्रमोद में 'सधमाद्' हो जिससे तविषी (=बल पराक्रम) बढ़े—

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधान स्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ (१ म मन्त्र)

वह, हमें खेल-खेल में शत्रु के प्रहार को सहन करने का अभ्यास करावे। उसका पद ही सम्राट् नहीं—उसके जीवन की हर चेष्टा सम्राट् है—

यस्य क्रतुर्विदथ्यो३ न सम्राट् साह्वान् तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टीः ॥ (२ य मन्त्र)

वह सैन्यसहित आवे और हममें सैनिक भाव उत्पन्न करे। जल, स्थल सब प्रकार का युद्ध सिखावे—

आ यात्विन्द्रो दिव आ पृथिव्या मक्षू समुद्रादुत वा पुरीषात्।
स्वर्णरादवसे नो मरुत्वान् परावतो वा सदनादृतस्य ॥ (३ य मन्त्र)

हममें शीतोष्णादि द्वन्द्व सहने की शक्ति उत्पन्न करने के लिये, वह हमें धृष्णु बनावे और इतना व्यायाम करावे कि, हम गोरस (दूध आदि) सेवन करके, पचाने की शक्ति उत्पन्न करने वाली, प्रबल भूख वाली 'गोमती' सेना में सम्मिलित होकर, वायुवेग से इतना दौड़ें कि हम भी सैनिकों के समान मक्खन, मलाई, रवड़ी, खोआ आदि पचाकर भोजन का वास्तविक आनन्द पा सकें, केवल रसना का स्वाद नहीं—

स्थूरस्य रायो बृहतो य ईशे तमु ष्टवाम विदथेष्विन्द्रम्।
यो वायुना जयति गोमतीषु प्र धृष्णुया नयति वस्यो अच्छ ॥ (४ र्थ मन्त्र)

इन्द्र, 'अन्न-नमस्' से वज्र नामक 'नमस्' को सहारा देता है। यही उसका प्रसाधन है अर्थात् वह भूखों को अन्न देकर, उन्हें दुष्टों पर वज्र-प्रहार करने के लिये तत्पर करता है। तदनन्तर उनके द्वारा दुष्टों का वज्रप्रहार करवा के, सरस्वती के उपासकों को निर्विघ्नता-पूर्वक प्रभुभजन करने का अवसर देता है। 'नमस्' के अन्न, वज्र तथा प्रणाम ये तीनों अर्थ इस प्रकार चरितार्थ होते हैं। 'नमो नमसि स्तभायन्' का यही अर्थ है। इस प्रकार हमें ऐश्वर्यजन्य पाप नहीं दबा सकते—

उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन् यजध्यै।
ऋञ्जसानः पुरुवार उक्थैरेन्द्रं कृण्वीत सदनेषु होता ॥ (५ म मन्त्र)

इसका परिणाम यह होता है कि हर प्रभु-प्रेमी के घर में सदा ज्ञानचर्चा तथा ज्ञान-कामना

बढ़ती रहती है। इस प्रकार 'दुरोषा'=दुर्भावनाओं का दाहक इन्द्र रात्रिकाल में भी हमें ऐश्वर्यमत्त नहीं होने देता तथा शत्रु से युद्ध के लिये सदा सन्नद्ध बनाये रखता है—

धिषा यदि धिषण्यन्तः सरण्यान्त्सदन्तो अद्रिमौशिजस्य गोहे ।
आ दुरोषाः पास्त्यस्य होता यो नो महान्त्संवरणेषु वह्निः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

राजा सच्चा ईश्वर-भक्त है—उस विश्वम्भर प्रभु का सच्चा पुत्र है—'भार्वर' है [बिभर्तीति 'भर्' (भृ+विच्), भर्षु वरः=भरणकर्तृषु श्रेष्ठतमः, तस्य पुत्रः भार्वरः (भर्वर+अण्)] यह सत्य है। प्रभुभक्तों का घर इसकी गुहा है, यह सत्य है। यह प्रगति-शालिनी बुद्धि देता है, यह सत्य है। उस के सब यत्न, आगे बढ़ने में जो आनन्द मिलता है उसके लिये हैं, यह भी सत्य है—

सत्रा यदीं भार्वरस्य वृष्णः सिषक्ति शुष्मः स्तुवते भराय ।
गुहा यदीमौशिजस्य गोहे प्र यद् धिये प्रायसे मदाय ॥ (७ म मन्त्र)

इसने हर पदार्थ का पालल-कर्तृत्व-रूप ढूंढकर, उसमें से उसे फोड़कर, सुख की नदी का प्रवाह बहा दिया। प्रवाह के वेग फूट पड़े और घर-घर में लोगों को हरिण के समान फुर्तीला बना दिया। पुरुषों को बैल के सदृश तथा स्त्रियों को धेनुसदृश बना दिया, जिस घर में देखो गौर और गवय मिलेंगे—

वि यद् वरांसि पर्वतस्य वृण्वे पयोभिर्जिन्वे अपां जवांसि ।
विदद् गौरस्य गवयस्य गोहे यदी वाजाय सुध्यो३ वहन्ति ॥ (८ म मन्त्र)

हाथ के दो नाम हैं—एक 'हस्त' तथा दूसरा 'पाणि'। हस्त 'हन्' धातु से बना है। सो तेरे हस्त अर्थात् हिंसक प्रहार भी भद्र हैं—कल्याण के लिये हैं। तेरे 'पाणि' परमात्मा की स्तुति तथा सत्य-व्यापार और दान के लिये हैं। द्विवचन इसलिये है कि, हनन दो प्रकार का है—शिक्षार्थ तथा दण्डार्थ; व्यवहार दो प्रकार का है—सत्य लेन तथा सत्य देन। किं च दोनों हाथ मिलते हैं, अपने से बड़ों के प्रति नमस्कार के लिये, विशेषकर प्रभुभक्ति के लिये। यह सब तू हमें बैठकर सिखाता है—

भद्रा ते हस्ता सुकृतोत पाणी प्रयन्तारा स्तुवते राध इन्द्र ।
का ते निषत्तिः किमु नो ममत्सि किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ ॥ (९ म मन्त्र)

इस प्रकार यह सच्चा सम्राट्, वृत्र की ऐश्वर्यकाल में भी हत्या करता है और अवर्तिकाल में भी। हे इन्द्र! इस तेरे शूरता-रूप दैव अन्न को हम खाते रहें जिससे ऐश्वर्य मद का विष हममें न व्यापे—

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः ।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य ॥ (१० म मन्त्र)

इस मन्त्र की बात को ही तुलसीदास जी ने भरत के मुख से इस प्रकार कहलवाया था—

भरतहिं व्यापिन राजमद विधि हरिहर पद पाई ।
कबहुँ कि को जोसी करनि क्षीर सिन्धु बिल जाई ॥

इस प्रकार तू सुख की नदियाँ-सी बहाता है—

'इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः' ॥ (११ श मन्त्र)

द्वाविंश सूक्त

इन्द्र का स्वार्थ कोई नहीं । वह सेवा करता है तो हमारे भले के लिये; स्तुति ग्रहण करता है तो हममें गुणग्राहकता उत्पन्न करने के लिये—

यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि तन्नो महान् करति शुष्म्या चित् ।
ब्रह्म स्तोमं मघवा सोममुक्था यो अश्मानं शवसा बिभ्रदेति ॥ (१ म मन्त्र)

चार वर्ण तथा **चार आश्रम** रूप वज्र के सहारे इन्द्र हमारी पर्ववती तथा प्रकाशवती नगरी बसाता है । उस पर्ववती नगरी के पर्व में श्री की **ऊर्णा** का आच्छादन बुनता है अर्थात् जहाँ हमारी **परुष्णी**=बस्ती बसती है उसमें वस्त्र, बरतन, कपड़ा, पुस्तक, व्यायामशाला तथा उद्यान आदि के पर्व सुविभक्त होते हैं और सारे नगर पर एक आच्छादक वस्त्र पड़ा होता है । उस वस्त्र का हर तार **श्रीमय** है । इस वस्त्र को राजा सदा बुनता रहता है—

वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन्नुग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान् ।
श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णां यस्याः पर्वाणि सख्याय विव्ये ॥ (२ य मन्त्र)

इस राजा की **श्री** का प्रताप ही ऐसा है कि, इससे उसके शत्रु कांपते हैं, अतः वह इस श्रीरूप वस्त्र को सदा बुनता रहता है । बड़े-बड़े बल के प्रदर्शन तथा नकली युद्ध, इसमें सदा किये जाते हैं, जिससे वीररस सदा बना रहे—

यो देवो देवतमो जायमानो महो वाजेभिर्महद्भिश्च शुष्मैः ।
दधानो वज्रं बाह्वोरुशन्तं द्याममेन रेजयत् प्र भूम ॥ (३ य मन्त्र)

इसके नगर में सदा वीररस की ही हवा बहती है, जिसके शब्द से—शुष्म अर्थात् बल के नाद से जमीन आसमान गूंजते रहते हैं । जिन-जिन उतार-चढ़ावों में धरती तक काँपी और यह अकम्प रहा, उन सब पूर्व कथाओं का वीर-रसमय इतिहास यहाँ हवा के झोंके में सुनाई देता है—

विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वीर्द्यौर्ऋष्वाज्जनिमन् रेजत क्षाः ।
आ मातरा भरति शुष्म्या गोर्नृवत् परिज्मन् नोनुवन्त वाताः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

शूरों के महान् से महान् कर्म, जिनसे अकर्मण्यता दूर हो, वहाँ सदा सुनाये जाते हैं—

ता तू त इन्द्र महतो महानि विश्वेष्वित् सवनेषु प्रवाच्या ।
यच्छूर धृष्णो धृषता दधृष्वानहिं वज्रेण शवसाविवेषीः ॥ (५ म मन्त्र)

इसके प्रताप से हर प्रकार की गायों के अर्थात् उत्पादक कार्यशालाओं के थनों से दूध बह निकलता है। इसके प्रबल प्रताप से ही डरकर सेनाएँ भी ठीक-ठीक अनुशासन में चलती हैं—

ता तू ते॑ स॒त्या तु॑विनृम्ण॒ विश्वा॒ प्र धे॒नवः॑ सिस्रते॒ वृष्ण॒ ऊध्नः॑ ।
अधा॑ ह॒ त्वद्वृ॑षमणो भिया॒नाः प्र सिन्ध॑वो॒ जव॑सा चक्रमन्त ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे हरिवः ! हे पहुँच वाले ! अग्निरक्षक सेना, रोगनिवारक सेना और दुष्टदमन सेना (=पोलिस), ये सब सेनाएँ; बहिनों के समान परस्पर बंधी हुई और एक लम्बा जाल बिछाती हुई आगे बढ़ रही हैं। ये सब तेरे शासन में हैं। जब तू कहता है, तो बन्द हो जाती हैं और जब तू चाहता है तब चल पड़ती हैं—

अत्राह॑ ते हरिव॒स्ता उ॑ दे॒वीरवो॑भिरिन्द्र स्तवन्त॒ स्वसा॑रः ।
यत्सी॒मनु॒ प्र मु॒चो ब॑द्बधा॒ना दी॒र्घाम॑नु॒ प्रसि॑तिं स्यन्द॒यध्यै॑ ॥ (७ म मन्त्र)

सेना ही क्यों, यह सारा प्रजावर्ग अनुशासन में बंधा है। तेरे अनुशासन की एक किरण यहाँ भी पड़ती है और समुद्र की तरह लहरें लेता हुआ यह जनसागर एकदम सीमित हो जाता है। हे देदीप्यमान इन्द्र ! यह तेरी शासन-कारिणी शक्ति के कारण ही है। यह सारा जनसमूह इस प्रकार तेरे वश में है, जिस प्रकार अच्छे सारथि की रास प्रबल बैल के बल को नियन्त्रित कर देती है—

पिपी॑ळे अं॒शुर्मद्यो॒ न सिन्धु॒रा त्वा॒ शमी॑ शशमा॒नस्य॑ श॒क्तिः ।
अ॒स्म॒द्र्य॑क् शुशुचा॒नस्य॑ यम्या आ॒शुर्न र॒श्मिं तु॒व्योज॑सं॒ गोः ॥ (८ म मन्त्र)

इस प्रकार अनुशासन सीखी हुई प्रजा शत्रुप्रहार सहने में समर्थ होती है तथा हर प्रकार के वृत्र को वश में ले आती है—

अ॒स्मे वर्षि॑ष्ठा कृणुहि॒ ज्येष्ठा॑ नृ॒म्णानि॑ स॒त्रा स॑हुरे॒ सहां॑सि ।
अ॒स्मभ्यं॑ वृ॒त्रा सु॒हना॑नि रन्धि ज॒हि वध॑र्व॒नुषो॒ मर्त्य॑स्य ॥ (९ म मन्त्र)

पहिले, स्वभाव से दुष्ट मनुष्यों का दण्ड द्वारा शमन बताया। फिर १९ वें सूक्त में अवर्तिजन्य पाप का नाश बताया। २० वें सूक्त में, राजा गुणों के कारण चुना गया है, जन्म के आधार पर नहीं, यह बताया गया, तथा वे गुण कौन से हैं यह भी बताया गया। २१ वें सूक्त में, आमोद-प्रमोद आदि में भी सर्वत्र वीररस भरने की महिमा बताई गई और राजा स्वयं प्रजा में सम्मिलित होकर यह रस भरे, यह बताया गया। राजा ऐश्वर्यजन्य अकर्मण्यता से सबको कैसे बचावे ? कैसे व्यायाम करावे ? और कैसे खूब भोजन पचाने की शक्ति उत्पन्न करे ? यह भी २१ वें सूक्त में बताया। २२ वें सूक्त में अनुशासन की महिमा कही गई।

त्रयोविंश सूक्त

अब २३ वां सूक्त आरम्भ होता है। २० वें सूक्त में जो राजा का, प्रजा के बीच में सम्मिलित होकर उन्हें शूरता-युक्त आमोद-प्रमोद सिखाने का वर्णन है, वह राजा का 'अभिगम्य' रूप

है। प्रजावर्ग के साथ मिलकर वह एक हो गया है, किन्तु स्वयं उनसे उच्छृंखलता सीखने के स्थान में उन्हें शूरता सिखाता है। अब २३ वें सूक्त में राजा का **'अनभिगम्य'** रूप दिखाया है। राजा को अपना जीवन इतना उच्च बनाना चाहिये कि प्रजा के लोग उसके पास पहुँचने में अपना गौरव मानें तथा यह भी जानें कि वहाँ पहुँचने के लिये पूरा नाप-तोल होगा तथा नपा-तुला ही गौरव प्राप्त होगा, इसलिये इस सूक्त में **'ऋत'** की = ठीक-ठीक नाप-तोल की महिमा गाई गई है—

प्रजाजन सोचें कि—'यह राजा किन शुभ आचरणों से धीरे-धीरे बढ़ता हुआ 'इन्द्र' पदवी तक पहुँचा है ? किस सच्चे होता के यज्ञ में **'सोमवती'** गाय का (=यज्ञरूपी गाय का) दुग्ध पीकर यह बड़ा हुआ ? यह कितना शुचि-चरित्र है ? देखो, अब तक इसको यह चिन्ता है कि मेरे **कोष** में कोई अशुचि अर्थात् प्रजापीडनोत्पन्न धन प्रवेश न करे'—

कुथा महामवृधत् कस्य होतुर्यज्ञं जुषाणो अभि सोममूधः ।
पिबन्नुशानो जुषमाणो अन्धो ववक्ष ऋष्वः शुचते धनाय ॥ (१ म मन्त्र)

कौन वह भाग्यवान् वीर होगा जो इन्द्रभवन में, इसकी आनन्दभरी उत्सव-सभा में सम्मिलित हो सके; जहाँ सम्मिलित होने वाले को न केवल वीरकला का आनन्द मिलता है, किन्तु वह सुमति से भी सराबोर हो जाता है। कब हम इसके पवित्र धन के तथा पवित्र छत्रछात्रा के भागी बनेंगे ?—

को अस्य वीरः सधमादमाप समानंश सुमतिभिः को अस्य ।
कदस्य चित्रं चिकिते कदूती वृधे भुवच्छशमानस्य यज्योः ॥ (२ य मन्त्र)

कब वह दिन आवे कि कष्ट पाने वाले लोग, कष्ट पड़ने पर मुझे सहायतार्थ बुलावें तथा मेरे इस पुकारे जाने का यश इन्द्र के कानों तक पहुँचे और इन्द्र इस लोक-सेवक के (=**मादृशजनस्य**) लोकरक्षक कारनामों को भी जान जाय, फिर वह पूछे और आदेश करे कि इसके पिछले सारे शौर्य-वृत्तान्त को उपस्थित करो; मैं भी जानूँ कि इसने किस वयोहानिग्रस्त का किस प्रकार पालन किया—

कुथा शृणोति हूयमानमिन्द्रः कुथा शृण्वन्नवसामस्य वेद ।
का अस्य पूर्वीरुपमातयो ह कुथैनमाहुः पपुरिं जरित्रे ॥ (३ य मन्त्र)

कब कोई कष्टापन्न व्यक्ति, इस जन के अर्थात् मेरे द्वारपर रक्षार्थ आवे अथवा कोई अर्थ-कष्ट-ग्रस्त मेरे दिये धन को पाकर उल्लसित होता हुआ जाय। देव इन्द्र, मेरे इन धर्ममर्यादानुकूल नपे-तुले कर्मों का ज्ञाता हो और मैं नमस्कार-पूर्वक अपने राजा की जो सेवा करूँ उसे वह स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करे ।

कुथा सबाधः शशमानो अस्य नशदभि द्रविणं दीध्यानः ।
देवो भुवन्नवेदा म ऋतानां नमो जगृभ्वाँ अभि यज्जुजोषत् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

मुझे यह प्रतीक्षा लगी रहती है कि, आज की यह उषा ही राज-प्रसाद का वह सन्देश ला

रही होगी कि, वह देव मुझ सरीखे साधारण मनुष्य के मित्रत्व को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करे और वह धन्य दिन कब हो कि जब वह इन्द्र मुझे लोकसेवा के कार्य में जोतने योग्य समझकर, जोत दे—

कथा कदस्या उषसो व्युष्टौ देवो मर्त्तस्य सख्यं जुजोष ।
कथा कदस्य सख्यं सखिभ्यो ये अस्मिन् कामं सुयुजं ततस्रे ॥ (५ म मन्त्र)

कब वह दिन हो कि जब मैं अपने मित्रों में कह सकूं कि—'राजा ने मुझे अपना मित्रत्व प्रदान किया है; मित्रत्व ही क्यों, अब तो देव-राज मुझे अपना भाई समझने लगे हैं । हमारा राजा हर दृष्टि में अप्रतिम है । क्या सुडौल तथा दर्शनीय इसका शरीर है । यह जो भी उद्योग करता है, वह प्रजा के लिये सूर्य के समान अथवा दिन के समान सुखदायक और प्रकाशदायक होता है । इसके उद्योग से हर वस्तु पृथ्वी-मात्र को चित्रतम अन्न देने वाली है'—

किमादमत्रं सख्यं सखिभ्यः कदा नु ते भ्रात्रं प्र ब्रवाम ।
श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्वर्ण चित्रतममिष आ गोः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

यह इन्द्र, इस संसार को इन्द्ररहित करने की इच्छावाले मानव-कल्याण-द्रोही तत्त्वों को नष्ट करने के लिये अपनी तीव्र सेनाओं को पैने से पैना बनाता जाता है । यह देखो, राजा की नम्रता; वह—'जिस प्रजा ने मेरा इन्द्रत्व के लिये वरण किया है, मैं उसके ऋण के नीचे दवा हुआ हूँ' इस बुद्धि से, हमें सदा ऋणग्रास से दूर रखता है और ऐसी दुष्ट उषाओं को, जिनमें हम सुनें कि हम ऋणग्रस्त हो गये हैं, उन्हें चुप-चाप अज्ञात-रूप से हम तक पहुँचने से पहिले ही परास्त कर देता है—

द्रुहं जिघांसन् ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका ।
ऋणा चिद् यत्र ऋणया न उग्रो दूरे अज्ञाता उषसो बबाधे ॥ (७ म मन्त्र)

यह सब कुछ है, परन्तु इन्द्र की कृपा का पात्र होने से पहिले ठीक-ठीक पात्रापात्र की नदियों को पार करना पड़ता है । इस यथार्थ नाप द्वारा, सोच विचार पूर्वक काम करने की आदत पाप को पनपने ही नहीं देती, नहीं तो बहुतेरे धूर्त्त ऋण के नाम से धन लेकर अपव्यय करते हैं । राजा की इस ठीक-ठीक नाप की आदत का शोर इतना गहरा है कि वह वहरे कानों को भी चीरकर समाचार पहुँचा देता है, फिर प्रगतिशील मनुष्यों की तो बात ही क्या है—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥ (८ म मन्त्र)

ऋत के भवन के खम्भे बड़े मजबूत हैं । जिनके शरीर सुडौल हैं तथा जिनके सौन्दर्य को देखकर आँखें खिल उठती हैं, उनके वे, मनुष्यमात्र के लिये दर्शनीय, सुन्दर और सुडौल शरीर, नियमित जीवन से ही वैसे बने हैं । जो दीर्घकाल तक अपने अन्न का उपयोग करते हैं, वे नापतोल के ही बल पर ऐसा कर पाते हैं । नपे-तुले आहार से ही गौओं का दूध भी नियत मात्रा से कम नहीं होने पाता

ऋतस्यं दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गावं ऋतमा विवेशुः ॥ (९ म मन्त्र)

राजा स्वयं 'ऋत' के नियम का पालक है, इसलिये वह प्रजा से भी नपे-तुले जीवन की आशा करता है और नाप-तोल के साथ ही बांटता है। जो शुद्ध इन्द्रिय, उत्तम पृथ्वी और दुधारु गाय शीघ्र पाना चाहता है वह भी ऋत के बल का ही आधार लेता है। पृथ्वी और पृथ्वी पर बसने वाली प्रजा ये दोनों नाप-तोल से ही फलती-फूलती हैं। ये जो **'द्यावापृथ्वी'** नाम की सनातन गायें हैं, ये भी ऋत के द्वारा ही दूध देती हैं—

ऋतं येमान ऋतमिद् वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः ।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते ॥ (१० म मन्त्र)

तू तो बस इस नाप-तोल से सुख की नदियाँ-सी बहा देता है—

'इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः' ॥ (११ श मन्त्र)

चतुर्विंश सूक्त

वह कौन सी सुष्टुति है, जो हमारी ओर कामनापूर्ति के लिये झुकने वाले इन्द्र का पूरा वर्णन कर सके। ऐ लोगो ! वह इतना न्यायकारी है कि, लोक-कल्याण के लिये कार्य करने का निषेध करने वालों का धन छीन कर, उसे लोक-कल्याण की शपथ लेने वालों को दे देता है। वह वीर है, अतएव वह ऐसा कर पाता है; क्योंकि अन्यायोपार्जित धन को भी कोई सुगमता से छोड़ना नहीं चाहता—

का सुष्टुतिः शवसः सूनुमिन्द्रमर्वाचीनं राधस आ ववर्तत् ।
ददिर्हि वीरो गृणते वसूनि स गोपतिर्निष्षिधां नो जनासः ॥ (१ म मन्त्र)

परन्तु राजा इसमें सफल इस लिये होता है कि, उसमें तथा उसके अनुयायियों में त्याग की भावना है जो कि दुष्टों में अलभ्य है। दुष्टजन—स्वार्थी जन तो बंटवारे में लड़ पड़ते हैं।

पिछले सूक्त में नापतोल की महिमा कही। अब इस सूक्त में त्याग की महिमा कहेंगे। जो नाप-तोल से धन-सञ्चय करता है, वही तो ठीक समय पर त्याग भी कर सकता है। व्यर्थ—अपव्यय करने वाले के सम्बन्ध में त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो विवेक से पहिले ही विसर्जन हो चुका होता है, तब धन के देश-काल-पात्र-विवेक-पूर्वक त्याग का प्रश्न कैसे उठे ?

इस सूक्त के सबसे पहिले मन्त्र में, 'त्याग न करने वालों का धन राजा छीन ले' यह कहा गया है। अगले मन्त्र में कहा है कि—'वृत्र की हत्या में नापतोल से संग्रह करने वाले को ही पुकारना चाहिये; वही स्तुतियोग्य है। उसकी स्तुति करना ठीक है, क्योंकि वह सत्य से प्रसन्न होता है, मिथ्या आडम्बर से नहीं। वह स्वयं भी सच्ची वस्तु से आराधकों का पेट भरता है, कोरी बातों से नहीं, क्योंकि वह सत्यराधाः है। जीवन-यात्रा में वह **मघवा** प्रभुभक्त तथा ज्ञान-भक्त **ब्राह्मण** और **'सुन्वि'**= उपयोगी श्रम करने वाले मनुष्य को ही धन देता है'—

स वृत्रहत्ये हव्यः स ईड्यः स सुष्टुत इन्द्रः सत्यराधाः ।
स यामन्ना मघवा मर्त्याय ब्रह्मण्यते सुष्वये वरिवो धात् ।। (२ य मन्त्र)

पुत्र तथा पौत्रादि रूप अविच्छिन्न सन्तति चाहने वाले युद्ध में उसे ही पुकारते हैं । अपना शरीर विसर्जित करके भी वे लोकरक्षा करते हैं । यह राजा तथा प्रजा दोनों एक दूसरे के लिये त्याग करते हैं । राजा प्रजा की रक्षा के लिये मरता है, प्रजा राजा की रक्षा के लिये । इस कारण ही सदा ऐसे अनुयायियों वाले राजा की पुकार होती है—

तमिन्नरो वि ह्वयन्ते समीके रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत त्राम् ।
मिथो यत् त्यागमुभयासो अग्मन् नरस्तोकस्य तनयस्य सातौ ।। (३ य मन्त्र)

जब प्रजा के लोग सस्यादि के-लाभ के बंटवारे पर स्वार्थवश परस्पर लड़ने लगते हैं तो उस उग्र संग्राम में इन्द्र को ही पुकारते हैं—

क्रतूयन्ति क्षितयो योग उग्राऽऽशुषाणासो मिथो अर्णसातौ ।
स यद् विशोऽववृत्रन्त युध्मा आदिन्नेम इन्द्रयन्ते अभीके ।। (४ थं मन्त्र)

पर इन्द्र को वे ही भाग्यशाली पाते हैं, जिनकी पंक्ति में से पहिले **पुरोडाश**=देवभाग अलग कर दिया जाता है । जो **'असुष्वियों'** को=निठल्लों और हरामखोरों को, **सवनकर्त्ता सोमों** से—उपयोगी श्रम करने वालों से **'विपृक्त'**=बहिष्कृत कर देते हैं । बस, वे ही अपने संगठन में नाना सुखवर्षणार्थ सच्चे राजा को निमन्त्रित कर सकते हैं—

आदिद्ध नेम इन्द्रियं यजन्त आदित् पक्तिः पुरोळाशं रिरिच्यात् ।
आदित् सोमो वि पपृच्यादसुष्वीनादिज्जुजोष वृषभं यजध्यै ।। (५ म मन्त्र)

युद्ध में इन्द्र को वही सखा बना सकता है, जो उसकी इस प्रकार उत्तम श्रम से पूजा करता है । (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। गीता १८.४६**) और जो प्रजा से सच्चा प्रेम करने वाले **'अविवेन'**=निष्काम कर्मकर्ता इन्द्र के लिये, नाना उपयोगी पदार्थों का निर्माण करता है, स्वार्थ के लिये नहीं । जो इस प्रकार से, संतुलित मन से निष्काम कर्म करता है, उसे ही इन्द्र अपना सखा बनाता है—

कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते सुनोति ।
सध्रीचीनेन मनसाविवेनन् तमित् सखायं कृणुते समत्सु ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

जिसके चूल्हे पर लोककल्याणकारी राजा की सेवा के लिये अर्थात् लोकहित के लिये अन्न पकता है—धान भुनते हैं ; ऐसे लोककल्याणार्थ मनौती मनाने वाले सेवाव्रती को इन्द्र भी प्रत्यनुराग से अनुगृहीत करता है और उसके स्तोत्रों को सच जानकर उसे सुखवर्षक बल प्रदान करता है—

११

य इन्द्राय सुनवत् सोममद्य पचात् पक्तीरुत भृज्जाति धानाः ।
प्रति मनायोरुचथानि हर्यन् तस्मिन् दधद् वृषणं शुष्ममिन्द्रः ॥ (७ म मन्त्र)

जब इन्द्र के सामने समर के लक्षण उपस्थित होते हैं और दीर्घ युद्ध सामने दीखता है, तो उस राजा की वीर पत्नी कहती है कि, 'प्रजा के घर-घर में उत्साह का संदेश भेजकर स्वयं उत्साह प्राप्त करो। जो लोक-सुख के लिये श्रम करते हैं, वे ही तुम्हें पैना कर सकेंगे—

यदा समर्यं व्यचेदृघावा दीर्घं यदाजिमभ्यख्यदर्यः ।
अचिक्रदद् वृषणं पत्न्यच्छा दुरोण आ निशितं सोमसुद्भिः ॥ (८ म मन्त्र)

जो स्वार्थी अपने राजा को स्वार्थवश बेचकर व्यक्तिगत सुख पाना चाहते है, उन लोकद्रोहियों का रूप आगे खींचा गया है।

देखो, मुझ मूर्ख को कामधेनु के बदले बकरी बेच दी । अब पछताकर चाहता हूँ कि कहूं—'मैंने नहीं बेची, अपनी बकरी ले ले और मेरी गाय दे दो।' यही सोचता-सोचता बेचने वाले के पास पहुँचा, पर उसने कहा कि 'मैं अब बकरी के बदले गाय से रिक्त नहीं होता। तुम चतुर हो चाहे मूर्ख हो, सौदा हो गया सो हो गया। सब के सब वचन के अनुसार ही सौदे पर चलते हैं और अपनी-अपनी कामना पूरी करते हैं'—

भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन् ।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् ॥ (९ म मन्त्र)

बस, इसी प्रकार वह मूर्ख है जो स्वार्थवश राजा को बेचना चाहता है। मानो वह बाजार में कह रहा हो—'कोई है जो दश गौओं के बदले इस इन्द्र को मोल ले ले और जब यह वृत्रवध कर चुके तो अपनी गाय लेकर इन्द्र को मुझे दे दे।

ऐसा मूर्ख है वह हर एक मनुष्य जो दश इन्द्रियों के क्षणिक सुख के लिये अपनी आत्मा को बेचता है और फिर आशा रखता है कि यह विषयों के हाथ बिकी आत्मा मुझे फिर मिल जायेगी। ऐसा मूर्ख है वह, जो क्षणिक इन्द्रिय-सुखों के लिये अपने राजा को शत्रुओं के हाथ बेच दे। इन्द्र वहाँ है जहाँ इन्द्रियाँ जीवात्मा की रक्षा के लिये ज्ञान तथा कर्म करती हैं और जहाँ ज्ञान-कर्म की रक्षा के लिये जीवात्मा कष्टों को निमन्त्रण देता है—

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ।
यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत् ॥ (१० म मन्त्र)

हे हरिवः ! = हे पहुँच वाले ! हम रथ पर चढ़कर ऐसे त्यागियों को प्राप्त करके 'सदासाः' =दानसहित बन जावें। इस प्रकार हे इन्द्र ! तूने सुख की नदियाँ-सी बहा दीं'—

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ (११ श मन्त्र)

इस मन्त्र में आये 'सदासाः' शब्द का अर्थ सायण (४·२२·११) ने भी 'दानसहिताः' किया है। यदि 'सदासाः' का अर्थ 'दाससहिताः' भी करना हो तो भी, क्षति नहीं। तब भाव यह होगा कि इन्द्रियाँ हमारी दास हों, हम इन्द्रियों के दास न हों।

पञ्चविंश सूक्त

२५ वें सूक्त में इन्द्र का प्यारा कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इस संसार के इन्द्र, अग्नि आदि देवता उसकी ही रक्षा करते हैं जो 'देवकाम' है और परमदेव परमात्मा रूप सबसे बड़े इन्द्र का उपासक है, यही इस सूक्त में बताया है।

इन्द्र अर्थात् सच्चे राजा की मित्रता कौन प्राप्त करता है ? कौन अपनी 'महत् अवः'= परम रक्षा, जो उसे पार उतारने वाली है, उसे चाहता है ? कौन नाना प्रकार के उपयोगी पदार्थों का स्वामी होकर भी प्रतिदिन अग्नि में हवन करता है ? उत्तर है— 'देवकामः'—

को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्यं जुजोष ।
को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे ॥ (१ म मन्त्र)

कौन वाणी से सोम्य प्रभु को प्रतिदिन नमस्कार करता है ? कौन इस इन्द्र अर्थात् राजा का सहयोगी, सखा तथा भ्राता बनना चाहता है—

को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥ (२ य मन्त्र)

कौन देवों की रक्षा का पात्र बनना चाहता है ? कौन आदित्य और अदिति का सवन करता है ? इस लोक में, 'अश्विनौ'=यातायातादि के अधिष्ठाता, इन्द्र=राजा और अग्नि=पुरोहित ये तीनों किसके निष्काम रूप से सवन किये श्रमजन्य पदार्थों का रसपान करते हैं—

को देवानामवो अद्या वृणीते क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे ।
कस्याश्विनाविन्द्रो अग्निः सुतस्यांऽशोः पिबन्ति मनसा विवेनम् ॥ (३ य मन्त्र)

उत्तर—संसार का भरणकर्ता अग्नि उसे शरण देता है। वह ही नित्य उदीयमान सूर्य के दर्शन करता है; जो नरों में 'नृतम' और 'नर्य' अर्थात् जनहितकारी मनुष्य रूप इन्द्र=राजा के सामने भी निर्भय होकर कहता है कि हे इन्द्र ! हम सारा श्रम वस्तुतः उसके लिये करते हैं और करते रहें, जिसे, हे राजन् ! आप भी अपना इन्द्र मानते हैं—

तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यंसज्ज्योक् पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम् ।
य इन्द्राय सुनवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

उसे न तो बहुत से मिलयर परास्त कर सकते हैं और न अल्पसंख्या में छिपकर आक्रमण करने वाले। सारी प्रकृति उसे शरण देती है। वह उत्तम कर्म करता है और उस कर्मफलदाता इन्द्र का प्यारा बनता है, जो कि प्रजा को उत्तम रक्षा देता है अर्थात् उनकी दुष्टता को झूठी रक्षा द्वारा प्रोत्साहन नहीं देता। वह **'सोमी'**=उत्तम परिश्रम के फल का समर्पण करने वाला, उस परम राजराजेश्वर का प्यारा होता है—

न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत् ।
प्रियः सुकृत् प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी ॥ (५ म मन्त्र)

वह परमात्मा का अत्यन्त रक्षणीय होता है। वह तीव्र वीर, तीव्र आक्रमण सहने का भी सामर्थ्य रखता है। केवल इन्द्र को ही अपना सर्वस्व समझने वाला वह, अपने उत्तम सवन-फलों का उचित पाक करता है अर्थात् उसके कर्म पक्व होकर उसे मधुर रस देते हैं। वह परमात्मा, **'असुष्वित'** मनुष्य का न **'आपिः'**(=कामना पूर्ण करने वाला) है, न सगा और न सखा है। ऐसे भक्तिहीन निष्फल वाणी वाले का वह **'अवहन्ता'**=विनाशक है और उसके लिये वह दुष्प्राप्य है--दुर्धिगम्य है—

सुप्राव्यः प्राशुषाळेष वीरः सुष्वेः पक्तिं कृणुते केवलेन्द्रः ।
नासुष्वेरापिर्न सखा न जामिर्दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

जो धनमदमत्त **'पणि'** है अर्थात् जुआ खेलने वाला है उसके साथ इन्द्र का सख्य नहीं। जो श्रमहीन है, श्रमशीलों का रक्षक इन्द्र उसके साथ कोई बात नहीं करता। उस का सारा परिश्रम उसे ही खिन्न करता है। इस संसार से वह नंगा जाता है। जो श्रमशील है तथा श्रमशीलों के लिये भोजन पकाता है, परमात्मा उसका सब कुछ है—

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते ।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत् ॥ (७ म मन्त्र)

छोटे-बड़े मध्यम श्रेणी के सब इन्द्र इस लोक के इन्द्र=राजा के पास पहुंचते हुए; अन्त में उस परम इन्द्र के पास ही अपनी गति का—अवसान पाते हैं। वे बसते हैं तो उस इन्द्र की गोद में, युद्ध करते हैं तो उसके नाम पर, अन्न मांगते हैं तो उसी से और तदर्थ पुकारते हैं तो उसे ही। ये प्रभुभक्त निष्काम-सेवक राजा के प्यारे हैं—

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम् ।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥ (८ म मन्त्र)

षड्विंश सूक्त

कहीं मनुष्य प्रभुभक्ति करता-करता आलसी, अकर्मण्य तथा परावलम्बी न हो जाय। वह यह जान ले कि स्वावलम्बी मनुष्य का ही बेड़ा संकट में भगवान् पार लगाते हैं; परन्तु लोककल्याण के लिये संकट मोल लेना तो, उस **'अविवेन'**=(निष्कामकर्ता) का कार्य ही है। अतः २६ वें सूक्त

में आत्मा का गौरव बताया गया है। योनिमार्ग से जन्म लेने का निषेध करने वाला अर्थात् जन्म के नाम पर पदवी प्राप्त करने से इनकार करने वाला, अपना मार्ग आप काट निकालने वाला, जीवन-संग्राम का रणबांकुरा **वामदेव (स्वावलम्बी भक्त)** कहता है—

हे प्रभो ! तू तेज का बिम्ब है। जड़ प्रकृति में तो तेरा प्रति-बिम्ब ग्रहण करने की शक्ति है नहीं, अतः इस जगत् में जो बनता हूँ, सो मैं ही तो बनता हूँ। मनन करने से मैं **मनु** हूँ। अपने इन्द्रिय-परिवार रूप सौर मंडल का मैं **सूर्य** हूँ। जब अपने दृढ़ सङ्कल्प की पूर्ति के लिये कमर कस लेता हूँ तथा नाना प्रकार के उपाय सोचता हूँ, तो मैं मेधावी **'कक्षीवान्'** ऋषि कहलाता हूँ। यदि कुत्सित दरिद्रता में फंसे हुए, किसी सरल मार्गगामिनी निष्कपट माँ के बेटे को मैं विद्या देकर जीवन-संग्राम में विजयलक्ष्मी से प्रसाधित कर देता हूं; तो यह भी मेरे आत्मविश्वास का फल है। मैं ही सुन्दर व्यवस्था का प्रेमी **कवि** हूँ, आओ मुझे देखो—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ (१ म मन्त्र)

मैं ही तो वह हूँ जो नपा-तुला जीवन बिताने वालों को भूमि का राज्य देता हूँ। मैं जीवात्मा ही तो राजा बनकर, लोक-कल्याण के हेतु आत्मसमर्पण करने वाले मनुष्य के लिये सब प्रकार के सुखों की वृष्टि करता हूँ। मैं जब इन्द्र पदवी पाता हूँ, तो सब प्रकार के प्रवाहों का नेता मैं ही तो होता हूँ। उस समय सब देव मेरे घर आते हैं और मेरे सङ्केत पर चलते हैं—

अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! शम्बर अर्थात् आत्मिक शान्ति का परम शत्रु अज्ञान, मनुष्य को जन्म से घेरे हुए है। जिसके प्रभाव से मनुष्य—**'पृथ्वीदास'** बन गया है। जन्म से लेकर निन्नानवे वर्ष तक जितने वर्ष बीतते हैं, उनमें से प्रतिवर्ष, यह अज्ञान का एक दुर्ग तोड़ देता है। तब ही तो सौ वर्ष की आयु भोगता है, परन्तु यह तभी सम्भव है; जब माता, पिता, गुरु, पुरोहित के और, हे परम गुरु परमेश्वर ! तेरे, ऐश्वर्य से आकृष्ट होकर वह किसी प्रकार **'दिवोदास'** बन जाय—

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ (३ य मन्त्र)

पहिले में जिधर बढ़ता हूँ उधर अज्ञान ही का राज्य दीखता है। उस समय मैं सोचता हूँ कि मैं 'इन्द्र' होकर भी 'इन्द्रिय' बन गया और ९९ इन्द्रिय इन्द्र बन गये ! बस, मैं दृढ़ निश्चय करता हूँ कि आज से मैं **'मायादास'**— **'पृथ्वीदास'** न बनकर **'दिवोदास'** बनूंगा। सतत श्रम और गुरुजनों की कृपा से मैं दिवोदास बन जाता हूँ। तब उस परमदेव परमात्मा का, अनन्य भाव से शरणागत होकर स्मरण करता हूँ। बस, 'दिवोदास' का वेश धारण करते ही वह ९९ की नगरी एक साथ विच्छिन्न हो जाती है, परन्तु यह जीवन का कांटा बदलने वाला, आत्मिक शक्ति का प्रबल झटका,

मैं जीवात्मा रूप इन्द्र ही तो लगाता हूँ। वह भगवान् तो अग्नि, इन्द्र सब दिव्य गुणों का भण्डार है ही, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करके मैं 'दिवोदास' भी तो 'इन्द्र' बन ही जाता हूँ। 'खुट्ट-खुट्ट सुनार की, एक चोट लुहार की'। 'दिवोदास' के आसन पर निविष्ट होते ही ९९ की नगरी एक साथ छिन्न-भिन्न हो जाती है और १०० वां 'दिवोदास' राजा बन जाता है, पर यह सब करने वाला मैं जीवात्मा ही तो हूँ।

पर यह सब करता हूँ, उस सोमपान की मस्ती में, जिसके लिये कहा गया है—

'सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन' ॥ (ऋ० १० । ८५ । ३)

तथा अथर्ववेद में कहा है—

'सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः' ॥ (अथर्व० १४ । १ । ३)

वह भी तो जीवात्मा ही है जो पक्षियों में भी श्येन पक्षी है और श्येनों में भी सबसे अधिक तीव्रगामी श्येन के समान बनकर, प्राण रूपी मरुतों को अपने आदेश में चलाता है तथा चक्ररहित 'स्वधा' अर्थात् स्वयं आकाश में रहने वाले विमान से उत्तम पंखयुक्त होकर श्येन के समान एकाग्र चित्त से उस प्रभु का दिव्य सन्देश—जो कि देवों की प्यारी हवि है—उसे मनुष्य मात्र तक पहुँचाता है—

प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा ।
अचक्रया यत् स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

वह इस दिव्य मधु को इस लोक में लाता है—

...तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र ॥ (५ म मन्त्र)

ज्ञान-सागर के तल तक पहुँचने वाला वह, सोम को उस लोक से लाकर इस लोक में दृढ़ करता है—

ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम् ।
सोमं भरद् दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

तब उस दिव्य रस को पाकर सहस्रों मनुष्य उसके सवन में लग जाते हैं। इन्द्र उस सोम के बल से अमर होकर शत्रुओं को मारता है। सो वह दिव्य सन्देश यूं ही धरा रह जाय, यदि एकाग्र उपासक, उसे देवलोक से भूलोक तक न पहुँचावें—

आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् ।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ (७ म मन्त्र)

सप्तविंश सूक्त

यह एकाग्रतापूर्वक संकल्पपूर्ति की साधना प्रभुभक्ति के बिना अधूरी है—यह २७ वें सूक्त

में कहते हैं। इन्द्र कहता है—'मैं कैसे भूलूं कि नाना बाधाओं के होते हुए भी प्रभु की कृपा से ही मैं पार हुआ। जिस दिन से मैंने दुष्ट-दमन-रूप लक्ष्य पर पहुँचने का निर्णय किया था, उसी दिन से सैंकड़ों लोहे की दीवारें विघ्न बनकर मेरे सामने आ खड़ी हुईं, परन्तु अपनी इसी श्येन-बुद्धि से मैं उन्हें चीरकर बाहिर आ गया। ये विघ्न-बाधाएं मेरे लिये गर्भवास के समान आईं; उनसे लड़ने वाले देवता की उपासना मुझे करनी पड़ी, इस प्रकार सभी देवों का प्रयोजनवशात् जन्म किस प्रकार होता है, यह मैं जान गया'—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥ (१ म मन्त्र)

यह विघ्न-बाधाओं का गर्भ मुझे रोक न सका। मैं अपनी जबर्दस्त इच्छा-शक्ति के बल से, उनसे लड़कर बाहिर निकल ही आया; उसे आगे धकेलने वाले (=ईर्मा) भगवान् ने मुझे शत्रुओं पर विजय दिलाई और मैं उभरता-उभरता विघ्नों को पार कर ही आया—

न घा स मामप जोषं जभाराऽभीमास त्वक्षसा वीर्येण ।
ईर्मा पुरंधिरजहादरातीरुत वातॉ अतरच्छूशुवानः ॥ (२ य मन्त्र)

सङ्कल्पपूर्ति के जोश में ललकारते हुए जब मैंने सोमरस पाने के लिये श्येन की तरह झपट्टा मारा, तो मनुष्यों को कृश कर देने वाले='कृशानु'=अति श्रम नामक विघ्न ने मुझ पर आक्रमण किया—

अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद् यदि वात ऊहुः पुरंधिम् ।
सृजद् यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन् ॥ (३ य मन्त्र)

परन्तु वह परम इन्द्र परमात्मा रक्षक था, उसने ऐसा विजयोल्लास मुझे दिया कि 'कृशानु' का आक्रमण व्यर्थ हो गया और मैं अपना सङ्कल्प पूरा कर ही रहा था कि साथ ही प्रभु-साक्षात्कार का सोमरस और मिल गया, परन्तु इस छीना-झपटी में मेरे कुछ पंख तो झड़ ही गये—

ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधि ष्णोः ।
अन्तः पतत् पतत्र्यस्य पर्णमध यामनि प्रसितस्य तद् वेः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

परन्तु वह साक्षात्कार का दूध, मेरी सफलता के सोमकलश में आ मिला, तो शूर इन्द्र ने कहा—'ले पी' और तब से निरन्तर वह कहता आ रहा है—'ले दूध पी, गटागट पी'—

अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवा शुक्रमन्धः ।
अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत् पिबध्यै शूरो मदाय प्रति धत् पिबध्यै ॥
(५ म मन्त्र)

अष्टाविंश सूक्त

हे प्रभो ! हे कृपारूप दूधयुक्त सोम ! यह मैं जीवात्मा भी एक छोटा इन्द्र हूँ। हे महान् इन्द्र ! जब से तू मुझे मिला है, मेरा सहयोगी बना है, तब से मैंने भी अपने अन्दर वृत्रासुर को

मार गिराया है और सात स्वरों की नदियाँ बह पड़ी हैं और मेरे आनन्द का स्रोत जो ढका हुआ था, फूट पड़ा है—

त्वा युजा तव तत् सोम सुख्य इन्द्रो अपो मनवे सुस्रुतस्कः ।
अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धूनपावृणोदपिहितेव खानि ॥ (१ म मन्त्र)

हे उल्लास में हृदय को स्नान करा देने वाले सफलता के आनन्द के सोम ! मेरा सूर्य अर्थात् वीर्य मस्तिष्क और जननेन्द्रिय दो पहियों पर चलता है, परन्तु अब तो प्रभुप्रेम की मस्ती ने इसका एक चक्र अर्थात् जननेन्द्रिय का प्रेरक चक्र छीन लिया है अर्थात् अब मुझे ज्ञानसृष्टि ही सूझती है, सन्तानसृष्टि नहीं—

त्वा युजा नि खिदत् सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो ।
अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायु धायि ॥ (२ य मन्त्र)

हे सफलता के आनन्दरूप सोम ! जिस प्रकार राजा युद्ध में राजकोश की शक्ति से दस्युओं को मारता है, उसी प्रकार मैंने अपने इस आनन्द-कोश के बल पर आभ्यन्तर शत्रुओं को मार गिराया है और उनके दुर्ग को अपनी कर्म-परायणता से तोड़ दिया है—

अहन्निन्द्रो अदहदग्निरिन्दो पुरा दस्यून् मध्यंदिनादभीके ।
दुर्गे दुरोणे क्रत्वा न यातां पुरू सहस्रा शर्वा नि बर्हीत् ॥ (३ य मन्त्र)

हे राजन् इन्द्र ! तूने भी अपने आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय पाकर उस प्रभुसाक्षात्कार द्वारा शक्ति पाई और फिर दस्युओं को—जो कि तेरी अधम प्रजा थे—उन अपशस्त प्रजाओं को, दण्डबल से परास्त करके अपना दास बना लिया। इसी प्रकार मैं भी **इन्द्र और सोम** इन दो शक्तियों वाला हो गया। हे मेरे सफलता के आनन्द ! तथा हे प्रभुसाक्षात्कार-जन्य आनन्द ! तुम दोनों ने मिलकर शत्रुओं से खूब टक्कर ली और उन्हें कुचल डाला और उनके प्रजाबाधक प्रहारों से ही प्रजा का कल्याण करवाया। इस प्रकार उन्हें प्रजा-पीड़ा के स्थान पर प्रजापूजा सिखाई—

विश्वस्मात् सीमधमाँ इन्द्र दस्यून् विशो दासीरकृणोरप्रशस्ताः ।
अबाधेथाममृणतं नि शत्रूनविन्देथामपचितिं वधत्रैः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे प्रभुभक्ति के सोम ! तथा हे इन्द्र ! तुम दोनों ने मिलकर सचमुच गूढ़तम ज्ञान के रहस्यों को छिपाने वाले दुर्भेद्य द्वारों को तोड़ डाला और जो भूमियाँ निरर्थक पड़ी दुःख दे रही थीं, उन्हें भी गुप्त धन उगलने के लिये विवश कर दिया—

एवा सत्यं मघवाना युवं तदिन्द्रश्च सोमोर्वमश्व्यं गोः ।
आदर्दृतमपिहितान्यश्ना रिरिचथुः क्षाश्चित् ततृदाना ॥ (५ म मन्त्र)

एकोनत्रिंश सूक्त

हे प्रभो ! मैं अकेला ही नहीं, अपितु इस धरती के हम सब नेता और नीयमान, स्त्री और पुरुष, पशु और पक्षी और यहाँ तक कि जड़ देवता भी तेरे सन्देशहर हैं, किन्तु हममें उन सन्देशों को सुनने की शक्ति नहीं है। तू उस शक्ति को हममें उत्पन्न करते हुए, भक्तवत्सलता से मस्त होकर हमारे बीच आ। हम चिल्लाकर क्यों पुकारें ? हमारे हृदयों में छिपी (=तिरः) प्रार्थनाओं को भी, हे अन्तर्यामिन्! तू तो सुनता है। तुझे अपना अङ्ग समझकर निरन्तर हृदय में किये जाने वाले वे 'आङ्गूष' हमारे हृदयों में उठ रहे हैं। उनसे एक मूक सवन हमारे अन्दर हो रहा है। तू ही उन आराधनाओं की पूर्ति करने वाला सच्चा वत्सल स्वामी है—'सत्यराधाः' है। तू आ और नित्य आ—

आ नः स्तुत उप वाजेभिरूती इन्द्र याहि हरिभिर्मन्दसानः।
तिरश्चिदर्यः सवना पुरूण्याङ्गूषेभिर्गृणानः सत्यराधाः ॥ (१ म मन्त्र)

यह सनातन सत्य है कि वह प्रभु इन सवनों में आता रहता है। जब आन्तरिक सवनकर्त्ताओं ने सच्चे हृदय से पुकारा, वह सदा आया, पर वह आता है नरों के पास, क्योंकि वह 'नर्य' है। आलसी और अकर्मण्यों के बीच आकर वह क्या करे ? उन्हें तो दण्ड देकर जगाने आता है। वह अभीरू है। वह अभीरू लोककल्याणार्थ उपयोगी काम करने में तत्पर='सुष्वाण' वीरों की मण्डली में उनको मस्त करने आता है—

आ हि ष्मा याति नर्यश्चिकित्वान् हूयमानः सोतृभिरुप यज्ञम्।
स्वश्वो यो अभीरुर्मन्यमानः सुष्वाणेभिर्मदति सं ह वीरैः ॥ (२ य मन्त्र)

आ, हे इन्द्र ! आ ! इस अपने भक्त के कानों में 'वाज' उत्पन्न करने—नया जीवन, नई स्फूर्त्ति उत्पन्न करने आ। दिशाओं में ही नहीं, प्रदिशाओं तक में—कोने-कोने में मस्ती भरने आ। सुख की वर्षा करता हुआ आ। आराधकों की आराधना-पूर्ति के लिये उन्हें बल देने आ। हमारे लिये, गहरे से गहरे समुद्रों को सुतीर्थ करता हुआ, हमें निर्भय करता हुआ आ—

श्रावयेदस्य कर्णा वाजयध्यै जुष्टामनु प्र दिशं मन्दयध्यै।
उद्वावृषाणो राधसे तुविष्मान् करन्न इन्द्रः सुतीर्थाभयं च ॥ (३ य मन्त्र)

हमारे अन्दर अपनी लाखों तीव्र वेगों वाली शक्ति भरता हुआ आ। हे धुर्य ! तू सारे ब्रह्माण्ड का बोझ अपने बल-रूपी कन्धों पर ढो रहा है, उस जीवन का कोई अंश हमारे कन्धों में भी तो दे। हमें वज्र-बाहु बना। क्यों कि हमें भी दुष्टदमन करना है—

अच्छा यो गन्ता नाधमानमूती इत्था विप्रं हवमानं गृणन्तम्।
उप त्मनि दधानो धुर्या३शून्त्सहस्राणि शतानि वज्रबाहुः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हमें पार्थिव धन का क्या करना है ? हमें तो यह पार्थिव धन छाया की तरह जिसकी

अनुवृत्ति करता है, वह दिव्य धन—वह **'आकाय्य**=चारों ओर से बटोर कर जोड़ने योग्य अथवा काया का सच्चा हितकारी धन—वह बहुहितकारी सबको बसाने वाला (=**पुरुक्षु**) धन दे और **दावने**=बांटने के लिये दे। जिस धन का बांटना ही उसका जोड़ना है, वह दिव्य धन हमें दे—

त्वोतासो मघवन्निन्द्र विप्रा वयं ते स्याम सूरयो गृणन्तः ।
भेजानासो बृहद्दिवस्य राय आकाय्यस्य दावने पुरुक्षोः ॥ (५ म मन्त्र)

त्रिंश सूक्त

हे इन्द्र ! तू है तो सब कुछ; परन्तु हम तो इस समय **'वृत्रहत्या'** करने चले हैं, इसलिये, हे वृत्रहन् ! इस कर्म में तुझ से बड़ा वृत्रघाती भी तो कोई नहीं, **न तुझ जैसा और न तुझ से बड़ा !** इसलिये इस वृत्रघात-यज्ञ में हम तेरी उपासना करते हैं—

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् ।
नकिरेवा यथा त्वम् ॥ (१ म मन्त्र)

संसार की सब **'कृष्टियाँ'**=सब प्रकार के द्रव्योत्पादन-कर्म जिनका कि उपलक्षण खेती है अर्थात् सब उपजाऊ धन्धे, तेरे चारों ओर ही तो चक्कर काटते हैं। जो भी अपना धन्धा सीखना चाहे उसका कोई न कोई नमूना तेरी सृष्टि में हैं, पर है यह सब लोक-कल्याणार्थ। इस बात को सब सदा सुनते आये हैं, सुनते हैं और सुनते रहेंगे। यह हर काल में **नित्यश्रुत** है—

सत्रा ते अनु कृष्टयो विश्वा चक्रेव वावृतुः ।
सत्रा महाँ असि श्रुतः ॥ (२ य मन्त्र)

रात-दिन सब देव तुझसे ही युद्ध करना सीखते हैं—

विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः ।
यदहा नक्तमातिरः ॥ (३ य मन्त्र)

जब **कुत्स** अर्थात् कुत्सितावस्था-ग्रस्त कोई मनुष्य तेरी शरण में आता है, तो तू उसे कहता है कि हे प्यारे ! अपनी शक्ति-रूप सूर्य के सब चक्र बन्द करके केवल वह चक्र जारी रख, जो तेरी शक्ति को युद्ध की ओर ले जाता है। तू **एकचक्र** बन—**एकरुखा** बन—

यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते ।
मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ (४ र्थं मन्त्र)

जो देवों से =लोक-कल्याण—तत्पर होकर अपना सर्वस्व प्रजाहितार्थ देने वालों से लड़ने आता है अथवा जो, भक्ति की मस्ती से देदीप्यमान होकर तुझ से प्यार करने वालों से और तेरी ओर गति करने वालों से लड़ने आता है, उन सब दुष्टों का सामना करने को तू अकेला ही पर्याप्त है। जो तेरे प्यारों को चुन-चुनकर मारना चाहते हैं, उन्हें तू चुन-चुनकर मारता है—

यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत ।
त्वमिन्द्र वनूँरहन् ॥ (५ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू सदा, जो 'एतश' है=गतिशील है—कभी निठल्ला नहीं बैठता है, उसके सूर्य को=बल को, अन्य सब कार्यों से खाली करके—एकाग्रता प्रदान करके, उस मर्त्य के लिये सुख ही सुख कर देता है । इस प्रकार तू उसकी रक्षा करता है—

यत्रोत मर्त्याय कमरिणा इन्द्र सूर्यम् ।
प्रावः शचीभिरेतशम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे मन्युमय प्रभो ! इस यज्ञ में तो हम तुझे वृत्रहन् कहकर ही याद करते हैं । तू विषयासक्ति के पुत्र दानव (·········यस्य विषयासक्तानि रसनाशिश्नादीनीन्द्रियाणि सदा क्लिन्नानि तिष्ठन्ति स्वसङ्गत्या सहचरांश्च क्लेदयन्ति सः दनुः=लार टपकाने वाला) वृत्रासुर को घेर कर उसे विदीर्ण कर देता है और हमें उत्तीर्ण कर देता है—

किमादुतासि वृत्रहन् मघवन् मन्युमत्तमः ।
अत्राह दानुमातिरः ॥ (७ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! तेरे न्याय में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं । जो दुष्टा स्त्री संसार को उल्टे मार्ग में डालकर बुरी मौत मारती है, उसे तू मारने में नहीं हिचकता, चाहे वह आसमान की बेटी होने का दावा ही क्यों न करती हो । जिसको मारने से संसार हिचके उसे मारना, यह भी एक अनोखे प्रकार की मर्दानगी है—

एतद् घेदुत वीर्य१मिन्द्र चकर्थ पौंस्यम् ।
स्त्रियं यद् दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥ (८ म मन्त्र)

इसी वीरता के लिये, परम वैदिक विद्वान् विश्वामित्र ने राम को ताड़कावध के समय प्रेरित किया था ।

संसार में अनेक दुष्ट स्त्रियाँ अपने आपको देवलोक की बेटी कहकर पुजवाती हैं और उषा की तरह शृङ्गार करके गुलाबी रंग में घूमती हैं । सच्चा राजा परमात्मा का अनुकरण करता हुआ उन्हें भी पीस डालता है—

दिवश्चिद् घा दुहितरं महान् महीयमानाम् ।
उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ (९ म मन्त्र)

जहाँ ऐसा न्यायकारी राजा रहता है, वहाँ वह दाहकारिणी (=उष् दाहे) उषा के समान सजी हुई स्त्री (उषा, अन्धकार का दाह करने वाली होने से उषा कहलाती है और यह पाखण्डिनी, धर्म की दाहिका होने के कारण उषा कहलाती है, यही इनमें भेद है) पहले ही रथ से उतर कर सरक

जाती है, डर के कारण दुष्ट कर्म में प्रवृत्त होने का साहस ही नहीं करती। सचमुच आसमान की बेटी बन जाती है—

अपोषा अनसः सरत् संपिष्टादह बिभ्युषी।
नियत् सीं शिश्नथद् वृषा॥ (१० म मन्त्र)

तेरी पाशोच्छेदिनी सेना जहाँ पहुँचती है, वहाँ ऐसी पाखण्डिनियों के रथ छिन्न-भिन्न पड़े दीखते हैं—

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या।
ससार सीं परावतः॥ (११ श मन्त्र)

और सच तो यह है कि तेरा सिन्धु अर्थात् ज्ञानप्रकाशार्थ अन्धकारनाशार्थ निरन्तर आगे बढ़ने वाला रथ अपनी अविद्यानिवारक सेना-रूप सिन्धु के, जो पूर्णयौवना नदी के समान धरती पर चारों ओर अन्धकार पर विजय पाने आगे बढ़ती है उसके आगे चलता हुआ चारों ओर पाखण्ड के साथ ऐसा युद्ध करता है कि पाशोच्छेदन की नौवत ही नहीं आती। मायावियों की माया (=कूटरचना) से पहिले तेरी माया (=सत्यरचना) वहाँ In advance जा पहुँचती है—

उत सिन्धुं विबाल्यं वितस्थानामधि क्षमि।
परि ष्ठा इन्द्र मायया॥ (१२ श मन्त्र)

किं च, जो प्रजा के शोषक दुराचारी पुरुष हैं, उन्हें भी तू पहिले ही पीस डालता है **'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'** (जब कोई दुराचारी पुरुष ही नहीं है तो फिर दुराचारिणी स्त्री कहां होगी ?)

उत शुष्णस्य धृष्णुया प्र मृक्षो अभि वेदनम।
पुरो यदस्य संपिणक्॥ (१३ श मन्त्र)

किं च, प्रजा में दासभाव उत्पन्न करने वाले, मिथ्या कुलाभिमान पर तैरने वाले कुलितर के पुत्र को (=कौलितरम्), आलस्य तथा मिथ्याभिमान के पर्वत-शिखर से नीचे गिराकर मार देता है—

उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि।
अवाहन्निन्द्र शम्बरम्॥ (१४ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! नदी के पुत्र अन्न को जो अन्दर दबा लेते हैं, तू उसे निकालकर अध्ययन-प्रवचन-शील ब्राह्मणों में (=उक्थों में) बांट देता है। इस प्रकार भी तू दुराचार को पनपने नहीं देता है—

उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः।
उक्थेष्विन्द्र आभजत्॥ (१६ श मन्त्र)

जो आतुरता के वशीभूत होकर विद्याव्रत-स्नान न करके झटपट मोक्ष पाना चाहते हैं उन

तुर्वशों को और ऐसे लोगों को जो ठगते हैं, उन बिना प्रयास धनी होने के इच्छुक लोगों को वह इन्द्र सत्यज्ञान की नदी में स्नान कराके जबरदस्ती स्नातक बनाता है। वह विद्वान् इन्द्र इस प्रकार ज्ञानरूप में अविद्योत्पन्न अन्धविश्वास का नाश करके 'तुर्वश' और 'यदु' को भी पार लगाता है—

उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः।
इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्॥ (१७ श मन्त्र)

हे इन्द्र! जिस प्रकार अन्धविश्वास मनुष्य को मार्ग-भ्रष्ट करता है, इसी प्रकार निराधार संशयजाल भी मनुष्य को मार्गभ्रष्ट करता है। इस संशयजाल की नदी का नाम ही 'सरयू' है, क्योंकि नाना दिशाओं में बहने वाले सर (=प्रवाह) इसमें आ मिलते हैं—(सर+यू)। कई मनुष्य तो स्वभाव से संशयालु होते हैं। नाना प्रकार की संशय-तरङ्गें उनके हृदयों में उठती रहती हैं। कई मनुष्य 'चित्ररथ' होते हैं, जो नाना प्रकार के तर्करथों पर चढ़कर विचित्र तर्कजाल से असत्य को भी सत्य सिद्ध करने में लगे रहते हैं तथा आर्य लोगों को=भोले भाले सुव्यवस्थित जीवन बिताने वाले लोगों को बहकाते रहते हैं और 'सरयू' पार नहीं करने देते। हे इन्द्र! तू ऐसे दुष्टों के दुष्ट प्रभाव को—संशय की तरङ्गों को तथा तर्कजाल के रथ को नष्ट कर देता है—

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः।
अर्णाचित्ररथा वधीः॥ (१८ श मन्त्र)

हे प्रभो! तूने हमें अन्ध-पङ्गु न्याय सिखाया है। इस परस्पर सहयोग की प्रक्रिया द्वारा जो सुख हम मनुष्यों को प्राप्त होता है, उसे और कोई नहीं पहुँच सकता—

अनु द्वा जहिता नयोऽन्धं श्रोणं च वृत्रहन्।
न तत् ते सुम्नमष्टवे॥ (१९ श मन्त्र)

तूने हमें सौ वर्ष की आयु तक और उससे भी पार जाने का आदेश दिया है, परन्तु ९९ वर्षों तक जो काम क्रोधादि विकारों की लोहमयी दीवार को तोड़ लेगा वही तो १०० वें दुर्ग तक पहुँचेगा। पूर्वोक्त प्रकार से 'जो दिवोदास बन गया है' वह इन ९९ वर्ष-रूपी कठोर लौहदुर्गमयी पुरियों को तोड़ ही लेता है—

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे॥ (२० श मन्त्र)

और तीन सौ वर्ष तक भी तो जीने वाले होते हैं। 'दभीति' अर्थात् जीवन-शक्ति को दबाने वाली जरा के तत्त्वों को तू तीन सौ मारक शस्त्रों से मार-मार कर सुला देता है। तू मनुष्य को वह रचना सिखाता है, जिससे; वे नाना प्रकार के रोग जो मनुष्य को अपना दास बनाना चाहते हैं, स्वयं इस 'दिवोदास' के दास बन जाते हैं—

अस्वापयद् दभीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः।
दासानामिन्द्रो मायया॥ (२१ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू हमारी इन्द्रिय-रूप गौओं का रक्षक है तथा हम लोग जिनका दूध पीकर मस्त रहना चाहते हैं, उन गौओं का भी रक्षक है। तू हमें सब प्रकार के 'वृत्रा' और 'वृत्राणि' से लड़ना सिखाता है। हे वृत्रहन् ! तू सब वृत्रों को अपने दुर्गों से च्युत कर देता है—

स घेदुतासि वृत्रहन्त्समान इन्द्र गोपतिः ।
यस्ता विश्वानि चिच्युषे ॥ (२२ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! तूने हमें इन्द्र बनकर अपनी इन्द्रियों को जीतना सिखाया। बस, अपनी इन्द्रियों को जीत लेना ही सबसे बड़ी मर्दानगी है। (बड़े मूजी को मारा नफ्से अम्मारा को गरमारा, नहङ्गों अज़दहाओं शेरो नर मारा तो क्या मारा)। बस, अब हम ९९ दुर्गों पर अवश्य वार कर सकेंगे

उत नूनं यदिन्द्रियं करिष्या इन्द्र पौंस्यम् ।
अद्या नकिष्टदा मिनत् ॥ (२३ श मन्त्र)

अब १९ वें मन्त्र में दिये हुए 'अन्ध-पङ्गुन्याय' के उदाहरण से सूक्त को समाप्त करते हैं—

'अर्यमा' वह न्यायाधीश है जो अर्यत्व = स्वामित्व को नापता है। इसके आँखें ही आँखें हैं। भग देवता अन्धा है। अर्थात् वात्सल्य रस अन्धा है। 'अर्यमा' दीवानी न्यायालय है। यदि केवल स्वामित्व का ही नाप होता रहे तो संसार का व्यवहार एक क्षण भी न चले। बच्चे माता की वस्त्रादि की कितनी हानि करते हैं और पिता की भी नींद हराम करते हैं, यदि माता एक दिन रात का भी हर्जाने का दावा बच्चों पर कर दे, तो कदाचित् जीवन भर पूरा न हो; फिर सारे बाल्यकाल की तो कथा ही क्या ? यही 'भग' देवता अर्थात् वात्सल्य रस अपना रंग दिखाता है, परन्तु न्यायरहित वात्सल्य मोह का रूप धारण कर लेता है और उससे सन्तान का सर्वनाश होता है। अर्यमा और भग, अन्ध-पङ्गु न्याय से विश्व का कल्याण करते हैं। इसी प्रकार पूषा दन्तहीन है, सविता के दाढ़े ही दाढ़े हैं। वह खूब चर्वण करके—विचार-विचार के कानून बनाता है : पूषा 'चर्वणा' बिल्कुल नहीं करता। वह आज्ञा-पालन ही करता है, परन्तु यदि सविता का तर्क अथवा विवेक पूषा की तर्क-हीनता से न मिले तो भी काम नहीं चले जो 'सवितुः प्रसवे' और 'पूष्णो हस्ताभ्याम्' काम होता है, यहाँ भी ये अन्धपङ्गु न्याय से एक दूसरे के पूरक हैं। अर्यमा, पूषा, भग तथा करूदती सविता (=तीव्र पैने कठोर पदार्थ के टुकड़े-टुकड़े करने में समर्थ [कृ हिंसायां*-करूदत्] दाँतों वाला सविता, ये सब अपने-अपने कार्य के संविभाग द्वारा, हे इन्द्र ! तेरे संविभाग अर्थात् पाकशासन को पूरा करते हैं। तब फिर वृत्र का नाश होता है—

वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा ।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती ॥ (२४ श मन्त्र)

एकत्रिंश सूक्त

हे प्रभो ! मैंने ज्ञान द्वारा तेरा यह वृत्रघाती रूप देख लिया और समझ लिया, परन्तु इस रूप पर मुग्ध होकर जब तक मैं एक बार मस्त होकर तेरा स्तोत्र-गान न कर लूँ, तब तक यह मेरे अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त होकर 'अङ्गिरस नहीं बनेगा, इस लिये अब मैं गाऊँगा—

यह सदा हमारी वृद्धि करने वाला, सदा साथ रहने वाला सखा कैसे-कैसे विचित्र रक्षा के न्याय लेकर किस शक्ति-शाली मार्ग से न जाने कैसे मुझे बचाता है, अतः मैं कहता हूँ 'चित्राः'—रक्षक के निराले ढंग हैं—

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता ॥ (१ म मन्त्र)

तू मुझे वह अतिदुर्लभ शक्ति प्रदान करता है जिससे मैं विरोधी शत्रुओं से लड़कर, उनसे अपना अधिकार छीनने में समर्थ होता हूं। वह कौन-सा सच्चा मद तेरे पास है ? जिसका अन्न रूप में उपयोग करके मैं इतना शक्ति-शाली बन जाता हूँ

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ (२ य मन्त्र)

तू हम सखाओं की—जो तुझ पर सब कुछ न्यौछावर करते हैं उनकी सैंकड़ों प्रकार की रक्षा-पद्धतियों से रक्षा करता है—

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
शतं भवास्यूतिभिः ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! शिक्षित घोड़ों अथवा सुनिर्मित यन्त्रों के समान हम नियम-बद्ध होकर तेरा दिया कर्त्तव्य-रथ-भार ढो रहे हैं, पर इस रथ में पहिये तेरी कृपा के हैं। नहीं तो बोझ दूभर हो जाय। हम मनुष्यों ने 'नियुत' बनाली है। जो गुणों में सर्वश्रेष्ठ, वह सबसे आगे, उसके पीछे हम और हमारे से पीछे हम से दुर्बलतम इत्यादि, पर सबसे आगे सबसे बड़ा 'अर्वा' भी तू ही है—

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः।
नियुद्भिश्चर्षणीनाम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जैसे कोई ढलवान पर अनायास लुढ़कता आवे, ऐसे तीव्र वेग से तू कर्मठ लोगों की ओर भागा आता है। यही नहीं, हमारे मार्ग-दर्शन के लिये, तूने अपनी शक्तियों का छोटा-सा रूप सूर्य में सदा के लिये रख दिया है—

प्रवता हि क्रतूनामा हा पदेव गच्छसि।
अभक्षि सूर्ये सचा ॥ (५ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! वृत्र-घात के लिये जितने प्रकार के मन्यु की और जितने प्रकार के चक्कर लगाने की आवश्यकता है, वह सब पहिले या तो तुझ में है या फिर हमारे मार्ग-निर्देशार्थ सूर्य में है—

सं यत् त इन्द्र मन्यवः सं चक्राणि दधन्विरे।
अध त्वे अध सूर्ये ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

तू सुखों का भण्डार और शक्तियों का स्वामी दाता ऐसा है, जिसकी दीप्ति कभी कम न हो। हे इन्द्र! तू सदा प्रसन्न होकर दे। जब भण्डार अनन्त है तो चमक कम कैसे?—

उत स्मा हि त्वामाहुरिन्मघवानं शचीपते।
दातारमविदीधयुम्॥ (७ म मन्त्र)

तेरी परिक्रमा करते हुए, तेरे नियम में रहकर, जो नाना प्रकार के पदार्थों का सवन करते हैं; उन का भण्डार तू खूब भर देता है—

उत स्मा सद्य इत्परि शशमानाय सुन्वते।
पुरू चिन्मंहसे वसु॥ (८ म मन्त्र)

जब तू देने पर उतरता है तो सैंकड़ों हत्यारे ईर्ष्यालु उस दान की गति को रोक नहीं सकते और जब तू दुष्टों से छीनने पर उतरता है तो उन्हें कोई बचा भी नहीं सकते—

नहि ष्मा ते शतं चन राधो वरन्त आमुरः।
न च्यौत्नानि करिष्यतः॥ (९ म मन्त्र)

तेरी सौ रक्षाएं और हजार रक्षाएं हमें बचावें। हमारी सब कामना पूरी हों—

अस्माँ अवन्तु ते शतमस्मान्त्सहस्रमूतयः।
अस्मान् विश्वा अभिष्टयः॥ (१० म मन्त्र)

हे प्रभो! यह सारे संसार का ऐश्वर्य विष है, यदि तेरी मित्रता और सदाचार हमें न मिला। तू यह परम पूजनीय दिव्य धन हमें सदा देता रह। हम से तेरा प्रेम न छूटे—

अस्माँ इहा वृणीष्व सख्याय स्वस्तये।
महो राये दिवित्मते॥ (११ श मन्त्र)

इस दिव्य धन-रूप वस्त्र से हमें बिल्कुल लपेट दे। उसमें ही सम्पूर्ण रक्षा आप से आप आ गई—

अस्माँ अविड्ढि विश्वहेन्द्र राया परीणसा।
अस्मान् विश्वाभिरूतिभिः॥ (१२ श मन्त्र)

जिस प्रकार गोपालक के घर से निकलकर गौएँ व्रजभूमि में, चरागाह में चरकर तथा स्वच्छन्द घूमकर दूध बनाती हैं, वैसे तू हमारे भी कपाट खोल दे और अपने ज्ञानक्षेत्र में स्वच्छन्द विचरने दे। हम नई से नई ज्ञान-रूपी घास रोज खावें और नया से नया दूध बनावें—

अस्मभ्यं ताँ अपा वृधि व्रजाँ अस्तेव गोमतः।
नवाभिरिन्द्रोतिभिः॥ (१३ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! यह शरीर-रूपी रथ तूने हमें दिया है, इसमें तेरी दीप्ति सदा बनी रहे। कहीं इसका पहिया न रुके। बैल की बोझा ढोने की शक्ति और घोड़े का तीव्र वेग दोनों इसमें हों। यह ऐसा दृढ़ हो कि न दम फूले और न वेग रुके—

अस्माकं धृष्णुया रथो द्युमाँ इन्द्रानपच्युतः ।
गव्युरश्वयुरीयते ॥ (१४ श मन्त्र)

हे परम सूर्य ! जैसे, तूने हमारे सामने ऊपर सब नक्षत्रों को प्रकाश देने वाला सूर्य बनाया है, वैसे ही हमें भी अपने आन्तरिक राज्य में इन्द्रिय-रूप नक्षत्रों का सूर्य बना दे—

अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य ।
वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ (१५ श मन्त्र)

द्वात्रिंश सूक्त

अब इन्द्र-स्तुति के उपसंहार में, प्रथम ही मन्त्र में फिर वृत्रहन् = (समाज-विरोधी वृत्तियों के संहारक) से कहते हैं—

हे वृत्रहन् ! हम अपनी पूजनीय शक्तियों सहित वृत्र से लड़ने चले हैं। हे पूजनीय ! तू भी तो हमारी टोली में आ जा—

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि ।
महान् महीभिरूतिभिः ॥ (१ म मन्त्र)

हे वृत्रहन् ! हम आलसी होकर नहीं, अपितु भ्रमणशील होकर ही तो वृत्र को मार सकते हैं। तेरे कारण ही तो सारा ब्रह्माण्डचक्र घूम रहा है। हम भी घूमना सीखें। दुष्टों को ऐसा चक्कर दें कि वे हाय-हाय कर उठें। उनकी विचित्र से विचित्र चाल से भी हम विचित्रतर चाल चलकर उन्हें परास्त करें। तेरे उस आदर्श का ग्रहण करके हम अनुभव करें कि तू हमारी रक्षा करने में विचित्र-रूपेण समर्थ है—

भृमिश्चिद् घासि तूतुजिरा चित्र चित्रिणीष्वा ।
चित्रं कृणोष्यूतये ॥ (२ य मन्त्र)

जो तेरे मित्र बन गये, उनसे—उन थोड़े से मरियलों से भी तू जबरदस्त शक्ति के बल पर अकड़ने वालों को पिटवा देता है—' चिड़ियों से बाज' मरवा देता है—

दभ्रेभिश्चिच्छशीयांसं हंसि व्राधन्तमोजसा ।
सखिभिर्ये त्वे सचा ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! हम तुझसे जुड़े हैं, तेरी बार-बार स्तुति करते हैं। हमें, बस हमें उभार—

वयमिन्द्र त्वे सचा वयं त्वाभि नोनुमः ।
अस्माँ अस्माँ इदुदव ॥ (४ थं मन्त्र)

हमें, नई से नई विचित्र रक्षापद्धति सिखा, किन्तु निन्दनीय रक्षापद्धति से हम बचे रहें । विघ्नों से कभी छबराएँ नहीं-'अनाघृष्ट' हो—

स नश्चित्राभिरद्रिवोऽनवद्याभिरूतिभिः ।
अनाधृष्टाभिरा गहि ॥ (५ म मन्त्र)

हम हर उस गोपाल के मित्र बनें, जो हमें बलवान् बनने के लिये—संगठन करने के लिये प्रेरित करे, पर हमारे **बल और संगठन** तेरी ओर मुख किये हुए हों, पाप की ओर नहीं—

भूयामो षु त्वावतः सखाय इन्द्र गोमतः ।
युजो वाजाय घृष्वये ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे इन्द्र ! सच्चे बल का स्वामी तू ही है, तू हमें अन्न का संयम-पूर्वक प्रयोग सिखा—

त्वं ह्येक ईशिष इन्द्र वाजस्य गोमतः ।
स नो यन्धि महीमिषम् ॥ (७ म मन्त्र)

हे प्रतिज्ञा-पालन के प्यारे ! जब तू सुख देना चाहता है तो प्रतिज्ञापालक व्रती लोगों को ही देता है । उनके अतिरिक्त अन्य कोई तुझे और त्वत्प्रदत्त सुख को नहीं पा सकता—

न त्वा वरन्ते अन्यथा यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ।
स्तोतृभ्य इन्द्र गिर्वणः ॥ (८ म मन्त्र)

इसलिये **गोतम**=जुबान के धनी, महान् शक्ति प्राप्त करने के लिये वाणी की सत्यता द्वारा ही तेरी स्तुति करते हैं अर्थात् सत्य-परायणता ही तेरी सच्ची स्तुति है—

अभि त्वा गोतमा गिराऽनूषत प्र दावने ।
इन्द्र वाजाय घृष्वये ॥ (९ म मन्त्र)

जो हमें दास बनाना चाहता है उसके दुर्गों में पहुंचकर हम तेरा वीर्यगान करते हैं । उसी बल से वे विषय-रूप रोग परास्त हो जाते हैं और हमें दास नहीं बना पाते—

प्र ते वोचाम वीर्या३ या मन्दसान आरुजः ।
पुरो दासीरभीत्य ॥ (१० म मन्त्र)

हे इन्द्र ! तेरे भक्त 'वेधसः' बनकर तेरे वीर कर्मों की गाथा गाते हैं अर्थात् जो कहते हैं सो करके भी दिखाते हैं । ऐसी वाणी ही तुझे प्यारी है । कोरी गप्पों से तुझे कौन धोखा दे सकता है ?—

ता ते॑ गृणन्ति वे॒धसो॒ यानि॑ च॒कर्थ॒ पौंस्या॑ ।
सु॒तेष्वि॑न्द्र गिर्वण ॥ (११ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! वे वाणी के धनी गोतम लोग, तेरी भक्त-मण्डली की वृद्धि करते हैं। वे केवल स्तोता ही नहीं 'स्तोमवाहस्' भी हैं। सबको तेरा भक्त बनाते हैं। उनकी कथनी और करनी, क्योंकि एक है, इसलिये तू उन्हें वीरों का यश प्रदान करता है। ऐसे ही लोगों पर वीरता का यश आश्रित है—

अवी॑वृधन्त॒ गोत॑मा॒ इन्द्र॒ त्वे स्तोम॑वाहसः ।
ऐषु॑ धा वी॒रव॒द् यशः॑ । (१२ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! संसार के राजा तो भक्तों को बारी-बारी से मिलते हैं, परन्तु तू कर्मशील सब भक्तों को एक साथ मिलता है, क्योंकि तू सर्वव्यापक है, इसलिये सबका तुझसे एक ही काल में समान रूप से मिलना सम्भव है। सो, हम सब तुझे पुकारते हैं—

यच्चि॒द्धि शश्व॑ता॒मसी॒न्द्र॒ साधा॑रण॒स्त्वम् ।
तं त्वा॑ व॒यं ह॑वामहे ॥ (१३ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! देख तो सही, हमारी ओर अभिमुख हो। हमने अपने परिश्रम से नाना प्रकार के सवन तैयार किये हैं। ये तुझ तक न पहुंचें तो फिर हमारा कल्याण कैसे होगा ? हमारे अन्दर समर्पण की भावना उत्पन्न कर दे। हम समझेंगे कि हमारा दिया रस तूने पी लिया। इन पदार्थों को तेरी प्रजा की सेवा के लिये श्रद्धापूर्वक हमने बनाया है। पदार्थों का रस तो सब लेते हैं, परन्तु श्रद्धा का रस तो तू ही ले सकता है। तेरे सिवाय अन्य किसी में हमारी श्रद्धा है ही नहीं—

अ॒र्वा॒ची॒नो व॑सो भवा॒ऽस्मे सु म॒त्स्वान्ध॑सः ।
सोमा॑नामिन्द्र सोमपाः ॥ (१४ श मन्त्र)

जो भी हम बना सके तेरे सामने रख दिया। तूने हमारी श्रद्धा-भरी वाणी सुन ली, बस, हमारा पुरोडाश खा लिया। जिस प्रकार प्रेम-भरे पति की पत्नी पर प्रेम-भरी दृष्टि पड़ती है, वैसी ही तेरी दृष्टि इन पदार्थों पर पड़े। हमें वही आनन्द होगा जो, भुपाल में कन्या देकर कन्या के पिता को होता है—

पु॒रो॒ळाशं॑ च नो॒ घसो॑ जो॒षया॑से॒ गिर॑श्च नः ।
व॒धू॒युरि॑व॒ योष॑णाम् ॥ (१६ श मन्त्र)

हमारी सहस्रों प्रजाओं की लाखों इन्द्रिय-रूप गौएँ तेरे निमित्त दूध बनाती रहें। हमारा दिया धन तेरी ओर बहे। हे देवाधिदेव ! हमें भी तो देव बना। तू हमें दे, हम तुझे दें। क्या हम सदा लेवता ही बने रहेंगे ?

स॒हस्रा॑ ते श॒ता व॒यं गवा॒मा च्या॑वयामसि ।
अ॒स्म॒त्रा राध॑ एतु ते ॥ (१८ श मन्त्र)

हे वृत्रहन् ! तूने हमें खूब दिया है। अब तेरी सङ्गति में रहकर हम भी देना सीख गये हैं। ये जो **दश इन्द्रिय-रूप कलश** तूने हमें दिये थे, इनमें से वृत्रासुर को कुछ नहीं चुराने दिया है। उल्टा उन्हें ज्योति से भरकर, वीर्यवान् बनाकर सत्य से परिपूर्ण करके तेरे अर्पण कर रहे हैं—

दश ते कलशानां हिरण्यानामधीमहि।
भूरिदा असि वृत्रहन्॥ (१९ श मन्त्र)

हे भूरिदाः ! हमें भर-भर कर दे, थोड़ा नहीं। फिर भरा-भराया ले भी ले। तू दे, जितना अधिक दिया चाहता है—

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर।
भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥ (२० श मन्त्र)

हे वृत्रहन् ! तू सर्वत्र 'भूरिदाः' के नाम से विख्यात है। बस, मेरी कामना है कि मैं भी 'भूरिदाः' बनूं। तू मेरी यह आराधना पूरी कर दे—

भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्।
आ नो भजस्व राधसि॥ (२१ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! तूने इन्द्रिय-रूप तथा वेदवाणी-रूप गायें हमें दीं। वृत्रवध करके हमें पतन से बचाया। अब मैं तेरे लिये सर्वश्रेष्ठ उपहार लाया हूं। वह उपहार है—**स्नातक पुत्र तथा स्नातक कन्या**। सुत और सुता में विचक्षण से विचक्षण हो गया हूं। मैं तेरी इच्छा पहिचान गया हूं। मैं तेरा **'नपात्'** हूं; तेरी भक्ति द्वारा, तेरी गुणपरम्परा से मानवसमाज में पतन नहीं होने देता। अब मैं अपने ये दो **'नपात्'** तेरे लिये भेंट लाया हूं। जिस प्रकार तूने मुझे अशिथिल इन्द्रिय-रूप गौएँ दीं, इसी प्रकार ये गौएँ इनके पास भी बनी रहें। तेरी कृपा से ये ढीली न होने पावें—

प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात्।
माभ्यां गा अनु शिश्रथः॥ (२२ श मन्त्र)

इस विषय में अथर्ववेद में भी कहा है—स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ (११.५. २६)

जैसे, किसी वृक्ष की जड़ में (=द्रुपदे) दो गांठों में से फूटकर निकलती हुई, दो नन्हीं-नन्हीं कोंपलें, दो कन्याओं सी लगती हैं। ऐसे ही ये दो मेरी कोंपलें हैं। (कन्या भी स्नातिका हो, इसलिये यहाँ स्पष्ट स्त्रीलिंग है और द्विवचन है)। अब जीवन-यात्रा में ये **'बभ्रू'** हुए हैं। हमारी जीवन-यात्रा में ये 'बभ्रू'= भार-धारण में समर्थ होकर शोभा पा रहे हैं—

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके।
बभ्रू यामेषु शोभेते॥ (२३ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! मैं भार-वहन में समर्थ रहूँ या न रहूँ; परन्तु ये दोनों तो तेरे दिये कर्त्तव्यभार को अब अहिंसित तथा अहिंसक होकर करने के लिये समर्थ हो गये हैं। अब मैं निश्चिन्त हूं—

अरं म उस्रयाम्णेऽरमनुस्रयाम्णे ।
बभ्रू यामेष्वस्रिधा ॥ (२४ श मन्त्र)

इसी प्रकार दुष्टों को घेर-घेर कर पकड़ने वाले को 'दधिक्रावा' कहते हैं। उसका वर्णन ३८,३९ तथा ४० वें सूक्तों में है। 'दधिक्रावा' को सबसे अधिक सहायता देने वाली वस्तु तीव्र वेग है। दुष्टों की गति से उसकी गति वैसे ही अधिक तीव्र होनी चाहिये, जैसे कि सूर्य की किरणों की गति सबसे अधिक तेज होती है, इसलिये बीच में (३३ से ३७ वें तक) ऋभुसूक्त आये हैं।

एकचत्वारिंश-द्वाचत्वारिंश सूक्त

राजा तथा दण्डाध्यक्ष के सहायक वरुण अर्थात् पोलिस-विभाग में भी पूर्ण सहयोग होना आवश्यक है, नहीं तो वह त्रसदस्यु (=दस्युत्रासजनक) कैसे होगा ? तथा **परितक्म्यायाम्**=अन्धकारमय रात्रि में (४१.६) छिपकर आक्रमण करने वाले दुष्ट कैसे डरेंगे, इसलिये ४२ वें सूक्त में वरुण, इन्द्र के अधिकार पाकर, दुष्टों को ललकार कर कहता है—**'मैं क्षत्रिय हूं, मेरे हाथ में सारे राष्ट्र का अधिकार दिया गया है'**—

मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य···राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥ (४२ । १)

हे दुष्टों ! इस समय तो मैं इन्द्र बनकर तुम से युद्ध कर रहा हूं। मनुष्यमात्र मेरे साथ हैं—

अहं ता विश्वा चकरं नकिर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम् ।
यन्मा सोमासो ममदन्यदुक्थोभे भयेते रजसी अपारे ॥ (४२ । ६)

हे राजन्, हे पाशाध्यक्ष !=हे पोलिस के अध्यक्ष ! अनेक कुत्सित पुरुषों से घिरी हुई (=**पुरुकुत्सानी**) प्रजा, तेरी कृपा से अब त्रासमुक्त होकर, आप दोनों को नमस्कार करती है और कहती है—'इस समय तो यह त्रसदस्यु (=पोलिस का अध्यक्ष) मेरे लिये इन्द्र होकर वृत्रवध करके मुझे निर्भय कर रहा है'—

पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः ।
अथा राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्धदेवम् ॥ (४२ । ९)

हे इन्द्र तथा वरुण ! तुम्हारा इस प्रकार का सहयोग हमें इस सुखरूप दुग्ध देने वाली विश्वकल्याणकारिणी पृथिवी माता का दूध देकर आनन्द से भर सकता है। बस, हम तुमसे रक्षा पाकर मस्त रहें—

राया वयं ससवांसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः ।
तां धेनुमिन्द्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम् ॥ (४२ , १०)

त्रयश्चत्वारिंश-अष्टाचत्वारिंश सूक्त

इसके पश्चात् दण्डाध्यक्ष को राज्य के आन्तरिक प्रबन्ध के लिये **समाचार-विभाग** तथा **वाहन-विभाग** की सबसे अधिक आवश्यकता है, इसलिये अगले तीन सूक्त (४३.४४.४५) **'अश्विनौ'** के हैं। जब इस प्रकार के सुप्रबन्ध से घर-घर में ज्ञान का प्रकाश तथा अन्न पहुंचता है, तब सुव्यवस्था का लाभ जान कर सारी जनता दुष्टदमन में राज्य का साथ देती है और तब **वायु**=प्रजा का कर राजा तक तथा राजा का **प्रसाद** प्रजा तक पहुंचाने वाला राज्यकर्मचारी, सूर्य के समान राजा तक प्रजा का जल पहुंचाता है तथा राजा-रूप सूर्य की मधुर धूप प्रजा तक पहुंचाता है, इसलिये ४६ वें सूक्त के देवता **'इन्द्रवायू'** हैं। राजा से अधिकार-प्राप्त **'वायु'** प्रजा का कितना प्यारा हो जाता है यह बात **'वायु'** देवता वाले ४७ वें तथा ४८ वें सूक्त में कही गई है।

एकोनपञ्चाश-पञ्चाश सूक्त

फिर ब्राह्मणों के शासन का अधिष्ठाता **बृहस्पति**, इन्द्र के साथ मिले तो **दुष्टमर्दन** का कार्य पूरा हो सकता है, क्योंकि राजा का शासन तो मुख्यरूप से दण्ड के बल पर है—उसके वज्र से डरकर दुष्ट झुकते हैं, किन्तु जब राजा, बृहस्पति को नेता बनाकर चलता है तो प्रजा भी राजा की विनय-सम्पत्ति को देखकर विनीत होना सीखती है।

तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति ॥ (५०।८)

जिस राजा के राज्य में ब्राह्मण का स्थान सब से आगे है उसके सामने प्रजा दण्डभय से नहीं, स्वयमेव **श्रद्धा से सिर झुकाती है।**

प्रजा उसे प्रेमपूर्वक इस प्रकार धन देती है कि न प्रजा को पता लगता है कि धन कैसे दिया और न राजा को पता लगता है कि धन कब आया—

अप्रतीतो जयति सं धनानि ॥ (५०।९)

जो राजा ब्राह्मण का आदर करता है उसका सब देव **(राज्य-कर्मचारी तथा विद्वान्)** आदर करते हैं—**अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥ (५०।९)**
इस प्रकार ४९ वें तथा ५० वें सूक्त में **इन्द्र तथा बृहस्पति** का सहयोग दिखाया है।

एक-पञ्चाश-द्वापञ्चाश सूक्त

राजा के इस व्यवहार से प्रजा को उसका **'वृत्रहन्ता' 'दस्युहन्ता' 'त्रसदस्यु'** आदि रूप भूलने लगता है तथा सारा राष्ट्र प्रातः-कालीन सूर्य की आभा में नहाने लगता है। तम दूर होकर ज्योति का राज्य होता है—

...पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात् ॥ (५१।१)

हर उषा यही रंग लाती है, सारी प्रजा आनन्द-विभोर हो उठती है तथा गाने लगती है—

गातुं कृण्वन्नुषसो जनाय ॥ (५१।१)

अब उषा ने ज्योति के द्वारा अन्धकार दूर कर दिया, अब वृत्रासुर कहाँ रहेगा ?—

आपप्रुषी विभावरि व्यावर्ज्योतिषा तमः ।
उषो अनु स्वधामव ॥ (५२।६)

त्रयःपञ्चाश-चतुःपञ्चाश सूक्त

इस प्रकार उषा के दो सूक्तों के पश्चात् सम्पूर्ण शासनशक्ति के मूलस्रोत 'सविता' देव के दो सूक्त हैं, क्योंकि इन्द्र, वायु आदि सबको एक नियम में चलना है, इसीलिये प्रसव (=आदेश) देने का जहाँ वर्णन है वहाँ परमैश्वर्य-सम्पन्न स्वामियों के स्वामी सविता का नाम आता है। वह सबको अपना-अपना कर्त्तव्य बताता है (स्वाय धर्मणे ५३.३)। वह सबको बताता है कि 'तुम्हारा व्रत क्या है' ?—

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे ।
प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ॥ (५४।३)

'किसको क्या भाग मिलना चाहिये', यह नियम वह निर्धारित करता है—

···वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः··· ॥ (५४।१)

वह संसार को किस प्रकार धारण करेगा, वह मार्ग उसके सामने है—

न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद् यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति ॥ (५४।४)

पञ्च-पञ्चाश-सप्त-पञ्चाश सूक्त

'विश्वेदेवाः'=सब देव उसके शासन में चलें। यहाँ तक कि इन्द्र भी उसके शासन में चले। यह बात ५५ वें सूक्त में कही गई है। जब 'द्यावा-पृथिवी' में=नेता और नीयमान में अद्रोह होगा, तभी शासन-विधान बनाने वाला सविता भी सफल होगा—ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे···॥ (५६।२) वे सब मिलकर ज्ञान की रक्षा करें—पिप्रती ऋतम्··· (५६.७)

अब दण्डाध्यक्ष को अपने क्षेत्रों का विभाग करना आवश्यक है, तब ही 'शुन' तथा 'सीर' अर्थात् सहयोग द्वारा परस्पर मिलकर पुरुषार्थ का सुख तथा उसकी फलप्राप्ति का सुख, ये दोनों प्रजा को मिलेंगे। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—'या वै देवानां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां तत् शुनम्। अथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् तत् सीरम्'॥ शत० ब्रा० २।६।३।२ यही बात ५७ वें सूक्त में कही गई है।

अष्टापञ्चाश सूक्त

इस मण्डल का अन्तिम सूक्त ५८ वाँ सूक्त है। इसमें दण्डाधिकारी को हृदय से उपमा दी गई है। वह पूर्णरूप से सहृदय होना चाहिये। 'जो हृदय के तत्त्व को जानकर उसके अनुकरण द्वारा

हृदय-रूप हो जाय वही दण्डाध्यक्ष होने का अधिकारी है', इसीलिये वामदेव (=वाम भाग का देव=हृदय इस सारे ४ र्थ मंडल का ऋषि है। इस मंडल का आरम्भ भीषण रूप से हुआ था—

'विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्धि'··· ॥ (१।४) 'नैनमंहः परिवरद घायोः' ॥ (२।९) 'रुद्रम्'··· ॥ (३।१) 'रुद्राय नृघ्ने'··· ॥ (३।६) 'विध्य रक्षसस्त-पिष्ठैः... ॥ (४।१) 'स्पशो विसृज'··· ॥ (४।१) 'यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्' ॥ (४।४) 'प्र मृणीहि शत्रून्' ॥ (४।५) 'प्र ताँ अग्निर्बभसत् तिग्मजम्भस्तपिष्ठेन शोचिषा यः सुराधाः' ॥ (५।४)

वह दण्डाध्यक्ष का पद बना ही था उन दुष्टों के लिये—

···'दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्' ॥ (५।५)

···अतिं क्षिप्रेव विध्यति ॥ (८।८)

वह क्षत्रियों का स्वामी है—'क्षत्रियस्याऽग्निर्वाजस्य परमस्य रायः' । (१२।३)

यहाँ इन्द्र भी भीषण है—रेजद् भूमिर्भियसा स्वस्य मन्योः ॥ (१७।२)

इसका कार्य है 'वृत्रहत्या'—'वृत्रहत्ये' ॥ (१९।१॥ २४।२)

अतएव इसे 'वृत्रहन्' ३०.१,७,१९, २२ ॥ सम्बोधन से पुकारा गया है।

फिर धीरे-धीरे दुष्टदमन के रचनात्मक उपायों का वर्णन हुआ। अब अन्त में दण्डाध्यक्ष के कार्यालय को समुद्र तथा हृदय के दृष्टान्त से वर्णित किया है। जिस प्रकार धरती पर समुद्र है और जिस प्रकार शरीर में हृदय है, **इसी प्रकार राष्ट्र में दण्डाध्यक्ष का स्थान है।**

हृदय गन्दा रुधिर लेता है और उसे शुद्ध बनाकर देता है। यही दण्डाध्यक्ष का कार्य है और इन गुणों वाला **वामदेव** ही दण्डाध्यक्ष होने का अधिकारी है। समुद्र में सब नदियाँ जिस प्रकार एकत्र होती हैं इसी प्रकार हृदय में सब नाड़ियाँ इकट्ठी होती हैं, इसीलिये दण्डाध्यक्ष के कार्यालय को हृदय कहा गया है। इस हृदय-रूप समुद्र से एक बड़ी लहर ऊपर की ओर उठती है, इसी दृश्य से सूक्त का आरम्भ होता है। आरम्भ में वर्णित इस समुद्र में से जिस एक बड़ी लहर के उठने का वर्णन है, वह **'मधुमान् ऊर्मि'** है। यह समुद्र क्या है ? इस विषय में वेद ने स्वयं कोई सन्देह का स्थान नहीं छोड़ा है। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—'हे अग्ने ! तेरा धाम, अन्दर छुपे हुए समुद्र में अर्थात् हृदय में है'—

धामन्ते विश्वं···श्रितमन्तः समुद्रे···॥ (५८।११)

अब जरा तृतीय मण्डल के प्रथम सूक्त की ओर आइये। इस मंडल का उपक्रम वाणी की वृद्धि से हुआ था—

'वर्धतां गीः' ॥ (३।१।२)

वह वाणी पवित्र कवियों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुई। अग्नि (=लोकनायक), पवित्र कवियों द्वारा मानव-समाज के कर्मों को पवित्र करता हुआ प्रकट हुआ--

क्रतुं पुनानः कविभिः पवित्रैः ॥ (३ । १ । ५)

कवियों ने वह मधुप्रवाह वहाया जो कि मानव-समाज में दीनों के प्रति करुणा से पिघलने वाले इसका और अत्याचारियों के प्रति दीप्तिजनक घृतरस का कारण बना (घृ क्षरणदीप्त्योः)—

घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम् ॥ (३ । १ । ७)

पवित्र कवियों के मुख से मधु तथा घृत की (वात्सल्य तथा वीर रस की) धाराएं प्रवाहित हो रही हैं—

'श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य' ॥ (३ । १ । ८)

इस कविता के परिणामस्वरूप वह दण्डाध्यक्ष अग्नि बना, जिसने अपने भाई पाशाध्यक्ष वरुण से सहायता प्राप्त करके मधु रस के प्रवाह के विघातक दुष्टों का दमन किया। इस दण्डाध्यक्ष का चेहरा कैसा है, सो चतुर्थ मंडल के प्रथम सूक्त में देखिये—

अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य संदृग् देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु ।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः ॥ (४ । १ । ६)

—इस सौभाग्यशाली दण्डनायक देव अग्नि की सन्दृक्= आभा (=Appearance) मनुष्यों में विचित्रतम है। वह गाय के तपे हुए घृत के समान स्वच्छ है। इसकी छवि भी धेनु की छवि के समान स्पृहणीय है, परन्तु कवि और दण्डाध्यक्ष में एक भेद है। वह भेद भी ५८ वें सूक्त के प्रथम मंत्र में ही स्पष्ट कर दिया गया है। कवि के मुख से मधु और घृत दोनों की धारा एक साथ प्रवाहित हो रही थी; परन्तु दण्डाध्यक्ष की मधुधारा अन्दर छिप गई है—हृदय में घुस गई है। उसका चेहरा तो तपे हुए घृत के समान प्रताप से तम-तमा रहा है, परन्तु याद रखिये, वह प्रताप तपे हुए घृत का है, तपे हुए अंगारे का नहीं; क्योंकि स्नेह की मात्रा वहाँ भी छिपी हुई है। यह दण्डाध्यक्ष का प्रताप अन्ततोगत्वा है तो मधुप्रवाह की रक्षा के लिये ही, इसलिये दण्डाध्यक्ष के घृत का=वीर रस का गुप्त नाम तो 'मधु' है। उसके हाथ में अवश्य 'श्याम-लोहिताक्ष' दण्ड है, पर हृदय से तो मधुमान् ऊर्मि उठती है। हाँ, उसे उस मधु को गुप्त अवश्य रखना है, क्योंकि यदि दुष्ट लोगों को उसका मधुरूप स्पष्ट दीखने लगे तो यह धरती उसके क्रोध के भय से थर-थर कैसे कांपे ?

...रेजद् भूमिर्भियसा स्वस्य मन्योः ॥ (४ । १७ । २)

परन्तु उसका हृदय; द्वेष, प्रतिहिंसा या अभिमान की भावना से नहीं भरा है। उसमें जो भावना है वह है दुष्टों के सुधार और सज्जनों की रक्षा की। यह वह रूप है जिसे नीति-कारों ने—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ॥ महाभाष्य ८. १. ८ ॥

१४

इन शब्दों में दिखाया है। इसी रूप का पण्डितराज जगन्नाथ ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है—

उपरि करवाल-धाराकाराः—क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवाः।
अन्तः-साक्षाद् द्राक्षादीक्षा गुरवो जयन्ति केऽपि जनाः॥

ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश (२ य समु.) में इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्याद्वेष से ताडन न करें, किन्तु ऊपर से भय-प्रदान और भीतर से कृपा-दृष्टि रक्खें।"

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि '**यह तो दम्भ सिखाना हुआ। अन्दर कुछ और बाहर कुछ और**'। बात ऐसी है नहीं, क्योंकि दम्भ में अन्दर का भाव सच्चा और ऊपरी भाव बनावटी होता है, परन्तु यहाँ दोनों सच्चे हैं, यही इनमें भेद है। इस प्रकार **दम्भरूप** तथा **घृतरूप** में भेद दिखाकर सूक्त की व्याख्या आरम्भ करते हैं।

दण्डाध्यक्ष के कार्यालय का रूप समझना है तो मनुष्य के शरीर में हृदय को देखो—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ (१ म मन्त्र)

—इस **हृदय-रूपी समुद्र** से एक महान् फव्वारा उठा जिसने मानव-शरीर के टूटने-फूटने वाले अंशों को अपनी किरणों और उपकरणों से **अमृतत्व** प्रदान किया। मनुष्य की त्वचा में, विशेषकर चेहरे पर जो दीप्ति नजर आती है, उसका गुप्त नाम यह '**मधु**' है (जो रुधिर-रूप में हृदय से उठता है)। यह मधुमय नहर शरीर के अन्दर के रहने वाले करोड़ों '**संसिच्**' (= Cells) नामक देवों की वह जिह्वा है, जिससे वे रस पाकर अमर हो जाते हैं। मानव-शरीर के अमृतत्व की नाभि अर्थात् केन्द्र यह हृदय ही है अर्थात् जब तक यह हृदय काम करता रहता है तब तक मानव-शरीर नहीं मरता। इसी प्रकार राष्ट्र के अमृतत्व का केन्द्र दण्डाध्यक्ष का कार्यालय है, जब तक दण्डाध्यक्ष का कार्यालय काम करता है तब तक राष्ट्र नहीं मरता।

अगले मन्त्र में दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। एक '**चतुःशृङ्गः**' और दूसरा '**अवमीत्**'। मन्त्र इस प्रकार है—

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्याऽस्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्॥ (२ य मन्त्र)

यज्ञ-विद्या के मर्मज्ञ विद्वान् कहते हैं कि, यद्यपि घृत के=वीर रसमय दीप्ति के, दण्डाध्यक्ष में गोपनीय रूप से निहित '**मधु**' इस नाम को दण्डाध्यक्ष स्वयं नहीं कहता फिरता, परन्तु हम क्षत्रिय-हृदय-मर्मज्ञ लोग, इस गुह्य नाम को (**प्रब्रवाम**) अर्थात् पुकार कर सारी प्रजा को (**नमोभिः**) आदर और श्रद्धा के साथ सुनाते हैं कि देखो—'**यदि क्षत्रिय यह कठोरता न करे, तो सारे संसार में अराजकता फैलकर 'मधु' का कलश ही बिखर जाय, इससिये यह मधु कलश हृदय में छिपा ही**

अच्छा।' परन्तु यह बात केवल 'अस्मिन् यज्ञे' = इस राज्य-शासन अथवा दण्ड-प्रयोग-रूप यज्ञ में ही ठीक है। विश्वामित्र के काव्य-यज्ञ में कवि की पवित्र वाणी से तो मधु तथा घृत की धारा साथ-साथ ही बहती है। शासन-यज्ञ में मधु-धारा अन्दर बहती है और दुष्ट-दमन के पश्चात् ही बाहिर आती है। कवि की वाणी में मधु से घृत—वात्सल्य से वीर रस पैदा होता है—घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम् (३. १. ८), पर इस यज्ञ में घृत से मधु उत्पन्न होता है—घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते (ऋ. ४.५८.१०) जहां-जहां मधु है, घृत की धारा उस सब को पवित्र करती है। यह तत्त्व यद्यपि छिपा रहता है तथापि 'चतुः शृङ्गः' 'गौर' अर्थात् ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चार सींगों वाले गौर ने अर्थात् प्रभु के यज्ञविज्ञानमय हरिण ने यह गुप्त रहस्य वमन कर दिया है। शतपथ में इस लिये यज्ञ को हरिण कहा है और ऋग्, यजुः, साम, अथर्व को कृष्ण, शुक्ल, बभ्र तथा हरित वर्ण रोम कहा है। भेद यह है कि यहाँ कृष्ण मृग है तथा वेद में गौर मृग। सो इसका कारण यह है कि इस समय तक ब्रह्मचारी ने वेद नहीं पढ़ा, वह पढ़ने जा रहा है, इसलिये उसको शतपथ में कृष्ण मृग कहा है; इसी लिये उसे वेदज्ञ विद्वान् बनने के लिये वेद का प्रतीक रूप कृष्णाजिन धारण करना पड़ता है। अब वह गुरुकृपा से गौर मृग बन गया है। गुरी उद्यमने 'गुः' शब्द बना और गुरोः जातो गौरः, अर्थात् निरन्तर विद्याभ्यास से लब्ध प्रकाशमय वेद-ज्ञान।

इस गौर मृग ने यह रहस्य वमन कर दिया अर्थात् समझा दिया कि सच्चे दण्डाध्यक्ष का बाह्य-रूप यद्यपि कठोर होता है, किन्तु उसके अन्दर तो मधु-धारा बहती है और जिस प्रकार यज्ञ में ब्रह्मा सब कुछ चुपचाप सुनता है; इसी प्रकार दण्डाध्यक्ष हृदय में मधुधारा रख कर, निःशङ्क कठोर रूप धारण करे। क्योंकि ब्रह्माण्ड यज्ञ का ब्रह्मा, वह परमात्मा तो सब सुनता है।

इस यज्ञ का दूसरा रूप **शब्द-ब्रह्म** है। जिसकी व्याख्या पतञ्जलि महाराज ने व्याकरण-महाभाष्य में की है, किन्तु परमात्मा ने अपनी सृष्टि में उसका एक नमूना, मानव-देह में अथवा प्राणी मात्र के देह में सदा के लिये रख दिया है। वह एक 'वृषभ' है जो मानव-देह में जब तक मनुष्य (प्राणी) जीवित है तब तक सदा मानव-देह की कहानी सुनाता रहता है और जिसकी बात को आयुर्विज्ञान-वित् ब्रह्मा **स्टेथेस्कोप** द्वारा सुनते और समझते हैं। **शब्द-ब्रह्म** का वह नित्य प्रतीक यह हृदय है जिसका वर्णन इस प्रकार है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥ (३ य मन्त्र)

यह एक ऐसा बैल है; जिस के चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। यह तीन प्रकार से बंधा हुआ है और रात-दिन बोला करता है। यह वही महान् शब्द-ब्रह्म-रूप देव ही तो है जो मर्त्यों के अन्दर प्रविष्ट होकर बैठा है।

यहाँ द्वितीय मन्त्र के एतत् शब्द का निर्देश्य यदि रुधिर को मान लें तो यह चार शृङ्ग वाला 'गौर' वर्ण कला-वेष्टित हृदय-रूप वृषभ इस रुधिर-रूप मधु को सदा वमन करता है। इस प्रकार गौर और वृषभ पर्याय-वाची होंगे।

इस हृदय-रूप बैल के चार सींग हैं। दो दाएँ-बाएँ ऊपर की ओर तथा दो दाएँ-बाएँ नीचे की ओर। ऊपर का दक्षिण भाग एक शीर्ष है, वाम भाग दूसरा शीर्ष। इन दोनों शीर्षों में एक चोंच-सी उभरी दीखती है, जो सींग कहलाती है।

इसके तीन पैर हैं। हृदय से जो महाधमनी ऊपर उठती है--(जिसकी ओर '<u>ऊर्मिः</u> मधुमाँ उदारद्' १ म मन्त्र में इन शब्दों में निर्देश है) तीन भागों में बंट जाती है। यही तीन पैर हैं जिनके द्वारा अंशु और 'उपांशुओं' में विभक्त होता हुआ रुधिर शरीर के हर अङ्ग को— अमृतत्व पहुँचाने के लिये यात्रा करता है, इसलिये ये तीन पैर कहे गये हैं। इस वृषभ के सात हाथ हैं—

(१) **ऊर्ध्वगामिनी महाशिरा (Superior Vena Cava)**
(२) **अधोगामिनी महाशिरा (Inferior Vena Cava)**
(३) **दक्षिण फुफ्फुसगामिनी महाशिरा-प्रथम (Pulmonary Vein I, Right)**
(४) **दक्षिणफुफ्फुसगामिनी महाशिरा-द्वितीय (Pulmonary Vein, II, Right)**
(५) **वामफुफ्फुसगामिनी महाशिरा-प्रथम (Pulmonary Vein I, Left)**
(६) **वामफुफ्फुसगामिनी महाशिरा-द्वितीय (Pulmonary Vein II, Left)**
(७) **हार्देकी शिरा (Coronary Sirus) II**

यह वृषभ तीन प्रकार से बंधा हुआ है। वे आवरण जिन से वह बंधा हुआ है, तीन हैं— **सौत्रिक (Hibrous), सारस (Servs) और उपकलामय (Epithelial)**

'त्रिधाबद्धः' का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यह वृषभ **उत्तेजक** (=Sympathetic, **शामक** (Para-Sympethetic) तथा **समवाही** (Vagous) इन तीन प्रकार के ज्ञानतन्तुओं से नियन्त्रित है।

यह वृषभ रात-दिन शब्द करता है। सब मर्त्यों के अन्दर यह महान् देव प्रविष्ट है, क्योंकि सबके लिये रुधिररूप अमृत का देने वाला यही है। रुधिरवर्षा का तथा सन्तानोत्पादक वीर्य-वर्षा का प्रधान कारण होने से यह **'वृषभ'** कहलाता है।*

इस संसार में वाणी-रूप गाय के दूध में वीर-रस-रूप घृत छिपा हुआ है। स्वार्थ बुद्धि से क्रय-विक्रय करने वाले अथवा हरामखोर जुआरी लोग यदि उसे कहीं पा लेते हैं, तो फिर वह उसे छिपाकर बैठ जाते हैं, परन्तु स्वार्थ-रहित लोग कल्याण की भावना से प्रेरित, विद्यादान के प्रेमी देवलोग उसे फिर से खोज ही लेते हैं। वे उसे संसार के कल्याण के लिये देश-काल-पात्र-विवेक-पूर्वक लोक-सेवाव्रती दीक्षित पुरुष को देते हैं।

वह वीर-रस तीन प्रकार का है। एक–सूर्य के समान प्रकाशमय ज्ञानधनी लोगों का वीररस, दूसरा—विद्युत् के समान गर्जनापूर्वक वृत्रासुर की छाती में घुसकर उससे जल छीनकर पृथ्वी पर

---

* यह शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी समस्त परिज्ञान मैंने गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद महाविद्यालय के आचार्य श्री अनन्तानन्द जी से प्राप्त किया है। इसमें जो ठीक है वह उनका है और जो अशुद्ध है वह मेरा है। प्र. का.॥

बरसाने वाले शूर पुरुषों का वीर-रस और तीसरा 'वेन' अर्थात् संसार को कान्ति से—सौन्दर्य से भर लेने के इच्छुक, प्रभुभक्त वैश्य लोगों का निरालस्य श्रममय वीररस।

इन तीनों के घृत (=वीर-रस) के लिये **'स्वधा'**=अपना पूर्ण सामर्थ्य लगाना पड़ता है। इसे तो वैसे ही चातुर्ययुक्त परिश्रम से बनाना पड़ता है, जैसे, चतुर मूर्तिकार अथवा वढ़ई पत्थर अथवा काष्ठ में से उपयोगी पदार्थ तराश कर वनाता है। चतुर्थ मन्त्र में इसी वीर-रस-रूप घृत का वर्णन है। इन्द्रिय-रूप गाय विश्व-रूप खेत में चरकर जो प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी दूध देती है, उसके मन्थन से यह तीन प्रकार का वीररस—ज्ञानरस, युद्धरस तथा श्रमरस घृत-रूप में प्राप्त करना होता है। इस रस को स्वार्थबुद्धि से प्रेरित पणि दबाकर बैठ जाते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः॥ (४ र्थ मन्त्र)

क्योंकि प्रकरण राज्यशासन तथा दण्डाध्यक्ष का चला हुआ है, अतः इन्द्र का नाम पहिले लिया गया। अब हृदय-देश में बैठा हुआ जीवात्मा समाधिस्थ अवस्था में हृदय से प्रवाहित होते हुए रुधिर-प्रवाह को देखकर कह रहा है—मानो अपने राष्ट्र के हृदय के समान दण्डाध्यक्ष के कार्यालय में बैठा हुआ दण्डाध्यक्ष कह रहा है—

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्॥ (५ म मन्त्र)

—देखो, मेरे हृदय-रूप समुद्र से ये सौ घृत की धाराएँ अर्थात् प्रदीप्त रुधिर की धाराएँ (प्रदीप्त इसलिये कि ठंडा होने पर रुधिर जम जाता है) सैंकड़ों मार्गों की ओर जा रही हैं। इन्हीं के बल पर मैं शरीर के नाना प्रकार के शत्रुओं से अपमानित नहीं होता हूँ (=न+अवचक्षे) बीच में मैं जीवात्मा ज्योतिर्मय स्तम्भ की तरह इन की युद्धलीला देख रहा हूँ।

अगले मन्त्र में रुधिर से बल-प्राप्त काम करने वाले ज्ञानतन्तुओं के जाल का वर्णन है—

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—यह देखो, नाना प्रकार की **'धेना'** अर्थात् वाणी की धाराएँ मुझ में से चारों ओर सम्यक् भाव से बह रही हैं। पहिले तो शुद्ध रुधिर उन्हें पवित्र करता है और फिर मनन-शक्ति पवित्र करती है। इस प्रकार पूर्ण स्वास्थ्य तथा विवेक-शक्ति से बल पाकर मेरे वीररस के महातरङ्ग इस प्रकार उछल रहे हैं, जिस प्रकार शिकारी से चौंककर झपटने वाले हिंसक पशु।

यहाँ पशु का दृष्टान्त इसलिये दिया है कि हिंसक पशुओं को वीररस स्वभावसिद्ध है। मनुष्य का वीररस विवेकयुक्त होकर भी जब तक उसके स्वभाव का अङ्ग नहीं बन जाता, तब तक वह पूर्णतया वीर नहीं बनता, इसलिये वैदिक साहित्य में रुद्र अर्थात् सेनापति को पशुपति कहा है—

फिर क्या है; फिर तो जिस प्रकार उत्तम राजा के राज्य में नदियों तथा सेनाओं के लिये

प्रकृष्ट मार्ग बनते हैं और उन मार्गों में सिन्धु अर्थात् जल का अग्रगामी प्रवाह अथवा सेना का नासीर आगे-आगे बढ़ता है, इसी प्रकार ज्ञानमय वाततन्तु शरीर में वीररस का सञ्चार करने लगते हैं। जैसे, राष्ट्र में वीररस के बड़े-बड़े (=यह्वा) सन्देशवाहक (वातप्रमिय) उड़ान भरने लगते हैं (=पतयन्ति) क्योंकि वे बड़े 'शूघन' अर्थात् आशुगामी होते हैं, वैसे ही, शरीर में उन होर्मोन्ज (Hormones) का क्रियाकलाप आरम्भ होता है जो कि मानसिक उल्लास से उत्पन्न होते हैं। वह अग्नि अर्थात् जीवात्मा के सदृश दण्डाध्यक्ष नामक अग्नि (=अग्रणी) तो साक्षात् घृत की अर्थात् वीररस की धाराओं का विग्रहवान् रूप होता जाता है। वह चारों ओर विरोधी तत्त्वों को काष्ठ के समान जला देता है और वीररस की एक लहर समाप्त नहीं होने पाती, कि दूसरी उससे बड़ी लहर उठाता है। इस प्रकार वीर-रस के तरङ्गों से दण्डाध्यक्ष राष्ट्र को और जीवात्मा शरीर को महाबल से समृद्ध करता हुआ (=पिन्वमानः) विचरता है—

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ।। (७ म मन्त्र)

फिर तो चारों ओर से वीररस की प्रति-धाराएँ—प्रोत्साहनजन्य धाराएँ उस दण्डाध्यक्ष की ओर दौड़ने लगती हैं। पहिले तो वह वीररस की धाराओं का प्रेरक केन्द्र था, अब प्राप्ति-केन्द्र बन जाता है—

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ।। (८ म मन्त्र)

फिर ये वीररस की धाराएँ सेनापति को ही नहीं, अपितु सेनापति-रूप अग्नि की हर समिधा अर्थात् हर सैनिक को चूमने लगती हैं और उस वीररस से समिद्ध सैनिक-पंक्ति में अग्नि की ओर अर्थात् दण्डाध्यक्ष अथवा रुद्र की ओर इस प्रकार मुस्कराती हुई उमड़ती हैं, जिस प्रकार समान मन वाली पत्नियाँ अपने समान-शील-व्यसन पतियों की ओर उमड़ पड़ती हैं। घृत की धारा समिधाओं तक पहुँच गई, यह देखकर सेनापति उनकी प्रीतिपूर्वक सेवा करता हुआ और भी अधिक प्रसन्न होता है—उन्हें और अधिक प्यार करता है तथा देख-देखकर फूला नहीं समाता।

कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि ।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत् पवन्ते ।। (९ म मन्त्र)

मैं देख रहा हूँ कि ये वीररस की धाराएँ (शरीरस्थित धाराएँ) इस प्रकार सज रही हैं, जिस प्रकार दुल्हे के रथ पर चढ़ने के समय ससुराल जाने वाली कन्या अपना वेश सजाती है। जहाँ ज्ञान-धन, यशोधन अथवा अर्थ-धन रूप सोम का श्रम द्वारा सवन होता है और वह भी स्वार्थ के लिये नहीं, मानव-समाज के हितरूप यज्ञ के लिये—महासङ्गतिकरण के लिये सवन होता है—वहाँ ये वीररस की धाराएं उस सवन को—उस यज्ञ को पवित्र करती हैं।

हे मनुष्यो !

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते ॥ (१० म मन्त्र)

—तुमने तृतीय मण्डल में पवित्र कवियों के काव्य से बहने वाली वाणी-रूप गाय की घृत-धारा का पान किया । उस घृत ने तुम्हें पणियों से—स्वार्थमय व्यापारियों तथा जुआरियों से युद्ध करना सिखाया और सूर्यलोक वाला **ज्ञानधन**, इन्द्र लोक वाला **शौर्यधन** तथा वेनलोक वाला **सुख-समृद्धि-धन** इन तीन प्रकार के धनों को तथा छिपाई हुई ज्ञानमयी गौओं को उनके पञ्जे से छीनना सिखाया। बस, यह जो गौओं को और गोघृत को पणियों के हाथ से छुड़ाने का पवित्र युद्ध है, इसकी ओर बढ़ो । इस सेना में तुरन्त भरती हो जाओ । तुरत भरती के केन्द्र की ओर पहुँचो । यह बड़ा 'सुष्टुति' युद्ध है—प्रशंसनीय युद्ध है । इस युद्ध द्वारा; सत्यधन, यशोधन, श्रीधन इन तीनों प्रकार के द्रविण को पणियों के पञ्जे से छीनकर हमारे पास अर्थात् लोक-सेवकों के पास जमा करो । हे संसार भर के दिव्यगुण पुरुषो ! इस पणिविजय-रूप यज्ञ के नेता बनकर, तुम इसे आगे ले जाओ । देखो, इस यज्ञ में बहने वाली, लोकहित-रूप घृत से भरी वीररस की धाराएँ इसे पवित्र कर रही हैं ।

हे दण्डाध्यक्ष ! अथवा हे ज्ञानी जीवात्मा ! तेरा कोई एक देश नहीं । कार्य-सुगमता के लिए तुम्हें क्षेत्र बांट दिये गये हैं, किन्तु सारा विश्व ठीक वैसे ही दण्डाध्यक्ष का धाम है जैसे कि सारा शरीर जीवात्मा का धाम है । यह नहीं कि शिर को तो पुष्ट करे और पैर को मरने दे । सर्वत्र तेरा अधिकार है। इसीलिये सारे शरीर को नवीन रुधिर द्वारा सींचने वाले हृदय देश में तुझे स्थान दिया गया है । इसमें काल-बन्धन भी नहीं है। सारी आयु तुझे यही कार्य करना है । **ब्रह्मचर्याश्रम** में तू यह विद्या सीख, **गृहस्थाश्रम** में दुष्टदमन कर, **वानप्रस्थ** में दूसरों को यह विद्या सिखा और अन्त में पूर्ण वैराग्यवान् होकर **संन्यासी** बने तो देश-काल-जाति-बन्धन से मुक्त होकर, विश्वभर के मनुष्यों को एक करके, संसार के समस्त दुष्टों का दमन कर । मन्त्र इस प्रकार है—

धामन् ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्य१न्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ॥ (११ श मन्त्र)

—हे दण्डाध्यक्ष ! अथवा हे जीवात्मन् ! सारा विश्व अथवा सम्पूर्ण शरीर तेरा अधिकार-क्षेत्र है, इसीलिये तुझे आयु के मूल स्थान हृदय-रूप समुद्र में स्थान दिया गया है । दण्डाध्यक्ष को राष्ट्र-हृदय-रूप राजकार्यालय में स्थान दिया गया है, **अपामनीके समिथे** = मनुष्य मात्र की **अनीक** अर्थात् सेना में जो **समिथ** अर्थात् युद्ध छिड़ा हुआ है अथवा मनुष्य मात्र के शरीरों में शरीरघातक तत्त्वों से जो संग्राम छिड़ा हुआ है, उसमें आधार समझकर जो प्राणीमात्र के प्रति तेरा वात्सल्य भरा **मधुमान्** महातरङ्ग है, उस वीररसमय, किन्तु मधुपूर्ण तरङ्ग का हम सब मनुष्य मात्र स्वच्छन्द आस्वादन कर सकें, यही आशीर्वाद हम सब मनुष्य भगवान् से मांगते हैं ।

यहाँ '**अपाम्**' का अर्थ हमने जनसमूह अथवा मनुष्यमात्र किया है (इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार है—'मनुष्या वा आपः' ।

इति चतुर्थं मण्डलम्

पञ्चम मण्डल

अब ५ वाँ मण्डल आरम्भ होता है। इस मण्डल का प्रतिपाद्य विषय, इसके प्रथम सूक्त के तीसरे मन्त्र के अन्दर पड़ा हुआ **'गणस्यं रशुनामजींगः'** यह वाक्य डिण्डिम-घोष-पूर्वक बता रहा है। सेना की छावनी पड़ी हुई है, प्रातः काल हो चुका है। सेना व्यूहाभ्यास के लिए तैयार खड़ी है। अग्नि ने उस सेना की **'रास'** जगा दी है। यही बात वर्णन की गई है। यह जो अग्नि है, इसने **'गण'** को **'रशना'** को जगा दिया है। यह वाक्य अन्य किसी मण्डल में नहीं आया। **'गणस्य'** यह षष्ठी विभक्ति के एक वचन वाला रूप भी दशम मण्डल के अतिरिक्त और कहीं नहीं आया। दशम मण्डल में **'गणस्य सेनानीः'** वाक्य है, **'गणस्य रशनाम्'** ऐसा नहीं है, इस लिये सारी समस्या का समाधान 'गण' शब्द के ऊपर आश्रित है। सो, पहिले इसी पर विचार कर लेना चाहिये।

इससे पहिले कि हम अपने विचार इस विषय में उपस्थित करें; हम सायण की साक्षी इस विषय में देना चाहते हैं। ऋग्वेद १.३,३ में **'अश्विनौ'** का एक विशेषण आया है **'रुद्रवर्त्तनी'**। इसके भाष्य में सायण ने **'रुद्राणाम्'** शब्द का अर्थ किया है **'शूरभटानाम्'**। ऋ. १.३९.७ में **'रुद्राः'** मरुतों को कहा गया है। वहीं क्यों, ऋग्वेद में जहाँ भी **'रुद्राः'** पद आया है वहाँ या तो **'आदित्या वसवो रुद्राः'** इस रूप में आया है अथवा मरुतों के विशेषण के रूप में आया है। हाँ, केवल एक स्थल ऐसा है जहाँ **'ऋभुओं'** के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस विवेचन के परिणाम-स्वरूप हमारा मत है कि **'मरुत्' का अर्थ सैनिक है**। यह बात ऋग्वेद १.३.३ के सायणभाष्य से भी पुष्ट होती है। इस का विशेष विस्तार हमने अपने **'मरुत्सूक्त'** नामक एक पृथक् निबन्ध में दर्शाया है।

अब लीजिये **'गण'** शब्द को, ऋग्वेद में **'मरुद्गणाः'** (१.२३.८) शब्द स्पष्ट रूप से आया है। 'गण' शब्द षष्ठीतत्पुरुष समास के रूप में अन्य किसी शब्द के साथ नहीं आया। इसके अतिरिक्त **'गण'** शब्द, भिन्न-भिन्न रूपों में ५० स्थलों पर आया है। इनमें से एक का सम्बन्ध **हंसों** के साथ है—ऋ. ९.३२.३। एक का **अश्विनौ'** के साथ-१.११७.३। एक का **बृहस्पति** के साथ—ऋ.४.५०.५। इन तीनों को छोड़कर सर्वत्र **'मरुतों'** के **'गण'** हैं। इन तीनों में से **'हंस'** वाले **'गण'** को भी मरुतों का **'गण'** ही समझना चाहिये, क्यों कि ऋ. २.३४.५ में मरुद्गण को हंसों से उपमा दी है—'आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन...'। **'अश्विनौ'** वाले सूक्त (१.११७.३) में केवल **'गणेन'** आया है। किनका **'गण'** ? यह नहीं बताया है। बृहस्पति वाले गण में भी गणों का गणपति बृहस्पति को कहा गया है, अतः यह भी मरुद्गण ही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में **'गण'** केवल मरुतों का है।

उधर मरुतों को 'रुद्राः' कहा गया है जिसका अर्थ सायण ने शूरभट किया है (ऋ. ३.३ ३) हम भी इससे सहमत हैं, पर न जाने क्यों, फिर सायण भाष्य के ऋ. ५.१.३ की व्याख्या में सायण

ने 'गुणस्य॑ रशुनाम्' का अर्थ 'जगतः रज्जुमिव तमः' कर दिया और फिर 'अजीगः' की व्युत्पत्ति जो ऋ. ३.५८.१ में 'जागृ निद्राक्षये' से की थी, यहाँ 'गृ निगरणे' से कर दी। अस्तु।

'रशना' का अर्थ है मरुद्गण की नियन्त्रण-रज्जु। 'रशना' शब्द सारे ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर ही और आया है। वह है— ऋ. १.१६३.२ में। वहाँ अश्व की रशना का वर्णन है— 'गुन्धर्वो अ॑स्य रशुनामगृभ्णात'। रशना का अर्थ सब ने राशी अर्थात् लगाम किया है, न कि 'बन्धन-पाश'। अतः 'गुणस्य॑ रशुनामजी॑गः' का सीधा अर्थ है—'सैनिकगण की रास सम्भाली'। क्यों कि चतुर्थ मण्डल में भ्राता वरुण के अभिमुख होकर अग्नि ने राष्ट्र की आन्तरिक सुव्यवस्था की, अतः अब बाह्य आक्रमण से रक्षार्थ उसने सैनिकगण की रास संभाली—उसे जागृत किया। इस प्रकार पञ्चम मण्डल का प्रतिपाद्य विषय है—'सेना की व्यवस्था'। अब देखिये कि यह बात मण्डल में किस प्रकार घटित एवं पुष्ट होती है।

दूसरे सूक्त में हम अग्नि को 'आयु॑धा मिमा॑नम्' (३ य मन्त्र) शस्त्र-सञ्चालन करता हुआ अथवा शस्त्रनिर्माण करता हुआ पाते हैं। यह एक विशेष बात है, क्योंकि अन्य किसी मण्डल में अग्नि के साथ यह विशेषण नहीं आया है।

तीसरे सूक्त के तृतीय मन्त्र में तो उसे स्पष्ट रूप से रुद्र कहा है और मरुत् अर्थात् सैनिक उसकी सहायता के लिये शस्त्र, अस्त्र, वस्त्र मांज रहे हैं—

'तव॑ श्रि॒ये म॒रुतो॑ मर्जयन्त॒ रुद्र॒ यत् ते॒ जनि॑म॒ चारु॑ चि॒त्रम्'॥

चतुर्थ सूक्त के प्रथम मन्त्र में प्रार्थना की है कि, हे अग्ने! (=हे सेनापते) हम युद्ध करने की इच्छा करें और तेरे द्वारा युद्ध में विजय प्राप्त करें—'त्वया॒ वाजं॑ वाजयन्तो॑ जयेम'। फिर छठे मन्त्र में कहा 'व॒धेन॒ दस्युम्'—दस्यु को मार भगा। हे नृतम! हे नरश्रेष्ठ! तू युद्ध में हमारी रक्षा कर 'वाजे पाहि' (...पाहि...वाजे...)।

पञ्चम सूक्त में कहा है—'ऊर्णम्रदाः' (४ र्थ मन्त्र) तू विघ्नों को कुचलने वाला बन।

षष्ठ सूक्त में कहा है—युद्ध में विजय प्राप्ति के साधन रूप—सधे हुए तीव्रगामी घोड़ ('समवैन्तो रघुद्रवः' २ य मन्त्र) तथा अन्नभण्डार भरे रक्खे जायें ('इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आभ॑र' ४ र्थ मन्त्र) जो कि युद्ध के समय काम आ सकें।

सप्तम सूक्त के १० वें मन्त्र में लिखा है—'सा॒स॒ह्याद् द॒स्यून्' अग्नि दस्युओं का आक्रमण सहन करने में बारंबार सफल हो।

अष्टम सूक्त में उसे विशाल झण्डेवाला—'बृ॒हत्के॑तुम्' (२ य मन्त्र) कहा गया है।

१५

नवम सूक्त में उससे प्रार्थना की गई है कि, तू युद्ध में हमारी वृद्धि कर, हर सैनिक को अन्न पहुँचा—

वाजस्य सातये उतैधि पृत्सुनो वृधे ॥ (७ म मन्त्र)

दशम सूक्त में कहा है—युद्ध के लिये मार्ग बना जिससे युद्ध में अन्न सुरक्षित पहुँच सके—'ओजिष्ठं···वाजाय पन्थाम्' (१ म मन्त्र)। सेना में उत्साह का बल भर दे—'शुष्मेभिः शुष्मिणो नरः' (४ थं मन्त्र)। युद्ध में हमारी सेना की वृद्धि करने वाला बन—

'उतैधि पृत्सु नो वृधे' (७ म मन्त्र)

एकादश सूक्त के ६ ष्ठ मन्त्र में उसे साहस का पुत्र कहा है—'सहसस्पुत्रम्।

द्वादश सूक्त के ४ थं मन्त्र में कहा—हे अग्ने ! तू सैनिकों की भली प्रकार परीक्षा करके देख कि कौन शत्रुओं को बांधने वाले हैं ? कौन रक्षक होने में समर्थ हैं ? कौन असत्य के रक्षकों के के रक्षक हैं और उनसे मिले हुए हैं ? तथा कौन अपने वचन के पूर्णतया पालन करने वाले हैं ?—

के ते अग्ने रिपवे बन्धनासः के पायवः सनिषन्त द्युमन्तः ।
के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ॥

फिर ५ म मन्त्र में कहा है—देख, ऐसे लोग भी हैं जो दुष्ट भावना के कारण 'हम तेरे कल्याणकारी हैं' यह कहते-कहते तेरा अकल्याण करने लगते हैं तथा सरल-स्वभाव सेनापति के सामने झूठ बोल देते हैं—

सखायस्ते विषुणा अग्न एते शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन् ।
अधूर्षत स्वयमेते वचोभिर्ऋजूयते वृजिनानि ब्रुवन्तः ॥

त्रयोदश सूक्त में कहा है—तू देवों का उसी प्रकार चारों ओर से आश्रयदाता है, जैसे पहिया अरों का—

अग्ने नेमिरराँ इव देवाँस्त्वं परिभूरसि ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

चतुर्दश सूक्त के कहा है—तेरा जन्म ही दस्युओं के हनन और ज्योति से अन्धकार के निवारण के लिये हुआ है— अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तमः । (४ थं मन्त्र) इससे स्पष्ट है कि युद्ध का अन्तिम लक्ष्य अन्धकार का नाश है। दस्यु इसमें बाधक हैं; अतः उनका हनन करना पड़ता है।

पञ्चदश सूक्त में कहा है कि शत्रु जब उसको घेर लेते हैं तो समझते हैं कि हमने क्या मुसीबत मोल ले ली ? हमने तो मानो क्रुद्ध सिंह को घेर लिया—'सिंहं न क्रुद्धमभितः परि ष्ठुः'(३ य मन्त्र)। प्रजा उसमें माता का रूप पाती है—

मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनं जनं धायसे चक्षसे च ॥ (४ थं मन्त्र)

षोडश सूक्त की समाप्ति 'युद्ध में हमारा विजय वर्धक बन'—···'एधि पृत्सु नो वृधे' (५ म मन्त्र) इस वाक्य के साथ हुई है।

सप्तदश सूक्त का भी अन्तिम वाक्य फिर यही है—···'एधि पृत्सु नो वृधे'

अष्टादश सूक्त में कहा गया है कि तेरे सच्चे सहायक वे हैं, जिन्हें तू यदि एक घोड़ा दे तो वे युद्ध में तेरे लिये ५० घोड़े उपस्थित कर दें और जिनका रथ किसी युद्ध में पीछे नहीं हटता—

अरिष्टो येषां रथः ॥ (३ य मन्त्र)

'ये मे पञ्चाशतं ददुरश्वानां सधस्तुति' । (५ म मन्त्र)

एकोनविंश सूक्त में कहा है कि तेरी 'वक्षणेस्थाः'=आज्ञावहन में समर्थ, 'वक्षी' अर्थात् वाहिनियाँ=सेनाएँ पैनी हैं और खूब पैनी बनाई गई हैं—

ता अस्य सन् धृषजो न तिग्माः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः ॥ (५ म मन्त्र)

विंश सूक्त में कहा गया है—हे वाजसातम ! =युद्ध में सेनाओं में, बलप्रदायकों में श्रेष्ठ ! तेरी कृपा से हम वीर पुरुषों के साथ बैठकर मस्त होकर सहमाद का आनन्द लें—

गोभिः ष्याम सधमादो वीरैः स्याम सधमादः ॥ (४ थं मन्त्र)

एकविंश सूक्त में कहा है—तू इतना लोक-प्रिय है कि राष्ट्र का जन-जन तुझे प्यार करता है—

त्वं हि मानुषे जनेऽग्ने सुप्रीत इध्यसे । (२ य मन्त्र)

द्वाविंश सूक्त में कहा है—हे सहस्य ! =साहस के पुत्र ! दूर-दूर से पराक्रम की तलाश में निरन्तर घूमने वाले तथा शत्रुदल को खाने वाले वीर योद्धा [=अत्रयः] (अतन्ति सततं गच्छन्ति अथवा शत्रुबलमदन्ति ते अत्रयः) अत्रि लोग तेरी वीरता पर मुग्ध होकर, सेना में भरती होकर, तेरी शोभा बढ़ाते हैं—

अग्ने चिकिद्ध्य१स्य न इदं वचः सहस्य ।

तं त्वा सुशिप्र दंपते स्तोमैर्वर्धन्त्यत्रयो गीर्भिः शुम्भन्त्यत्रयः ॥ (४ थं मन्त्र)

त्रयोविंश सूक्त

तू युद्धों में विरोधी मनुष्यों की पंक्तियों के सामने डट जाता है और उनकी चोट सहारता है-···'अभ्या३सा वाजेषु सासहत् ॥ (१ म मन्त्र)···पृतनाषहं रयिं सहस्व आभर (२ य मन्त्र) तू शत्रुसेना के सहन में निपुण है। तू सम्पूर्ण शत्रुसेनाओं को सामने देखता है और उनका अभिमान-युक्त आक्रमण झेलता है—

स हि ष्मा विश्वचर्षणिरभिमाति सहो दधे ॥ (४ र्थं मन्त्र)

चतुर्विंश सूक्त

तू, दुष्ट भावना से आक्रमण करने वाले, सब दुष्टों से हमारी रक्षा कर—

उरु ष्या णो अघायतः समस्मात् ॥ (३ य मन्त्र)

पञ्चविंश सूक्त

सेनाध्यक्ष का अध्ययन विशाल तथा बुद्धि सूक्ष्म होनी चाहिये—···वरिष्ठया श्रेष्ठया च सुमत्या॥ (३ य मन्त्र), तब वह वीर कन्याओं को युद्धमाध्यम से सुशिक्षित ऐसे वीर पति तथा वीर माताओं को ऐसे पुत्र देता है जो सदा विजय पायें—कभी पराजित न हों—पुत्रं ददाति दाशुषे (५ म मन्त्र), अग्नि ददाति सत्पतिं···जेतारमपराजितम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)। हमने ऐसे सेनाध्यक्ष की वन्दना की; वह हमें सब प्रकार के द्वेषपूर्ण शत्रुरूप-सागरों से नौका के समान पार करे—

एवाँ अग्निं वसुयवः सहसानं ववन्दिन ।
स नो विश्वा अति द्विषः पर्षन्नावेव सुक्रतुः ॥ (९ म मन्त्र)

षड्विंश सूक्त

सब सैनिक (मुरुतः, मित्रः, वरुणः, मित्र = ब्राह्मण, वरुण = क्षत्रिय) सम्पूर्ण सहायकों के साथ सेनाध्यक्ष के चारों ओर बैठें—

एदं मरुतो अश्विना मित्रः सीदन्तु वरुणः ।
देवासः सर्वया विशा ॥ (९ म मन्त्र)

सप्तविंश सूक्त

राजा तथा सेनाध्यक्ष, क्षत्रियों को अश्वमेध करने के लिये तैयार करें—

इन्द्राग्नी शतदाव्न्यश्वमेधे सुवीर्यम् ।
क्षत्रं धारयतं बृहद् दिवि सूर्यमिवाजरम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र (

अष्टाविंश सूक्त

हे सेनाध्यक्ष ! तू सेना को ऐसा सुनियन्त्रित कर कि शत्रुओं का तेज अभिभूत हो जाय....

···सुयममा कृणुष्व शत्रूयताम‍भि तिष्ठा महांसि ॥ (३ य मन्त्र)

यहाँ तक सेनाध्यक्ष का वर्णन हुआ, परन्तु 'मरुद्गण' तो अधीन हैं। कहा गया है—इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः १.२३.८। अतः राजा की सहायता के बिना सेनाध्यक्ष कुछ नहीं कर सकता, अतएवः अब इन्द्र के सूक्त आरम्भ होते हैं—

एकोनत्रिंश सूक्त

सैनिक, रुद्र के अनुशासन में भले ही हों, पर वे पूजा तेरी ही करते हैं। अर्चन्ति त्वा मरुतः... (१ म मन्त्र)। वह वृत्रासुर को मारता है और लम्बी 'अपः'=सेनाएँ रचता है—'यह्वी-रपः असृजः अहिं हन्।'

('''अहिं हन्नपो यह्वीरसृजत्'''॥ (२ य मन्त्र)

यहाँ प्रकरण-बल से 'अपः' का अर्थ सेनाएँ करना पड़ेगा, क्योंकि मरुतों का अर्थ यहाँ सैनिक है, जैसा कि पूर्व ही सप्रमाण निर्देश किया गया है, अतः मरुतों की 'अपः'—सैनिकों की सेनाएँ ही हो सकती हैं। हाँ, आकाश में जब सूर्य मेघ को मारता है तो नदी, तालाब आदि को जल से भर देता है, अतः आकाश-प्रसंग में 'अपः' का अर्थ जल ही होगा, परन्तु यहाँ तो मुख्य लड़ाई दस्युओं से है, अतः दस्यु-विरोधी 'अपः' तो मुख्यतः राजा की सेना ही होगी।

आगे सूर्य का दृष्टान्त है। ७ म तथा ८ म मन्त्र का विषय सूर्य-दृष्टान्त से ही ध्यातव्य है। यहाँ सूर्य द्वारा ३०० नक्षत्रों के भोग का वर्णन है। 'महिष' शब्द का अर्थ है 'बड़ा'। जैसे, ग्राम्य-पशुओं में भैंस बड़ी होती है, अतः वह महिषी कहलाती है तथा जैसे, रानियों में (अथवा सब स्त्रियों में) पटरानी (या रानी) सबसे बड़ी होती है, अतः वह महिषी कहलाती है; वैसे ही, यहाँ सेना-प्रकरण में सेना के बड़े-बड़े सेनापति ही महिष कहलायेंगे, अतः यहाँ ३०० बड़े सेनापतियों का—प्रतिमास ३० सेनापतियों का—पचन=पाक=सुशिक्षित करना अभिप्रेत है। प्रकरणविरुद्ध अर्थ करने से तो पटरानी भैंस बन जायेगी। जैसे, सूर्य नक्षत्र-भोग करता है वैसे ही, राजा—सेनापतियों को तैयार करके उनकी वीरता का रसास्वादन करे।

आगे दशम मन्त्र में स्पष्ट दस्युओं के वध का वर्णन है। यह वह मन्त्र है, जिसके अर्थ के विषय में धांधली मचाकर, योरोपियन विद्वानों ने **'आर्यों की लम्बी नाक तथा द्रविड़ों की चपटी नाक'** बताई है। मन्त्र के विवादास्पद शब्द हैं—'अनासो दस्यून्'। इसका सही अर्थ है **'आस्यहीनान् दस्यून्**=मुखरहित (=गूंगे से बने हुए) दस्युओं को। सायणभाष्य में सही अर्थ दिया है। इन्द्र के भय से दस्युओं की बोलती बन्द हो गई—**वे आस्यहीन हो गये—मूक हो गये**, किन्तु द्रविड़ों की चपटी नाक बताने वाले, यही मन्त्र चपटी नाक के अर्थ में लेते हैं। भला कोई उनसे पूछे कि तुमने कौन-सा व्याकरण पढ़ा है ? यदि यहाँ 'नासिका-रहित' यह अर्थ होता तो 'अनसः' पाठ होता। 'नासा' को 'नस्' आदेश होता है और 'आस्य' को 'आस्'*, अतः 'अनासः' का अर्थ आस्यहीन होता है **नासिका-हीन नहीं।**

त्रिंश सूक्त

इस सूक्त के ३ य मन्त्र में स्थित 'सर्वसेनः' शब्द स्पष्ट ही बता रहा है कि यहाँ सर्वविध-सेना-सम्पन्न राजा का वर्णन है। वह अकेला ही, अपनी सुशिक्षित सेना के बल पर बहुतों से युद्ध के

---

* पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु॥ (पा० ६।१।६३)

लिये डट जाता है— वेषीदेको युधये भूयसश्चित् (४ र्थ मन्त्र)। 'दासपत्नीः' 'अपः' इन्द्र से डर गईं, इन्द्र ने उन्हें जीत लिया; यहाँ स्पष्ट ही **दासों के=दस्युओं के** अनुशासन में चलने वाली सेनाओं का वर्णन है—''अपो अजयद् दासपत्नीः' (५ म मन्त्र)। इसीलिये शत्रुओं की तो बात ही क्या, देव भी इन्द्र से डरकर उसके शासन में चलते हैं—

अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवाः। (५ म मन्त्र)

ब्रह्माण्ड में परमात्मा, सौर चक्र में सूर्य, राष्ट्र में राजा, शरीर में जीवात्मा और परिवार में यजमान, सब अपने-अपने क्षेत्र के इन्द्र हैं।

दस्यु लोग, पराक्रमी राजा से डरकर, स्त्रियों को अपना शस्त्र बनाने पर उतर आते हैं अर्थात् उन्हें आगे करके क्षमा-याचना करने लगते हैं*।—

स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
......अथोप प्रैद् युधये दस्युमिन्द्रः॥ (९ म मन्त्र)

इन्द्र दस्यु से लड़ने गया तो, शत्रु का यह हाल हुआ। इस मन्त्र के पूर्वार्ध में 'दास' तथा उत्तरार्ध में 'दस्यु' शब्द होने से स्पष्ट है कि 'दास' और 'दस्यु' पर्यायवाची हैं।

एकत्रिंश सूक्त

इस सूक्त में फिर दस्युदमन का वर्णन है—

'इन्द्रेषिता अभ्यवर्तन्त दस्यून्'॥ (५ म मन्त्र)
'प्रपित्वं यन्नप दस्यूँरसेधः'॥ (७ म मन्त्र)

सब सैनिक तेरे सहायक हैं। वे तेरा बल बढ़ाते हैं—तेरी सेना बढ़ाते हैं—

'विश्वे ते अत्र मरुतः सखाय इन्द्र ब्रह्माणि तविषीमवर्धन्'॥ (१० म मन्त्र)

तू प्रजा में ओज भर—

'धेह्योजो जनेषु'॥ (१३ श मन्त्र)

द्वात्रिंश सूक्त

इन्द्र ने अहि को=पेंच डालने वाले वृत्रासुर को क्या मारा, प्रजा में आनन्द का फव्वारा खोल दिया—

'अर्ददरुत्समसृजो वि खानि...सृजो वि धारा अव दानवं हन्'॥ (१ म मन्त्र)
'अहिं चिदुग्र प्रयुतं शयानं जघन्वाँ इन्द्र'...॥

* देखो—वाल्मीकि-रामायण, किष्किन्धा काण्ड, ३३ सर्ग, श्लोक ३१-३७॥

इन्द्र को यहाँ ५ म मन्त्र में 'सुक्षत्र'=उत्तम क्षत्रिय कहा गया है, इससे स्पष्ट है कि यहाँ मुख्यार्थ राजा है।

फिर पांचों की प्रजा से चुना हुआ 'सत्पति' जब जनों द्वारा चुना जाता है तब मानो राजा का जन्म होता है—

'एकं नु त्वा सत्पतिं पाञ्चजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु' ॥ (११ श मन्त्र)

ब्राह्मण तेरे मित्र हैं जिन्होंने तुझे इस पद पर निहित किया है, परन्तु वे निःस्वार्थ हैं। वे तुझे राज्य देते हैं, पर वे तुझ से लेते क्या हैं, कुछ नहीं।

'किं ते ब्रह्माणो गृहते सखायो ये त्वाया निदधुः काममिन्द्र' ॥ (१२ श मन्त्र)

त्रयस्त्रिंश सूक्त

इस सूक्त में 'वाजसातौ स्तुतो जने' (१ म मन्त्र) कहा गया है। युद्ध में उसकी वीरता ही उसके इस पद पर प्रतिष्ठित होने का कारण बनी है।

'अर्यः सक्षि जनान्' (२ य मन्त्र)

तू अर्य है। तू नये जीवन वाला होकर जनसेवा करता है। तू वज्रहस्त होकर रथ पर चढ़—

तिष्ठा रथमधि तं वज्रहस्त ॥ (३ य यन्त्र)

चतुस्त्रिंश सूक्त

जो सदा शिकार की तलाश में रहे और छिपकर अकेले-दुकेले पर प्रहार करे उसका तू वध कर—

'यदीं मृगाय हन्तवे महावधः सहस्रभृष्टिमुशना वधं यमत्' ॥ (२ य मन्त्र)

वह उपयोगी पदार्थ उत्पन्न न करने वाले असुरों से पराङ्मुख है और श्रम का फ़ल खाने वाले उत्पादकों की वृद्धि करता है। वह संग्राम में विचक्षण है, अतः दुष्टों का रथ का पहिया ही उतार लेता है। जो मेहनत न करें ऐसे धनधान्य-समृद्धों का भी वह मित्र नहीं है। उत्पादन करने वाले दुर्बलों को भी वह बढ़ाने वाला है—

...'नासुन्वता सचते पुष्यता चन।

जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे ॥ (५ म मन्त्र)

वित्वक्षणः समृतौ चक्रमासजोऽसुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

सेनाएं उसके नियम में संयत होकर चलती हुई उसका आप्यायन करती हैं जिससे उसका यह क्षात्र बल और तीव्र हो सके—

तस्मा आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन् क्षत्रममवत् त्वेषमस्तु ॥ (९ म मन्त्र)

पञ्चत्रिंश सूक्त

हे इन्द्र ! तू यह 'सधिष्ठ=साधकतम कर्म कर जिससे युद्ध में हम तो शत्रु-सेनाओं को झेल लें, पर शत्रु हमारा पार न पा सके—

यस्ते साधिष्ठोऽवंस इन्द्र क्रतुष्टमा भर ।
अस्मभ्यं चर्षणीसहं सस्निं वाजेषु दुष्टरम् ॥ (१ म मन्त्र)

हे शूर ! तेरा क्षत्रिय-बल स्वावलम्बी है—

'स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः' (४ र्थ मन्त्र)

तू सर्वदा वृत्रहन्तम है—

'त्वामिद् वृत्रहन्तम...' (६ ष्ठ मन्त्र)

तू युद्ध में सदा सबसे आगे बढ़कर लड़ता है—

'अस्माकमिन्द्र दुष्टरं पुरोयावानमाजिषु' ॥ (७ म मन्त्र)

षट्त्रिंश सूक्त

अब इन्द्र का भीषण रूप घटने लगा। अब इन्द्र=राजा 'दामनो रयीणाम्' (१ म मन्त्र) धन का दाता बना ।

तेरा रथ शान्ति-समय में सुनियन्त्रित धन-वृष्टि करे और युद्ध में (=भरे) शस्त्रवृष्टि करे—

स नो वृषा वृषरथः सुशिप्र वृषक्रतो वृषा वज्रिन् भरे धाः ॥ (५ म मन्त्र)

अब तक तो वह भीषण-रूप था। वह अब तक दुष्टों का धन छीनने वाला, जुआरियों का धन छीनकर दाताओं को देने वाला और जो उसकी शक्ति को कुपित करने का साहस करता उसे दुर्गम स्थान में-जेल में डालने वाला था (३४.७); किन्तु अब धीरे-धीरे रूप बदलने लगा है। यद्यपि मण्डल के अन्त तक सैनिक रूप ही रहेगा, अत एव इस मण्डल का अन्तिम सूक्त **मरुतों के=सैनिकों के** वर्णन में अर्पित है; तथापि ३६ वें सूक्त से कांटा धीरे-धीरे बदलता गया है।

सप्तत्रिंश सूक्त

जो उपयोगी श्रम करता है, स्वार्थ के लिये नहीं, इन्द्र के लिये करता है, उसे सूर्य की आनन्ददायक धूप मिलती है, निर्दोष उषाएं उसका स्वागत करने आती हैं—

संभानुना यतते सूर्यस्याऽऽजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः ।
तस्मा अमृध्रा उषसो व्युच्छान् य इन्द्राय सुनवामेत्याह ॥ (१ म मन्त्र)

जो राजा, इन्द्र का सहायक है, जिसका धन केन्द्रीय राजकोष में जाता है वह वृत्र का वध करता है, बस्तियाँ बसाता है और राजा के सौभाग्यशाली नाम की पुष्टि करता है—

न स राजा व्यथते यस्मिन्निन्द्रस्तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम् ।
आ सत्वनैरजति हन्ति वृत्रं क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन् ॥ (४ थं मन्त्र)

इस सूक्त में भी वृत्रहति की शृङ्खला बनी रही ।

अष्टात्रिंश सूक्त

इस सूक्त में शृङ्खला लगातार विद्यमान है, जिसका सूचक 'सुक्षत्र' शब्द (१ म मन्त्र) है, दूसरा शब्द है 'वृत्रहन्' (४ थं मन्त्र), तीसरा है शूर (५ म मन्त्र) ॥

एकोनचत्वारिंश सूक्त

तू युद्धों का विदारण करता है—'आ वाजं दर्षि' (३ य मन्त्र) ।

परन्तु अब उसका दाता रूप आगे—सामने आता जाता है, 'वृत्रघाती' की प्रधानता घट रही है ।

'उभयाहस्त्या भर' —(१ म मन्त्र)—दोनों हाथ भर दे । **दाहिने में पुरुषार्थ हो बांये में विजय** । तू 'ब्रह्मवाहस्' है, युद्धों का लक्ष्य है । आत्मरक्षा तथा संसार में ज्ञान का विस्तार, इन दोनों द्वारा वृत्र का नाश होता है, इसीलिये—

चत्वारिंश सूक्त

उसे 'वृत्रहन्तम' (१-३ मन्त्र) कहा है । ४ थं मन्त्र में 'वृत्र' कहा है । 'वृत्रहा' कौन है ? यह भी स्पष्ट कर दिया है—

गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—व्रत-हीनता अथवा दुष्ट-व्रत-परायणता ने ज्ञान-रूप सूर्य को अन्धकार से ढक लिया है ।

भक्त कहता है—हे इन्द्र ! मैं तो तेरा भक्त हूँ, मुझे भयभीत करके यह शत्रु कहीं निगल न जाय—

मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत् ॥ (७ म मन्त्र)

सच्चे नेता की तलाश में घूमने वाले, इस प्रकार के नेता को ढूंढ ही लेते हैं—

अत्रयस्तमन्वविन्दन् ॥ (९ म मन्त्र)

एकचत्वारिंश सूक्त

चालीसवें सूक्त तक इन्द्र देवता के सूक्त समाप्त हुए । अब ४१ वें सूक्त से 'विश्वेदेवाः' के सूक्त आरम्भ होते हैं, परन्तु इन 'विश्वेदेवों' में भी मुख्य स्थान रुद्र अर्थात् सेनापति को दिया गया

है और सब से रुद्र के साथ मिलकर कार्य करने की प्रार्थना की गई है—'रुद्राय मीळ्हुषे सजोषाः' (२ य मन्त्र)। इस से स्पष्ट है कि मण्डल का मुख्य प्रतिपाद्य विषय **सेना** है, इसीलिये सब देवों को रुद्र के '**सजोषाः**' कहा है। इन में **मरुतों** का भी वर्णन है।

१६ वें मन्त्र में फिर मरुतों को सामने रखकर सम्बोधन किया गया है? (**अच्छोक्तौ**) रसा का भी आह्वान किया गया है। यह वीर-संवर्धिनी सेना है। इसी का ऋ. १०.७५ सूक्त में फिर वर्णन है।

उर्वशी भी रुद्र की सहायता करती है। **उर्वशी** का अर्थ सायण-भाष्य में **माध्यमिका वाक्** दिया है। यह राष्ट्र की **नियम-निर्मात्री विधान-सभा** है। जिसका सम्पूर्ण राष्ट्र पर प्रभुत्व है। राष्ट्र सीधे प्रजा पर शासन नहीं करता, अपितु राष्ट्र के प्रतिनिधि यहाँ (=**उर्वशी में**=**विधान-सभा में**) इकट्ठे होकर राष्ट्र का क्या आदेश है उसका निर्णय करते हैं, अतः राष्ट्र और राजा के बीच में राष्ट्र के आदेश का निर्णय बताने वाली वाक्, **माध्यमिका वाक्** कहलाती है। राष्ट्र की प्रशस्त नदियों (=सेनाओं) की निर्मात्री यही **उर्वशी** है। यही '**यूथस्य माता**' है। यह हमें ऊर्जस्विनी पुष्टि दे—

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाऽभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः॥ (१९ श मन्त्र)
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः॥ (२० श मन्त्र)

यही नहीं, हमारी पत्नियाँ भी इसमें सम्मिलित हों—

इषुध्यव ऋतसापः पुरंधीर्वस्वीर्नो अत्र पत्नीरा धिये धुः॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

द्विचत्वारिंश सूक्त

इसमें **सविता** से—विधान-निर्माता से भी प्रार्थना की गई है और प्रजा से कहा गया है कि, इसे घी तथा मधु से स्नान करा दो। जिससे यह हमें सैन्य-शक्ति बढ़ाने के लिये धन देवे—

उदीरय कवितमं कवीनामुनत्तैनमभि मध्वा घृतेन।
स नो वसूनि प्रयता हितानि चन्द्राणि देवः सविता सुवाति॥ (३ य मन्त्र)

हे बृहस्पते! (ब्राह्मणों के नेता!) जो लोग सेना में सहयोग देने के लिये तेरी आज्ञा से गाय, घोड़े आदि प्रदान करते हैं, उनका धन भाग्यशाली होवे—

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः॥ (८ म मन्त्र)

वृत्र का धन छीनने वाले इन्द्र-प्रमुख देवता शत्रु का धन छीनकर हमें दें। जो व्रतहीन हैं—दूसरों का पालन किये बिना ऐश्वर्य भोगते हैं, ऐसे ब्रह्मद्वेषियों का धन, हे ब्रह्मणस्पते! सरका कर हम तक पहुंचा दे—

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः ।
अपव्रतान् प्रसवे वावृधानान् ब्रह्मद्विषः सूर्याद् यावयस्व ॥ (९ म मन्त्र)

हे सैनिको ! जो देवों के अन्न को राक्षसों तक पहुंचाते हैं, उन्हें तुम 'अचक्र' गतिहीन (=कैदी) लोगों के बीच में डाल दो और उनका दमन कर दो—

य ओहते रक्षसो देववीतावचक्रेभिस्तं मरुतो नि यात ॥ (१० म मन्त्र)

हे देवो ! तुम सब मिलकर रुद्र की स्तुति करो, जो कि विश्व को निवासस्थान तथा चिकित्सा देता है और जिसका उत्तम धनुष दुष्टों को रुलाता है—

तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य ।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य ॥ (११ श मन्त्र)

चतुर शिल्पी='विभ्वा' द्वारा रची हुई लोककल्याणकारी हाथों वाली 'सरस्वती' 'राका' आदि इन्द्र की पत्नियां (=सेनाएं) रुद्र की पूजा करें—

दमूनसो अपसो ये सुहस्ता वृष्णः पत्नीर्नद्यो विभ्वतष्टाः ।
सरस्वती बृहद्दिवोत राका दशस्यन्ती वरिवस्यन्तु शुभ्राः ॥ (१२ श मन्त्र)

उस 'इळस्पति' नामक पृथिवी-रक्षक राज्य-कर्मचारी की प्रशंसा करो जो राज्य में, आकाश में शब्द तथा प्रकाश के विस्तार के लिये तथा धरती पर जल पहुंचाने के लिये विद्युत् से द्यावापृथिवी को सींच देता है—

प्र सुष्टुतिः स्तनयन्तं रुवन्तमिळस्पतिं जरितर्नूनमश्याः ।
यो अब्दिमाँ उदनिमाँ इयर्त्ति प्र विद्युता रोदसी उक्षमाणः ॥ (१४ श मन्त्र)

यह जो सैनिकों का सुशिक्षित बलशाली दल है—सेनापति के सूनु (पुत्र) हैं—इनकी ओर भी हमारा स्तोत्र प्रवाहित होता है—

एष स्तोमो मारुतं शर्धो अच्छा रुद्रस्य सूनूँर्युवन्यूँरुदश्याः… ॥ (१५ श मन्त्र)

'अश्विनौ' का भी धन्यवाद है जो हमारे वीरों का यथासमय यथास्थान वहन करते हैं और शांतिकाल में सब सौभाग्य-सामग्री एक-एक प्रजा-जन तक पहुंचाते हैं—

समश्विनोरवसा नूतनेन मयोभुवा सुप्रणीती गमेम ।
आ नो रयिं वहतमोत वीराना विश्वान्यमृता सौभगानि ॥ (१८ श मन्त्र)

त्रयश्चत्वारिंश सूक्त

यहां भी विश्वे देवाः से यही प्रार्थना की गई है कि वे हमें, भरे-भरे=संग्राम-संग्राम में यशस्वी करें—

भरेभरे नो यशसावविष्टाम् ॥ (२ य मन्त्र)

'गङ्गा' 'यमुना' आदि बड़ी-बड़ी ७ मुख्य सेनाएँ हम पर मधुवर्षा करें—

आ धेनवः पयसा तूण्यर्थां अमर्धन्तीरुप नो यन्तु मध्वा ।

महो राये बृहतीः सप्त विप्रो मयोभुवो जरिता जोहवीति ॥ (१ म मन्त्र)

हमारे इस राष्ट्र-महायज्ञ में 'विश्वे मरुतो जना':=सब प्रकार के सैनिक सम्मिलित हों, विशेषकर अन्नादि सामग्री यथास्थान पहुंचाने वाली सरस्वती सहायक हो—

'यज्ञं गिरो जरितुः सुष्टुतिं च विश्वे गन्त मरुतो विश्व ऊती' ॥ (१० म मन्त्र)

आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम् । (११ श मन्त्र)

'अश्विनौ' हमारे वीरों को तथा सौभाग्य-सामग्री को यथास्थान पहुंचावें—

'आ नो रयिं वहतमोत वीरान्' ॥ (१७ श मन्त्र)

चतुश्चत्वारिंश सूक्त

प्रथम मन्त्र में 'जयन्तम्' शब्द पड़ा है, फिर षष्ठ मन्त्र में— 'बृहत् सुवीरमनपच्युतं सहः', तदनन्तर सप्तम मन्त्र में 'अति स्पृधः' शब्द है। ये सब सूर्य के विशेषण हैं और सूर्य का ही विशेषण है 'कवि'। ये सब मिलकर युद्ध—विजय की शृङ्खला को स्थिर रख रहे हैं।

फिर दशम मन्त्र में अवत्सार का वर्णन है। अवत्=रक्षक दल, उस का सार 'अवत्सार' हुआ। यह, हर सेना के उन चुने हुए सार-भूत वीरों का दल है जो सेना के बल को बनाये रखते हैं। जो सैनिकों को क्षात्र धर्म की चेतावनी देकर—विभिन्न प्रकार से उद्बोधन देकर ऐसा प्रयत्न करते हैं कि, उनके मन बलवान् बने रहें। इस प्रकार का जो यह दल का शविष्ठ-बल है वह विद्वानों तक का भी पूजा-पात्र है—

स हि क्षत्रस्य मनसस्य चित्तिभिरेवावदस्य यजतस्य सध्रेः ।

अवत्सारस्य स्पृणवाम रण्वभिः शविष्ठं वाजं विदुषा चिदर्ध्यम् ॥ (१० म मन्त्र)

यह बल 'द्विषो वधीत्'—(१२ श मन्त्र) शत्रुओं का वध करता है।

इस प्रकार इस सूक्त में सदा जागरूक सेनानी (=अग्नि) की स्तुति है—

अग्नि र्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ॥ (१५ श मन्त्र)

पञ्चचत्वारिंश सूक्त

इसमें फिर सूर्य का वर्णन है। सूर्य सेना के उस विभाग का अधिष्ठाता है, जो सेना में नियन्त्रण तथा उत्साह भरे रखता है; जिससे 'रसा' तथा 'यमुना' नामक सैन्यनदियाँ प्रवाहित होती

हैं। इसी के बल पर भक्त कहता है—हमारी सेना के सामने से पर्वत रास्ता छोड़ दें और आसमान हमारी विजय का साधन बने—

वि पर्वतो जिहीत साधत द्यौराविवासन्तो दसयन्त भूम ॥ (३ य मन्त्र)

इस सूक्त में स्तोत्र का केन्द्र फिर मरुतः अर्थात् सैनिक हैं—

उक्थेभिर्हि ष्मा कुवयः सुयज्ञा आविवासन्तो मरुतो यजन्ति ॥ (४ थं मन्त्र)

इन्हीं के बल पर हम द्वेषकारी शत्रुओं को दूर रखते हैं—

'आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम' ॥ (५ म मन्त्र)

इन मरुतों की छत्रछाया में हमारे वैज्ञानिकों की सत्यान्वेषिणी बुद्धि निःशङ्क होकर सत्य की खोज करे—

ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार ॥ (७ म मन्त्र)

सातों प्रकार के क्षत्रियों से युक्त सूर्य=सेनापति हमारे यज्ञ में सम्मिलित होवे—

'आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः' ॥ (९ म मन्त्र)

क्षत्र हीं अश्व है ('क्षत्रं वा अश्वः' शतपथ १३.२.२.१७)।

इस सूर्य (=सेनापति) की आज्ञा को सुनने के लिये सेनाएं (=(आपः) इसके सामने खड़ी होती हैं—

'आशृण्वतीरापो अर्वागतिष्ठन्' ॥ (१० म मन्त्र)

वह नियन्त्रणाध्यक्ष सूर्य हमारी सेनाओं में (=अप्सु) ऐसी बुद्धि भरे जिससे वे हर प्रकार के भय के—आक्रमण के पार उतर जावें—

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन् दश मासो नवग्वाः ।
अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः ॥ (११ श मन्त्र)

षट्चत्वारिंश सूक्त

हमारी सेनाओं को, विद्वान् नेता अग्रगामी होकर सञ्चालित करें। इन्द्र, वरुण आदि सब देवता हमारे सैनिक बल (=(मारुतं शर्धः) को प्राप्त हों—

अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो ।
उभा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त ॥ (२ य मन्त्र)

पञ्चम मन्त्र में फिर सैनिक बल (=(मारुतं शर्धः) को याद किया है, जिसमें बृहस्पति, पूषा, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि सैन्य-समूहों के नियन्ता हों—

उत त्यन्नो मारुतं शर्ध आ गमद् दिविक्षयं यजतं बर्हिरासदे ।
बृहस्पतिः शर्म पूषोत नो यमद् वरूथ्यं वरुणो मित्रो अर्यमा ॥ (५ म मन्त्र)

देव-पत्नियाँ भी युद्ध के लिये उत्तम प्रकार से हमारी रक्षा करने वाली हैं—

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ॥ (७ म मन्त्र)

सप्तचत्वारिंश सूक्त

इसमें सैनिकों को उपदेश है कि वे प्रतिदिन उषा से यह सीखें कि जैसे, वह हमें जगाने आती है वैसे, सेना को भी धरती माता का प्रबोधन करना चाहिये और उषा की तरह उत्साह से भर देना चाहिये—

प्रयुञ्जती दिव एति ब्रुवाणा मही माता दुहितुर्बोधयन्ती ।
आविवासन्ती युवतिर्मनीषा पितृभ्य आ सदने जोहुवाना ॥ (१ म मन्त्र)

सूर्य भी यही सिखाने के लिये उदित होता है, जिस प्रकार सूर्य बारी-बारी से धरती के दोनों भागों को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार तुम प्रजा के हर अन्धकार-युक्त भाग में प्रकाश पहुंचाओ—

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ (३ य मन्त्र)

जिस प्रकार प्रभात, दिन, सन्ध्या तथा रात्रि चारों मिलकर धरती को बसा रहे हैं, इसी प्रकार प्रभात-सूर्य सदृश ब्राह्मण, मध्याह्न-सूर्य सदृश क्षत्रिय सायं-सूर्य सदृश वैश्य और रात्रि-सदृश शूद्र संसार को विश्रान्तिदायक हैं, दशों दिशाएँ जिस प्रकार सूर्य से प्रकाशित होती हैं, इसी प्रकार सेनाएँ भी, राष्ट्र के सूर्य को = सेना के नियन्त्रणविभाग के अधिष्ठाता को केन्द्र मानकर उसके शासन का पालन करें; जिससे राज्य में वैभव की वृद्धि, शत्रुओं का क्षय तथा सुख की स्थिति बनी रहे। यही राजनीति के तीन 'धातु' हैं (क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम्)–

चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते ।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यह शरीर इन सब का निदर्शन है। पैर, धड़, बाहु तथा शिर ये चारों प्राण-रूपी सूर्य का धारण कर रहे हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा ५ कर्मेन्द्रियाँ, इसके संचार का क्षेत्र है और ये इसे गर्भवत् पालती हैं। विरोधी मल का क्षय (=(विसर्जन), नष्ट प्राण की वृद्धि तथा शरीर-बल की स्थिति,, ये तीनों इस शरीर में हो रहे हैं। यही नियम राष्ट्र-शरीर में भी जानना चाहिये —

इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः ।
द्वे यदीं बिभृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्या३ सबन्धू ॥ (५ म मन्त्र)

अष्टचत्वारिंश सूक्त

इसमें राष्ट्र-सभा से कहा गया है कि वह सेनाओं को स्वावलम्बी तथा बलयुक्त बनावे, जैसे कि विद्युत् संसार को बलवान् बनाती है—

कदु प्रियाय धाम्ने मनामहे स्वक्षत्राय स्वयशसे महे वयम् ।
आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपो वृणाना वितनोति मायिनी ।। (१ म मन्त्र)

उस बल को पाकर सेनाएँ वीरों के वहनीय कर्त्तव्य-भार का ठीक वहन कर सकें। देव-भक्त संकट से पार हों तथा दूसरों की अर्थात् शत्रुओं की सेना पराङ्मुख करके खदेड़ दी जावे—

ता अत्नत वयुनं वीरवक्षणं समान्या वृतया विश्वमा रजः ।
अपो अपाचीरपरा अपेजते प्र पूर्वाभिस्तिरते देवयुर्जनः ।। (२ य मन्त्र)

जिस प्रकार वीर पुरुष का तेज धार वाला परशु विरोधियों का प्रत्यनीक होता है, इसी प्रकार सेनापति की शक्ति हमारे विरोधियों के विरुद्ध प्रयुक्त हो—

तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्यं भुजे अस्य वर्पसः ।। (४ र्थ मन्त्र)

यही नहीं, ब्राह्मण चारों वेदों के बल से जिह्वा द्वारा तथा क्षत्रिय चतुरङ्गिणी सेना द्वारा शत्रुओं से युद्ध करते हुए हमें अलंकृत करें। इस ब्राह्मण अग्नि की मर्दानगी का क्या बखान करें? जिससे कि 'भग' और 'सविता' भी अभीष्ट सिद्धि पाते हैं—

स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते चारु वसानो वरुणो यतन्नरिम् ।
न तस्य विद्म पुरुषत्वता वयं यतो भगः सविता दाति वार्यम् ।। (५ म मन्त्र)

एकोनपञ्चाश सूक्त

इसमें कहा गया है कि विधाननिर्माता सविता राष्ट्रकोष का उचित भाग सेनाविभाग को दे तथा अश्विनौ हमारे सहायक हों। जिससे हमारी सेना शत्रुओं के विरुद्ध प्रति-प्रयाण में समर्थ हो—

प्रति प्रयाणमसुरस्य विद्वान्त्सूक्तैर्देवं सवितारं दुवस्य ।
उप ब्रुवीत नमसा विजानञ्ज्येष्ठं च रत्नं विभजन्तमायोः ।। (२ य मन्त्र)

पञ्चाश सूक्त

इसमें कहा गया है कि सब विधान-निर्माता सविता के सखा बनें जिससे धन पाकर हमारे पराक्रमी श्रमण-शील योद्धा तथा उनकी पत्नियाँ द्वेषियों से निरन्तर युद्ध करके विश्व को सन्मार्ग पर स्थिर कर सकें—

अतो न आ नॄनतिथीनतः पत्नीर्दशस्यत ।
आरे विश्वं पथेष्ठां द्विषो युयोतु यूयुविः ।। (३ य मन्त्र)

हे देव सविता ! तू हमारी सेनाओं का **'रथ-पति नेता'** बनकर राष्ट्र के लिये ऐश्वर्य लाना चाहता है, इसलिये हम सोच रहे हैं कि तेरी स्तुति करें—

एष ते देव नेता रथस्पतिः शं रयिः ।

शं राये शं स्वस्तय इषः स्तुतो मनामहे देवस्तुतो मनामहे ।। (५ म यन्त्र)

एकपञ्चाश सूक्त

इस सूक्त में सेनाध्यक्ष तथा सैनिकों का प्रजा द्वारा अभिनन्दन है । हे सेनाध्यक्ष ! हे सत्यधर्मा मरुतो ! आप लोग हिंसानाशक यज्ञ में निमन्त्रित हैं ! सब पदार्थ आपके लिये प्रस्तुत हैं सेनाध्यक्ष द्वारा इन्हें स्वीकार कीजिये—

अग्ने सुतस्य पीतये विश्वैरूमेभिरा गहि ।

देवेभिर्हव्यदातये ।। (१ म मन्त्र)

ऋतधीतय आ गत सत्यधर्माणो अध्वरम् ।

अग्नेः पिबत जिह्वया ।। (२ य मन्त्र)

सर्वगण-समेत बृहस्पति तथा रुद्र हमें पाप के आक्रमण से पार उतारें—

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै···बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये ।। (१२ श मन्त्र)

···स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ।। (१३ श मन्त्र)

अब ५२ से ६१ तक तो हैं ही मरुतों के सूक्त । ५३ वें सूक्त में **'रसा' 'अनितभा' ''कुभा' 'क्रुमु' 'सिन्धु'** आदि शब्दों का मरुत्सूक्तों में आना स्पष्ट कर रहा है कि ये सेनाएँ हैं, नदियाँ नहीं हैं । ये शब्द ऋग्वेद १०.७५ में भी आये हैं । इनका विशेष विस्तार-पूर्वक विवेचन हमारी लिखी **'सप्तसिन्धु'** नामक लघु पुस्तिका में देखिये ।

इन सूक्तों (५२-६१) में सैनिकों का वर्णन कितना स्पष्ट है, इसके लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । ५३ वें सूक्त का ११ वाँ मन्त्र इस प्रकार है—

शर्धं शर्धं व एषां व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिः ।

अनु क्रामेम धीतिभिः ।। (११ म मन्त्र)

इस मन्त्र का ग्रिफिथकृत अनुवाद पर्याप्त होगा—

"With eubogies and hymns may we follow your army, troop by troop, and band by band and comapny by company."

इससे स्पष्ट है कि ५१ से ६१ तक के ११ सूक्तों पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

द्वाषष्टितम सूक्त

यह सूक्त 'मित्रावरुणौ' (=ब्राह्मणक्षत्रियौ ४.१.४.१) का है। ये दोनों मिलकर सहस्र खम्भों वाले क्षत्रिय-भवन को धारण किये हुए हैं—

राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथः सह द्वौ ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

यह सहस्र खम्भों वाला क्षत्रिय-भवन सैन्य-समुदाय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

त्रिषष्टितम सूक्त

इसमें सैनिक 'मित्रावरुणौ' का रथ जोड़ते हैं—

रथं युञ्जते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु ॥ (५ म मन्त्र)

चतुःषष्टितम सूक्त

इसमें 'मित्रावरुणौ' को रिशादसौ (=हिंसा के विनाशक) कहा है—

वरुणं वो रिशादसमृचा मित्रं हवामहे ॥ (१ म मन्त्र)

पञ्चषष्टितम सूक्त

इसमें कहा है कि उनकी छत्रछाया में जन-जन को सत्य-ज्ञान मिलता है—

ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने ॥ (२ य मन्त्र)

वे उत्तम घोड़ों सहित युद्धों की ओर जाते हैं—

स्वश्वासः सु चेतुना वाजाँ अभि प्र दावने ॥ (३ य मन्त्र)

षट्षष्टितम सूक्त

वे रिशादसौ देव हैं—'देवौ मर्ते रिशादसा' ॥ (१ म मन्त्र)

इसके द्वारा हम स्वराज्यरक्षार्थ युद्ध करें—

व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

सप्तषष्टितम सूक्त

वे वर्षिष्ठ क्षत्रिय-कर्म्म में लगे हुए हैं—

बळित्था देव निष्कृतमादित्या यजतं बृहत् ।
वरुण मित्रार्यमन् वर्षिष्ठं क्षत्रमाशाथे ॥ (१ म मन्त्र)

वे रिशादसौ (हिंसानाशक) हैं।—'यन्तं सुम्नं रिशादसा' ॥ (२ य मन्त्र)

अष्टषष्टितम सूक्त

वे महिक्षत्रौ = महान् क्षत्र-बल वाले हैं—महिक्षत्रावृतं बृहत् ॥ (१ म मन्त्र)

वे 'सम्राजौ' भी हैं—'सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च' ॥ (२ य मन्त्र)

एकोनसप्ततितम सूक्त

वे 'मित्रावरुणौ' क्षत्रिय के अजर व्रत को वृद्धि देने वाले हैं—

क्षत्रियस्यानु व्रतं रक्षमाणौ ॥ (१ म मन्त्र)

सप्ततितम सूक्त

हे मित्रावरुणौ ! आप दोनों रुद्र हो। आप हमारी रक्षा कीजिये। जिससे हम अपने शारीरिक बल से दस्युओं का वध करें —

पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा ।
तुर्याम दस्यून् तनूभिः ॥ (३ य मन्त्र)

एकसप्ततितम सूक्त

इसमें फिर उन्हें रिशादसौ कहा है—

'आ नो गन्तं रिशादसा' ॥ (१ म मन्त्र)

द्वासप्ततितम सूक्त

वे स्वयं ही योद्धा नहीं, अपितु सारी प्रजा के जन-जन को युद्ध के लिये तैयार करते हैं और स्वयं अपने हिंसा-विनाश-व्रत के पालन द्वारा उन्हें प्रेरणा देते हैं—

'व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना ॥ (२ य मन्त्र)

त्रिसप्ततितम सूक्त

७३ वें सूक्त से अश्वि देवता आरम्भ होते हैं। ७८ वें सूक्त तक अश्वि सूक्त हैं। ये अश्विनौ समाचार-वहन तथा यातायात के अधिष्ठाता हैं, परन्तु यह सैनिक मण्डल है। यहाँ वे अश्विनौ भी 'रुद्र' बन गये हैं—

'रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी' ॥ (८ म मन्त्र)

चतुःसप्ततितम सूक्त

हे अश्विनौ ! तुम जब नदियों के = सेनाओं के सहायक बनते हो, तो वह कौन-सी भाग्यशाली जनता है जिसके युद्ध तुम करते हो ?—

कस्मिन्ना यतथो जने को वां नुदीनां सचा ॥ (२ य मन्त्र)

पञ्चसप्ततितम सूक्त

वे मधुवर्षक हैं। राष्ट्र को धन लाकर देते हैं—'रथं···वसुवाहनम्' (१ म मन्त्र)। साथ ही युद्ध की अग्रगामिनी सेना को युद्धक्षेत्र तक पहुँचाते हैं—'हिरण्यवर्तनी···सिन्धुवाहसा'··· (२ य मन्त्र), अतएव रुद्रौ हैं—

आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम् ।
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ (३ य मन्त्र)

षट्सप्ततितम सूक्त

यह सेनाध्यक्ष क्या देखता है ? यह देखता है कि मेरी सेना उषाओं की सेना है। सबके चेहरे उत्साह से लाल हैं। सब ब्राह्मण उषा की तरह इस सेना का स्वागत कर रहे हैं।

आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद् विप्राणां देवया वाचो अस्थुः ॥ (१ म मन्त्र)

कदाचित् इसी कारण सैनिकों के वस्त्र लाल रहे हैं। ब्रिटिश सिपाही भी 'Redcoats' कहलाते थे। जिनके कारण हर छावनीनगर में 'लालकुर्ती' बाजार हैं।

सूक्त के अन्त में 'अश्विनौ' से प्रार्थना है कि जहाँ वे कोष में धन लाकर दें वहां वे वीरों को यथास्थान पहुँचावें भी। जिससे हमारा सौभाग्य अविच्छिन्न रहे—

आ नो रयिं वहतमोत वीराना विश्वान्यमृता सौभगानि ॥ (५ म मन्त्र)

सप्तसप्ततितम सूक्त

वे लोभियों की पहुंच से पहिले ही राष्ट्र के हितार्थ राष्ट्र-सम्पत्ति का रस पी जाते हैं—

'पुरा गृध्रादररुषः पिबातः' ॥ (१ म मन्त्र)

अन्त में वही प्रार्थना है—

'आ नो रयिं वहतमोत वीराना विश्वान्यमृता सौभगानि' ॥ (५ म मन्त्र)

अष्टसप्ततितम सूक्त

वे राष्ट्रहितार्थ विपद्ग्रस्त की सहायता के लिये श्येन की तरह तुरत निशाने पर पहुंचते हैं—

श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनाऽऽगच्छतमश्विना शंतमेन ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हर आसन्नप्रसवा की प्रसूति ठीक हो, इसके लिये पूरी देखभाल करते हैं और तुरत सामग्री पहुंचाते हैं—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ।। (९ म मन्त्र)

यही क्यों, हर भीत और शरणार्थी के सहायक 'सप्तवध्रि' की वे तुरंत सहायता करते हैं—

भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये ।
मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथः ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

'सप्तवध्रि' ऋषि वह है जो हर विपत्ति के बन्धन में पडे हुए के छुटकारे का उपाय देखता है। शरीर की सप्त धातुओं के कष्ट मिटाने को वह 'सप्तवध्रि' है—सात रस्सियों वाला है ।।

एकोनाशीतितम सूक्त

अश्विनौ की सहायता से उषा प्रकट हुई, सारा राष्ट्र उत्साह की लाली से खिल उठा। मण्डल के आरम्भ में उषा सैनिकों को जगाने आई थी। सो अब वे मरुद्गण उषा का स्वागत कर रहे हैं। उनके जीवन में भी उषा जाग उठी है—

अभि ये त्वा विभावरि स्तोमैर्गृणन्ति वह्नयः ।
मघैर्मघोनि सुश्रियो दामन्वन्तः सुरातयः सुजाते अश्वसूनृते ।। (४ थं मन्त्र)

नाना गोरस-भरी अन्न की 'गोमती' उनके पास पहुँच गई। क्यों न पहुँचे। राष्ट्र का वीरोचित यश इन्हीं पर आश्रित है—

उत नो गोमतीरिष आ वहा दुहितर्दिवः ।
साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः सुजाते अश्वसूनृते ।। (८ म मन्त्र)

अशीतितम सूक्त

उषा विश्ववारा बनकर सेना को जगा रही है—

...'पुरुष्टुता विश्ववारा वि भाति'...।। (३ य मन्त्र)

द्वेषकारी शत्रुओं का दमन करती हुई उषा ने धरती का अन्धकार दूर करके ज्योति का समागम धरती को दिया—

अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ।। (५ म मन्त्र)

एकाशीतितम सूक्त

अब मण्डल की समाप्ति समीप ही है। यह सूक्त सविता का है। सविता देव सैनिकों का सहायक कानून बनाने आ पहुंचे। उषा के पीछे नियन्त्रण आवश्यक है, इसलिये—'अनु प्रयाणमुषसो विराजति' (२ य मन्त्र)—उषा के प्रयाण के पीछे सविता विराजमान है।

द्व्यशीतितम सूक्त

यह सूक्त भी सविता का है, जिससे सेना को सविता का सदा ध्यान रहे। कहीं सेना परम सविता=सबसे बड़े विधान निर्माता भगवान् को भूलकर मदान्ध न हो जावे, इसलिये सविता के स्मरण का=ध्यान का निर्देश है—

तत् स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम् ।
श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं तु॒रं भग॑स्य धीमहि ॥ (१ म मन्त्र)

जहाँ ऐसे सविता के नियन्त्रण में सारी प्रजा रहती है, उनका स्वराज्य कभी नष्ट नहीं होता—

अस्य॒ हि स्वय॑शस्तरं सवि॒तुः कच्च॒न प्रि॒यम् ।
न मि॒नन्ति॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ (२ य मन्त्र)

प्रसिद्ध 'विश्वानि देव सवितः' मन्त्र इसी सूक्त का ५ वाँ मन्त्र है।

त्र्यशीतितम सूक्त

इस सूक्त का देवता पर्जन्य है। बादलों की दानशीलता से हमारे वीर दानप्रवृत्ति तथा गर्जना से सिंह-गर्जना सीखते हैं—

दू॒रात् सिं॒हस्य॑ स्त॒नथा॒ उदी॑रते॒ यत् प॒र्जन्यः॑ कृणु॒ते व॒र्ष्यं१॒ नभः॑ ॥ (३ य मन्त्र)

हे मरुतः ! देवलोक की सुख-वृष्टि इस लोक में लाओ—

'दि॒वो नो॑ वृ॒ष्टिं म॑रुतो ररीध्व॒म्' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे पर्जन्य ! जब तू मीठे स्वर से अपनी सुखकारी धारा बरसाता है, उसी समय दुर्भिक्षजन्य दुष्कर्म भागने लगते हैं—

यत् प॑र्जन्य॒ कनि॑क्रदत् स्त॒नय॒न् हंसि॑ दु॒ष्कृतः॑ ॥ (९ म मन्त्र)

क्यों कि तू जन-जन तक अन्न पहुँचा देता है—

अजी॑जन॒ ओष॑धी॒र्भोज॑नाय॒ कमु॒त प्र॒जाभ्यो॑ऽविदो म॒नीषाम् ॥ (१० म मन्त्र)

चतुरशीतितम सूक्त

इस सूक्त में, सेना पृथिवी की रक्षा क्यों करती हैं, यह कहा है। हे सरल स्वभाव वाली (=अर्जुनि) पृथिवी ! तू गन्दे से गन्दे पदार्थों को अन्दर ग्रहण करके उन्हें धरती का पालन व पूर्ण करने वाला रूप देकर बाहिर फेंकती है। तेरी लोकवत्सलता अद्भुत है—

स्तोमा॑सस्त्वा विचारिणि॒ प्रति॑ ष्टोभन्त्य॒क्तुभिः॑ ।
प्र या वाजं॒ न हेष॑न्तं पे॒रुमस्य॑स्यर्जुनि ॥ (२ य मन्त्र)

पञ्चाशीतितम सूक्त

यह सूक्त वरुण देवता का हैं। वरुण का कर्त्तव्य है कि वह लोगों को सेना में भरती करने से पहले यह जांच कर ले कि भरती होने वाला कहीं जुआरी तो नहीं है ? यह जुआ तो उपलक्षण मात्र है। वरुण का कार्य है कि वह किसी भी प्रकार के दुष्ट पुरुष को प्रच्छन्न रूप से भी सेना में न घुसने दे—

कितवासो यद् रिरिपुर्न दीवि यद् वा घा सत्यमुत यन्न विद्म ।
सर्वा ता वि ष्य शिथिरेव देवाऽधा ते स्याम वरुण प्रियासः ॥ (८ म मन्त्र)

षडशीतितम सूक्त

इस सूक्त में, राजा और सेनाध्यक्ष (=**इन्द्राग्नी**) मिल कर क्या करते हैं, यह कहा गया है। ये दोनों मिलकर, जिसकी युद्ध में रक्षा करते हैं, वह मेधावी विद्वान् जैसे वाङ्‌म की गुत्थियों को खोल देता है, इसी प्रकार ये दोनों युद्ध में कठिन से कठिन सङ्कटमय परिस्थितियों को भेद देते हैं—

इन्द्राग्नी यमवथ उभा वाजेषु मर्त्यम् ।
दृळ्हा चित् स प्र भेदति द्युम्ना वाणीरिव त्रितः ॥ (१ म मन्त्र)

क्योंकि वे दोनों मिलकर युद्ध में दुस्तर हो जाते हैं—

...'या पृतनासु दुष्टरा' ॥ (२ य मन्त्र)

उनका कार्य है—राष्ट्र को घेरने वाले वृत्रासुर को मारना—

'प्रति द्रुणा गभस्त्योः गवां वृत्रघ्न एषते ॥ (३ य मन्त्र)

सप्ताशीतितम सूक्त

यह मण्डल का अन्तिम सूक्त है। इसका देवता '**मरुतः**' है। इस मण्डल की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसका आरम्भ सेनाध्यक्ष द्वारा '**मरुद्गण**' की **रक्षना** संभालने से हुआ और उपसंहार भी **मरुतों** के साथ हुआ ।

॥ इति पञ्चमं मण्डलम् ॥

षष्ठ मण्डल

पांच मण्डलों का मणिसूत्र प्रदर्शित कर दिया गया। प्रथम मण्डल में मनुष्य को स्वास्थ्य और शिक्षा से सुसज्जित किया गया तथा 'रयिषाट्' (=धनमदसहनसमर्थ) बनाया गया। द्वितीय मण्डल में उसे 'रयिवित्' बनाया गया। नहरें खोदी गईं, जल और विद्युत का जाल बिछाया गया। तृतीय मण्डल में काव्य, साहित्य, चित्रकला आदि ललित कलाओं का विकास 'पवित्रैः कविभिः' के द्वारा करना सिखाया गया। 'विपाट्' (=दुष्टत्वपाशच्छेदक) और 'शुतुद्रि' (=सुकर्म तुरत सिखाने वाली) इन दोनों साहित्य-नदियों के सङ्गम में, प्रजा को स्नान कराने वाले, विश्व के दुःख सुनकर उनका प्रतीकारोपाय सोचने वाले विश्वामित्र ऋषियों के शासन में साहित्यधाराओं में स्नान करना तथा भवसागर पार करना सिखाया गया। चतुर्थ मण्डल में इस प्रकार बढ़ती हुई समृद्धि के परिणाम स्वरूप उत्पन्न चोर, डाकू आदि को दण्ड देने वाले तथा प्रजा की बेकारी दूर करने वाले दण्डाध्यक्ष तथा पोलिस विभाग के अध्यक्ष (=वरुण) के पारस्परिक सहयोग से सुशासन के केन्द्र—राष्ट्र के हृदय की सहायता करके राष्ट्र को आन्तरिक शासन द्वारा सुव्यवस्थित करना सिखाया गया। पञ्चम मण्डल में बाह्य आक्रमण से रक्षा करने वाले सैन्य-सङ्गठन की शिक्षा दी गई।

अब षष्ठ मण्डल प्रारम्भ होता है। इसमें, धरती पर दूर-दूर बिखरी हुई भिन्न-भिन्न बस्तियों के परस्पर आर्थिक सहयोग द्वारा विश्व की राजनीति के निर्माण की आधार शिला रक्खी गई है। इसकी झलक पहिले ही सूक्त में दिखाई पड़ती है। वैसे उसका पूर्ण विकास अष्टम मण्डल में होगा।

वैदिक राजनीति में प्रजा राजा को चुनती है— 'त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य' (अथर्व. ३.४.२), 'राजा॑ राष्ट्राना॑म् ···अविष्टो ···विश्वा॑सु विक्षु'··· (ऋ. ७.३४.१२)— विश्व का राजा सम्पूर्ण विश्व की समस्त प्रजाओं पर आश्रित है, परन्तु इस राजनीति के निर्माण के लिये किस प्रकार के राजनीतिक सहयोग की आवश्यकता है, आवश्यकता है विश्व की प्रजाओं के परस्पर आर्थिक सहयोग की ? बस, षष्ठ मंडल में इसी आर्थिक सहयोग का वर्णन है।

जरा तीसरे, चौथे तथा पांचवें मण्डलों के प्रथम सूक्तों पर फिर दृष्टिपात कीजिये। तीसरे मण्डल के प्रथम सूक्त में दूसरे मन्त्र की ओर ध्यान दीजिये। उसमें कहा है—'प्राञ्चं॑ यज्ञं च॑कृम' हम स्वस्थ तथा सुशिक्षित मानवसमाज के सङ्गठन को आगे बढ़ाकर भिन्न-भिन्न बस्तियों की **आर्थिक समृद्धि** तक आगे बढ़ा लाये हैं। अब इन बस्तियों की **साहित्य-समृद्धि**=वाङ्मय का वैभव आगे बढ़े— 'वर्ध॑ताम् गीः' कैसे बढ़े ? यह बात पञ्चम मन्त्र में कही है—'**कुविभिः पुवित्रैः**' इस तृतीय मंडल का '**अग्नि**' वाङ्मय के वैभव की वृद्धि करने वाला है। चतुर्थ मण्डल में अग्नि को (=दण्डाध्यक्ष को) अपने भाई वरुण (=पाशाध्यक्ष) की ओर बढ़ने का आदेश दिया और वृत्रासुर से लड़ाई छेड़ दी

गई। आधा मण्डल भय के राज्य से भरा पड़ा है। उसके गुप्तचर घूम रहे हैं (४. ३ य सूक्त)। तीसवें सूक्त के पश्चात् भीषण रूप कम होता गया है और हृदय में जिस प्रकार नीले रक्त को जीतकर, लाल ताजा रुधिर दिया गया है, इसी प्रकार इस शुद्ध रक्त की **मधुमान् ऊर्मि** (४.५८) के फव्वारे के साथ चतुर्थ मण्डल की समाप्ति है। पञ्चम मण्डल के आरम्भ में **'मरुद्गण'** की रास संभाली गई। छावनी की सेना जागकर सैन्याभ्यास में लग गई—**'गणस्य रशनामजीगः'** (५.१ ३) और अन्त में सैनिक के पर्यायवाची **'मरुत्'** देवता के साथ ही इस मंडल की समाप्ति हुई। केवल यही मण्डल ऐसा है जिसके **उपक्रम** और **उपसंहार** दोनों में सैनिक सामने खड़े हैं।

अब षष्ठ मण्डल को देखिये। इसमें **रौद्र रूप** की तो कहीं-कहीं झलक मात्र है। **इन्द, रुद्र, मरुत्** जैसे भयङ्कर देवता भी यहाँ धन की वर्षा कर रहे हैं। क्योंकि धरती पर बसने वाली भिन्न-भिन्न बस्तियों के पारस्परिक आर्थिक सहयोग के लिये, परस्पर सहिष्णुता सबसे अधिक अपेक्षित है; सो सारा मण्डल इसी सहिष्णुता से भरा पड़ा है।

आप निम्नलिखित तीन वाक्यों की ओर ध्यान दीजिये—

प्रथम वाक्य है—'वितरम् विक्रमस्व' (अग्ने !) [४.१८.११]

द्वितीय वाक्य है—'वितरम् वि ष्कभायत्' (इन्द्रः) [५. २९.४]

तृतीय वाक्य है—'वितरम् वि भाहि' (अग्ने !) [६. १. ११]

सेना को पराक्रम कभी-कभी दिखाना पड़ता है। वह कब ! जब कि शत्रु आक्रमण करे। तब उसे सीमा पर रोकना तथा खदेड़ कर उसे पुनः आक्रमण के अयोग्य बना देना सेना का काम है। यह काम **'वि ष्कभायत्'** में किस सुन्दरता के साथ दिखाया गया है। सेना को रणक्षेत्र में भेजना सीधा राजा का काम है, इसलिये यह वाक्य इन्द्र के साथ लगा है। यहाँ पराक्रम का—**आगे बढ़कर चोट करने का** काम है।

परन्तु दण्डाध्यक्ष (=शासनाधिकारी) और वरुण (=पोलिस--विभागाध्यक्ष) इनका कार्य है, हृदय के समान रातदिन धक्-धक् करते रहना तथा शत्रु का पीछा करना; इसलिये चतुर्थ मण्डल का सम्बोधन **अग्नि** (दण्डाध्यक्ष) को किया गया है।

अब षष्ठ मण्डल में **अग्नि** का दाहक कर्म गौण हो गया है। अब तो सारे विश्व को आर्थिक शक्ति से भासमान करना है, इसलिये प्रथम सूक्त में सारी बस्तियों के प्रत्येक अग्रणी को कहा है—हे अग्ने ! =हे जननायक ! तू पहिले से अधिक भासमान हो जा—

'अग्ने वितरां विभाहि' ॥ (६. १. ११)

जिस प्रकार ऊपर तीन वाक्यों की तुलना की गई है, इसी प्रकार तीन शब्दों की भी तुलना करनी है। उनके साथ एक चौथा शब्द भी सम्मिलित होगा। वह चौथा शब्द है—**'विशः'**। यह पढ़ी और अनपढ़ हर प्रकार की प्रजा का नाम है। उन तीन शब्दों में से पहिला शब्द है—**'वसु'**। **'वसु'** वे लोग हैं जिनकी किसी राष्ट्र में बसने की शक्ति तथा योग्यता, उत्तम शिक्षा द्वारा जागृत हो चुकी

है। यह वही भावना है जिसे अंग्रेजी में Civic sense कहते हैं। दूसरा शब्द है 'वस्यान्' । जब इन 'वसु' लोगों में विश्वनागरिकता की भावना जागृत होने लगे तो उस अवस्था के जागृत मनुष्य को 'वस्यान्' कहा गया है। तीसरा शब्द है 'वसिष्ठ'। जिनके हृदय में विश्वमानुष उत्पन्न करने की भावना जागृत होकर पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुकी है, उन्हें 'वसिष्ठ' कहा गया है।

जो लोग वेद में 'वसिष्ठ' शब्द को संज्ञा शब्द (Proper Noun एक ऋषि-विशेष का नाम) बताते हैं, वे 'वसु', 'वस्यान्', और 'वसिष्ठ' इन तीन शब्दों की ओर ध्यान देने की कृपा करें। क्या कभी संज्ञा शब्द (Proper Noun) के साथ भी तर तथा तम प्रत्यय का प्रयोग देखा गया है ? किसी भी भाषा में **नैपोलियन, नैपोलियनर** तथा **नैपोलियनेस्ट** अथवा **शेक्सपीयर, शेक्सपीयरर** तथा **शेक्सपीयरेस्ट** शब्दों का प्रयोग कहीं देखा गया है ? इसी प्रकार 'वसु', वस्यान् और वसिष्ठ शब्दों को सामने रखने से संज्ञा-शब्द का भ्रम क्षणभर में भाग जायेगा।

अब, इन तीन शब्दों का प्रयोग कहाँ हुआ है ? इस ओर ध्यान देने से सारी उलझन सर्वथा समाप्त हो जायेगी। 'वस्यान्' शब्द केवल षष्ठ मण्डल (६.४१.४) तथा अष्टम मण्डल (८.१.६) में आया है। षष्ठ मण्डल में वह बनाया गया और अष्टम मण्डल में वह बनकर तैयार हो गया। इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऋग्वेद में यह शब्द नहीं है। हाँ 'वसु' शब्द सब मण्डलों में है ? परन्तु इस प्रकार के 'वसु' तथा 'वस्यान्' मनुष्य, बनायेंगे कौन? विश्व के प्रबुद्धतम राजनीतिज्ञ। बस इन्हीं का नाम 'वसिष्ठ' है। सप्तम मण्डल सारा का सारा इस शब्द से भरा पड़ा है। इस सारे मण्डल का ऋषि वसिष्ठ है। वसिष्ठ को वेद में प्राण कहा है—'वसिष्ठ ऋषिः ··· प्राणम् गृह्णामि' (यजुः = १३.५४)। शतपथ ब्राह्मण में इसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है—'प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः' (शत० ८.१.६)। बस ये ही राजनीति के पण्डित हैं—**विश्व-राजनीति के प्राण हैं**, इसीलिए 'राजा राष्ट्रानाम्' यह बहुवचनान्त राष्ट्र शब्द सप्तम मण्डल (७.३४.११) के अतिरिक्त सारे ऋग्वेद में कहीं नहीं आया।

इस **विश्वमानुष** उत्पन्न करने वाली राजनीति से पहिले विश्व की प्रजा के आर्थिक सहयोग की भूमिका बननी अत्यन्त आवश्यक है। बस, इसी का वर्णन षष्ठ मण्डल में किया गया है। इस सहयोग के लिये विश्व की समस्त बस्तियों में—चाहे वे राष्ट्र के रूप में विकसित हो चुकी हों अथवा नहीं हुई हों—परस्पर सहिष्णुता का होना अनिवार्य है, इस लिये इस मण्डल के प्रथम ही मन्त्र में—'सहसे सहध्यै' शब्द पड़े हैं। इस सहयोग का निर्माण वे करेंगे जिनमें साहस तथा सहिष्णुता हो, क्योंकि इनका सबसे अधिक विरोध अपने ही राष्ट्र के स्वार्थान्ध लोग—देशमोह को देश-भक्ति समझने वाले मूर्ख लोग करेंगे। जैसा कि व्यवहार 'मार्क्स' ऋषि के साथ हुआ, परन्तु यदि वे क्रोध में आगये तो आर्थिक सहयोग असम्भव है। राजनीतिक सहयोग तो कुछ काल के लिये दण्डभय से भी कराया जा सकता है। (ब्रिटिश राज्य में भारतीयों की बनी भारतीय सेना इस का ज्वलन्त उदाहरण है), परन्तु आर्थिक सहयोग तो सम्भव ही केवल प्रेम के सहारे है और वही विश्व-प्रेम के जन्म में सबसे

बड़ा सहायक है। इस लिये यहां कहा है कि, हे अग्ने ! = हे जननायक ! **'त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्याम्'** (६.१.५.)—धरती पर बसने वाली **क्षितयः** = बस्तियाँ तेरे कार्य को आगे बढ़ाती हैं। किनकी बस्तियाँ ? **मानुषाणाम्**। इस जननायक को किस लक्ष्य के लिये कार्य करना है ? **'सहसे सहध्यै'** (६.१.१) सहन-शक्ति तथा साहस उत्पन्न करने के लिये।

बस, अब हमारे लिये केवल इतना कार्य शेष है कि मण्डल के आदि से अन्त तक यह **'सहसे सहध्यै'** तथा आर्थिक सहयोग की शृङ्खला किस प्रकार अविच्छिन्न रूप से चल रही है, इस का दिग्दर्शन करा देना। सो अब इस का आरम्भ करते हैं।

साथ ही **'वस्यान्'** के समान **'यजीयान्'** आदि तरप् प्रत्य यान्तों के समकक्ष शब्दों की शृङ्खला भी मण्डलों में अक्षुण्ण है। जिसकी पहिली कड़ी **'वितरं वि भाहि'** (६.१.११) में है। इस की दूसरी कड़ी **'यजीयान्'** है। **'वसु'** से **'वस्यान्'** बना तो बस्तियाँ, जो कि छोटे-छोटे यज्ञ थे, उनका होता **विश्वमानुष** की ओर चला, इस लिये **'यजत'** अब **'यजीयान्'** बना। प्रथम मण्डल में **'यजीयान्'** कहीं नहीं। स्वास्थ्य तथा शिक्षा यज्ञ के मूल घटक हैं। फिर आर्थिक सम्पत्ति से **'यजीयान्'** हुआ, इस लिये २.९.४ में **'यजीयान्'** शब्द है। सङ्गठन का और अधिक विस्तार हुआ। वह साहित्य-सृष्टि की ओर बढ़ा; इसलिये ३.१०.७ तथा ३.१३.१ में **'यजिष्ठ'** शब्द है। तदनन्तर चतुर्थ मण्डल में वरुण भ्राता के साथ सङ्गठन हुआ तो **अग्नि** और **यजीयान्** हुआ, इस लिये चतुर्थ मण्डल (१.४,२.१ तथा ७,१) में फिर **'यजिष्ठ'** है। तत्पश्चात् पञ्चम मण्डल में सङ्गठन सैन्य सङ्गठन की ओर बढ़ा तो ५.१.५ तथा ५.१.६ में फिर **'यजीयान्'** है। अब ६.१.२ तथा ६.११.१ में और **'यजीयान्'** हुआ, परन्तु सप्तम मण्डल में **'यजीयान्'** कहीं नहीं है। ७.१५.६ में **'वसिष्ठः'** का भाई **'यजिष्ठः'** है। इससे हमारी बात कितनी पुष्ट होती है ? हाँ, दशम मण्डल में **'यजीयान्'** भरा पड़ा है, क्योंकि इसके अन्त में **'सङ्गच्छध्वं संवदध्वम्'** है। जिसके पश्चात् यजुर्वेद आरम्भ होगा। जिसकी व्याख्या दशम मण्डल के प्रसङ्ग में करेंगे।

यहाँ एक बात और मार्के की है। **'सहध्यै'** शब्द ६.१.१ तथा ७.३१.१२ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है, क्योंकि आर्थिक तथा राजनीतिक सहयोग के पश्चात् विश्वमानुष निर्माण होने पर विश्व ही एक मानवराष्ट्र हो गया, इसलिये षष्ठ तथा सप्तम मण्डल के अतिरिक्त **'सहध्यै'** कहीं नहीं है।

अब रहा आर्थिक सहयोग तो वह भी लीजिये— **'महो राये'** (२ य मन्त्र)—क्योंकि अब विश्वकोष की रचना होने जा रही है, इसलिये महान् **'रै'** के लिये कहा गया।

१३ वें मन्त्र में फिर **'वसूनि'** शब्द है।

द्वितीय सूक्त

द्वितीय सूक्त में अग्नि (= जननायक) स्वास्थ्य तथा पूर्ण आयु देने वाला बन कर और अतिथि होकर आता है—

'व्रयावन्तं स पुष्यति क्षयमग्ने शतायुषम्' ॥ (५ म मन्त्र)

...'असि प्रियो नो अतिथिः' ॥ (७ म मन्त्र)

उसके सहायक मरुत् भी 'दिवो नरः' = दिव्य मनुष्य हैं—

'सजोषस्त्वा दिवो नरः' ॥ (३ य मन्त्र)

उनके द्वारा हम दुराचरण की खाई को पार करते हैं—

...द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम ता तरेम तवावसा तरेम ॥ (११ श मन्त्र)

—हे जननायक ! तेरी सहायता से हम दुरितों के दल-दल को पार करें ॥

तृतीय सूक्त

हे अग्ने ! तेरे मार्ग-दर्शन से प्रजा को न तो पाप दबाते हैं और न बस्ती का मिथ्यभिमान (जो सहयोग का सबसे बड़ा शत्रु है) ही दबाता है—

नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्तिः ॥ (२ य मन्त्र)

उसकी दृष्टि सूर्य के समान निष्पाप हो जाती है—

सूरो न यस्य दृशतिररेपाः ॥ (३ य मन्त्र)

अथवा उसका चेहरा सूर्य के समान निष्पाप हो जाता है।

'मरुतां शर्धः' = सैनिक शक्ति भी उग्र, किन्तु मङ्गल रूप धारण करती है—

शर्धो वा यो मरुतां ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत् ॥ (८ म मन्त्र)

चतुर्थ सूक्त

अग्नि सब देवों को इकट्ठा करता है और वे देव प्रसन्नता से मनुष्यों के कल्याण के लिये इकट्ठे होते हैं—

एवा नो अद्य समना समानानुशन्नग्न उशतो यक्षि देवान् ॥ (१ म मन्त्र)

हे अग्ने ! तू हमें कपट-रहित और लोभ-रहित मार्गों से धन तक निर्विघ्न रूप से पहुँचाता है और विश्वकलहरूप पाप से पार उतारता है—

नू नो अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः ॥ (८ म मन्त्र)

पञ्चम सूक्त

हे भाइयो ! सहन-शक्ति के पुत्र, द्रोह-रहित वाणी बोलने वाले और यविष्ठ अर्थात् जोड़ मिलाने में निपुणतम युवा जननायक को तुम्हारे लिये बुला कर लाता हूँ; जो कि विश्वहितैषी, सदा जागरूक (=प्रचेताः) बहुजनहितकारी (=विश्ववाराणि) धन देता है—

हुवे वः सूनुं सहसो युवानमद्रोघवाचं मतिभिर्यविष्ठम् ।

य इन्वति द्रविणानि प्रचेता विश्ववाराणि पुरुवारो अध्रुक् ॥ (१ म मन्त्र)

वह ऐसे धन देता है जिन के कारण विश्व की बस्तियाँ इस चबूतरे पर सौभाग्य प्राप्त करती हैं—

क्षामेव विश्वा भुवनानि यस्मिन्त्सं सौभगानि दधिरे पावके ॥ (२ य मन्त्र)

(क्षामेव=दृढ़निवासस्थानानीव) ।

व्यानुषग् जातवेदो वसूनि ॥ (३ य मन्त्र)

हे सहनशक्ति के पुत्र ! तू कलह के मूल स्पर्धा को दूर कर और एक राष्ट्र बना—

'सूनो सहसः' (५ म मन्त्र)। 'स्पृधो बाधस्व' (६ ष्ठ मन्त्र)

हम तेरी रक्षा में उत्तम वीर उत्पन्न करने वाले धन का उपभोग करें—

···'तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम् ॥ (७ म मन्त्र)

षष्ठ सूक्त

हे शुचे अग्ने ! तेरे पवित्र तेज संसार में विचर रहे हैं और वे वनों से (स्नेहशीलों से) प्यार करते हैं और ढीठों को दण्ड देते हैं—

भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति···वना वनन्ति धृषता रुजन्तः ॥ (३ य मन्त्र)

यह अग्नि स्थूल भौतिक अग्नि नहीं है।

उसके घोड़े अर्थात् संदेशवाहक धरती में बीज बोते हैं—शुक्रासः शुचयः अश्वाः क्षां वपन्ति

ये ते शुक्रासः शुचयः शुचिष्मः क्षां वपन्ति विषितासो अश्वाः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यहाँ स्पष्ट है कि इस प्रकरण का अग्नि स्थूल अग्नि नहीं है, क्योंकि स्थूल अग्नि के अश्व नहीं होते और उसकी ज्वालाएँ—वनानि दहन्ति, न तु वनन्ति; अत्र तु—

'वना वनन्ति धृषता रुजन्तः'

वह स्पर्धा के स्थान पर सहनशक्ति उत्पन्न करता है। जो स्पर्धा फैलाते हैं उन्हें ढूंढकर मारता है—

स बाधस्वाप भया सहोभिः स्पृधो वनुष्यन् वनुषो नि जूर्व ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे अग्ने ! तू हमें, चेतना उत्पन्न करने वाला, चेतन करने वाला, चैतन्य-वर्धकतम, आयुवर्धक, आनन्ददायक और वीरबहुल धन प्राप्त करा। हे चित्रक्षत्र ! हे चन्द्र ! तेरी कृपा से हमारे धनप्राप्ति के उपाय भी आनन्दवर्धक हों—

स चित्र चित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमं वयोधाम् ।
चन्द्रं रयिं पुरुवीरं बृहन्तं चन्द्र चन्द्राभिर्गृणते युवस्व ॥ (७ म मन्त्र)

इस, विश्वभर के हितैषी (=वैश्वानरं), ज्ञान के उत्पन्न (=ऋत आजातं), कवि, लोक-

हृदय-सम्राट्, परिव्राजक (=अतिथि) तथा सब प्रकार के दान के पात्र अग्नि को ससार के विद्वानों ने मुख में (=आसन्) विद्यादान द्वारा उत्पन्न किया है। इसका शरीर योनिज है, परन्तु इसके वैश्वानरत्वादि गुण विद्वज्जनमुख-प्रादुर्भूत-दिव्योपदेशजन्य हैं—

सप्तम सूक्त

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ (१ म मन्त्र)

यह स्वयं धन नहीं ढूंढता, परन्तु विश्व की प्रजा के लिये धनों का समागम-सदन है—

सदनं रयीणाम् ॥ (२ य मन्त्र)

हे जनराजन् ! ब्राह्मण भी तेरे शिष्य हैं और वीर क्षत्रिय भी। तू हमें सहयोगजन्य, स्पृहणीय धन देता है—

त्वद् विप्रो जायते वाज्यग्ने त्वद् वीरासो अभिमातिषाहः ।
वैश्वानर त्वमस्मासु धेहि वसूनि राजन्त्स्पृहयाय्याणि ॥ (३ य मन्त्र)

हे वैश्वानर ! विद्वानों ने तुझे विद्या के द्वारा मुख से जन्म दिया है। (१ म मन्त्र), इस दिव्य जन्म के काल में तुझे ज्ञान का झण्डा दिया गया। इस झण्डे का सर्वत्र स्थापन करने के निमित्त तूने जो व्रत लिये हैं, उनसे तुझे कोई हर्गिज नहीं हटा सकता—

वैश्वानर तव तानि व्रतानि महान्यग्ने नकिरा दधर्ष ।
यज्जायमानः पित्रोरुपस्थेऽविन्दः केतुं वयुनेष्वह्नाम् ॥ (५ म मन्त्र)

हे वैश्वानर ! तूने अपने उपदेश से (=चक्षसा) ज्ञान के हर शिखर पर अमृत का झण्डा गाड़ दिया है। जिसे देखकर, पांच प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन सात ज्ञान की चोटियों पर हर मनुष्य उस झण्डे को देखकर चढ़ता रहे—

वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य केतुना ।
तस्येदु विश्वा भुवनाधि मूर्धनि वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

अष्टम सूक्त

यह वैश्वानर स्थूल अग्नि नहीं है। विश्वहितकारी संन्यासी का ही दूसरा नाम **वैश्वानर है।** विश्व में सहयोग संन्यासी ही ला सकते हैं, इसलिये प्रथम मन्त्र में 'सहः' = सहन-शक्ति का वर्णन है।

वैश्वानर '**व्रतपा**' है—व्रतों की रक्षा करता है—

'व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत' ॥ (२ य मन्त्र)

यह अद्भुत अग्नि है। यह स्थूल अग्नि नहीं। यह अन्दर गति करते हुए ज्योति से अन्दर के अन्धकार का निवारण करता है—

...'मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः' ॥ (३ य मन्त्र)

(वावत् = गतिं कुर्वन्) ।

स्थूल अग्नि तो बाह्य अन्धकार को दूर करता है जब कि यह अग्नि अन्दर के अन्धकार को दूर करता है। यही इसका अद्भुत तत्व है।

जल के किनारे योगाभ्यासी महान् विद्वानों ने शिष्य-रूप में ग्रहण कर उसे योग्य बनाया और प्रजाहितकारी वेदवक्ता शिष्य बनाकर वे प्रजा के सामने उपस्थित हुए कि यह तुम्हारा विचारशासक राजा है—

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम् ॥ (४ थं मन्त्र)

(महिषाः = महाविद्वांसः)।

हे वैश्वानर ! तू हमें यशोवर्धक नवीन धन दे और अपने ज्ञानचक्र के पहियों से पापियों को कुचल दे अर्थात् उनका अज्ञान दूर कर दे—

युगेयुगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्।

पव्येव राजन्नघशंसमजर नीचा नि वृश्च वनिनं न तेजसा ॥ (५ म मन्त्र)

उसके यहाँ काले-गोरे में, ज्ञानी-अज्ञानी में कलह नहीं है। वह कहता है **'काले गोरे पर क्यों लड़ते हो। भगवान् ने २४ घन्टे का दिन बताया है। उसका आधा भाग काला और आधा भाग गोरा है।** यदि तुम अज्ञानियों अथवा धनहीनों को काले कहते हो तो, हे लोगो ! यह ज्ञान की अथवा ऐश्वर्य की सम्पत्ति दिन-रात के समान परिवर्त्तन-शील है। जिसे तुम आज ज्ञानहीन अथवा धनहीन, अतएव काला समझते हो, वे सर्वदा वैसे ही रहने वाले नहीं है। सम्भव है कल आलस्य और प्रमाद तुम्हें काला बना दे और जिन्हें कपड़ा पहनना भी नहीं आता वे ही जंगली ज्ञान-सम्पन्न अथवा धन-सम्पन्न होकर तुमसे घृणा करने लगें, इसलिये जो ज्ञानहीन या धनहीन हैं उनका अज्ञान अथवा दारिद्र्यरूप-अन्धकार तुम अपनी ज्योति से दूर कर दो। **वैश्वानर** ने अपने जन्म दिन से (= स्नातक अथवा संन्यासी बनने के दिन से) यही काम किया है—

नवम सूक्त

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।

वैश्वानरो जायमानो न राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥ (१ म मन्त्र)

मुख से जन्म का प्रमाण ७ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में है **('आसन्ना पात्रं जनयन्त देवाः')** इसका स्पष्ट प्रमाण शतपथ में है। शतपथ ब्राह्मण के ११ वें काण्ड ....में प्रश्न उठा है कि जिस दिन आचार्य किसी ब्रह्मचारी का उपनयन करता है उस दिन अपनी पत्नी के साथ मैथुन करे वा नहीं ? उत्तर दिया है—'कि अवश्य ही करे, ऐसी कोई बात नहीं है अर्थात् करना आवश्यक नहीं है और यदि किन्हीं अन्य कारणों से आवश्यक हो तो भले ही करे। क्योंकि आचार्य शिष्य को उपस्थेन्द्रिय से तो उत्पन्न करता नहीं। वह तो मुख से उसे उत्पन्न करता है—

'तदु वा आहुः काममेव चरेत् द्वय्यो वा इमाः प्रजा दैव्यश्च मानुष्यश्च मानुष्यः प्रजाः प्रजननात् प्रजायन्ते। छन्दांसि वै दैव्यः प्रजाः, तानि मुखतो जनयते तत एतं जनयते तस्मादु काममेव चरेत्। (शत, ११.५.४.१७)

सिद्धान्त-पक्षी उस प्रसङ्ग में यों निर्णयवचन कहते हैं कि भले ही (मैथुन) करे। क्योंकि सन्तान का जन्म दो प्रकार का होता है। एक मानुष जन्म और एक दिव्य जन्म। मानुष जन्म जननेन्द्रिय से होता है, इसलिये जननेन्द्रिय से तो मनुष्य-देह उत्पन्न होता है; परन्तु दिव्य जन्म तो मनुष्य को व्रतोपदेश द्वारा छन्दोवद्ध, व्रतबद्ध जीवन बिताना सिखाना है। यह छन्द अर्थात् वेदविद्या के उपदेश द्वारा ही सम्भव है, इसलिये दिव्य जन्म मुख से दिया जाता है और क्योंकि आचार्य शिष्य को मुख से जन्म देता है, इसलिये उपस्थेन्द्रिय से धर्म्मानुकूल मैथुन भले ही करे।

वैश्वानर ही दिव्यवस्त्र बुन सकता है, क्योंकि उसके पास ज्ञान का अमृतमय भण्डार भरा हुआ है—

स इत् तन्तुं स विजानात्योतुम्....य ईं चिकेतदमृतस्य गोपाः ॥ (३ य मन्त्र)

वह वैश्वानर मनुष्यों को आन्तरिक आध्यात्मिक ज्योति देता है। यही मनुष्य के मरणशील शरीर में अमर ज्योति है—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यह ज्योति हृदय में निहित है—

वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

जब तू निर्दय होकर अन्धकार को कुचलने के लिये रुद्ररूप धारण करता है तो सब विद्वान् भयार्त्त होकर तुझे नमस्कार करते हैं—

विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम् ॥ (७ म मन्त्र)

संन्यासी का प्रकरण समाप्त हुआ। अब उसके अनुयायियों का प्रकरण आयेगा।

दशम सूक्त

साधारण जननायक अग्नि, उस उपदेश से आप्यायित होकर हमें, व्रज (=चरागाह) और गौएँ देता है—

पीपाय स श्रवसा मर्त्येषु यो अग्नये ददाश विप्र उक्थैः।
चित्राभिस्तमूतिभिश्चित्रशोचि र्व्रजस्य साता गोमती दधाति ॥ (३ य मन्त्र)

जहाँ अन्धकार है वही उसका रास्ता है। उसकी भास्=रोशनी दूर से दिखाई देती है। लोग उसकी ओर खिचते हैं—

आ यः पप्रौ जायमान उर्वी दूरेदृशा भासा कृष्णाध्वा ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे अग्ने! जो प्रभु-आराधना से अथवा दान द्वारा लोकाराधना से (=राधसा) और यश तथा शास्त्र-श्रवण से (=श्रवसा) औरों की अपेक्षा आगे बढ़ते हुए हैं, परन्तु जनमात्र के सामने

यह राधस् और श्रवस् लेकर उपस्थित रहते हैं, उन भाग्यशालियों को (=मघवद्भ्यः) तथा हम साधारण जनों को तू धन दे—

नू नश्चित्रं पुरुवाजाभिरूती अग्ने रयिं मघवद्भ्यश्च धेहि ।
ये राधसा श्रवसा चात्यन्यान्त्सुवीर्येभिश्चाभि सन्ति जनान् ।। (५ म मन्त्र)

तू सब के मनों में (=भरद्वाजेषु) उत्तम दान की भावना (=सुवृक्तिम्) भरता है—

'भरद्वाजेषु दधिषे सुवृक्तिम्' ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

(मनो वै भरद्वाज ऋषिः' शत. ब्रा. ८.१.१.९ [यजुः १३.५५ की व्याख्या में])

हमारी इडा की वृद्धि कर अर्थात् अन्न बढ़ा अथवा वाणी की वृद्धि कर। हम सौ वर्ष तक मस्त रहें—

'वर्धयेळां मदेम शतहिमाः सुवीराः' ।। (७ म मन्त्र)

एकादश सूक्त

इस सूक्त के षष्ठ मन्त्र में फिर 'सहसः सूनो' से कहा है कि तू 'रायः दशस्य' हमें धन दे ।

तृतीय मन्त्र में कहा है 'रेभ' (कवि) मीठे छन्द बोल रहा है—

'मधु च्छन्दो भनति रेभ इष्टौ' ।।

सो शान्त और धनवर्धक आर्थिक सहयोग की शृंखला अक्षुण्ण है ।

द्वादश सूक्त

यहाँ जननायक अग्नि फिर 'सहसः सूनुः' कहकर पुकारा गया है—

'अयं स सूनुः सहस ऋतावा' ।। (१ म मन्त्र)

इस प्रकार सहिष्णुता की शृंखला में एक और कड़ी बढ़ गई ।

षष्ठ मन्त्र में फिर वही मांग है— वेर्षि रायः—तू धन देता है । तेरी कृपा से 'मदेम शतहिमाः सुवीराः' हम सौ वर्ष तक मस्त रहें—

त्रयोदश सूक्त

यहाँ फिर सहन-शक्ति के पुत्र से कहा गया है—'जो मनुष्य तेरी शक्ति को पैना करता है वह धान्यसमृद्ध होता है और धनगम्य वैभव उस पर टूटकर पड़ता है'—

यस्ते सूनो सहसो गीर्भिरुक्थैर्यज्ञैर्मर्तो निशितिं वेद्यानट् ।
विश्वं स देव प्रति वारमग्ने धत्ते धान्यं१ पत्यते वसव्यैः ।। (४ र्थ मन्त्र)

चतुर्दश सूक्त

यहाँ उस जननायक को 'वेधस्तमः' ऋषि कहा गया है अर्थात् वह रचनात्मक कार्य करने वालों में श्रेष्ठ ऋषि है—

'अग्निर्वेधस्तम ऋषिः' ॥ (२ य मन्त्र)

हे जननायक ! तेरी आज्ञा पाकर नाना प्रकार के धन (=रायः) तेरी प्रजा (=अर्यः)* वनकर स्पर्धा करते हैं कि किसे क्या आज्ञा मिलती है। तब उस धन से तेरे प्रगतिशील भक्त (=आयवः) दस्युओं का वध करते हैं सो कैसे कि व्रतहीन को व्रत की शिक्षा देते हैं अथवा अपनी व्रतपालन शक्ति से व्रतहीनों को व्रतयुक्त बनाकर, उनके आक्रमण को सहन करने की इच्छा करते हैं—

नाना ह्य१ग्नेऽवसे स्पर्धन्ते रायो अर्यः ।
तूर्वन्तो दस्युमायवो व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम् ॥ (३ य मन्त्र)

जो तेरा भक्त है उसका धन उसे सहनशील बनाता है। उसने जिस धन का वरण किया है उस का युद्ध में कोई निवारण नहीं कर सकता—

अग्निर्हि विद्मना निदो देवो मर्तमुरुष्यति ।
सहावा यस्यावृतो रयिर्वाजेष्ववृतः ॥ (५ म मन्त्र)

तेरे द्वारा हम दुरितों से पार हों—

द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम ता तरेम तवावसा तरेम ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

पञ्चदश सूक्त

यह जननायक संसार की सब प्रजाओं का अतिथि वनता है तथा अपने गुणों से समस्त प्रजाओं का पति है—

इममू षु वो अतिथिमुषर्बुधं विश्वासां विशां पतिमृञ्जसे गिरा ॥ (१ म मन्त्र)

हे अग्ने ! तू संसार को वीर्य की (=दक्षस्य) वृद्धि निष्कपट भाव से सिखाता है। तू पराई प्रजाओं के भी अन्तःकरण में तरणशीलता उत्पन्न करता है। तू हमें धन दे—

स त्वं दक्षस्यावृको वृधो भूरर्यः परस्यान्तरस्य तरुषः ।
रायः सूनो सहसो मर्त्येष्वा छर्दिर्यच्छ वीतहव्याय सप्रथो भरद्वाजाय सप्रथः ॥ (३ य मन्त्र)

(दक्षः=वीर्यम्, देखो—यजुः १४.३ की व्याख्या पर शतपथ. ८.२.७.६)

वह जननायक हमारे लिये विद्वानों के द्वार खोलता है—

* 'प्रजा वा अर्यः' । शत. ३.९.४.२१ प्रजा वा अरीः ॥

'देवो देवेषु वनते हि वार्यं...' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

जो मेधावी कवि हैं (७ म मन्त्र) जिनके कि व्रत का वह अनुगामी है तथा जो उसके अनुव्रत हैं दोनों का वह आभूषण है अर्थात् अपने बड़े देवों का तथा अपने अनुगामी साधारण मनुष्यों का वह सुशोभयिता है—

देवासश्च मर्तासश्च जागृविम् ॥ (८ म मन्त्र)

विभूषन्नग्न उभयाँ अनु व्रता ॥ (९ म मन्त्र)

वह स्वयं सब ज्ञान की बातों को जानता है—

स यक्षद् विश्वा वयुनानि विद्वान् ॥ (१० म मन्त्र)

वह धन से तथा बल से—दोनों से रक्षा करता है—

तमित् पृणक्षि शवसोत राया ॥ (११ श मन्त्र)

वह सहनशक्ति-सम्पन्न है—'सहसावन्' (१२ श मन्त्र)

वह गृहस्थ है तथा देव और मर्त्त दोनों का 'यजिष्ठ' होने से इन दोनों का राजा है—

अग्निर्होता गृहपतिः स राजा···देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठः ॥ (१३ श मन्त्र)

वह ज्ञान का वृद्धि करने वाला है—

'ऋतावृधः' (१८ श मन्त्र)

षोडश सूक्त

दस्युहन्तमम् । धनञ्जयं रणेरणे ॥ (१५ श मन्त्र)

—दस्युओं को मारने वालों में यह जननायक सर्वश्रेष्ठ है। हर युद्ध में, यह **लोककल्याणार्थ** धन जीतकर लाता है।

इस मण्डल में अग्नि की दृष्टि 'वस्वी'=धरती को बसाने वाली है—सुशिक्षित वसु (पूर्णतया विकसित राजनीतिक चेतना-सम्पन्न नागरिक) बनाने वाली है—

वस्वी ते अग्ने संदृष्टिरिषयते मर्त्याय ।
ऊर्जो नपादमृतस्य ॥ (२५ श मन्त्र)

जो मन भूखी प्रजा के लिये अन्नादि सामग्री पहुँचाने की चिन्ता करे तथा उपाय ढूंढ निकाले उसका नाम 'भरद्वाज' है (शत. ८.१.१.९)। यह जननायक ऐसे ऋषियों का श्रद्धापूर्वक संग्रह करता है। यह उनके उपदेश तथा आदेश सहन करने में 'सहन्त्य' है=निपुण है—

भरद्वाजाय सुप्रथः शर्म यच्छ सहन्त्य ।
अग्ने वरेण्यं वसु ॥ (३३ श मन्त्र)

वह वृत्रवध के लिये धन तो चाहता है, परन्तु साथ ही यह चाहता है कि लोग उसके गुणों पर मुग्ध होकर स्तुति करते हुए स्वयं **लोककल्याणार्थ** प्रवाहित होने वाला द्रविण उसे दें—

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ॥ (३४ श मन्त्र)

वीर सैनिक उसके आदेश के वाहक हैं तथा सेनापति के मन्यु के सहायक हैं—

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाऽश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्ति मन्यवे ॥ (४३ श मन्त्र)

ऐसे सच्चे यज्ञशील को सब हाथ जोड़कर **नमस्ते** करें—

होतारं सत्ययजं रोदस्योरुत्तानहस्तो नमसा विवासेत् ॥ (४६ श मन्त्र)

वह **'वृत्रहन्तम'** है । वह राक्षसों को दूर करता है तथा वसु से घर भरता है—

इन्धते वृत्रहन्तमम् । येना वसून्याभृता ॥ (४८ श मन्त्र)

सप्तदश सूक्त

यहाँ से इन्द्र के सूक्त आरम्भ होते हैं । हर बस्ती का राजा, राष्ट्रों के एकीकरण-रूप इस पवित्र यज्ञ में सम्मिलित हो । वृत्रघाती इन्द्र इस मण्डल में क्या रूप लेकर आया है, यह देखने योग्य है ।

ज्ञानरूप सूर्य का प्रकाश कर—

वृषभो यो मतीनाम् ॥ (२ य मन्त्र)

आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ (३ य मन्त्र)

अन्न को वृद्धि प्रदान कर और शत्रुओं को मार ।

इस मण्डल में यद्यपि इन्द्र का रौद्र रूप भी विद्यमान है, किन्तु प्रधानता सौम्य रूप की है ।

हे इन्द्र ! तूने ज्ञानवर्धक तथा उत्साहवर्धक साहित्य को प्रोत्साहन दिया, परन्तु क्रूरों का उन्मूलन करते हुए—

येभिः सूर्यमुषसं मन्दसानोऽवासयोऽप दृळ्हानि दर्द्रत् ॥ (५ म मन्त्र)

तूने विद्वानों और छात्रों को सहारा दिया—**देवपुत्रे ऋतस्य मातरौ रोदसी अधारयः**—

अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य ॥ (७ म मन्त्र)

ज्ञान-क्षेत्र के **द्यावापृथिवी** (= रोदसी) **विद्वान्** तथा **शिष्य** हैं अथवा यों कहिये, **नेता** तथा **नीयमान** हैं—

इस प्रसङ्ग में **अहि**=अजगर के समान पेंच डालकर गति बन्द करने वाला अज्ञानी ही वृत्रासुर कहलायेगा । हे इन्द्र ! उसके अज्ञान को तूने मार गिराया—

अहिं यदिन्द्रो अभ्योहसानं नि चिद् विश्वायुः शयथे जघान ॥ (९ म मन्त्र)

तेरे सिपाही विद्वान् सैंकड़ों परिपक्व, बड़े-बड़े (=Big ones=महिषान्) दिग्गज विद्वान् तय्यार करते हैं, जिससे तेरे ज्ञान का राज्य बढ़ता है। यही तेरे बढ़ावे का साधन है—

वर्धान् यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम् ।। (११ श मन्त्र)

विष्णु ने=संगठित प्रजा ने तेरे लिये तीन बड़े कोष तैयार किये हैं। वे तीन कोष हैं—ब्रह्मचारिसहायक कोष, गृहस्थसहायक कोष और वानप्रस्थसहायक कोष, जहाँ कि राष्ट्रकोष सोम, इन तीन सरोवरों में तीन आश्रमों की सहायता के लिये-यथासमय पाने के लिये सञ्चित रहता है।

ब्रह्मचर्य-सहायक कोष (=छात्रवृत्ति), गृहस्थ-सहायक कोष (=पुस्तकालय) और वानप्रस्थ-सहायक कोष (विश्वविद्यालयों के लिये अनुदान) ये तीन सरोवर हैं।

विष्णु तथा पूषा ने अर्थात् मानवसमाज तथा राष्ट्र-कोष ने मिलकर यह कार्य किया है।—

पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै ।। (११ श मन्त्र)

यहाँ से सहायता की नदियां बहती हैं—

आ क्षोदो महि वृतं नदीनाम् ॥ (१२ श मन्त्र)

हे राजन् ! तेरे वीर सैनिक, तेरे उत्तम आयुध, तेरा वज्र और तेरे आश्रित विद्वन्मण्डल ये सब मिलकर इन तीन सरोवरों को भरते हैं तथा अज्ञान-रूप वृत्र का वध करते हैं—

एवा ता विश्वा चकृवांसमिन्द्रं महामुग्रमजुर्यं सहोदाम् ।
सुवीरं त्वा स्वायुधं सुवज्रमा ब्रह्म नव्यमवसे ववृत्यात् ॥ (१३ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू हमें शक्ति (=वाज), अन्न (=इष्) और धन (रै) प्राप्त कराने के लिये, निःस्पृह ब्राह्मणों को नियत कर। जो त्याग, तप और विद्या से देदीप्यमान हों। हे इन्द्र, हमारे मन प्रजा के दारिद्र्य को नाश करने में तत्पर हैं (=भरद्वाज हैं), इसलिये यह सामग्री देने वाले भरद्वाज ऋषि हमें दें—

स नो वाजाय श्रवस इषे च राये धेहि द्युमत इन्द्र विप्रान् ।
भरद्वाजे नृवत इन्द्र सूरीन् दिवि च स्मैधि पार्ये न इन्द्र ।। (१४ श मन्त्र)

(मनो वै भरद्वाज ऋषिः, शत. ८.१.१.९)।

अष्टादश सूक्त

वह राजा अपूर्व योद्धा है। आक्रमण सहन भी करता है और अज्ञान-रूप वृत्रासुर से संग्राम भी करता है (=खजकृत्)। क्यों न हो, वह प्रजा की मस्ती में अपनी मस्ती समझता है (=समद्वा) वह जबरदस्त स्नेहकर्त्ता है (=तुविम्रक्षः Great lubricator), वह घोषणा-पूर्वक तल तक पहुंचता है। वह ज्ञानसागर के तल से ज्ञान लाकर अज्ञानसागर के गम्भीरतम तल में डूबे हुए लोगों तक ज्ञान-ज्योति पहुंचाने वाला तलगामी (=ऋजीषी) है। अज्ञान के पर्वतों के कण-कण चूर्ण करके ज्ञान-

ज्योति से चमका देने वाला 'बृहद्रेणु' 'च्यवन' है। वह मानव की पांचों कृष्टियों का भार सहन करने में समर्थ है—

स युध्मः सत्वा खजकृत् समद्वा तुविम्रक्षो नदनुमाँ ऋजीषी ।
बृहद्रेणुश्च्यवनो मानुषीणामेकः कृष्टीनामभवत् सहावा ।। (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू दस्युओं को छठी कृष्टि समझता है अर्थात् कृषि से अस्पृष्ट भूमि (अहल्या = रात्रि के समान अन्धकार-मयी, जिसमें हल न चला हो) समझता है और उसमें अपना ज्ञान का हल चला कर उसे तू अकेला ही संभालता है। **आर्य अर्थात् सुकृष्ट** मनुष्य को तूने यही काम बांटा है-**'दस्यु को आर्य बनाना'**। यह तेरे वीर्य का चमत्कार है। तू दस्युओं को भी ऋतुवद्ध जीवन का उपदेश पहुंचाकर आर्य बना दे—

त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय ।
अस्ति स्विन्नु वीर्यं१ तत् त इन्द्र न स्विदस्ति तदृतुथा वि वोचः ।। (३ य मन्त्र)

हे सहनशील ! इसीलिये तुझे सहिष्ठ' The most tolarant की उपाधि मिली है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तू सुस्त है। तू तो गतिशील को और गतिशील बनाता है(=तुरस्य तुरः)-

सदिद्धि ते तुविजातस्य मन्ये सहः सहिष्ठ तुरतस्तुरस्य ।। (४ र्थ मन्त्र)

क्या यह वेदभक्तों के लिये आनन्द देने वाली तथा वेदविरोधी दुरात्माओं के दिल दहलाने वाली बात नहीं है कि इन्द्र का 'सह्योः' (१२ श मन्त्र) तथा सहिष्ठ सम्बोधन, सिवाय षष्ठ मण्डल के और इस षष्ठ मण्डल के भी इस १८ वें सूक्त के अतिरिक्त सारे ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं नहीं आया है। धरती की बस्तियों के परस्पर सहयोग कराने में तत्पर राजा का इससे अच्छा विशेषण और क्या हो सकता है ? इस षष्ठ मण्डल के प्रथम सूक्त में तथा उसके भी प्रथम मन्त्र में पड़े **'सहसे सहध्यै'** का मणि-सूत्र कैसे अविच्छिन्न रूप से सूक्त-मणियों की माला बनाता आ रहा है, परन्तु ये अहि लोग (=वेदविमुख लोग) तो विना वज्र-प्रहार के अजगर का 'पेंच' छोड़ने वाले नहीं हैं। हे वेदभक्तो ! **यतीन्द्र दयानन्द के झण्डे के नीचे इकट्ठे होकर इन दुरात्माओं पर तर्क के वज्र का ऐसा प्रहार करो कि इनमें से कोई शेष न बचे--**

मा अमीषां कञ्चनोच्छिषः ।। (ऋ० ६ । ७५ । १६)

वह इन्द्र उग्र के प्रति उससे भी अधिक उग्र है, बलवान् से बलीयान् है (=तवसस्तवीयान्) निराशा-ग्रस्तों की आराधना-शक्ति को उत्तेजित करने वाला (रध्रस्य ग्ररध्रतुरः) है। तुम भी ऐसे बनो—

उग्रमुग्रस्य तवसस्तवीयोऽरध्रस्य रध्रतुरो बभूव ।। (४ र्थ मन्त्र)

ज्ञान के मार्ग में अज्ञान-रूप वृत्रासुर के जो वल=लपेट (नाना प्रकार की रूढ़ियों के पक्ष-

---

* यह 'वल' है। पवर्गीय बल नहीं। अपितु 'य र ल व' वाला वल है, जिससे कि वलय बनता है और जिससे बुढ़ापे की झुर्रियां 'वल' कहलाती हैं।

पात, जैसे भूतप्रेतादि का मिथ्यात्व, तर्क द्वारा जान लेने पर भी उसका 'बल' बहुत देर के अभ्यास के पश्चात् दूर होता है) हमारे मस्तिष्कों में पड़े हुए हैं, जो उन विज्ञान-वेत्ताओं की सङ्गति से ही जाते हैं; जिनके न केवल मस्तिष्क में, अपितु अङ्ग-अङ्ग में **तत्व-ज्ञान** का रस बस चुका है। वे इस **बल** को ललकार रहे हैं—हे इन्द्र! हे सच्चे राजन्! तुम्हारा हमारे साथ जो अनादि अनन्त **सख्य** है वह इस ललकार में सहायक होवे अर्थात् सच्चे परमात्मा तथा तदनुवर्त्ती सच्चे विज्ञानप्रिय राजा का सच्चे वैज्ञानिकों से सनातन सख्य है। वही रूढ़िवाद के पेंच खोलने में सहायक होता है और इनके दूर होने पर ज्ञान-भण्डार के द्वार खुल जाते हैं—

तन्नः प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः ।
हन्नच्युतच्युद् दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः ॥ (५ म मन्त्र)

इसीलिये इस प्रसङ्ग में इन्द्र को **'धीभिः हव्यः'** प्रज्ञा द्वारा निमन्त्रणीय कहा है। इस **वृत्रतूर्य** में—**अज्ञाननाश** में वही हमारा नेतृत्व करता है—

स हि धीभिर्हव्यो अस्त्युग्र ईशानकृन्महति वृत्रतूर्ये ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

वह राजा कोई अलौकिक फरिश्ता नहीं है। वह **'नृतम'** है, Manliest man है। यह 'तम' प्रत्यम उसमें कैसे लगा? क्योंकि उसने प्रजा को अज्ञानरूप वृत्रासुर से लड़ने के लिये **मज्मना** = ज्ञानसागर की गहराई में डुबकी लगाने वाले **मज्म** से, **धन** से (चमकदार सिक्के से, बल से तथा संपत्ति [राया) से] सुसज्जित करके मरणधर्मा मनुष्य को मनुष्य नाम देकर अमर कर दिया। शरीर तो मर जायेंगे, परन्तु मनुष्य के मनन से उत्पन्न ज्ञान अमर है। उसने मनुष्यों को वीर्य दिया क्योंकि वह ब्रह्मचारी बनकर वीर्यरक्षा के पवित्र भवन में घर बनाकर बैठा है। ऐसा है मार्गदर्शक भगवान् और ऐसा है तदनुवर्त्ती सच्चा राजा—

स मज्मना जनिम मानुषाणाममर्त्येन नाम्नाति प्र सर्स्रे ।
स द्युम्नेन स शवसोत राया स वीर्येण नृतमः समोकाः ॥ (७ म मन्त्र)

वह न तो मोह में फंसता है और न काम का ग्रास बनता है, न मार्ग-भ्रंशकारी लोभ का ग्रास बनता है और न आलस्य का और न ही क्रूरता का, इसलिये वह, **शिशुचुम्बनग्रस्त 'चुमुरि'** (**= मोह**) का, अङ्ग-अङ्ग का मन्थन करने वाले वेपथु उत्पन्न करने वाले **'धुनि'** (**काम**) का, दूसरों के पालनपोषण के प्रलोभन द्वारा उनका अर्थहरण करने वाले-**'पिप्रु'** (**= लोभ**) का, सर्वभूतहित कामना को भार बनाकर कल्याण का द्वार आच्छादन करने वाले **'शम्बर'** (**= आलस्य**) का और क्रूरकर्मा दीनजनशोषक **'शुष्ण'** असुर (**= क्रूरता**) का, इन पांचों में से किसी का भी ग्रास नहीं बनता है। उलटा वह सच्चा राजा इन सब को **'वृणक्'** काट गिराता है—

स यो न मुहे न मिथू जनो भूत् सुमन्तुनामा चुमुरिं धुनिं च ।
वृणक् पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः पुरां च्यौत्नाय शयथाय नू चित् ॥ (८ म मन्त्र)

वृत्रहत्या में वह क्या करता है?—

गम्भीरयं ऋष्वया यो रुरोजाध्वानयद् दुरिता दम्भयंच्च ॥ (१० म मन्त्र)

अमुक-अमुक आचरण दुरित अर्थात् दुष्टाचरण है इसकी, शिलालेख तथा डिण्डिम घोषादि द्वारा घोषणा करके सारे राज्य को गुंजा देता है और फिर उन दुरितों का दमन करता है।

वह प्रजा-कल्याणार्थ हजार मार्गों से धन लाता है, जिसे अदेव (=दुष्ट) लोग उससे छीन नहीं सकते—

आ सहस्रं पथिभिरिन्द्र राया तुविद्युम्न तुविवाजेभिरर्वाक् ।
याहि सूनो सहसो यस्य नू चिददेव ईशे पुरुहूत योतोः ॥ (११ श मन्त्र)

वह ऐसा सहनशील (='सह्य') है कि द्यावापृथिवी भी उसकी महिमा से गूंज उठे हैं—

दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः…न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः ॥ (१२ श मन्त्र)

यह 'सह्योः' पद इस मन्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं आया है।

जिसदिन तू 'कुत्स'=धनबलादि-हीन तथा अपाहिज से अपाहिज मनुष्य को अपने तीव्र रथ पर चढ़ाकर अत्याचारियों का धर्षण करके उनसे उसे छुड़ाकर, अतिथिवत् उसकी सेवा करके, उसे सहस्र प्रकार से पैना करके **दैन्यरहित, स्वावलम्बी** और परोपकारी बना देता है उस दिन, हे राजन् ! तू **कृतकृत्य** होता है—

प्र तत् ते अद्या करणं कृतं भूत् कुत्सं यदायुमतिथिग्वमस्मै ।
पुरू सहस्रा नि शिशा अभि क्षामुत् तूर्वयाणं धृषता निनेथ ॥ (१३ श मन्त्र)

जहाँ तू दीनों का रक्षक है वहाँ तू **'कवीनां कवितमः'** भी—गुणियों का सर्वश्रेष्ठ गुणग्राहक भी इतना है कि, जो दिव्य पुरुष परोपकार करते-करते सङ्कटग्रस्त (=**बाधिताय**) हो जाते हैं, उनकी हर प्रकार की पूजा तथा स्तुति और शरीर-रक्षा करता है—

अनु त्वाहिघ्ने अध देव देवा मदन् विश्वे कवितमं कवीनाम् ।
करो यत्र वरिवो बाधिताय दिवे जनाय तन्वे गृणानः ॥ (१४ श मन्त्र)

हम सब प्रजाजन तेरे लिये मङ्गल-कामना करते हैं। तेरे जो कार्य अधूरे रह गये हैं, हे कर्मशील ! तू उन्हें पूरा कर—

कृष्वा कृत्नो अकृतं यत् ते अस्त्युक्थं नवीयो जनयस्व यज्ञैः ॥ (१५ श मन्त्र)

एकोनविंश सूक्त

इस सारे संसार को एक करने का इच्छुक जननायक महान् इन्द्र अपनी सहन-शक्तियों से (=**सहोभिः**), **द्विबर्हाः**=हर कलहायमान दो बस्तियों को एक-सा दृढ़ करता है तथा ऊँचा उठाता है (**वृद्ध उद्यमने**)। स्वार्थवश मेल नहीं होता। ऊँची भावनाओं से तो मेल ही मेल है। इस प्रकार सब बस्तियों में सहन-शक्ति उत्पन्न करके जब वह ७.३४.११ का **'राष्ट्राणां राजा'** राजा बनता है तो, जिन

वसिष्ठों के सहयोग से वह 'सहिष्ठ' इस पदवी पर पहुंचता है उनकी प्रशंसा में लोग कहते हैं कि इस महेन्द्र के शिल्पी बड़े चतुर थे और उन्होंने बढ़िया माल तय्यार किया—

महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः ।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥ (१ म मन्त्र)

उसे यह पदवी किन गुणों से मिली ? वह विश्वकल्याण की भावना ही केवल हृदय में नहीं रखता था, अपितु क्योंकि उसने यह व्रत धारण किया था, अतः वह हरामखोरी से नहीं, किन्तु मेहनत की कमाई से आगे बढ़ा था (सोमवृद्धः) और उस पवित्र कमाई के धन को भी सर्वभूत-हित के लिये मुक्तहस्त होकर दान करता था। उस सुन्दर राष्ट्रहित-चेतनादायक धन से वह बहुतों को योगक्षेम देता था (पुरुक्षुः), इसीलिये सब प्रकार के धन की धाराएँ उत्सुक होकर उस में 'इसी प्रकार इकट्ठी होती थीं, जैसे समुद्र में नदियाँ—'

धृतव्रतो धनदाः सोमवृद्धः स हि वामस्य वसुनः पुरुक्षुः ।
स जग्मिरे पथ्या३ रायो अस्मिन्त्समुद्रे न सिन्धवो यादमानाः ॥ (५ म मन्त्र)

६ ठे से ९ वें मन्त्र तक इन्द्र का वीर तथा शत्रुनाशक रूप भी याद किया गया है, जिससे उसका रौद्ररूप बिलकुल ही तिरोहित न हो जाय, परन्तु १० वें मन्त्र में फिर लोक-परलोक दोनों सुधारने वाला पवित्र वसु उससे मांगा गया है—

ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन् धारत्नं महि स्थूरं बृहन्तम् ॥ (१० म मन्त्र)

१३ वें मन्त्र में फिर बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के 'वृत्राणि' का वध करके हम 'राया-मदेम' यह प्रार्थना की गई है—

घ्नन्तो वृत्राण्युभयानि शूर राया मदेम बृहता त्वोताः ॥ (१३ श मन्त्र)

यहाँ 'वृत्राणि' यह नपुंसकलिङ्ग का बहुवचन वृत्रासुर की मिथ्या कल्पना का कैसा समूलोच्छेद कर रहा है।

विंश सूक्त

हे राजन् ! हे सहनशक्ति के पुत्र ! हमें ऐसा पुत्र-रूप धन दे जो युद्ध में तेरे समान डटने वाला तथा शत्रुओं को परास्त करने वाला हो; जो सहस्रों का भरण-पोषण करे और इस निमित्त उर्वरा से उर्वरा भूमि भी दान कर दे तथा जो वृत्र का वध करे—

द्यौर्न य इन्द्राभि भूमार्यस्तस्थौ रयिः शवसा पृत्सु जनान् ।
तं नः सहस्रभरमुर्वरासां दद्धि सूनो सहसो वृत्रतुरम् ॥ (१ म मन्त्र)

राष्ट्रों के परस्पर सहयोग में बाधक और प्रेम-नदी के प्रवाह को रोकने वाला ही यहाँ वृत्रा-सुर कहा गया है। हे राजन् ! तू संगठित प्रजारूप विष्णु के साथ मिलकर उस दुष्ट को मार और प्रेम-नदी के प्रवाह को फिर प्रबल वेग से बहाने वाला बन—

अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः ॥ (२ य मन्त्र)

तू विश्व की आर्थिक सम्पत्ति को विश्व की प्रजा तक पहुँचाने के निमित्त आर्थिक सङ्ग्राम में (=अर्कसातौ) क्रूर शोषक की माया का उच्छेद करके उसका अन्न छीन कर प्रजा को बांट दे। ('अदित्सन्तं चित्...दानाय चोदय' ६.५३.३) उसके पास कुछ भी अतिरिक्त धन मत छोड़ तथा उसे मार। उसके वध से जुआरी (=पणि) स्वयं सैंकड़ों की संख्या में भाग खड़े होंगे—

शतैरपद्रन् पणय इन्द्रात्र दशोणये कवयेऽर्कसातौ ।
वधैः शुष्णस्याशुषस्य मायाः पित्वो नारिरेचीत् किं चन प्र ॥ (४ थं मन्त्र)

इसकी पुष्टि के लिये देखिये, यजुः ९.२४—

'अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिं सर्ववीरं नियच्छतु' ॥

हे इन्द्र ! तूने क्रूर शोषक को वज्र की मार में पहुंचा दिया तो बड़ा दूध दुहा। विश्व भर को आयु दी। बेचारे दरिद्रनारायण (=कुत्स) के लिये सूर्य का प्रकाश दे दिया, नहीं तो उसके घर अंधेरा ही रहता—

महो द्रुहो अप विश्वायु धायि वज्रस्य यत् पतने पादि शुष्णः ।
उरु ष सरथं सारथये करिन्द्रः कुत्साय सूर्यस्य सातौ ॥ (५ म मन्त्र)

जो षड्यन्त्र करके राष्ट्र के देयांश को दबाये रखते हैं-छोड़ते नहीं उन 'नमुचियों' को तूने मथ डाला। तव तूने सारी प्रजा को अन्न-धन से युक्त कर दिया—

प्र श्येनो न मदिरमंशुमस्मै शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन् ।
प्रावन्नमीं साप्यं ससन्तं पृणग्राया समिषा सं स्वस्ति ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

तूने, कुटिल लोभ देकर राज्य-कर्मचारियों को पतित करने वाले 'पिप्रु' के दृढ़ दुर्ग ढा दिये। हे उत्तम दान वाले, वह धन उस दुष्ट के पास असह्य था। तूने सरल स्वभाव वाले, उसके द्वारा ठगे हुए और ठीक प्रकार से कर (Tax) देने वालों के लिये सहायता पहुँचाई—

वि पिप्रोरहिमायस्य दृळ्हाः पुरो वज्रिञ्छवसा न दर्दः ।
सुदामन् तद् रेक्णो अप्रमृष्यमृजिश्वने दात्रं दाशुषे दाः ॥ (७ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! जहाँ तू दस्युओं का—शुष्ण का, वृत्र का वध करता है वहाँ जिनका सुधार हो सके उन्हें सुधारने में भी तू सुधारकों की सहायता करता है। 'द्योतन' नाम सुधारक (Reformer) का है जो कि अन्धकार-ग्रस्त हृदय में सत्य का प्रकाश फैलाता है। जब 'द्योतन' 'दशमाय' अर्थात् दसों इन्द्रियों की तृप्ति के लिये नाना प्रकार की सुन्दर रचना करने वाले को, 'वेतसु' अर्थात् बेंत के समान प्रवाह के सामने दुर्बलता-वश झुक जाने वाले दुर्बलात्मा को, 'दशोणिम्' दसों इन्द्रियों में से किसी न किसी की

अप्राप्ति के कारण दुःखी विरह-तप्त (Frustrated) मनुष्य को, **'तूतुजिम्'** दुःखतप्त होने के कारण मानवजाति से बदला लेने की भावना से लोगों को दुःख पहुँचाने वाले दुष्ट को, **'तुग्रम्'** जिसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया है, इसलिये अन्यों को दुःख देता है अथवा विपद्ग्रस्त होकर—भूख आदि से विवश होकर लूटमार आदि करता है उसको तथा **'इभम्'** जो स्वभाव से मन्दबुद्धि होने के कारण हाथी के समान दूसरों की भावना की ओर से बिल्कुल बेपरवाह है उसको—**दशमाय, वेतसु, दशोणि, तूतुजि, तुग्र** और **इभ**, इन सबको माता के समान प्रेमयुक्त व्यवहार से ठीक मार्ग पर चलने के लिये तय्यार करता है, तब तू उस **'द्योतन'** की इस कार्य में सहायता करता है—

स वेतसुं दशमायं दशोणिं तूतुजिमिन्द्रः स्वभिष्टिसुम्नः ।
आ तुग्रं शश्वदिभं द्योतनाय मातुर्न सीमुप सृजा इयध्यै ॥ (८ म मन्त्र)

'शरद्' असुर वह दुष्ट मनुष्य है जो ५ **इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ६ ठा अनुमान ७ वाँ शब्दप्रमाण** इन सात के सहारे **हेत्वाभासमय** झूठ के किले बनाकर मर्यादापालक प्रजा में झूठी युक्तियों द्वारा मद्य, मृगया, जुआ आदि दुर्व्यसनों का प्रचार करके प्रजा को नष्ट करता है, हे इन्द्र ! ऐसे दुष्टों का जहाँ तू वध करता है, वहाँ सच्चे पुष्ट वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा उनके ७ दुर्ग भी गिरा देता है जिससे वे विचार-स्वातन्त्र्य की झूठी दुहाई न दे सकें । वह क्योंकि यमनियमादि-पालन में दृढ़ प्रजा के विचारों में **विशरण** उत्पन्न करता है, इसलिये उस असुर का नाम **'शरद्'** असुर है—

सुनेम तेऽवसा नव्यं इन्द्र प्र पूरवः स्तवन्त एना यज्ञैः ।
सप्त यत् पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन् दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन् ॥ (१० म मन्त्र)

पुराने कवियों की वाणी को चुराकर अपनी नई रचना बताने वाले **काव्य-चोर** अथवा **ग्रन्थचोर** को वेद ने **'नववास्त्व'** नाम दिया है । क्योंकि वह दुष्ट झूठा दावा करता है कि मैं नई चीज तैयार करके लाया हूँ । काव्य अर्थात् प्रतिभायुक्त नई रचना करने वाले विद्वान् को तू ठीक जांच करके उसे कवि पदवी दिलाने वाले नये निबन्ध तक—अपने पिता तक पहुँचा देता है—

त्वं वृध इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय ।
परा नववास्त्वमनुदेयं महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम् ॥ (११ श मन्त्र)

जो **'धुनि'** हैं=अर्थात् मन्मथ के वशीभूत होकर व्यभिचार फैलाने वाले हैं, उन्हें तू उससे भी बड़ी चेष्टाशील वीररस वाली सेनाओं में भेज देता है । तू, वीररस द्वारा रात-दिन किसी न किसी दुष्ट का **विधूनन** करने वाली ये सेनाएँ इसीलिये रचता है कि वीर रस का स्वाद लग जाने पर उन्हें, **'धुनि'** अर्थात् काम का ग्रास होने से बचा ले । जब **'धुनि'** यह देखता है कि कामवासना तो मुझे भी सुखाती थी और मेरे शिकारों को भी । इसके विपरीत यह वीररसमयी **स्रवन्ती** अर्थात् नदियाँ =सेनाएँ जिधर जाती हैं, हल की रेखा के समान उत्तम फसल लाकर हरियाली ही हरियाली फैलाती हैं तो उस उल्लास में वह काम के ग्रास से छूट जाता है । हे शूर इन्द्र ! तू दुःख-सागर उत्पन्न करने के स्थान में उन्हें दुःख-सागर से पार उतरना सिखाता है । इस प्रकार तू **कामातुर** को **रक्षाचतुर, तुर्वश** को **पारग** और **यदु** को **शूर** बनाता है—

त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः ।
प्र यत् समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति ।। (१२ श मन्त्र)

इस प्रकार के उपाय करने पर दुर्बलात्मा, दभीति (=दब्बू) मनुष्य भी प्रबलात्मा होकर 'धुनि और 'चुमुरि' को अर्थात् रजोगुणमय काम तथा तमोगुणमय मोह दोनों को जीतने में समर्थ होता है और जीवन-यात्रा के मार्ग में 'इध्मभृति' होकर—आहारोत्पादक ईंधन पहुँचाकर दूसरों का बोझ बनने के स्थान में दूसरों का सहारा बनता है—

तव ह त्यदिन्द्र विश्वमाजौ सस्तो धुनीचुमुरी या ह सिष्वप् ।
दीदयदित् तुभ्यं सोमेभिः सुन्वन् दभीतिरिध्मभृतिः पक्थ्य१र्कैः ।। (१३ श मन्त्र)

एकविंश सूक्त

हे इन्द्र ! हर चतुर शिल्पी जो नया आविष्कार करता है वह उसकी विभूति है— वही उसका धन है, परन्तु वह तेरे जैसे गुणग्राहक की प्रशंसा मांगता है । उसे भेंट रूप में लेकर वह तुझे पुकार रहा है । उसके सब नये आविष्कार तुझे निमन्त्रण दे रहे हैं—

इमा उ त्वा पुरुतमस्य कारोर्हव्यं वीर हव्या हवन्ते ।
धियो रथेष्ठामजरं नवीयो रयिर्विभूतिरीयते वचस्या ।। (१ म मन्त्र)

उसने एक रचना रची है, परन्तु सब रचनाएँ तेरे कोष में आती हैं । तू 'पुरुमाय' है, इस लिये सब प्रकार के गुणियों की परख रखता है, फिर तू जो वचन दे उसका निर्वाह करने वाला है । तेरे महत्त्व को कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता—

तमु स्तुष इन्द्रं यो विदानो गिर्वाहसं गीर्भिर्यज्ञवृद्धम् ।
यस्य दिवमति मह्ना पृथिव्याः पुरुमायस्य रिरिचे महित्वम् ॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू वरुण, मित्र, मरुत् आदि सबको हमारी रक्षा में लगा—

प्रोतये वरुणं मित्रमिन्द्र मरुतः कृष्वावसे नो अद्य ।
प्र पूषणं विष्णुमग्निं पुरंधिं सवितारमोषधीः पर्वतांश्च ।। (९ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू उन सम्पूर्ण यज्ञशील सङ्गठनप्रेमी विद्वानों के साथ हमारे पास आ; जिनकी जिह्वा में व्रतदीक्षारूप अग्नि है, जो ज्ञानसेवी हैं और जिन्होंने मनुष्य को क्षयकारक शक्तियों से ऊपर उठना सिखाया है—

नू म आ वाचमुप याहि विद्वान् विश्वेभिः सूनो सहसो यजत्रैः ।
ये अग्निजिह्वा ऋतसाप आसुर्ये मनुं चक्रुरुपरं दसाय ।। (११ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू दुर्गम सङ्कटों में मार्ग-निर्माता है और सुगम मार्गों में संयम का आदर्श बन कर

सबसे आगे मार्गदर्शक बन कर चलता है। तू अपने पास उन्हें इकट्ठा कर जो अनथक कार्यकर्त्ता होने के कारण यज्ञ- वहन में वहिष्ठ हैं और इस प्रकार हमारे जीवन-सङ्ग्राम-रूप यज्ञ को आगे ले जा—

स नो बोधि पुर एता सुगेषूत दुर्गेषु पथिकृद् विदानः ।
ये अश्रमास उरवो वहिष्ठास्तेभिर्न इन्द्राभि वक्षि वाजम् ॥ (१२ श मन्त्र)

द्वाविंश सूक्त

वह इन्द्र सहनशक्ति-सम्पन्न है—

'सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्' ॥ (१ म मन्त्र)

५ प्रत्यक्ष, ६ ठा अनुमान और **७ वाँ शब्द** इन सातों के विशेषज्ञ सात प्रकार के नई-नई खोज करने वाले (=**नवग्वाः**) विद्वान् अपनी बुद्धि से उपलब्ध नये-नये आविष्कारों के द्वारा अपनी मति से इन्द्र को बलवान् बनाते हुए **शविष्ठ** (=**बलवत्तम**) बना देते हैं—

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः ।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥ (२ य मन्त्र)

उससे हम, **पुरुवीर** तथा **पुरुक्षु** (=**बह्वन्नयुक्त**) धन मांगते हैं—

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू पहिले द्रोहियों के अन्तःकरण में उजाला कर, तब भी वे न मानें तो धरती-तल को अर्थात् लोकमत को इतना गरम कर कि उनके लिये असह्य हो जावे—

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा ।
तपा वृषन् विश्वतः शोचिषा तान् ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥ (८ म मन्त्र)

तू कर्महीन विनाशकारकों को (=**दासों को**) **आर्य** =नपे-तुले जीवन वाला तथा **नाहुष** = नियम में बंधा हुआ (Diciplined man) बना दे। तू हमारे पास विश्वकल्याणकारी **नियुत्** (Train-loads) लेकर आ। तेरी गाड़ी को कोई रोकने वाला नहीं—

यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन् सुतुका नाहुषाणि ॥ (१० म मन्त्र)

स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो ।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक् ॥ (११ श मन्त्र)

त्रयोविंश सूक्त

...'पृणता भोजमिन्द्रम्' (९ म मन्त्र)—सबको भोजन देने वाले इन्द्र को सन्तुष्ट करो।

वह प्रजाहितकारी, प्रजा का भरण करने वाले उन **भरद्वाजों** में—इस प्रकार के वनों में निवास करता है जो प्रजाहित-करण में तत्पर हैं। वह **'विश्ववार'** रायः =धन का दाता है—

भरद्वाजेषु क्षयदिन्मघोनः···इन्द्रो रायो विश्ववारस्य दाता ॥ (१० म मन्त्र)

चतुर्विंश सूक्त

जिससे विश्व की बस्तियों में सहनशक्ति द्वारा सहयोग हो ऐसे वाङ्मय राज्य का स्वामी है इन्द्र—**गिरां राजा**।

हे इन्द्र ! प्रजावात्सल्य से तेरा धन इस प्रकार चू पड़ता है, जैसे बछड़े को देखकर गाय का दूध—

शचीवतस्ते पुरुशाक शाका गवामिव स्रुतयः संचरणीः ॥ (४ थं मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू जंगल तक में प्रजा की रक्षा करता है—

'अमा चैनमरण्ये पाहि रिषः' ॥ (१० म मन्त्र)

पञ्चविंश सूक्त

हे इन्द्र ! तू अपनी रक्षाशक्तियों से नाशकारक विरोधी शक्तियों को आर्यों की प्रजा बनाकर तार देता है—

आभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरार्याय विशोऽव तारीर्दासीः ॥ (२ य मन्त्र)

तेरे क्षत्र और तेरी सहनशक्ति भी तारने वाली है—

'अनु क्षत्रमनु सहो यजत्र' ॥ (८ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! अन्नहीनों का भरणपोषण करने वाले हम भरद्वाज लोग तेरी सहायता से **अदेवों** को देव बनाने में समर्थ हों—

एवा नः स्पृधः समजा समत्स्विन्द्र रारन्धि मिथतीरदेवीः ।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो भरद्वाजा उत त इन्द्र नूनम् ॥ (९ म मन्त्र)

षड्विंश सूक्त

तू अपने राज्यों के कवियों को प्रेरणा देता है कि वे अपने घर में अन्नादि भोग्यसामग्री को प्रजा में पात्रसात् करना सीखें (**अर्कसातौ = अन्नदाने**)। जो **कुत्स** हैं = कुत्सितदारिद्र्यापन्न हैं उनके लिये **क्रूर 'शुष्ण'** का—जो अपने आप को अमर समझे बैठा था—उसका सिर काटकर तूने अतिथि-सेवकों का कल्याण किया—

त्वं कविं चोदयोऽर्कसातौ त्वं कुत्साय शुष्णं दाशुषे वर्क् ।
त्वं शिरो अमर्मणः पराहन्नतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥ (३ य मन्त्र)

तू उन दुष्ट आलसियों के—जो अपने घर में अन्न-वस्त्रादि भोग्य सामग्री के पहाड़ चुन देते हैं, उन **'गिरिदासों'** के—पर्वत छिन्न-भिन्न करके **'दिवोदासों'** की सहायता करता है जो द्यौः से मेघ

की तरह वर्षा करने का तथा प्रकाश फैलाने का पाठ पढ़ते हैं। इसीलिये तूने भोगपरायण, अन्नकूट बनाने वाले 'गिरिदास' = शम्बर = आलस्य को मारा—

त्वं तदुक्थमिन्द्र बर्हणा कः प्र यच्छता सहस्रा शूर दर्षि।
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन् प्रावो दिवोदासं चित्राभिरूती ।। (५ म मन्त्र)

इस सूक्त का ६ ठा मन्त्र बड़ा विचित्र मन्त्र है। इस मन्त्र में पाश्चात्त्य लोग आर्यों के अनार्यों के साथ हुए युद्ध का वर्णन ढूंढते हैं और बताते हैं कि इस मन्त्र में ६० सहस्र अनार्यों के साथ आर्यों के नेता इन्द्र के युद्ध का वर्णन है। पाश्चात्त्यों की इस कपोल-कल्पना की असत्यता सिद्ध करने से पूर्व हम मन्त्र-पाठ प्रस्तुत करते हैं—

त्वं श्रद्धाभिर्मन्दसानः सोमैर्दभीतये चुमुरिमिन्द्र सिष्वप् ।
त्वं रजिं पिठीनसे दशस्यन् षष्टिं सहस्रा शच्या सचाहन् ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

अब विचारना चाहिये कि वास्तविक स्थिति क्या है। **'चुमुरि'** बच्चे के चुम्बन में आसक्त मोह का नाम है, यह हम पहिले कह आये हैं, परन्तु उस मोह को दूर करने का उपाय क्या है ? उत्तर यह है कि दुर्बलात्मा मनुष्य—मोहादि के आक्रमण से दब जाने वाला **'दभीति'** मनुष्य जब श्रद्धापूर्वक तेरी शरण में आकर तेरी **वात्सल्य-धारा** में स्नान करता है, तो हे जगदम्बे ! संसार का मोह उसके सामने सो जाता है और उसे संसार के सब बच्चे, जगज्जननी के बच्चे और अतएव अपने बच्चे दीखने लगते हैं। यह मोह का व्यापक रूप ही मोह के विजय का सर्वोत्कृष्ट साधन है, किञ्च यह संसार भर के बच्चों को अपने बच्चे जानने की भावना ही 'स्वःप्राप्ति' है, जिसके लिये **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ** ये तीन स्वर्ग हैं। ये तीन तो **स्वर्ग दशा** हैं और चौथी दशा है 'स्वः' की।

वेद कहता है कि हर मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह ६० वर्ष की अवस्था में यह देखे कि मैं **परिपक्व** होकर 'स्वः' तक पहुँचा या नहीं ? यदि वह इस अवस्था तक पहुंच गया तो राजा उसे उपदेश देने का अधिकार (=रजि) प्रदान कर दे। अथर्व० में (१२.३.३४) कहा है—

'षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै' ।

ऐसा मनुष्य संन्यासी कहलाता है। संन्यासी के लिये कहा है— 'सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (यजुः १०.१८)। सो संन्यासी ब्राह्मणों का राजा है वही सबको उपदेश देने का अधिकारी है। यदि शूद्र, वैश्य, क्षत्रियादि भी इस पदवी पर पहुंच जावे तो वह शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रियों का राजा है और उसे उपदेश देने का अधिकार तो किसी अंश तक प्राप्त हो ही जाता है, यद्यपि वह ब्राह्मणों का राजा नहीं हो सकता। **यह सोम की पदवी विद्या के क्षेत्र की अन्तिम पदवी है,** इसीलिये शिक्षा तथा स्वास्थ्य-प्रधान प्रथम मण्डल में सोम से कहा गया है—**'त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्'** (   ) हे सोम ! अर्थात् विश्वविद्यालय के आचार्य ! ब्राह्मणराज ! संन्यासिन् ! तू मनुष्य मात्र को **रजिष्ठ** मार्ग तक ले जाता है।

देखिये, यह **रजिष्ठ** शब्द प्रथम मण्डल के अतिरिक्त कहीं नहीं आया। यह रजिष्ठ मार्ग का

नेतृत्व ही 'रजि' है। यह 'रजि' पदवी पाने के लिये यदि कोई ६० सहस्र का स्वामी अर्थात् साठ वर्ष का मनुष्य दावा करे और दूसरी ओर 'पिठीनस्' दावा करे तो केवल आयु के बल पर अधिकार मांगने वाले के ६० सहस्र सिपाही, बुद्धि के बल से, इस अधिकार से 'पिठीनस्' के सामने वञ्चित कर दिये जायेंगे। अर्थात् पिठीनस् का अधिकार उन ६० सहस्र कालखण्डों से बढ़कर है।

एक वर्ष को सहस्र भागों में बांटने पर जो सहस्रतम है वह 'रजि' पद पाने के दावेदार का एक सिपाही है। ऐसे ६० सहस्र सिपाहियों का बल एक ओर तथा पिठीनस् का दावा एक ओर।

अब देखना चाहिये कि यह 'पिठीनस्' कौन है? इस शब्द के दो भाग हैं। एक 'पिठी' दूसरा '-नस्'। (=पिठी+नस्)। नस् धातु वेद में दो प्रकार की है। एक सकर्मक दूसरी अकर्मक। सकर्मक का अर्थ है—उल्लास से भरे हृदय से दौड़कर किसी से चिपट जाना। दूसरी, अकर्मक नस् धातु केवल एक स्थान पर आई है—'स मोदते नसते साधते गिरा' (ऋ ९.७१.३)—जो विद्वानों की परीक्षा से निचुड़कर आया है वह विद्वान् सदा प्रसन्न रहता है-उल्लास में उछलता है तथा वाणी के बल से कार्य सिद्ध करता है। सो नस् सकर्मक का अर्थ है—उल्लास में उछलकर चिपट जाना और अकर्मक का अर्थ है—उल्लास में उछलना।

अब 'पिठी' का अर्थ विचारना चाहिये। 'पिठ्' धातु का अर्थ है-एक दूसरे पर चयन करना। इसीलिये संस्कृत में आवे को पिठर कहते हैं और आवे में पकाने को पिठरपाक कहते हैं। क्योंकि उसमें पहिले ईंटें, फिर लकड़ी कोयला आदि चिन दिये जाते हैं। इस पिठ् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'पिठ्' शब्द बना अर्थात् ईंट, लकड़ी, कोयला आदि की चिनाई अर्थात् भट्टी। सो पिठिनस् का अर्थ हुआ-भट्टी से चिपकने वाला अथवा भट्टी में उछलने वाला, सो जो अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये, भट्टी की आग से, उल्लास में भरकर चिपट जाय अथवा भट्टी में आनन्दोल्लास से उछले वह 'पिठिनस्' हुआ और पूर्वपद को दीर्घ होकर 'पिठीनस्' हुआ।

ऐसे 'पिठीनस्' मनुष्य के दावे के सामने केवल आयु के कारण बड़प्पन का दावा तुच्छ है। चाहे वह साठ वर्ष को बढ़ा-चढ़ाकर साठ हजार काल खण्डों का ही रूप क्यों न दे दे, इसीलिये कहा कि, हे इन्द्र! तू 'रजि' अर्थात् उपदेशक पदवी रूप राज्य, ६० सहस्र काल खण्डों के दावे को खण्डित करके 'पिठीनस्' को देता है और अपनी प्रबल युक्तियों से शची अर्थात् प्रज्ञा के बल द्वारा इस न्याय का औचित्य प्रदर्शित कराता है। भाव यह है कि उपदेशक पदवी का राज्य पाने के लिये सबसे बड़ा गुण अपने आप को भट्टी में [तपस्याग्नि में] झोंकने के लिये तत्परता है।

इस रहस्य को न समझकर ६० सहस्र भटों का वध तथा 'पिठीनस्' की पूजा की बात करना व्यर्थ की कल्पना है। उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए एक बार फिर मन्त्र पढ़िये—

त्वं श्रद्धाभिर्मन्दसानः सोमैर्दभीतये चुमुरिमिन्द्र सिष्वप्।
त्वं रजिं पिठीनसे दशस्यन् षष्टिं सहस्रा शच्या सचाहन्॥ (६ छठ मन्त्र)

जिस प्रकार उपदेशकशिरोमणि संन्यासी का 'रजि' 'रजिष्ठ' राज्य पाने का दावा करना संन्यासी को ही उचित है, इसी प्रकार क्षत्रश्री' होने का अधिकार भी प्रातर्दनि' को ही है अर्थात् जो

निधड़क होकर सहस्रों के बीच दुष्टता के **प्रतर्दन** के लिये रणक्षेत्र की भट्टी में पिल पड़े वह **प्रतर्दन** गुण की सन्तान वीरपुरुष ही = **'प्रातर्दनि'** ही **क्षत्रश्री'** कहलाने योग्य है, वही वृत्रों के वध में श्रेष्ठ है और वही उत्तम धन देने वालों में श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपनी जान सङ्कट में डालकर प्राप्त किया गया है—

वयं ते अस्यामिन्द्र द्युम्नहूतौ सखायः स्याम महिन प्रेष्ठाः ।
प्रातर्दनिः क्षत्रश्रीरस्तु श्रेष्ठो घने वृत्राणां सनये धनानाम् ॥ (८ म मन्त्र)

सप्तविंश सूक्त

इस मण्डल में परस्पर सहयोग तथा परस्पर सहनशक्ति का विकास करना है, इसलिये जिस प्रकार परमात्मा इन्द्रिय-रहित होते हुए भी इन्द्र है (क्योंकि सारा संसार ही उसकी इन्द्र शक्ति का परिचय देता है) इसी प्रकार धरती की सब बस्तियों के इन्द्रों को अपने इन्द्रत्व का प्रदर्शन वन्द करना होगा। इसीलिये कहा—तेरा इन्द्रत्व कभी दिखावट में नहीं आता—

इन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रियं ते ॥ (३ य मन्त्र)

इसके विपरित इस **'सह्यु'** तथा **'सहिष्ठ'** इन्द्र के सामने **'वरशिख'** असुर पड़ा है; जिसको हर काम में अपनी शिखा का—अपनी कलंगी तुर्रे के प्रदर्शन का दुर्व्यसन है, जो पग-पग पर इतराकर कहता है—**'वाह, वाह रे मेरा कलगी तुर्रा !** इधर भक्त कहता है कि हे इन्द्र ! तेरे समस्त वड़प्पन का तेरे मघवत्पन का हम खोज कर भी अन्त नहीं पाते। इस **'वरशिख'** असुर जन का गोत्र **'वृचीवान्'** है अर्थात् **वृची** अपनी कांति के प्रदर्शन की अभिलाषा से यह जन्मा है।

इस सूक्त में एक और प्रधान पात्र है। वह है **'अभ्यावर्तिन् चायमानः'**। जो संसार के प्रदर्शनों में पूर्णतया आसक्त होकर अन्त में उन प्रदर्शनों की निस्सारता, दम्भपरायणता और असत्य के मायाजाल से ऊबकर प्रभु की ओर लौट पड़ा है, जिसके सामने वह महान् इन्द्रों का इन्द्र है जिसका कि कोई आकार नहीं—कोई इन्द्रिय नहीं; किन्तु शासन सारे ब्रह्माण्ड पर करता है। वह ही **'अभ्यावर्त्ती'** है। **'चायमान'** इसलिये कि उसके, दम्भ पर आश्रित कल्पनामय रेत के घरौंदे गिर चुके हैं। अब वह अपने दुर्ग के पुनर्निर्माण के लिये सत्य की एक ईंट धैर्य-पूर्वक इकट्ठी करके उनकी **चिति** बनाने में तत्पर है। इस बार उस का भवन देर से बनेगा, परन्तु अति दृढ़ चट्टान पर खड़ा होगा। इन्द्र उसकी सहायता के लिये **'वरशिख'** को निःशेष करने में लगा है, यह कलगीतुर्रा-यह **'वरशिख'** **'हरियूपीया'** नदी के तट पर **'यव्यावती'** नगरी में रहता है।

यह **'यव्यावती'** नगरी कौन-सी है ? २५ वर्ष के पश्चात् ५० वें वर्ष तक के २५ जवानी के वर्ष ही यह **'यव्यावती'** नगरी है। यह **'हरियूपीया'** नदी कौन-सी है ? ये कल्पना के खड़े किये हुए सब्ज बाग हैं; और मिथ्याडम्बर की नदी के किनारे ये हरे-हरे यूप जैसे दिखाई देते हैं। यह **'सावन का अन्धा'** बनाने वाली मिथ्याप्रदर्शन की कल्पना नगरी है। जिसके किनारे हरियावल ही हरियावल है। २५ वर्ष के सब मास मिलकर ३०० होते हैं। (२५ × १२ = ३००)। परमात्मा की सृष्टि में तो कभी पतझड़ जैसी सूखी ऋतु भी आती है, परन्तु यहाँ बारहों महीने हरा ही हरा है। फिर हर महीने पाँच **'ज्ञानेन्द्रियाँ'**

तथा पांच 'कर्मेन्द्रियाँ' इस प्रदर्शन की वासना को १० गुना कर देती हैं। ये ३००० तीन हजार (=तीस सौ) 'वरशिख' के सिपाही 'अभ्यावर्त्ती' को=मायाजाल से ऊबकर प्रभु की ओर लौटे हुए भक्त को परास्त करना चाहते हैं तव वह सच्चा राजराजेश्वर प्रभु तथा तदनुवर्त्ती धर्मात्मा राजा इन ३ सहस्र (=तीस सौ) सिपाहियों को मारकर 'अभ्यावर्त्ती, के सहायक होते हैं।

इस 'अभ्यावर्त्ती' का मन कहता है कि, 'होगा कोई किसी का राजा, किन्तु हे मायाजाल की निस्सारता को समझकर प्रभु की ओर लौटे हुए मेरे स्वामी जीवात्मन्! मुझ शक्ति बटोरने वाले मन का (भरद्वाजका*) तो तू ही सम्राट् है। इन्द्र की कृपा से 'वृचीवान्' के ३ सहस्र कवचधारी, जो तुझे शिकार बनाने आये थे निष्फल (=न्यर्था) होकर हाथ मलते चले गये। जो 'तुर्वश' था—जल्दी कामनासिद्धि के लिये आतुर था उसको तूने 'सृञ्जय' के हवाले किया (शरीर का वह स्थान जहाँ कि नीला रुधिर लाल होकर विजय का सन्देश लिये आता है; और राष्ट्र में पोलिस के अध्यक्ष का भवन) जिसके भाग्योदय हो गये थे—विद्वानों के सदुपदेश के पवन से जिसकी नाँव भंवर से निकल कर बन्दरगाह की ओर लौट पड़ी थी उस 'अभ्यावर्त्ती, का तूने कल्याण किया। और हे मेरे सम्राट्! हे मेरे स्वामी जीवात्मन्! ये विषय-रूप वहुएँ मेरे दश इन्द्रिय रूप-सेवकों को, उन पर शासन करके, उन्हें भगाकर अपने पीहर असुरराज वृत्रासुर के घर ले गई थीं। अब वे दशों के दश रथ अपनी-अपनी वहुएँ लेकर तेरे घर लौट आये हैं। हर रथ में ऋक्, साम नाम के—ज्ञानरस और भक्ति-रस नाम के दो सारथि तथा सङ्गीत के बैल जुते हैं। तू प्रभु की ओर क्या लौटा है, सारा कुनबा, पुत्र, पुत्रवधू समेत लौट आया है—

सो ऋक्, साम—ज्ञान तथा अनुराग दो रथी हैं तथा हर रथ में ज्ञान-रस तथा अनुराग-रस दो सङ्गीतमय बैल हैं—

एतत् त्यत् त इन्द्रियमचेति येनावधीर्वरशिखस्य शेषः ।
वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार ॥ (४ र्थ मन्त्र)
वधीदिन्द्रो वरशिखस्य शेषोऽभ्यावर्तिने चायमानाय शिक्षन् ।
वृचीवतो यद्धरियूपीयायां हन् पूर्वे अर्धे भियसापरो दर्त् ॥ (५ म मन्त्र)
त्रिंशच्छतं वर्मिण इन्द्र साकं यव्यावत्यां पुरुहूत श्रवस्या ।
वृचीवन्तः शरवे पत्यमानाः पात्रा भिन्दाना न्यर्थान्यायन् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इस प्रकरण में आये हुए ज्ञान-रस शब्द को देखकर चौंकिये मत। जब तक ज्ञानोपार्जन में रस नहीं आने लगता, वह एक झंझट दिखाई देता है और तब तक ब्रह्मचर्य भी नहीं हो सकता। ज्ञान का अपना रस है—उसका अपना सङ्गीत है। तथा ज्ञान देने वाले प्रभु के गुणों पर मोहित होने वाले का प्रेम-रस दूसरी वस्तु है। परिणाम दोनों का सङ्गीत है। यह मर्म की बात तो गोतम जाने या न्यूटन जाने अथवा आइंसटीन जाने—जिनके कि रथ में दोनों सारथि थे तथा दोनों बैल जुते थे। सायण बेचारा क्या जाने जिसने इस सूक्त में 'गावौ' का अर्थ 'अश्वौ' किया है। जहाँ सायण ने गौओं के घोड़े वनाये हैं वह मन्त्र क्या कह रहा है— ये प्रातः सायं की उषा के रंग में रंगे लाल रंग

* मनो वै भरद्वाज ऋषिः ॥ शतपथ० ८.१.१.९॥

के ज्ञान-रसोत्पन्न तथा भक्ति-रसोत्पन्न उत्साह-वृद्धि तथा श्रम में विश्रान्ति देने वाले दशों रथों में जुड़े हुए दो-दो बैल कहीं बाहर नहीं हैं। ये अन्दर मन-रूप भरद्वाज के पास दक्षिणा-रूप में रह कर प्रेम से अन्नदाता भरद्वाज की हथेली चाट रहे हैं—

यस्य गावावरुषा सूयवस्यू अन्तरू षु चरतो रेरिहाणा।
स सृञ्जयाय तुर्वशं परादाद् वृचीवतो दैववाताय शिक्षन् ॥ (७ म मन्त्र)

भरद्वाज को—अभ्यावर्ती के मन को—अभ्यावर्त्ती दक्षिणा में दो-दो बैल वाले दश (१०) रथ, इस प्रकार २० बैल १० रथों में १० इन्द्रियों के ग्राह्य विषय पत्नीवत् उनके अनुवर्त्ती बनकर प्रभु की ओर लौटे हैं। पहिले तो ये ग्राह्य पदार्थ-रूप बहुएँ १० इन्द्रियों को भगाकर ले गई थीं, परन्तु दम्भ की निस्सारता का साक्षात्कार करके अनुभवी बन कर जो जीव लौटा है उसने अपने मन को जो दक्षिणा दी है, ये १० रथ, ये ऋक्, साम के २० सारथि तथा ये सङ्गीतमय बैल और ये जितेन्द्रिय अभ्यावर्त्ती के दश ग्राह्य विषय-रूप वधू-समेत १० इन्द्रिय-रूपी रथ इस दक्षिणा को—इन सब को अब मन के पास से कोई छीन कर नहीं ले जा सकता। यह प्रभुभक्ति का विस्तार करने वाले 'पार्थवों की—अभ्यावर्त्तियों की भरद्वाजों को (=मनों को) दी हुई दक्षिणा 'दूणाशा' है।

द्वयाँ अग्ने रथिनो विंशतिं गा वधूमतो मघवा मह्यं सम्राट्।
अभ्यावर्ती चायमानो ददाति दूणाशेयं दक्षिणा पार्थवानाम् ॥ (८ म मन्त्र)

अष्टाविंश सूक्त

इस सूक्त में गोमहिमा है, परन्तु केवल मात्र गो-महिमा ही नहीं है। इस संसार में सहनशीलता लाकर विश्वराजनीति द्वारा 'राष्ट्राणां राजा' बनाने के लिये सब बस्तियों के राजाओं से कहा गया है कि इन्द्र कहलाने योग्य राजा वही है जिसकी प्रजा का हर मनुष्य 'गोपति' हो-जितेन्द्रिय हो। सो एक ही मन्त्र में साथ-साथ गोपालन तथा इन्द्रियपालन (इन्द्रिय-निग्रह) की शिक्षा दी गई है। कहा है कि—

हे प्रजा-जनो! तुम इन्द्रियों को जीत कर इन्द्र वनो। मैं तुम्हारे सहयोग से इन्द्र बनूं और हम सब उस महान् इन्द्र के भवन द्वारा उभयविध गोपति—घास चरने वाली, दूध देने वाली गौओं के पति तथा तत्सदृश इन्द्रिय-रूपी गौओं के पति बनें। जिससे तुम केवल पशुरूप गाय का ही दोहन करने में समर्थ न होओ, अपितु उषा-रूप गाय का भी दोहन कर सको। तब ही तुम्हारा 'उषर्बुध' बनना सार्थक होगा। प्रतिदिन प्रातः उषः-काल में उषा से विश्व-रूप घास को चरकर तुम्हारी इन्द्रिय-रूप गौएँ ब्रह्म-रूप दूध दें जिससे तुम ब्रह्मचारी कहलाओ और उस प्रत्यक्षलब्ध ज्ञान-रूप दूध से सत्य-ज्ञान-रूप घृत निकाल सको। दूसरी ओर यह गाय उत्तम दूध देकर तुम्हारे शरीर को पुष्ट कर सके, इसी लिये उत्साह-वर्धक साहित्य-रूप उषा नाम की गाय का भी प्रातः उठते ही दोहन आरम्भ हो जाय और सास्नादिमान् पशु का भी। जिससे तुम्हारे बाह्य और आभ्यन्तर दोनों शरीर पुष्ट हों। यदि यहाँ केवल साधारण दूध अपेक्षित होता तो 'पूर्वीरुषसो दुहानाः' यह वाक्य निरर्थक होता। इसकी पुष्टि में शतपथ का प्रमाण लीजिये—"वाग्ह वा एतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री (गाय)। मन एव वत्सः.....तेज एव श्रद्धा, सत्यमाज्यम्" ॥ शतपथ० ११. ३. १. १ ॥

मेरे गोष्ठ में गौएँ आगई हैं और उन्होंने मेरा कल्याण किया है। इसी प्रकार आगे भी वे मेरे इस गोष्ठ में, चरकर लौट आया करें और हमें सदा आनन्दित करती रहें। नाना प्रकार की सन्तान दें (दूध देने वाली बछिया और वोढा अनड्वान्, संसार की पांच कृष्टियों का बोझ उठाने में समर्थ बछड़े) वे नाना रूपों में यहाँ रहे। मैं वाणी के क्षेत्र में, उषा में, इन्द्रियों में, भूमि में और गृहपत्नियों में इनका ही रूप देखूँ (—'पुरुरूपाः न तु केवलं पशुरूपाः) ये हर क्षेत्र के इन्द्र के लिये उषा की प्यारी लाली देने वाला दूध लाकर दें—

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ (१ म मन्त्र)

देखो, उस भगवान् ने तथा तदनुवर्त्ती राजा ने यही किया है। वह व्यक्तिगत रूप में कूप-तडागादि पूर्त्त-निर्माण करने वाले के लिये (=पृणते) और सङ्गठन के नियम पालन करके सङ्गठित रूप से लोक-कल्याण करने वाले के लिये (=यज्वने) नाना प्रकार की—वाणी, भूमि, पशु आदि गाय देता है और अपने न्याय से नियन्त्रित होने के कारण दिया हुआ छीनता नहीं। वह विद्वानों के सेवक को (=देवयुम्) अभेद्य दुर्ग में रखता है और उसके 'रयि' की दिनों दिन अधिकाधिक वृद्धि करता है—

इन्द्रो॒ यज्व॑ने पृण॒ते च॑ शिक्ष॒त्युपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥ (२ य मन्त्र)

जो इस प्रकार गोपति (—जितेन्द्रिय, विद्याव्यसनी, श्रमी किसान, पत्नी का समुचित आदर और पूजा करने वाला तथा गोमाता का सेवक) बनता है उसकी इन्द्रियादि गौएँ नष्ट नहीं होतीं। उन्हें चोर चुरा नहीं सकता और शत्रु उन्हें व्यथा पहुँचाने की धृष्टता नहीं कर सकता; परन्तु शर्त यह है कि इन गौओं से संगठित रूप से देव-सेवा हो और हर प्रकार की गाय का दूध दान में काम आवे। चाहे संगठन के अर्पण हो, चाहे व्यक्तिगत रूप से दान हो (यजते ददाति च) तो उस गोपति का उनसे गहरा सम्बन्ध हो जाता है और परम गोपति भगवान् इस गोपालन से नित्य (=ज्योक्) उसका सहायक होता है !

न ता न॑शन्ति॒ न द॑भाति॒ तस्क॑रो॒ नासा॑मामि॒त्रो व्यथि॒रा द॑धर्षति ।
दे॒वाँश्च॒ याभि॒र्यज॑ते॒ ददा॑ति च॒ ज्योगित्ताभिः॑ सचते॒ गोप॑तिः स॒ह ॥ (३ य मन्त्र)

चोर ही नहीं, दिन-दहाड़े आंखों में धूल झोंकने वाला 'अर्वा' (Calculating ठग) भी उन पर प्रभुत्व नहीं जमा सकता और वह ठग कितनी ही सजी-धजी वस्तुओं के कोष (=संस्कृतत्र) उनके सामने पेश करे वे उस ओर मुँह ही नहीं करतीं। जिस यज्ञशील लोककल्याणार्थ समर्पण करने वाले मनुष्य के पीछे उसकी गौएँ चलती हैं अर्थात् जिसने उन्हें प्रेम से वश में कर लिया है उसका सर्वत्र कीर्तिगान होता है तथा वह निर्भय होकर संसार में रहता है—

न ता अर्वा॑ रे॒णुक॑काटो अश्नुते॒ न सं॑स्कृत॒त्रमुप॑ यन्ति॒ ता अ॒भि ।
उ॒रु॒गा॒यमभ॑यं॒ तस्य॒ ता अनु॒ गावो॒ मर्त॑स्य॒ वि च॑रन्ति॒ यज्व॑नः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

बस, हे लोगो ! ये जो इस प्रकार वश में की हुई गौएँ हैं, ये ही इन्द्र हैं। किं च जितनी प्रकार की गौएँ हैं उनको जिसने वश में कर लिया है वही उस क्षेत्र का इन्द्र हुआ—

गौः	धरती	राजेन्द्र
गौः	वाणी	कवीन्द्र तथा पण्डितेन्द्र
गौः	इन्द्रियाँ	जितेन्द्रिय जीवात्मा इन्द्र
गौः	प्रकृति	परमात्मा इन्द्र
गौः	स्त्री	यजमान इन्द्र

परन्तु इस इन्द्रत्व की प्राप्ति के लिये मैं हृदय से (अनुभूति से) तथा मन से (मननशक्ति से—तर्क से) उस इन्द्रों के इन्द्र परमात्मा को ही चाहता हूँ—

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ (५ म मन्त्र)

हे गौओं ! तुम कृश को सूखे हुए को पुष्ट बनाती हो। तुम भद्द को सुडौल बनाती हो। तुम वाणी के रूप में घर को भद्रवाणी-सम्पन्न करके भद्र बनाती हो। तुम्हारे गुणावली के ताने-बाने की चर्चा सभाओं में होती है —

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

तुम सन्तानों से फलो-फूलो, उत्तम अन्न खाओ और शुद्ध जलपान में शुद्ध जल पीओ। तुम पर किसी डाकू का, किसी बुरा चाहने वाले का वश न चले। इन्द्र के शस्त्र तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हें शत्रुओं से परिवर्जित बना दें—

प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥ (७ म मन्त्र)

यह चिपकने वाला गुणकीर्त्तन हर प्रकार की गाय पर लागू हो। हे परमेन्द्र ! हर क्षेत्र के ऋषभ तुम से वीर्य लेकर वीर्यवान् हों जिससे आप की शक्ति हर प्रकार के वीर्य में संक्रान्त हो—

उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम् ।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ॥ (८ म मन्त्र)

(इस सूक्त की जान, इसके प्रथम मन्त्र में स्थित 'पुरुरूपाः' शब्द में हैं।)

एकोनत्रिंश सूक्त

हे परमेन्द्र परमेश्वर ! जिसके अन्दर तेरा इन्द्रत्व भक्ति द्वारा संक्रान्त हो जाता है उसकी महिमा को धरती और आकाश में कोई नहीं रोक सकता

न ते अन्तः शवसो धाय्यस्य वि तु बाबधे रोदसी महित्वा ॥ (५ म मन्त्र)

त्रिंश सूक्त

हे परमेश्वर ! जिस वीर्य तथा ज्ञान-रूप सूर्य को और जिस उत्साह-रूप उषा को हम अपने अन्दर उदय कराना चाहते हैं उसको आदर्श-रूप में ब्रह्माण्ड में तो तूने ही उत्पन्न किया है। न कोई देव और न कोई मर्त्य तेरे सदृश है और न तुझ से बड़ा है—

सत्यमित्तन्न त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान् ।
अहन्नहिं परिशयानमर्णोऽवासृजो अपो अच्छा समुद्रम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)
त्वमपो वि दुरो विषूचीरिन्द्र दृळ्हमरुजः पर्वतस्य ।
राजाभवो जगतश्चर्षणीनां साकं सूर्यं जनयन् द्यामुषासम् ॥ (५ म मन्त्र)

एकत्रिंश सूक्त

हे परमात्मा के अनुवर्त्ती राजन् ! तू धन के भी धन का स्वामी है : तेरे कोष में सब प्रकार का धन है। तू हमारे सौ वर्ष के जीवन को—जो कि कल्याण के आवरणकर्त्ता शम्बर (=आलस्य) का दुर्ग बन गया है उसको—शम्बर का वध करके निरालस्य बनाता है और उपयोगी पदार्थों के उत्पादक तथा आलस्य-दास=शम्बरदास के शत्रु दिवोदास को आलसी का धन छीनकर देता है और इस धरती को शत्रु-रहित करता है। किं च, तू दूसरों का भरणपोषण करने वाले भरद्वाज को धन देता है—

त्वं शतान्यव शम्बरस्य पुरो जघन्थाप्रतीनि दस्योः ।
अशिक्षो यत्र शच्या शचीवो दिवोदासाय सुन्वते सुतक्रे—
भरद्वाजाय गृणते वसूनि ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे विश्व का एक राष्ट्र बनाने वाले राजन् ! अब सत्य ही तेरा बल है। पहिले तो एक बस्ती की चिन्ता थी। अब तुझे विश्वभर की एकता-विरोधिनी शक्तियों से लड़ना है, इसलिये इस 'महते रणाय'=बड़े युद्ध के लिये रथ पर चढ़, क्योंकि इसमें तो तुझे विश्व भर में घूमना होगा। तेरे दिन-रात रथ पर ही बीतेंगे जिससे कि तू अपना यह सन्देश सब प्रजाओं को सुना सके—

स सत्यसत्वन् महते रणाय रथमातिष्ठ तुविनृम्ण भीमम् ।
याहि प्रपथिन्नवसोप मद्रिक् प्र च श्रुत श्रावय चर्षणिभ्यः ॥ (५ म मन्त्र)

द्वात्रिंश सूक्त

इसे केवल शस्त्र-युद्ध ही नहीं करना होगा, अपितु विश्वभर की बस्तियों के विद्वानों को भी विद्यावल से मित्र बनाना होगा और एकता-विरोधियों से वाणी के क्षेत्र में भी लड़ना होगा—

स वह्निभिर्ऋक्वभिर्गोषु शश्वन् मितज्ञुभिः पुरुकृत्वा जिगाय ।
पुरः पुरोहा सखिभिः सखीयन् दृळ्हा रुरोज कविभिः कविः सन् ॥ (३ य मन्त्र)

हे संसार की बस्तियों में ज्ञान-वर्षा करने वाले तथा सबका मार्गदर्शन करने वाले वृषभ ! तुझे बड़े बलों से बड़े..............इसके लिये हर बस्ती की युद्धवीर, वाग्वीर, दानवीर सब प्रकार की वीर सेनाओं को इकट्ठा करके तुझे प्रयाण करना होगा, अतः ये सेनाएँ सजा और प्रयाण कर—

स नीव्याभिर्जरितारमच्छा महो वाजेभिर्महद्भिश्च शुष्मैः ।
पुरुवीराभिर्वृषभ क्षितीनामा गिर्वणः सुविताय प्र याहि ॥ (४ र्थ मन्त्र)

वह इन्द्र इन अपः अर्थात् सेनाओं को अपनी प्रबल रचना-शक्ति से तैयार करके विरोधियों के हमले सहन करने वाला (=तुराषाट्) बना है और तभी उसकी ये सेनाएँ प्रतिदिन, असम्भव व अभेद्य समझे जाने वाले (=अप्रधृष्य) संग्राम में घुस पड़ी हैं—

स सर्गेण शवसा तक्तो अत्यैरप इन्द्रो दक्षिणतस्तुराषाट् ।
इत्था सृजाना अनपावृदर्थं दिवेदिवे विविषुरप्रमृष्यम् ॥ (५ म मन्त्र)

त्रयस्त्रिंश सूक्त

हर देश की प्रजा में जो ओजिष्ठ है उसे हमें दे। हे इन्द्र ! तुझे वृत्रों का सामना करना पड़ेगा—

य ओजिष्ठ इन्द्र तं सु नो दा···वृत्रा समत्सु सासहदमित्रान् ॥ (१ म मन्त्र)

नाना देशों की भांति-भांति की बोली बोलने वाली (विवाचः) प्रजा तुझे बुला रही है। तुझे चतुर जुआरियों का भी सामना करना पड़ेगा, इसलिये बड़े-बड़े मेधावियों का संग्रह कर और उनके द्वारा इन सट्टे बाजों को धराशायी कर—

त्वां हीन्द्रावसे विवाचो हवन्ते चर्षणयः शूरसातौ ।
त्वं विप्रेभिर्वि पणीँरशायस्त्वोत इत् सनिता वाजमर्वा ॥ (२ य मन्त्र)

तुझे नाशकारी वृत्रों का ही सामना नहीं करना होगा, अपितु तुझे निःस्वार्थ, ईमानदार नियमित जीवन बिताने वाले, अपनी बस्ती पर सर्वस्व न्योछावर करने वाले आर्यवृत्रों का भी सामना करना होगा। हे नरों में नृतम ! इन पर भी पैनी धार वाले कुठार से आक्रमण कर—

त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर ।
वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दर्षि नृणां नृतम ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र। तुझे एकदेशी सखा नहीं बनना है, अपितु विश्वायु सखा बनना है और सबकी वृद्धि करनी है—

स त्वं न इन्द्राकवाभिरूती सखा विश्वायुरविता वृधे भूः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हम सभी प्रकार की गौएँ दान करें और 'गोषतमाः' कहलावें—

···'दिवि ष्याम पार्ये गोषतमाः' ॥ (५ म मन्त्र)

चतुस्त्रिंश सूक्त

नाना प्रकार के ऋषि परस्पर होड़ लगाते हुए तेरी विजय के लिये अपनी मनीषा इकट्ठी करते हैं, अतः तेरे यहाँ इन सबका जमघट रहता है—

सं च त्वे जग्मुर्गिर इन्द्र पूर्वीर्वि च त्वद् यन्ति विभ्वो मनीषाः ।
पुरा नूनं च स्तुतय ऋषीणां पस्पृध्र इन्द्रे अध्युक्थार्का ॥ (१ म मन्त्र)

जितने प्रकार के लोग तुझे पुकारते हैं वैसा ही बहुविध तेरा उद्यम भी है (पुरुगूर्त:)। हम जानते हैं कि हम सबको इस इन्द्र को बढ़ावा देकर इसका अनुमोदन करना है—

पुरुहूतो यः पुरुगूर्त ऋभ्वाँ एकः पुरुप्रशस्तो अस्ति यज्ञैः ।
रथो न महे शवसे युजानो३ऽस्माभिरिन्द्रो अनुमाद्यो भूत् ॥ (२ य मन्त्र)

धर्मप्रहार तथा वाक्प्रहार दोनों ही इसका उत्साह और अधिक बढ़ाते हैं। सौ या हजार स्तोता भी उसे कर्त्तव्य से डिगा नहीं सकते उल्टा उसका कल्याण करते हैं—

न यं हिंसन्ति धीतयो न वाणीरिन्द्रं नक्षन्तीदभि वर्धयन्तीः ।
यदि स्तोतारः शतं यत् सहस्रं गृणन्ति गिर्वणसं शं तदस्मै ॥ (३ य मन्त्र)

मरुभूमि के मनुष्यों को जल के समान, नाना बस्तियों से संगठित निमन्त्रण इसे प्राप्त होते हैं—

जनं न धन्वन्नभि सं यदापः सत्रा वावृधुर्हवनानि यज्ञैः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

तभी तो यह 'विश्वायु' कहलाता है—'इन्द्रो विश्वायुरविता वृधश्च' ॥ (५ म मन्त्र)

पञ्चत्रिंश सूक्त

सब इस प्रतीक्षा में हैं कि कब तेरे रथों के डेरे स्थान-स्थान पर बनते हैं, कब तू सहायकों को सहस्रों प्रकार का पोषण देता है, कब धन-शक्ति से उन्हें आबाद करता है और कब उनकी बुद्धियों में निरन्तर, 'संग्राम ही सर्वश्रेष्ठ रत्न है' यह भावना भरता है—

कदा भुवन् रथक्षयाणि ब्रह्म कदा स्तोत्रे सहस्रपोष्यं दाः ।
कदा स्तोमं वासयोऽस्य राया कदा धियः करसि वाजरत्नाः ॥ (१ म मन्त्र)

कब तेरे नेता नेताओं से, वीर वीरों से भिड़ते हैं और 'जयाजि' बनते हैं—युद्ध जीतकर ही आते हैं। तू वाणी, धरती और इन्द्रिय इन तीनों प्रकार की गौओं को जय करता है। हे इन्द्र! तू हमारी पशु-रूप गौओं में भी आनन्ददायक दूध भर—

कर्हि स्वित्तदिन्द्र यन्नृभिर्नॄन् वीरैर्वीरान् नीळयासे जयाजीन् ।
त्रिधातु गा अधि जयासि गोष्विन्द्र द्युम्नं स्वर्वद् धेह्यस्मे ॥ (२ य मन्त्र)

षट्त्रिंश सूक्त

तेरे आनन्दोत्सव सच्चे हैं। वे एकदेश के लिये नहीं हैं, वे विश्वजन्य हैं। तेरे धन सारी पृथिवी से प्राप्त हैं तथा सारी पृथिवी के निमित्त हैं। तूने देवों में अद्भुत जीवनदायक बल (=असुर्यम्) धारण कराया है। तू सदा नाना प्रकार का अन्न बांटता है—

सत्रा मदासस्तव विश्वजन्याः सत्रा रायोऽध ये पार्थिवासः।
सत्रा वाजानामभवो विभक्ता यद् देवेषु धारयथा असुर्यम् ॥ (१ म मन्त्र)

सारी जनता में इसके ओज ने सङ्गठन कर दिया है। इसका वृत्रवध भी विश्व की प्रजा को परस्पर सीने के लिये—संसार भर के, निर्लोभ प्रजा की कामना पूरी करने वाले मितगामी लोगों को एक करने के लिये—सूई बनने वाला है और सौहार्द्र-रूप दूध भट्टी पर चढ़ाने के लिये तथा विश्व की वीर्यवृद्धि के लिये है—

अनु प्र येजे जन ओजो अस्य सत्रा दधिरे अनु वीर्याय।
स्यूमगृभे दुधयेऽर्वते च क्रतुं वृञ्जन्त्यपि वृत्रहत्ये ॥ (२ य मन्त्र)

संसारभर की वाणियाँ इसके पक्ष में, समुद्र में नदियों के समान इकट्ठी होती हैं—

समुद्रं न सिन्धव उक्थशुष्मा उरुव्यचसं गिर आ विशन्ति ॥ (३ य मन्त्र)

सो, हे इन्द्र! तू धन की नहरें बना, जिनसे सुनियन्त्रित धन प्रवाहित हो सके और जिससे केवल एक वर्ग ही नहीं, अपितु सब प्रसन्न हों (पुरुश्चन्द्रस्य वस्वः)। इस प्रकार तू जनों का अप्रतिम पति बन। अकेला सारे भूलोक का राजा बन—

स रायस्खामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः।
पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हर युग में हर आयु के लोगों की आवश्यकता पहिचान और पूरी कर—

...'युगेयुगे वयसा चेकितानः' ॥ (५ म मन्त्र घ)

सप्तत्रिंश सूक्त

तेरे सन्देशवाहक तेरे विश्वकल्याणकारी रथ को आगे लेते चलें—

अर्वाञ्चं रथं विश्ववारं त उग्रेन्द्र युक्तासो हरयो वहन्तु ॥ (१ म मन्त्र क ख)

वे सन्देशवाहक विश्वभर में यह अमृत पहुँचावें। विश्व के वायु-मण्डल में इस अमृत की कमी कमी न पड़े—

अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत् ॥ (३ य मन्त्र ग घ)

इसका फल यह हो कि तू 'वरिष्ठ' 'तुविकूर्मितम' (४ र्थ मन्त्र) और 'वृत्रं हनिष्ठ' (५ म मन्त्र) हो जावे। इसका वर्णन सप्तम मण्डल में वसिष्ठ-प्रसंग में करेंगे।

अष्टात्रिंश सूक्त

उसने हमें पहिले की अपेक्षा स्तोतव्यतर (=पन्यसीम्) दृष्टि का अंजन दिया है—

पन्यसीं धीतिं दैव्यस्य यामञ्जनस्य रातिं वनते सुदानुः ॥ (१ म मन्त्र)

इसके घोष स्वदेश ही नहीं, दूर-दूर तक वस्तियों के कानों में बस जाते हैं। इसकी संसार को देव बनाने वाली अथवा संसार भर के विद्वानों को इकट्ठा करने वाली देवहूति ऐसी है—

दूराच्चिदा वसतो अस्य कर्णा घोषादिन्द्रस्य तन्यति ब्रुवाणः ।
एयमेनं देवहूतिर्ववृत्यान्मद्र्य१गिन्द्रमियमृच्यमाना ॥ (२ य मन्त्र)

एकोनचत्वारिंश सूक्त

तूने दिव्य कवि परमात्मा अथवा संन्यासी का मधुर रस पिया है। उसी माधुरी वाले नाना गो-रसमय गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत और गोनवनीत आदि 'गो' शब्द से आरम्भ होने वाले विविध अन्न हमें खिला—

मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः ।
अपा नस्तस्य सचनस्य देवेषो युवस्व गृणते गोअग्राः ॥ (१ म मन्त्र)

वह इन्द्र प्रभुप्रेममय सर्व प्राणिवत्सल जीवन वाला है (उशनाः)। पर्वतों पर बैठकर नदियों के किनारे (परिउस्राः) युक्तकर्मा ज्ञानयोगी होकर (ऋतयुक्) समाधि लगाने वाला (युजानः) है। जो वलासुर के मनोवैज्ञानिक पेंचों में उलझाने वाले अभेद्य शिखरों को ढा देता है। वह लच्छेदार बातों में उलझाने वाले जुआरियों (सटोरियों) से वाणी द्वारा युद्ध करता है—

अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिर्ऋतयुग्युजानः ।
रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणीँर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः ॥ (२ य मन्त्र)

वह अंधेरे दिनों को (=जीवनों को) उजाले से युक्त कर देता है। उसके कारण हर उषा पवित्र सन्देश लेकर आती है—

अयं द्योतयदद्युतो व्य१क्तून् दोषा वस्तोः शरद इन्दुरिन्द्र ।
इमं केतुमदधुर्नू चिदह्नां शुचिजन्मन उषसश्चकार ॥ (३ य मन्त्र)

वह, सन्मार्ग में अरुचि रखने वालों में रुचि उत्पन्न करता है तथा हर उषा को ज्ञान से व्याप्त करता है। इसके वाहन विद्याव्यसनी (ऋतयुक्) विद्वान् अथवा क्षत्रिय हैं। यह प्रजा का तर्पण करने वाला है और जिस पात्र से यह तर्पण करता है उसका केन्द्र—पकड़ने का दस्ता सुख है—

अयं रोचयदरुचो रुचानो३ऽयं वासयद् व्य१तेन पूर्वीः ।
अयमीयत ऋतयुग्भिरश्वैः स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्राः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

चत्वारिंश सूक्त

तू सदा वाहन पर ही मत चढ़ा रह। घोड़े खोल अर्थात् सन्देशवाहकों से हटकर अपने सन्देशग्रहणतत्पर सैनिकगणों में बैठ। उनमें बैठकर मस्त होकर गा और यज्ञार्थी के हृदय में जान डाल दे। उनकी आयु बढ़ा—

इन्द्र पिब तुभ्यं सुतो मदायाऽव स्य हरी वि मुचा सखाया।
उत प्र गाय गण आ निषद्याऽथा यज्ञाय गृणते वयो धाः॥ (१ म मन्त्र)

यहाँ उस वीर रस का पान कर जिसकी मस्ती में तूने बड़े-बड़े कारनामे किये हैं—

अस्य पिब यस्य जज्ञान इन्द्र मदाय क्रत्वे अपिबो विरप्शिन्॥ (२ य मन्त्र क ख)

हमारे विश्वकल्याणव्रतरूप प्रदीप्त अग्नि में इस वीर रस की आहुति हुई है। तुझे भी हमारे वहिष्ठ सन्देशवाहक यहां हम तक पहुँचा दें। हे परमेश्वर! अथवा हे प्रभु के सच्चे भक्त! मेरा मन तुझ सरीखे की ओर लगा हुआ है। आ, अब अपनी दी हुई महान् आज्ञा ('विश्व का एक राजा बनाओ, की पूर्त्ति के लिये हमारे बीच आ—

समिद्धे अग्नौ सुत इन्द्र सोम आ त्वा वहन्तु हरयो वहिष्ठाः।
त्वायता मनसा जोहवीमीन्द्रा याहि सुविताय महे नः॥ (३ य मन्त्र)

तू जहाँ भी है, वहाँ से अपने सैनिकों समेत, अपने साथों के साथ सार्थवाह बनकर आ। हे वचनों के धनी (गिर्वणस्) आ—

यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधग्यद् वा स्वे सदने यत्र वासि।
अतो नो यज्ञमवसे नियुत्वान्त्सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः॥ (५ मन्त्र)

एकचत्वारिंश सूक्त

हे इन्द्र! इस संगठन के कार्यकर्त्ताओं में तू मुख्य है। मेरे हृदय को अपना घर समझ कर तू इसमें आ—

गावो न वज्रिन्त्स्वमोको अच्छेन्द्रा गहि प्रथमो यज्ञियानाम्॥ (१ म मन्त्र ग घ)

यह जो वीररसमय 'सोम' हमने यत्न से सवन किया है, यह साधारण सोम से भी अधिक 'वस्यान्' है। वसु से वस्यान्। साधारण बस्ती से विश्व की बस्ती बनाने के लिये व्रत लिया था, हमने उसका सारी प्रजा से अनुमोदन-रूप सवन करके उसे और 'वस्यान्' बना दिया। यह हमें, उस विश्व की एकतार्थ महायुद्ध के लिये तैयार करने के लिये उससे भी बढ़िया (=श्रेयान्) है। इस के सहारे तैरने वाला बनकर तू हमारे सङ्गठन में आ और उससे सम्पूर्ण सेनाओं को तृप्त कर—

सुतः सोमो असुतादिन्द्र वस्यानयं श्रेयाञ्चिकितुषे रणाय।
एतं तितिर्व उप याहि यज्ञं तेन विश्वास्तविषीरा पृणस्व॥ (४ थं मन्त्र)

हमें युद्ध में भी सहायता दे तथा धरती की प्रजा के निवेशन में भी—

'प्रास्माँ अव पृतनासु प्र विक्षु' ॥ (५ म मन्त्र घ)

द्वाचत्वारिंश सूक्त

हे भक्त ! यह इन्द्र सब गुणियों के गुणों की महिमा पहिचानता है। इस गुणग्राहक इन्द्र के लिये तू भी हर प्रकार का सर्वस्व भेंट कर। यह हर कार्य के अन्त तक पहुंच कर रहता है। कभी पैर पीछे नहीं हटाता—

प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।

अरंगमाय जग्मयेऽपश्चाद्दघ्वने नरे ॥ (१ म मन्त्र)

हर जेतव्य में यह तेरा रक्षक है—

कुवित् समस्य जेन्यस्य शर्धतोऽभिशस्तेरवस्परत् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

त्रयश्चत्वारिंश सूक्त

हे इन्द्र ! जिस आलस्य-विरोधी (शम्बर के शत्रु) अपने वीर रस के बल पर तूने 'शय्यादास' की शक्ति छीनकर 'दिवोदास' को दी थी; उसी वीर रस को हम तेरे लिये उपहार-रूप में लाये हैं। तूने हमें वीररस दिया, हम तुझे इससे प्रतिभूषित करते हैं। तूने यही तो कहा था— (सोमेभिः प्रतिभूषथ ४२.३)। अब इस उपहार को स्वीकार कर—

यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयः ।

अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥ (१ म मन्त्र)

चतुश्चत्वारिंश सूक्त

हे इन्द्र ! तू 'रयिवान्' है, 'रयिवत्तम' है और 'द्युम्नवत्तम' है—

यो रयिवो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः ॥ (१ म मन्त्र क ख)

हे इन्द्र ! इसी सोमरस ने तुझे वह विश्वव्यापिनी सहनशक्ति दी है जिससे विश्व की प्रजा अपने को तेरी प्रजा समझने लगी है। तू मंहिष्ठ है—महनीयतम है(मोषणतम नहीं)—

त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।

इन्द्रं विश्वासाहं नरं मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हम तुझ धनपति के सखा होकर कभी दारिद्र्यग्रस्त न हों। हमें पतन से बचाने के लिए 'जुआ न खेल' आदि जो निषेधाज्ञाएँ दी हैं, वे सदा हमारे जन-जन के सामने रहती हैं। तू हराम-खोर सवन-हीनों को तथा दूसरों का पालन न करने वालों को मार—

मा जस्वने वृषभ नो ररीथा मा ते रेवतः सख्ये रिषाम ।

पूर्वीष्ट इन्द्र निष्षिधो जनेषु जह्यसुष्वीन् प्र वृहापृणतः ॥ (११ श मन्त्र)

वह इन्द्र मेघ के समान हमारी मांगी वस्तु (=राधांसि) गाय, घोड़ा आदि देता हुआ आता है-

उदुभ्राणीव स्तुनयन्नियर्तीन्द्रो राधांस्यश्व्यानि गव्या ॥ (१२ श मन्त्र क ख)

हे राज्य के पुरोहित ! हे वीर ! अपने सवन किये पदार्थों को इन्द्र को भेंट कर, वही इस संसार का राजा है—

'अध्वर्यो वीर प्र महे सुतानामिन्द्राय भर स ह्यस्य राजा' ॥ (१३ श मन्त्र)

तू द्यौः से मेघ के समान धनादि की वर्षा करता है और नहर आदि द्वारा पृथिवी से पृथिवी में वर्षा करता है। तू सेनाओं का (=सिन्धूनाम्) नेता है। तू घनीभूत सङ्ग्रामों की टक्कर में अस्त्र-शस्त्र तथा रुधिर की वर्षा करता है। हे इन्द्र ! यह वीरसमय सोम हमने तेरे निमित्त तय्यार किया है। यह तुझे आप्यायित करता है। यह स्वादु रस तेरे लिये मधु के समान पेय है। तू सारी प्रजा का मधुपानार्थ चुना हुआ वर है—

वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् ।
वृष्णे त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय ॥ (२१ श मन्त्र)

इस वीर रस ने इन्द्र के साथ मिलकर सटोरियों को निश्चेष्ट कर दिया। क्योंकि हरामखोरी ही, वीररसविरोधी जुए का आधार है। इस रस से मतवाला पुरुष, यदि उसका पिता भी प्रजा का अशिव चाहता हो तो उसे निःशस्त्र करके उसकी माया का विध्वंस कर देता है—

अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत् ।
अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः ॥ (२२ श मन्त्र)

इसने राष्ट्र की सुपत्नियों को विपत्ति में भी—संग्राम के समय भी उत्साह की लाली से सुशोभित उषा बना दिया है। राष्ट्र के शिक्षाविभाग-रूप सूर्यलोक में इस वीर रस की ज्योति ही अन्दर-शिक्षा के अक्षर-अक्षर के भीतर चमकती है। जो मेधा से तीर्णतम हैं उन प्रतिभाशाली त्रितों में कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकार का अथवा दारिद्र्यनाशक श्री, अन्यायनाशक यश और अन्धकारनाशक सत्य इन रोचक निगूढ़ तत्त्वों को—तत्त्वरूप अमृतों को ढूंढकर सबके लिये सुलभ कर दिया है—

अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः ।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम् ॥ (२३ श मन्त्र)

पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां, इन सबसे आनन्द का फव्वारा छोड़ने वाला यही वीररस रूप सोम है—

'सोमो दाधार दशयन्त्रमुत्सम्' ॥ (२४ श मन्त्र)

पञ्चचत्वारिंश सूक्त

हे मनुष्यो ! बेचैन और निराशामग्न पुरुषों को दूर से दूर स्थान से उद्धार करके ले आने

वाला यह इन्द्र अपना सखा है—

य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम् ।
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥ (१ म मन्त्र)

यह हितकारी धन का विजेता है—'इन्द्रो जेता हितं धनम्' ॥ (२ य मन्त्र)

यह ब्रह्मशक्ति का वाहन है। हे मित्रो ! इसकी पूजा करो। इसकी बड़ी मनन-परम्परा है—

सखायो ब्रह्मवाहसेऽर्चत प्र च गायत ।
स हि नः प्रमतिर्मही ॥ (४ र्थं मन्त्र)

हे दुष्टों के सामने न झुकने वाले ! तू जनता की कठिनाइयों के अभेद्य से अभेद्य दुर्ग-रूप दुष्टों की माया की समाप्ति कर दे—

वि दृळ्हानि चिदद्रिवो जनानां शचीपते ।
वृह माया अनानत ॥ (९ म मन्त्र)

तेरे द्वारा हम हितकारी धन जीतें अथवा हमारी परीक्षार्थ छिपाये धन को हम योग्यता के बल पर जीत लें— 'त्वया जेष्म हितं धनम्' ॥ (१२ श मन्त्र ग.)

वह ब्रह्मवाहस्तम है उसे पुकारता हूँ—'ब्रह्मवाहस्तमं हुवे' ॥ (१९ श मन्त्र ग)

तेरी मित्रता सहज नष्ट होने वाली नहीं है—

'दूणाशं सख्यं तव' ॥ (२६ श मन्त्र क)

हमें तू महान् धन के लिये—सब बस्तियों के सहयोग से प्राप्त धन के लिये प्रेरणा कर—

'अस्मान् राये महे हिनु' ॥ (३० श मन्त्र ग)

जिस प्रकार वायु द्रव पदार्थों को सूक्ष्म रूप देकर दूर-दूर तक पहुँचा देता है, इसी प्रकार तू सहस्रों से भरे हमारे धन को सबका उपभोग्य बना देता है—

यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी ।
सद्यो दानाय मंहते ॥ (३२ श मन्त्र)

३१ वें तथा ३३ वें मन्त्र में 'बृबु' का वर्णन है। यह 'बृबु' क्या है ? यह शब्द आद्याक्षर-संयोग से 'सत्य' शब्द की तरह निष्पन्न है। यह पद्धति वही है जैसे All India Congress Committee (ऑल इण्डिया कौंग्रेस कमिटी इस को AICC के नाम से पुकारा जाता है। एवमेव 'बृबु' वास्तव में 'बृहत्+बुद्ध' है। और 'बृहत्+बुद्ध'-तृतीयातत्पुरुषसमास-युक्त शब्द में हेतु में तृतीया प्रयुक्त है। यथा—बाहुभ्यामुपार्जितं, बाहूपार्जितम् राज्यम्, एव च बृहत् + बुद्ध'-का अर्थ हुआ 'बड़े के द्वारा जगाया हुआ' (Bigawakened) और यही अर्थ इसके आद्याक्षर संयोग-

निष्पन्न 'बृबु' शब्द का भी हुआ। कभी-कभी जुआरियों में भी कल्याण की भावना जागृत हो जाती है। जुए से एक प्रकार की लापरवाही तो उनमें आ ही जाती है। कभी-कभी जुआरी को यह दीखने लगता है कि मेरे दान से बहुत बड़ा उपकार होने वाला है और वह सोचता है कि चलो यह जुआ भी खेलकर देख लो—**'रिन्द के रिन्द रहे हाथ से जन्नत न गई'**। तब वह सट्टे में जीती हुई लाखों की सम्पत्ति किसी बहुत बड़े लोककल्याण के कार्य में दान कर डालता है। इस प्रकार की अवस्था वाले मनुष्य को **'बृहद्+बुद्ध–" लोककल्याण के बड़प्पन से जागा हुआ'** कहते हैं और वह ही यहाँ **'बृबु'** कहलाया है।

पणियों (जुआरियों) में से ऐसा मनुष्य मूर्धन्य स्थान पर पहुंच जाता है, जैसे कि तीव्र वेग वाली (गङ्गा) किसी नदी में कभी तीव्र जलप्रवाह में भी कोई ऊँचा द्वीप बच जाता है—

अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात् ।
उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः ॥ (३१ श मन्त्र)

ऐसे मनुष्य का **भरद्वाज** (=लोकभरणतत्पर मन) उसे सच्चा आन्तरिक सन्तोष देता है—'हे मेरे स्वामी बृबु ! तूने ऐसा कार्य किया है जिसकी स्तोता लोग सदा कीर्त्ति-गाथा गाते हैं। वाह रे **बृबु (—बृहद्बुद्ध)** जुआरी ! तूने सहस्रों का दान किया है जो कि आगे सहस्रों में बँट रहा है।

ऐसे, अच्छी लहर के प्रवाह से प्रेरित मनुष्य भी इन्द्र के—विश्व की एकता-स्थापन-रूप यज्ञ में सहायक होते हैं। उनका भी भला ही होता है—**'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' (गीता ६.४०)**—

तत् सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः ।
बृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम् ॥ (३३ श मन्त्र)

षट्चत्वारिंश सूक्त

तू अकेला ही सहस्र दुष्टों से उनका वैभव छीन लेता है—

'सहस्रमुष्क तुविनृम्ण सत्पते' ॥ (३ य मन्त्र)

ये सूक्ष्म बुद्धि (=तिग्ममूर्धानः) जुआरी कानून से बचने के लिये नए-नए पेंच सोचते रहते हैं। इनसे हमारे नेता को (=नाय को) तू युद्ध में बचा—

अध स्मा नो वृधे भवेन्द्र नायमवा युधि ।
यदन्तरिक्षे पतयन्ति पर्णिनो दिद्यवस्तिग्ममूर्धानः ॥ (११ श मन्त्र)

जहाँ युद्ध में शूर लोग अपने पितरों का नाम उज्ज्वल करते हैं वहाँ हमें शरण दे—

यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितृणाम् ।
अध स्मा यच्छ तन्वे३ तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः ॥ (१२ श मन्त्र)

जिधर से किसी विपद्ग्रस्त की पुकार पड़ती है उसी आवाज की ओर सहायतार्थ इस प्रकार दौड़ने के लिये तू हमें प्रेरणा देता है जैसे जलप्रवाह ढलवान की ओर बहता है—

'सिन्धूँरिव प्रवण आशुया यतो यदि क्लोशमनु ष्वणि' ॥ (१४ श मन्त्र क ख)

सप्तचत्वारिंश सूक्त

अब वीररस की महिमा कहते हैं। यह सुनने में स्वादु है, इसीलिये बच्चे से लेकर बूढ़े तक 'रामायण, महाभारत तथा आल्हा ऊदल' के युद्ध-प्रसंग जितने चाव से सुनते हैं उतना किसी अन्य प्रसंग को नहीं सुनते। शास्त्रार्थ तथा कुश्तियों में जितनी भीड़ होती है उतनी अन्यत्र नहीं होती। यह 'मधुमान्' है। राष्ट्रों का मधुर सुख तथा वह रसाभास जिसे शृंगार रस कहते हैं इसी के सहारे खड़े हैं। तीव्र तो वह है ही, फिर भी रसवान् है यह इसकी अद्भुतता है। इस रस का पान कर चुकने वाले इन्द्र अर्थात् हर यज्ञ के यजमान का युद्धों में शत्रु सामना नहीं कर सकते—उसकी चोट सहार नहीं सकते—

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ (१ म मन्त्र)

प्रयत्नशील 'दिवोदास' के यदि ९९ वर्ष आलस्य में बीते तो इसने १०० वें वर्ष तो उसे निहाल कर ही दिया—

'पुरूणि यश्च्यौत्ना शम्बरस्य वि नवतिं नव च देह्यो३हन्' ॥ (२ य मन्त्र ग घ)

हे इन्द्र ! तू रयिस्थान है। जहाँ कि धनप्राप्ति के लिये सङ्घर्ष होता है उस वाणिज्य-केन्द्र-रूप कलश में भी यही वीररस कार्य करता है। वहाँ तू पराक्रम दिखा और हमें धन धारण करवा—

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यंदिने सवन आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु धेहि ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू हमारी ओर वह दृष्टि रख जो एक सच्चे नेता की अपने अनुयायियों की ओर होती है। हमें 'वसु' से 'वस्यस्' की ओर ले जा। हमें कठिन समस्याओं से पार उतार। हमें सुनीति सिखा और वामनीति वालों के साथ उनसे भी अधिक वामनीति का व्यवहार कर। पर हमें पार उतार दे—

इन्द्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ।
भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीतिः ॥ (७ म मन्त्र)

तू विद्वान् है हमें सुखमय ज्योति में ले जा—

'उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति' ॥ (८ म मन्त्र क ख)

हमारे धन को अन्य प्रजाएँ न छीन लें, तू विद्वान् है, हमें ठीक मार्ग से ले जा—

इषमा वक्षीषां वर्षिष्ठां मा नस्तारीन्मघवन् रायो अर्यः ॥ (९ म मन्त्र ग घ)

यह उभयलोक का राजा है—

'एधमानद्विळुभयस्य राजा' ॥ (१६ श मन्त्र ग)

उसके सहस्रों सन्देशवाहक कार्यों में जुटे हैं। जिस रूप में उस पर कोई आक्रमण करता है उसके विरोधी उचित रूप को वह धारण कर लेता है—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (१८ श मन्त्र)

तू उजाड़ जंगल में भी निर्भय मार्ग बनाता है—

अगव्यूति क्षेत्रमागन्म देवा उर्वी सती भूमिरंहूरणाभूत् ॥ (२० श मन्त्र क ख)

तूने हमारे शक्तिक्षयकारी प्रदर्शन-प्रेम (=वर्चिन्) तथा शयन-प्रेम या हिरण्यकशिपु (शम्बर) इन असुरों को, प्रतिदिन दिन को भी रात वना देने वाले जीवन के काले भागों में—दूर करते हुए अन्त में उन्हें मार दिया—

दिवेदिवे सदृशीरन्यमर्धं कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः ।
अहन् दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च ॥ (२१ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! प्रभु की प्रशस्त स्तुति करने वाले 'प्रस्तोक' अर्थात् प्रभुभक्त ने अपनी प्रभुभक्ति का परिचय केवल स्तुति द्वारा नहीं, किन्तु अपने आचरण द्वारा इस प्रकार दिया। उसने दुष्ट 'शम्बर' (=आलस्य) नामक असुर से छीन कर वह दण्ड-प्राप्त धन, उसे अतिथि-सेवक (उद्यमशील, निरालस्य) बनाकर वापिस दे दिया। जब वह शम्बर 'शयनदास' से अतिथि-सेवक 'दिवोदास' बन गया तो हमने उससे वे १० स्वर्णमय उपदेश-कोश तथा १० विजय किये हुए इन्द्रिय-रूप घोड़े, सेवा कर प्रतिग्रह रूप में प्राप्त किये। प्रभुभक्त यदि केवल स्तुतिगान में लगा रहे तो वह भी आलस्य की (शम्बर की) ही पूजा है। जब वह जितेन्द्रियता तथा इन्द्रियजय-विषयक ज्ञान सत्पात्रों को देता है तो वह इन्द्रियों का राजा 'मिथ्यास्तोक' से 'प्रस्तोक' बन जाता है, वही 'दिवोदास' का—प्रभुभक्त का सच्चा सपूत है—

प्रस्तोक इन्नु राधसस्त इन्द्र दश कोशयीर्दश वाजिनोऽदात् ।
दिवोदासादतिथिग्वस्य राधः शाम्बरं वसु प्रत्यग्रभीष्म ॥ (२२ श मन्त्र)

हमने १० घोड़े (दस इन्द्रियां[1]), १० कोश (दस विषय), १० सुखवर्धक वस्त्र (= दस स्मृति-कोष जिनमें ज्ञान की स्मृति लिपटी रहती है) तथा हर विषय की आसक्ति से छूटने के प्रभुभक्त द्वारा निर्दिष्ट १० ज्ञानोपदेश-रूप स्वर्णपिण्ड इन, सबको 'दिवोदास' से—प्रभुभक्त से सेवा द्वारा प्रतिग्रह-रूप में प्राप्त किया—

दशाश्वान् दश कोशान् दश वस्त्राधिभोजना ।
दशो हिरण्यपिण्डान् दिवोदासादसानिषम् ॥ (२३ श मन्त्र)

---

१. इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ॥ कठो० १.३.४ ॥

फिर जो जितेन्द्रिय होकर सच्चे अर्थों में ,'**अश्वथ**' (=**अश्ववान्**) हो जाता है, वह उपदेश द्वारा तो सत्पात्रों को ज्ञानकोश देता ही है, परन्तु यदि अविचल भक्ति वाले **अन्तेवासी** (=**अथर्व**) बनकर **१० शिष्य** गुरु के पास आ जावें तो वह उन्हें दूसरों को उपदेश देना भी सिखाता है और हर ब्रह्मचर्य के नियमपालक (=**पायवे**) को-इस प्रकार के उन दश शिष्यों को तिपाई वाले १० शरीर अर्थात् **युक्त आहार, युक्त निद्रा** और **युक्त ब्रह्मचर्य** इन तीन स्तम्भों वाले १० शरीर देता है* तथा १० दुर्दान्त घोड़ों के समान ये जो इन्द्रियाँ हैं उनको '**गाय**' बनाकर अर्थात् अत्यन्त **विनीत** बनाकर—देता है। इस प्रकार १०×१०=१०० गौएँ देता है—

दश रथान् प्रष्टिमतः शतं गा अथर्वभ्यः ।

अश्वथः पायवेऽदात् ॥ (२४ श मन्त्र)

इस प्रकार चारों ओर फैलने वाली इन्द्रियों को जीतने वाला इन्द्रिय-जय का पुत्र, स्वराज्य वाला, आत्मज्ञानी ज्ञानपात्रभूत परम-रण-तत्पर मनों को ऋत्विज् बनाकर जितेन्द्रियत्व-प्रचाररूप यज्ञ सदा करता आया है और वे मन भी प्रभुभक्ति भरे, विश्वकल्याणकारी, प्रभुप्रेम रूपी धन को पाकर निहाल हो जाते हैं। ऐसे पुरुष ही संसार में सहनशक्ति उत्पन्न करके सब राष्ट्रों को एक राष्ट्र बनाने में समर्थ होते हैं—

महि राधो विश्वजन्यं दधानान् भरद्वाजान्त्साञ्जयो अभ्ययष्ट ॥ (२५ श मन्त्र)

ऐसे पुरुषों को तपोवनों में आश्रम बनाने चाहियें। उन तपोवनों के अध्यक्ष (=**वनस्पति**) ही विश्व की एकता उत्पन्न करने की इच्छा वाले नेताओं के सच्चे सखा हैं। वही धरती को तारने वाले सच्चे वीर हैं। नेताओं को चाहिये कि उन्हें सब प्रकार की गौओं से (**वाणी, पशु, भूमि आदि से**) सन्नद्ध कर दें—

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।

गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वाऽऽस्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ (२६ श मन्त्र)

वे सच्चे तपस्वी ही **आसमान** से तेज, **धरती** से सहन-शक्ति और **जङ्गल** से शीतोष्णादि-द्वन्द्व-सहन-शक्ति आदि गुण खींचकर अपने जीवन में ढालते हैं। (मूर्ख लोग इनसे जड़ता सीखते हैं)। वे तपोवन ही रथ हैं जिन पर चढ़कर, जिनमें समारूढ़ होकर—सच्चा नेता विजययात्रा के लिये निकलता है—

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।

अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ (२७ श मन्त्र)

यह इन्द्र का वज्र है, सैनिकों की छावनी है, मित्र (ब्राह्मण) का गर्भ है तथा वरुण (क्षत्रिय) के लिये केन्द्र के बन्धन में शासनबद्ध होकर चलना सिखाने का केन्द्र है। हे तपोवन-रूप दिव्यरथ ! हमारी भेंट स्वीकार कर—

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।

सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ (२८ श मन्त्र)

---

* त्रयोऽवष्टम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति ॥ चरक. सू. स्था. ॥

यहाँ से जो स्नातक तैयार होते हैं वे सच्चे नेता का विजय-घोष करने वाले नगाड़े हैं। उनकी आवाज से ही दुष्ट भाग खड़े होते हैं और सज्जन आश्वस्त होते हैं—

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ (२९ श मन्त्र)

हे इन्द्र! इन दुन्दुभि-रूप स्नातकों से, विषय-रूप शत्रुओं के चंगुल में फंसी प्रजा-रूप गौओं को छुड़ाकर वापिस ला। ये स्नातक झण्डा लिये दुन्दुभि के समान नाद करते हैं। इनके बल से हमारे योद्धा यह अनुभव करते हैं, कि 'मानो हमें पङ्ख लग गये हैं'। हमारे रथी इस प्रकार दिग्विजय करें—

आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ (३१ श मन्त्र)

अष्टचत्वारिंश सूक्त

अब यहां से मण्डल उपसंहार की ओर चल पड़ा है। मण्डल का आरम्भ **अग्नि** तथा **वैश्वानर** (संन्यासी) से हुआ था। उपसंहार के आरम्भ में फिर **अग्नि** के दर्शन होते हैं।

जो जननायक इन्द्र को = राजा को यहाँ तक लाया है उसका **सभा-सभा** में **वाणी-वाणी** से यशोगान होता है। उसे सब अपना प्रिय मित्र-सा जानकर उसकी प्रशंसा करते हैं (चाहे वह उन्हें जानता भी न हो)—

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥ (१ म मन्त्र)

हे अग्ने! सब लोककल्याणार्थी मनों में **(भरद्वाजेषु)** तेरी ज्योति चमक रही है। हे लोक-पावन! इस ज्योति से तू सदा **देदीप्यमान** रह—

भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य ··· द्युमत् पावक दीदिहि ॥ (७ म मन्त्र)

आज विश्व की मानव-बस्तियों में सब तुझे ही अपने-अपने घर का गृहपति समझने लगे हैं—

'विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम्' ॥ (८ म मन्त्र)

यह विश्वकल्याण की भावना रूप जो अद्‌भुत धन हम लोगों ने पाया है इसका रथी तो तू ही है—'अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि' ॥ (९ म मन्त्र)

तू विद्वानों के कोप तथा दुष्टों की कुटिलता इन दोनों से हमें बचा—

'अग्ने हेळांसि दैव्या युयोधिनोऽदेवानि ह्वरांसि च' ॥ (१० म मन्त्र)

विश्व के सैन्यवर्ग को विश्वयुद्ध बन्द करके सुख से निहाल कर देने वाली, आगे ही आगे बढ़ने वाली, उन्हें हत्या के काम से छुड़ाकर प्रजा-सुखकारी कामों के लिये मरना-जीना

सिखाने वाली, मृत्युरहित यश दिलाने वाली (अब तक सैनिकों का यश मौत से बंधा था), विश्व की कामना-पूर्ति करने वाली (=विश्वदोहस्) और विश्वभर को भोजन देने वाली उस विश्व की एकता-रूप धेनु का दूध, विश्व भर के लोकहितकारी मनों के लिये दोहन करो—

या शर्धाय मारुताय स्वभानवे श्रवोऽमृत्यु धुक्षत ।
या मृळीके मरुतां तुराणां या सुम्नैरेवयावरी ॥ (१२ श मन्त्र)

भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता ।
धेनुं च विश्वदोहसमिषं च विश्वभोजसम् ॥ (१३ श मन्त्र)

इस दुग्धभरी गाय को, तुम्हें एकता-प्रचार द्वारा हांककर मानव-प्रजा-रूप बछड़े के साथ जोड़ना होगा, सो यह काम करो । अरे वृक्षों को तो देखो, वे कौवे तक को शरण देते हैं और तुम मनुष्य होकर मनुष्य से लड़ते हो । इस पवित्र एकता को नष्ट न होने दो—

मा काकम्बीरमुद्‌ वृहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः ।
मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा आदधते वेः ॥ (१७ श मन्त्र)

हे विश्वकोश-निर्माता पूषन् ! जिस प्रकार छिद्र होने से चरसे का जल खेतों को नहीं मिलता, मार्ग में नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार भ्रष्टाचारी अधिकारियों के कारण तेरा पोषक धन उसकी पात्र प्रजा तक नहीं पहुँच पाता है, इसलिये प्रजा का धन चुराने वाले भेड़ियों से हमें बचा । तेरी हमारी मैत्री लोभरहित (अवृकम्) हो—

'दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्' ॥ (१८ श मन्त्र)

हमारी सेना भी होगी, सिपाही भी होंगे, परन्तु होंगे सब वे विश्वसेना के—

'देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य वेजानस्य प्रयज्यवः ॥ (२० श मन्त्र)

यह आकाश, यह धरती, भगवान् ने अखण्ड-रूप में एक बार उत्पन्न कर दी । हम मूर्ख हैं जो धरती और आकाश के पहिले टुकड़े करके फिर उन्हें मिलाने का यत्न कर रहे हैं । बस, एक बार मिलकर इसे एक कर डालो, फिर दूसरी बार भूमि हो. भूमि-खण्ड न हों—

सकृद्ध द्यौरजायत सकृद् भूमिरजायत ।
पृश्न्या दुग्धं सकृत् पयस्तदन्यो नानु जायते ॥ (२२ श मन्त्र)

एकोनपञ्चाश सूक्त

केवल अग्नि, पूषा और मरुत ही नहीं, अपितु सब देवों को इस यज्ञ में भाग लेना होगा । यह जो एकता का पवित्र व्रत धारण किये हुए नवीन मानव-जन बन रहा है, मैं इसका स्तोत्रगान करता हूँ । हे वरुण ! हे मित्र ! हे अग्ने ! तुम भी नये उत्साह भरे शब्दों से इस जनता का उत्साह बढ़ाने के लिये इनके पास आओ और इनको सदुपदेश दो । क्या तुम 'सुक्षत्र' नहीं हो ?

स्तुषे जनं सुव्रतं नव्यसीभिर्गीर्भिर्मित्रावरुणा सुम्नयन्ता ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्तु सुक्षत्रासो वरुणो मित्रो अग्निः ॥ (१ म मन्त्र)

यह **एकता** उत्पन्न करने वाला **जननायक** विश्व की **प्रजा-प्रजा** का पूज्य हो गया है । **यज्ञ-यज्ञ** में इसकी पूजा होती है । फिर भी देखो, इसका कोई कार्य दर्पोन्मत्त नहीं होता । निन्दा और स्तुति-रूप दोनों युवतियों में इसकी कोई रति नहीं है, इसीलिये **'अदृप्तक्रतु'** है । (सारा संसार बूढ़ा हो जाय, पर निन्दा और स्तुति सदा जवान रहती हैं, इसलिये ये युवतियाँ कही गई हैं) । यह द्यौः का शिशु तथा सहन-गुण का बेटा है । जिस प्रकार आकाश एक है उसी प्रकार की एकरूपता वह मानव-जाति में लाने में तत्पर है । वह इस विशाल सङ्गठन का गुलावी झण्डा है अर्थात् उषा के समान उत्साह भरा रंग सब में भरता है (अथवा रोषहीन है)—

विशोविशु ईड्यमध्वरेष्वदृप्तक्रतुमरतिं युवत्योः ।
दिवः शिशुं सहसः सूनुमग्निं यज्ञस्य केतुमरुषं यजध्यै ॥ (२ य मन्त्र)

यह संसार की रंगबिरंगी प्रजा से कहता है कि-'देखो मूर्खो ! लाल रंग के सूर्य की **रात्रि-श्री और दिन-श्री** दो पुत्रियाँ हैं । एक **काली** और एक **गोरी** । पर पिता दोनों का **अरुण है—गुलाबी है** । उनमें से एक (रात्रि) नक्षत्रों से शोभायमान है और एक को (दिन को) सूर्य अपना वस्त्र पहिनाता है, अतः वह (दिन-श्री) गोरी है' पर दोनों मिलकर किस प्रकार **संवत्सर-रूप** वस्त्र बुनती हुई अपने-अपने काम में व्यस्त विचर रही हैं, ये दोनों पवित्र लोकपावन प्रेम का उपदेश कर रही हैं' । जब मनन-पूर्वक इनकी स्तुति करते हैं तो लोग कहते हैं—**'हमारी सुनो, कुछ सन्देश दो'** । अरे मूर्खो ! वे तो पवित्र प्रेम का सन्देश नित्य देती हैं । भगवान् से प्रार्थना किया करो कि उस सुने हुए सन्देश पर हम मनन भी करें—

अरुषस्य दुहितरा विरूपे स्तृभिरन्या पिपिशे सूरो अन्या ।
मिथस्तुरा विचरन्ती पावके मन्म श्रुतं नक्षत ऋच्यमाने ॥ (३ य मन्त्र)

अरे, अपनी बुद्धि को वायु देवता की ओर पहुँचाओ, वह भी यही एकता का सन्देश दे रहा है । वहाँ से भी—उस **मनीषी** से भी—तुम्हें यही **मनीषा** मिलती है । वह **गन्धवह** है । फूलों की सुगन्ध अपने पास दबाकर नहीं रखता है । बिना किसी भेदभाव के अपने उस विश्वकल्याणकारी, रथ भर देने वाले सुगन्ध-रूप धन को वह उठाये फिरता है **(बृहत्-बृह उद्यमने)** और तुम्हारे रथ उससे भर देता है । कभी तुमने उससे कहा है कि-'हे वायो! तू धन्य है, तेरा सारा यान, दान की स्तुति से द्योतमान है । तू सर्वस्वदानी है । तू **नियुतों का-काफिलों** का स्वामी है', पर हे यज्ञकुशल ! उत्तम दान-रूप यज्ञ करने वाले, तू हर विचारशील को अपनी इस मूक कविता से—यज्ञ-विद्या से पूजित करता है—

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्राम् ।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे सूर्याचन्द्रमसौ ! तुम्हारा दीप्तिमान् रथ भी हम पर अपनी छाया बनाये रक्खे । हे कभी असत्य न बोलने वाले नासत्यौ ! इससे ही तुम हमें और हमारी सन्तान को इष्ट-प्राप्ति के लिये वर्त्ताव सिखाते हुए, दिन-रात अपनी मर्यादा में चलते हो—

स मे वपुश्छदयदश्विनोर्यो रथो विरुक्मान् मनसा युजानः ।
येन नरा नासत्येषयध्यै वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च ॥ (५ म मन्त्र)

हे मेघ और वायु ! तुम भी परस्पर सहयोग से जल भरने के साधनों को सदा सजीव कर देते हो । हे इस जड़ जगत् के सन्देश सुनने में निपुण कवियो ! इस मेघ की वाणी का अनुकरण करते हुए तुम भी ज्ञान-पिपासु संसार के स्थावर-जङ्गम सबको जङ्गम कर दो । अज्ञानग्रस्त मनुष्य स्थावर वृक्षों के समान हैं, उन्हें चलना सिखाओ और जो चलना जानते हैं उन्हें दौड़ना सिखाओ—

पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि ।
सत्यश्रुतः कवयो यस्य गीर्भिर्जगतः स्थातर्जगदा कृणुध्वम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इस विश्व की एकता-रूप महायज्ञ में जब सब देवों का भाग मिलेगा तब ही सफलता मिलेगी, इसलिये वीर सेनापति की पत्नी **सरस्वती** (=सामग्री पहुँचाने वाली, संसार भर के जिस भाग में दुर्भिक्ष, रोग आदि विपत्ति आ पड़ी वहां अन्न, वस्त्र, औषधादि सामान देने वाली सेना की टुकड़ी) भी अपना भाग दे । सब विपद्ग्रस्त मनुष्य इस सेना के रथ के पहियों से निकलने वाली मधुर ध्वनि की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं । यह **'पावीरवी'=रथचक्रजाता** कन्या (पवि+रव+अण्+ङीप्)—वीरपत्नी—सरस्वती, सब विपद्ग्रस्तों में सान्त्वनाबुद्धि धारण कराये तथा **'शुतुद्रि'** (**=तीव्रवाहनवती**) आदि अन्य सहायक सेनाओं के (=ग्नाभिः) साथ मिलकर परस्पर प्रीति तथा सेवाभाव से (**जुष् प्रीतौ सेवायां च**) सारे विपद्ग्रस्त संसार को अच्छिद्रशरण (Unleaking shelter) प्रदान करे—

पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् ।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत् ॥ (७ म मन्त्र)

राज्यकोष के गमनागमन के लिए अपरिहेय-रूप से सुरक्षित मार्ग अपेक्षित हैं । सो राज्य के प्रत्येक मार्ग की चारों ओर से रक्षा करने वाले पूज्य पूषा को गुणक्रीत भक्त का स्तुतिगान सदा पहुँचता रहे । पवित्र तथा बाधानिरोधक, चमकदार चेहरे वाले स्वर्णादि के सिक्के हमें इस पवित्र यज्ञ (विश्व में एकतास्थापन-रूप) के लिये मुक्तहस्त से प्रदान करे (**पृणो हस्ताभ्याम्**) क्योंकि एक दो नहीं, अपितु प्रत्येक कार्य उसी से सिद्ध होता है—

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम् ।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा ॥ (८ म मन्त्र)

मार्ग-निर्माता, सेतुबन्धादिरचयिता शिल्पशास्त्री (**त्वष्टा**) भी हमारे होता की पूजा का भागी हो । जिसे हर कार्य को मूर्त्त-रूप प्रदान करने में सर्वप्रथम यश मिलता है । हमारे लोकहितकारी

कार्यों की आयु तो उसी की चतुराई पर निर्भर है। उसके हाथ और उसकी अंगुलियाँ शिल्पनिर्माण में सिद्धिप्राप्त हैं। वह नापतोल से ही चमकता है (=ऋतेन भातीति ऋभुः)। घर-घर में उसी की चतुराई है, क्योंकि घरों का भी निर्माण उसी के मार्गदर्शन में हुआ है। **होता**, प्रफुल्लस्मित-भास्वर (=**विभावा**) होकर उसे निमन्त्रण दे—

प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम्।
होता यक्षद् यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा॥ (९ म मन्त्र)

और भाई जब इस पवित्र यज्ञ में सब देवों से सहायता मांग रहे हों तो **रुद्र** को कैसे भुलाया जा सकता है। संसार भर के पिता के समान रक्षक सेनापति का दिन में स्तोत्रगान करो और रात्रि में भी स्तोत्रगान करो। वह विशाल दृष्टि वाला है और अजर सुख का दाता है। हम, वीर रस के (पूर्वोक्त ६.१८.१४.) गुणग्राहक कवितम इन्द्र से प्रेरित होकर, उस रुद्र को भी सहयोगार्थ इस यज्ञ में निमन्त्रण दें—

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः॥ [१० म मन्त्र)

अकेला रुद्र भी क्या करेगा, उस सेनापति के जवान भी तो चाहियें। ये संगठन के हितार्थ जीवन देने रूप काव्य के सच्चे कवि हैं। वे भी हमारी पूजा ग्रहण करें तथा हमारे साथ मिलकर रुद्र का स्तुतिगान करें। ये नर लोग '**मरुत्**' (=**मरने-मारने की विद्या के विशेषज्ञ**) अचेतन में भी जान डाल देते हैं। ये हमारे अङ्ग-अङ्ग में वीर रस पहुँचा दें—

आ युवानः कवयो यज्ञियासो मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम्।
अचित्रं चिद्धि जिन्वथा वृधन्त इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत्॥ (११श मन्त्र)

हे यज्ञार्थ निमन्त्रण देने वाले होता! अपना वीररसगान उस सैनिक गण तक इस प्रकार पहुँचा, जैसे गोपाल अथवा वृष्णिपाल अपने यूथ को घर पहुँचा देता है, क्योंकि और लोग तो वीर-रसगान सुनकर वाह-वाह करके ही रह जाते हैं, पर वह मरुद्गण तो सुने हुए वीररसमय गान को शरीर के रोम-रोम में बसा लेता है। उसके अन्दर मेधावी के वीररसमय वचन ऐसे शोभा पाते हैं, जैसे रात्रि में आकाश में तारा-गण अर्थात् वे सदा उन्हें गुनगुनाते और पग-पग पर यथावसर अभिमान-पूर्वक वचन तथा आचरण दोनों में दोहराते हैं—

प्र वीराय प्र तवसे तुरायाऽजा यूथेव पशुरक्षिरस्तम्।
स पिस्पृशति तन्वि श्रुतस्य स्तृभिर्न नाकं वचनस्य विपः॥ (१२ श मन्त्र)

अलग-अलग देवताओं को कहां तक निमन्त्रण दें। सारे प्रसुप्त (अपने-अपने कार्य में व्यस्त) मानवसमाज-रूप विष्णु के ही शरण में जाओ। जो हर प्रकार की बाधा से ग्रस्त मनुष्य मात्र की बाधानिवारणार्थ पृथिवी भर के लिये **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ** यह तीन प्रकार का क्रम बनाया गया है, आओ, उसकी शरण में जावें और शरीर और सन्तान दोनों से सुखी होकर सर्वविध धन का आनन्द पावें—

यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय ।
तस्य ते शर्मन्नुपदद्यमाने राया मदेम तन्वा३ तना च ॥ (१३ श मन्त्र)

'बुध्न्य' अर्थात् बुनियादी गुरु के चरणों में लिपटकर उसे वश में करके हिलने न देने वाला ब्रह्मचारी अथवा सेना में शिक्षा पाने वाला सैनिक; उनके वे पवित्र आश्रम जहाँ से ब्रह्मचारियों अथवा सैनिकों की नियमबद्ध पंक्तियाँ इस प्रकार निकलती हैं, जैसे नहर के सुनियन्त्रित शिखरस्थान (Headquarter) से नहरें; राष्ट्र के लिये कानून बनाने वाला सविता; परिवार की व्यवस्था का आधार विस्मरण-शक्तिमय प्रेम (=भग) तथा उस प्रेम का अक्षय कोष गृहपत्नी ये सब भी हमें उस विश्व की एकता-रूप धन की प्राप्ति के लिये प्राणदान करें, क्योंकि मानवसमाज-रूप विष्णु के यही तो घटक हैं, इनके बिना विष्णु भी क्या करेगा ?—

तन्नोऽहिर्बुध्न्यो अद्भिरर्कैस्तत् पर्वतस्तत् सविता चनो धात् ।
तदोषधीभिरभि रातिषाचो भगः पुरंधिर्जिन्वतु प्र राये ॥ (१४ श मन्त्र)

हे विश्वेदेवाः ! हमें रथ भर-भर कर वह सर्वविध धन दो जो प्रजा की हर प्रकार की कामना प्रपूर्ण करता हो (=चर्षणिप्राम्), जो हमें वीर सन्तान भी दे और हमारे ज्ञान-कोष की भी रक्षा करे। हमें अजर निवास दो। हमें ऐसी शक्तियाँ प्रदान करो जिनके सहारे हम देवशत्रु-भूत सेनाओं पर झपटकर आक्रमण कर सकें और दैवी प्रजा के पद को प्राप्त करें—

नू नो रयिं रथ्यं चर्षणिप्रां पुरुवीरं मह ऋतस्य गोपाम् ।
क्षयं दाताजरं येन जनान्त्स्पृधो अदेवीरभि च क्रमाम
विश आदेवीरभ्य१श्नवाम ॥ (१५ श मन्त्र)

पञ्चाश सूक्त

प्रकृति देवी माता बनकर हमारा पालन करे, इसलिये मैं उसे बुलाता हूँ—

'हुवे वो देवीमदितिं नमोभिः' ॥ (१ म मन्त्र क)

मैं वीर्यरक्षानिपुण (दक्ष-पितॄन्) निष्कलङ्क आचार्यों को बुलाता हूँ। हे विद्याध्यक्ष सूर्य ! (ज्ञान अथवा वीर्य !) वे आचार्य उत्तम ज्योतिर्मय हैं, ज्ञानव्यवसनी द्विजन्मा हैं, सत्यमूर्ति हैं, सदा सुखमय हैं, पूज्य हैं और उनकी जिह्वा पर ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व रूप दीक्षाग्नि सदा निवास करता है—

सुज्योतिषः सूर्य दक्षपितॄननागास्त्वे सुमहो वीहि देवान् ।
द्विजन्मानो य ऋतसापः सत्याः स्वर्वन्तो यजता अग्निजिह्वाः ॥ (२ य मन्त्र)

हे मानवी प्रजाओ ! तुम सब इस यज्ञ में अदम्य सहायता करो (कई स्वार्थी शासक स्वदेश-भक्ति के नाम पर तुम्हें दबायेंगे।) हे मानव-समाज की स्त्रियो ! वैसे तो प्रजामात्र राज्यों की माता है, परन्तु तुम तो मातृतमा हो। संसार के रोग तुम ही दूर करोगी। तुम्हारी छाया में स्थावर, जङ्गम सब पलते हैं ('योषा वै आपः' शत० १.१.१.१८)—

ओमानमापो मानुषीरमृक्तं धात तोकाय तनयाय शं योः ।
यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः ।। (७ म मन्त्र)

हे विश्वेदेवाः! ये सब भरद्वाज (—पृथिवी की प्रजामात्र का भरण चाहने वाले तथा उस का उपाय सोचने वाले पवित्र मन) इस विश्व-समन्वय-रूप यज्ञ की सफलता के लिये तुम्हारी अर्चना करते हैं—

एवा नपातो मम तस्य धीभिर्भरद्वाजा अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
ग्ना हुतासो वसवोऽधृष्टा विश्वे स्तुतासो भूता यजत्राः ।। (१५ श मन्त्र)

एकपञ्चाश सूक्त

इस सूक्त का प्राण ८ वाँ मन्त्र है । सब देवों की सहायता प्राप्त करने की कुञ्जी क्या है ? 'नमः' । यदि हमने किसी का अपराध किया हो, पर उसके पश्चात् सच्चे हृदय से यदि उसके सामने झुक जावें तो वह अपराध उस प्रणाम का मूल्य और बढ़ा देता हैं । जो ऋषि दयानन्द पर पत्थर फेंकते थे उन्होंने जब अपने हाथ से मूर्त्तियों को जल में प्रवाहित किया, उस समय ऋषि की महिमा और बढ़ गई । बस, सब देवों को प्रणिपात द्वारा साथ लेकर विश्व की एकता के लिये आगे बढ़ो—

नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे ।। (८ म मन्त्र)

इस लिये प्रातः काल उदय होते हुए सूर्य से शिक्षा आरम्भ हुई और अन्धकार के शत्रु, प्रजा के मित्र ब्राह्मण को सर्वप्रथम नमस्कार मिला । जिसका उपमान सूर्य है । पांचवें मन्त्र तक 'विश्वेदेवा' की माला सामने आगई ।

घर-घर में आधिपत्य रखने वाले (पस्त्यसदः) पुरोहितों को नमस्कार है—

'ऋतस्य पस्त्यसदो अदब्धान् ।
ताँ आ नमोभिरुरुचक्षसो नॄन्' ।। (९ म मन्त्र)

वे हमें सब बुराइयों से परे ले जाते हैं—

'तिरो विश्वानि दुरिता नयन्ति' ।। (१० म मन्त्र ख)

अन्त में जड़-चेतन सब देवों से हम क्या सीखें यह बताया है—

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
येन विश्वाः परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ।। (१६ श मन्त्र)

हम इन देवों के बताये स्वस्तिगामी निर्विघ्न मार्ग को पा जावें, जिससे सब प्रकार का द्वेष और द्वेषी दूर भागते हैं और वास्तविक वसु प्राप्त होता है ।

द्विपञ्चाश सूक्त

हे देवो ! तुम्हें केवल वह शान्तिपाठ ही नहीं पढ़ाना है जो कि विश्वसङ्गठन की धुन में अलग-अलग बस्तियों की सत्ता भुलाकर सङ्गठन के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों को बिल्कुल कुचल डालना चाहता है और उस समाज के अधिकारों का अति समर्थन करके व्यक्ति तथा छोटे सङ्गठनों की सत्ता को मिटा देना चाहता है, उसके विरोध में हमारे पवित्र तपोवन-रूप पर्वत चट्टान की तरह अड़ जावें—

न तद् दिवा न पृथिव्यानु मन्ये न यज्ञेन नोत शमीभिराभिः ।
उब्जन्तु तं सुभ्व१ः पर्वतासो नि हीयतामतियाजस्य यष्टा ॥ (१ म मन्त्र)

क्षात्रशक्ति के मद में ब्रह्मशक्ति का अपमान करने वाले के लिये, हे विश्व के सैनिको ! (मरुतो !) तुम्हारे तपनसमर्थ वज्र गिरें और यह आसमान अर्थात् विश्व की उच्चतम विद्वन्मण्डली उन मूर्खों पर शोक करे—

अति वा यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यः क्रियमाणं निनित्सात् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषमभि तं शोचतु द्यौः ॥ (२ य मन्त्र)

हे गुरुकुल के आचार्य ! हे सोम ! क्या तुझे ज्ञाननिधि का निधिपाल नहीं कहते ? हे प्यारे ! क्या तुझे हमारी विपत्तियों का विनाशक कह कर नहीं पुकारा जाता ? हे अङ्ग ! क्या हमारी इसी प्रकार निन्दा होगी और तुम देखते रहोगे ? इस ब्रह्मशक्ति के अपमान-कर्त्ता पर अपना तापमय अस्त्र फेंक दो—

किमङ्ग त्वा ब्रह्मणः सोमगोपां किमङ्ग त्वाहुरभिशस्तिपां नः ।
किमङ्ग नः पश्यसि निद्यमानान् ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य ॥ (३ य मन्त्र)

इन तपोवनों से जो उत्साह की लाली प्रजा में उषा के समान उत्साह भरने के लिये प्रादुर्भूत होगी; जो ज्ञाननदियाँ तथा सेनाएं पूरे वेग से उभरती हुई बहेंगी वे हमारी रक्षा करें और यह तपोवन-रूप पर्वत अविचल होकर हमारी (प्रजाजन की) रक्षा करे। जब विश्व के विद्वानों को निमन्त्रण मिलें तो उस देवहूति में गुरुजन हमारी रक्षा करें—

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः ।
अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ ॥ (४ र्थ मन्त्र)

नदियों की गोद में समाधिस्थ होकर जो दिव्य पुरुष उत्पन्न होते हैं—बनते हैं, वे दिन के समान दीप्तिमान् हमारी सम्पूर्ण आयु हमें तथा हमारी सन्तान को प्रदान करें—

ये के च ज्मा महिनो अहिमाया दिवो जज्ञिरे अपां सधस्थे ।
ते अस्मभ्यमिषये विश्वमायुः क्षप उस्रा वरिवस्यन्तु देवाः ॥ (१५ श मन्त्र)

त्रिपञ्चाश सूक्त

क्योंकि इस मण्डल का मुख्य विषय संसार की सब बस्तियों का एक राष्ट्र बनाने के निमित्त भूमिका-रूप में आर्थिक सहयोग है, इसलिये ५२ वें सूक्त के पश्चात् ५३ वें से ५८ वे सूक्त तक ६ सूक्त कोष के अध्यक्ष **'पूषा'** देवता के अर्पण हैं। इनमें से ५७ वें सूक्त में पूषा के साथ इन्द्र भी लगा हुआ है; शेष ५ सूक्त शुद्ध रूप से पूषा के हैं। विश्व की एकता का आरम्भ भूख, बीमारी आदि की मानव मात्र की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति के निमित्त होगा, फिर संसार की प्रजा अनुभव करेगी कि, इन भूख आदि विपत्तियों से पूर्ण-रूप से छुटकारा—**'विश्व की एक प्रजा, उससे चुने हुए एक राष्ट्र-पति, एक विश्वन्यायालय, एक विधान-निर्मात्री सभा, एक सेना और एक पोलिस के बिना सम्भव नहीं'**, तब स्वाभाविक रूप से विश्व की राजनीतिक एकता का सूत्रपात होगा जिसका कि वर्णन ७ वें मण्डल में तथा जिसका परिणाम ८ वें मण्डल में देखने को मिलेगा। अब, पूषा को अर्पित इन छह सूक्तों में से पहिला ५३ वाँ सूक्त लीजिये—

हे पूषन्! हमने, **'विश्व के हर कोने तक अन्न-वस्त्रादि आलम्बन पहुँच जावें'** इस निमित्त, तुझे रथ के समान जोता है। अब तेरा धर्म है कि सबसे प्रथम अन्न-वस्त्रादि पहुँचाने के लिये चारों ओर सड़कें बनें, इसीलिये हमने तुझ पूषा को सर्वप्रथम **'पथस्पति'** के रूप में याद किया है—

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये।
धिये पूषन्नयुज्महि ॥ (१ म मन्त्र)

तू बसने के **निमित्त-भूत 'वसु' को** (=आवश्यक पदार्थ-समूह को) हर गृहपति तक पहुँचा, जो कि वीर उत्पन्न करने वाला हो तथा किसी भी श्रमजीवी को दक्षिणा से वञ्चित न रखने वाला हो—

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्।
वामं गृहपतिं नय ॥ (२ य मन्त्र)

हे पूषन्! तू पहिला यत्न तो यह कर कि जुआरियों के क्रूर मन मृदु हो जावे और जो कंजूस कभी दान नहीं करता, उसे भी तू, विश्व की पुष्टि के लिये दान करने को प्रेरित कर—

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः ॥ (३ य मन्त्र)

तू खूब सतर्क होकर, हर मार्ग में वर्त्तमान विघ्नकारी डाकू, ठग आदि को ढूंढ (विचिनुहि) और उन पीडा-कारकों को मार गिरा। हे उग्र! हमारे कर्म तथा हमारी प्रज्ञा तेरे कार्य का साधन करें—

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि।
साधन्तामुग्र नो धियः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

तू सट्टेबाजों के हृदयों को अपनी वाणी की आरा से बींध दे और उन्हें हमारी सहायता के लिये तय्यार कर—

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे ।
अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥ (५ म मन्त्र)

यह जो ब्रह्मशक्ति को गतिशील बनाने वाली तेरी आरा है इससे सबके हृदयों पर रेखा खींच दे और उनके आलस्य को चूर-चूर कर दे—

यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे ।
तया समस्य हृदयमारिख किकिरा कृणु ॥ (८ म मन्त्र)

चतुःपञ्चाश सूक्त

उन विद्वानों के साथ मेल कर जो अपनी शासन-चातुरी से सबको अनुशासन में आने पर विवश कर देते हैं । वह यह ठीक रीति से जानता हो कि 'इधर से उधर को इस प्रकार आगे बढ़ना है' और स्पष्ट भाषा में इस बात को औरों को समझा सके—

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥ (१ म मन्त्र)

समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति ।
इम एवेति च ब्रवत् ॥ (२ य मन्त्र)

पूषा का न तो रथ कहीं अटकता है और न कोष कभी अवनति की ओर जाता है और न रथ का पहिया ही कभी ढीला होता है—

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते ।
नो अस्य व्यथते पविः ॥ (३ य मन्त्र)

जो पूषा के सन्मुख अपनी योग्यता सिद्ध करता है, ईमानदारी, निरालस्यता आदि सद्गुण जो कि पूषा को प्यारे हैं उनकी हवि उसके सामने रखता है; पूषा भी उसको निराश देखना सहन नहीं करता । वह तुरन्त राष्ट्रकोष का उचित भाग प्राप्त करता है—

यो अस्मै हविषाविधन्न तं पूषापि मृष्यते ।
प्रथमो विन्दते वसु ॥ (४ र्थ मन्त्र)

पूषा हमारी सब सम्पत्ति की रक्षा करे—

पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः ॥ (५ म मन्त्र क ख)

विश्व की एकता का निर्माण साधारण काम नहीं। यह केवल भयसाध्य भी नहीं है। जब तक सारी प्रजा यह न समझेगी कि हम सब मिलकर कोष को बलवान् बनावें तब तक कुछ भी सम्भव नहीं। इसलिये कहा—'हे पूषन् ! हम तेरे दिये हुए **कोष-पूर्ति के व्रत में** कभी चूकें नहीं। तब ही हम तेरे **स्तोता** कहलाने के अधिकारी होंगे'—

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन।
स्तोतारस्त इह स्मसि॥ (९ म मन्त्र)

पूषा अपना हाथ दूर तक बढ़ावे और हमारा जो धन छिपा पड़ा है उसे फिर हांक कर ले आवे—

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्।
पुनर्नो नष्टमाजतु॥ (१० म मन्त्र)

पञ्चपञ्चाश सूक्त

'नमुचि'–धन-रहस्य-शक्ति इनसे चिपटा पड़ा है। कुछ छोड़ना नहीं चाहता। उसके विपरीत, तेरा गुण है छुड़ा कर रहना। जिस प्रकार अग्नि तथा इन्द्र **'सहसःसूनु'** हैं इसी प्रकार तू **'विमुच्'** का (छुड़ाने के गुण का) पुत्र है। रात-दिन वायु के समान गति-शील है—**'वा'** है (**'वा गतिगन्धनयोः + क्विप्'**)। स्वयं क्षरणशील है, दुखी को देखकर पिघलता भी है, देदीप्यमान भी है, किन्तु झूठी दया से ग्रस्त भी नहीं (**=आघृणिः, घृ क्षरणदीप्त्योः**)। हम राजा-प्रजा तुझ से चिपटे रहें। तू हमारे नाप-तोल कर चलने वाले रथ का रथी बन—

एहि वां विमुचो नपादाघृणे सं सचावहै।
रथीर्ऋतस्य नो भव॥ (१ म मन्त्र)

तू रथियों का भी रथी है। जहां **'नमुचि'** पहुंचे उससे पहिले वहाँ **'विमुचि'** पहुँच जाता है। राज्य-कोष की एक-एक कौड़ी संभालता है—छुड़ाकर रहता है (**=कपर्दिनम्**), इसीलिये तुझे धन का सखा कहकर हम तेरी स्तुति करते हैं—तुझ से याचना करते हैं—

रथीतमं कपर्दिनमीशानं राधसो महः।
रायः सखायमीमहे॥ (२ य मन्त्र)

तू अपना जैसा एक ही है। तू कोष में धन की धारा बांध देता है। प्रत्येक कर्मशील का तू मित्र है—

रायो धारास्याघृणे वसो राशिरजाश्व।
धीवतोधीवतः सखा॥ (३ य मन्त्र)

हम तो करते हैं तेरी स्तुति, पर तेरे इस गुण से चिढ़कर, तुझे गाली देने वालों की भी कमी नहीं है। वे तुझे 'स्वसुर्जारः' 'मातुर्दिधिषुः' आदि अश्लील शब्दों से याद करते हैं। कोई डराते भी हैं। कहते हैं—**'आप जानते नहीं कि राजा का भाई मेरा मित्र है'** (भाई का नाम इसलिये कि मेरा काम चुपचाप हो जायगा)

पूषणं न्व१जाश्वमुप स्तोषाम वाजिनम् ।
स्वसुर्यो जार उच्यते ॥ (४ र्थ मन्त्र)
मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः ।
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम ॥ (५ म मन्त्र)

तेरे वाहन अर्थात् तेरे विभाग के कर्मचारी भी बकरे के समान विनीत हैं और बकरे के समान दुर्गम से दुर्गम पहाड़ी पर चढ़कर अथवा गहरे से गहरे खड्ड में घुसकर अपना चारा ढूंढ ही लेते हैं—

आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम् ।
देवं वहन्तु बिभ्रतः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इन्हीं गुणों के कारण शतपथ ब्राह्मण में (६.४.४.१२) **ब्राह्मण को बकरा कहा गया है।** इससे यह भी ध्वनित होता है कि इस विभाग के कर्मचारी ब्राह्मण-वृत्ति के होने चाहियें जो गाली भी खा सकें तथा डराने से डरे भी नहीं।

षट्पञ्चाश सूक्त

जो इसे सतुआ खाने वाला कहकर इसका तिरस्कार करते हैं उन्होंने पूषा देव को पहिचाना नहीं, इसीलिये तो यह हृदय कठोर कर सकता है—

य एनमादिदेशति करम्भादिति पूषणम् ।
न तेन देव आदिशे ॥ (१ म मन्त्र)

इसी की सहायता से तो इन्द्र विघ्नों को नष्ट करता है—

'इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते' ॥ (२ य मन्त्र)

वह पूषा समय पड़ने पर अपने चक्र को ग्रीष्म की कठोर किरणों तक पहुँचा सकता है अर्थात् ग्रीष्म के सूर्य का रूप धारण कर लेता है। जैसा प्रयोजन हो उसी ऋतु की किरणें धारण कर सकता है, परन्तु है वह कुसुमों से लदी शिशिर का ठण्डा सूर्य (पौष मास का सूर्य)। वह रथचालन में अति चतुर है=(रथीतमः)—

उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम् ।
न्यैरयद् रथीतमः ॥ (३ य मन्त्र)

हमारे मनन किये हुए, विश्व की एकता के साध्यों को, हे बहु-स्तुत पूषन् । तू ही सिद्ध कर—

यद्द्य त्वा पुरुष्टुत ब्रवाम दस्र मन्तुमः ।
तत्सु नो मन्म साधय ।। (४ र्थ मन्त्र)

तू अपने गण को—गणितनिपुण कर्मचारियों को, कर देने वालों की ठीक-ठीक अवस्था जांचने के निमित्त सिद्धहस्त बना । तू आज भी सर्वहित करेगा और कल भी । तू बड़ा दूरदर्शी है—

इमं च नो गवेषणं सातये सीषधो गणम् ।
आरात् पूषन्नसि श्रुतः ।। (५ म मन्त्र)
आ ते स्वस्तिमीमह आरे अघामुपावसुम् ।
अद्या च सर्वतातये श्वश्च सर्वतातये ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

सप्तपञ्चाश सूक्त

राजा का धर्म है कि अत्यन्त विश्वासपात्र मनुष्य को कर वसूल करने के काम पर लगावे, परन्तु जिसे लगावे वह पूर्ण विश्वासपात्र है इसकी स्पष्ट घोषणा प्रजा के हर मनुष्य तक पहुँच जावे, इस बात का पूरा प्रबन्ध करे । जिससे 'भ्रातेन्द्रस्य सखा मम' (५५.५) कहने वाले स्वयं भयभीत हों और उसे भयभीत करने का प्रयास करते हुए भी डरें, इसलिये ५७ वां सूक्त 'इन्द्रापूषणा' दोनों देवों के पूर्ण सहयोग के अर्पण है ।

इन्द्र और पूषा को हम पुकारें और यह सुना दें कि हम आप दोनों का पूर्ण सख्य चाहते हैं, तब ही हमें बल मिलेगा—

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये ।
हुवेम वाजसातये ।। (१ म मन्त्र)

राजा तो प्रजा द्वारा प्रतिष्ठा पाता है, परन्तु पूषा को घृतमिश्रित सत्तू जैसा दुष्पच भोजन हज्म करना पड़ता है । इनमें से एक के वाहन बकरी के समान विनीत हैं और दूसरे के घोड़े के समान शक्तिशाली । सब लोग इन दोनों के सहयोग से ही विघ्नविनाश किया चाहते हैं—

सोममन्य उपासदत् पातवे चम्वोः सुतम् ।
करम्भमन्य इच्छति ।। (२ य मन्त्र)
अजा अन्यस्य वह्नयो हरी अन्यस्य संभृता ।
ताभ्यां वृत्राणि जिघ्नते ।। (३ य मन्त्र)

जब इन्द्र दुर्भिक्ष से लड़ने के निमित्त नहरों को तथा शत्रु से लड़ने के निमित्त सेनाओं को अपने नेतृत्व में लेकर यथास्थान पहुँचाता है, तब वहाँ कोष का स्वामी पूषा उसके साथ चिपटा रहता है—

यदिन्द्रो अनयद् रितो महीरपो वृषन्तमः ।
तत्र पूषाभवत् सचा ।। (४ र्थ मन्त्र)

इन्द्र की सुमति और पूषा की सुमति दोनों को हम इस रूप में देखना चाहते हैं, मानों एक ही वृक्ष की दो शाखा हों—

तां पूष्णः सुमतिं वयं वृक्षस्य प्र वयामिव ।
इन्द्रस्य चा रभामहे ।। (५ म मन्त्र)

साधारण धरती पर हर वस्ती का (क्षिति का) अपना-अपना कल्याण ५ म मण्डल तक हो चुका । अब हम विशालतर कल्याण (मह्यै स्वस्तये) विश्व-सहयोग के लिये पूषा तथा इन्द्र को जोतते हैं । इन्द्र के रथ की वागडोर पूषा संभाले—

उत्पूषणं युवामहेऽभीशूँरिव सारथिः ।
मह्या इन्द्रं स्वस्तये ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

अष्टपञ्चाश सूक्त

हे पूषन् ! इस धरती की प्रजा के दो भाग हैं—एक प्रदीप्त और एक अदीप्त । यदि प्रदीप्त अभिमान में भरा रहे और अदीप्त कुचला रहे तो विश्वकल्याण कैसे होगा । इस प्रभु की सृष्टि में **'अहन्'** के काल की (न हन्यमान की) मूल इकाई के दो भाग हैं । एक प्रदीप्त (दिन) दूसरा अदीप्त (रात्रि) । बस, जो देदीप्यमान है—**'शुक्र'** है, वह **कार्यकर्त्ता** है और जो अदीप्त है वह **कार्यक्षेत्र** है । **(यजतम्=यज्ञपात्रभूतम्=यत्र यजन्ति तम्)** । यही इनका सम्बन्ध होना चाहिये, किन्तु यह सम्बन्ध, इन्द्र के **'सह्यु'** रूप के साथ नहीं हो सकता, इसीलिये इस मण्डल में और केवल इसी मण्डल में और एक ही सूक्त में इन्द्र को **'सहिष्ठ'** (६.१८.४) तथा 'सह्यु' (६.१८.१२) कहा गया है ।

दीप्तों को अदीप्तों के प्रति स्वाभाविक घृणा होती है, उस मिथ्याभिमान को दूर करके जीतना है । दूसरी ओर प्रदीप्त अपने मिथ्याभिमानवश अदीप्तों पर जो अत्याचार करते हैं—उन्हें कुचले रखते हैं वह स्मृति भुलानी होगी, इसलिये परस्पर सहिष्णुता से ही सहयोग सम्भव है । यह बात इस ५८ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में कही गई है ।

हे पूषन् ! तुम्हारी **'राति'** प्रदीप्तों को कल्याण के लिये प्रेरणा देने वाली तथा अदीप्तों में कल्याण के लिये प्रयत्न करवाने वाली, **उभयतोभद्रा** हो, इसीलिये तू सारी रचना अपनी प्रतिभा से रचता है—

शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ।। (१ म मन्त्र)

तेरे कर्मचारी बकरे के गुण वाले विनीत और सर्वत्रगामी हों (**=अजाश्वः**), इसीलिये पूषा (पौष मास के सूर्य की तरह) ढीली **'अष्ट्रा'** उठाता है । हलके हाथ से मारता है, पैने हाथ से नहीं ।

'अष्ट्रा' उस आरा को—उस पैनी कील को कहते हैं जो चाबुक के आगे लगी रहती है, परन्तु पूषा की आरा बहुत नरम (न चुभने वाली) होती है, इसीलिये शतपथ (१.७.४.७) में कहा है—'अदन्तकः पूषा'।

वह प्रजा की बुद्धि तथा कर्मशीलता में जान डालता रहता है और सारे विश्व के सुधार में अर्पित है; क्योंकि **विश्व की पूजा में सहयोग मिटा तो युद्ध छिड़ा** और युद्ध छिड़ा तो पूषा का कोश लुटा—

अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यो धियं जिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः ।
अष्ट्रां पूषा शिथिरामुद्वरीवृजत् संचक्षाणो भुवना देव ईयते ।। (२ य मन्त्र)

हे पूषा ! तेरी नावें समुद्र के भीतर—प्रजा के हृदयों में चलती रहती हैं (अन्तः समुद्रे हृद्य१न्तरायुषि ऋ. ४.५८.११)। उनसे तू सूर्य का सन्देशहर बनकर सूर्य की दुहिता सूर्या को—यथार्थज्ञानदत्ता, शिक्षा-विभाग के अधिष्ठाता की श्रमजीवि-कल्याणकारिणी ज्ञानधारा को सोम तक, हर श्रमजीवी तक (जिनमें कि विद्याव्यसनी स्वाध्यायशील भी सम्मिलित हैं) पहुँचाता है। तू नहीं चाहता कि तेरा यश रौद्र रूप में हो, अतः जहाँ तक हो सके तू ऐसे उपाय निकालता है कि प्रजाजन राज्य का कर **स्वेच्छा से (कामेन)** दिया करें—

यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति ।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः ।। (३ य मन्त्र)

तू **नेता और नीयमान (द्यावापृथिवी)** दोनों का **सुबन्धु** है। दोनों को अपने प्रेमबन्धन में बांधकर परस्पर प्रेम में बांधना चाहता है, क्योंकि कलह राज्य के खजाने का शत्रु है; चाहे वह **आन्तरिक** हो अथवा **बाह्य**। देवों ने सूर्या को पूषा ही तो वररूप में दिया था। इसीलिये पूषा सोम अर्थात् दूल्हा बनकर दुलहिन का हाथ पकड़ता है (पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्य । ऋ. १०.८५.२६) भाव यह है कि दूल्हे का जहाँ प्रेमार्द्र होना सोमरूप है, वहाँ पत्नी के पोषण का उत्तरदायित्व उसका पूषा-रूप है। जिस प्रकार राजा को प्रजा के लिये **'इन्द्र, अनिल, यम, अर्क'** आदि सब देवों का रूप धारण करना आवश्यक है, इसी प्रकार जो पत्नी की सेवा के लिये पूषा आदि सब देवों का रूप धारण कर सके, वही पति कहलाने का अधिकारी है। बस, सूर्या ने जिस प्रकार कामनापूर्वक अपने सोम को (दूल्हे को) पूषा-रूप में स्वीकार किया, इसी प्रकार राज्य का कोषाध्यक्ष भी अत्यन्त कमनीय तथा राज्य की ज्ञान-धारा (सूर्या) का पोषक होना चाहिये—

पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः ।
यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम् ।। (४ र्थ मन्त्र)

एकोनषष्ट सूक्त

हे जननायक तथा राजा ! **(इन्द्राग्नी)** तुम्हें जो **राजा** तथा **जननायक** की पदवी मिली है यह **सवन के (उत्पादक श्रम के)** बिना नहीं मिली है। किसी ने अन्न का सवन किया और किसी ने

वस्त्र आदि का, पर तुमने न्याय का सवन किया। यह कितना कठिन सवन है। यदि तुम्हारे माता-पिता भी देवों के (=लोकहितकारियों के) शत्रु बने तो वे भी मारे गये। तुम लोक-सेवा के लिये ही जी रहे हो। यह कितना कठिन सवन है—

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या३यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी जीवथो युवम्॥ (१ म मन्त्र)

तुम्हारा आपस में इतना प्रेम है मानो एक माँ के जुड़वा बच्चे हों। यह उन अनुकरणीय कामों में से है जो तुमने किये हैं (वीर्या यानि चक्रथुः)—

समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा॥ (२ य मन्त्र)

जुते हुए घोड़े के समान तुमने भोजन भी जुते हुए ही किया—

'ओकिवांसा सुते सचाँ अश्वा सप्ती इवादने'॥ (३ य मन्त्र)

तुम चुपचाप काम करते हो, व्यर्थ प्रदर्शन नहीं करते—

'न देवा भसथश्चन'॥ (४ र्थ मन्त्र घ)

तुम्हारी इससे अधिक महिमा और क्या कहें कि परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले (विषूचः) भिन्न-भिन्न दिशाओं में मुख उठाकर चलने वालों को, तुमने लोक-कल्याण के समान रथ में जोत दिया—

इन्द्राग्नी को अस्य वां देवौ मर्तश्चिकेतति।
विषूचो अश्वान् युयुजान ईयत एकः समान आ रथे॥ (५ म मन्त्र)

यह तुम्हारा ही अनुकरणीय पराक्रम है कि यह मूक प्रजा जो पैरों से हीन थी, वह आज पैर वालियों से आगे बढ़ गई है। जिनका सिर कटा पड़ा था और जिनके मुंह में जबान नहीं थी वे बोलते हुए आज तीस-तीस पग की छलांग लगाते हैं—

इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत् त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत्॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे इन्द्राग्नी! तुम्हारे धनुष तो तुम्हारे बाहुओं में हैं। तुम उपकरण-पराधीन नहीं हो, परन्तु इस विश्व के आर्थिक सहयोग रूप 'महाधन' में=संग्राम में तुम हमें छोड़ मत जाना। हम हर प्रकार की गाय—वाणी, धरती, पशु आदि इसमें सहयोगार्थ ढूंढने में व्यस्त हैं—

इन्द्राग्नी आ हि तन्वते नरो धन्वानि बाह्वोः।
मा नो अस्मिन् महाधने परा वर्क्तं गविष्टिषु॥ (७ म मन्त्र)

हे इन्द्राग्नी ! जो प्रजा (=अर्यः) अपना देय भाग नहीं देती वह मुझे अर्थात् प्रजाजन को बहुत सन्ताप पहुँचाती है। तुम मानव-एकता से द्वेष करने वालों को विद्या के सूर्य से परे भगा दो। यह सूर्य कभी मेघाच्छन्न न हो—

इन्द्राग्नी तपन्ति माऽघा अर्यो अरातयः।
अप द्वेषांस्या कृतं युयुतं सूर्यादधि ॥ (८ म मन्त्र)

हे इन्द्राग्नी ! हमने अपना सारा **दिव्य** और **पार्थिव** धन तुम्हें धरोहर रूप में अर्पित कर दिया है। जिससे तुम हमें वह धन उत्पन्न करके दो जो **विश्वम्भर के प्रगतिशील (=आयु) मनुष्यों का पोषक हो**—

इन्द्राग्नी युवोरपि वसु दिव्यानि पार्थिवा।
आ न इह प्र यच्छतं रयिं विश्वायुपोषसम् ॥ (९ म मन्त्र)

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जैसे **'विश्वभोजसम्'** शब्द (६.४८.१३) के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र नहीं आया है इसी प्रकार रयि का विशेषण **'विश्वायु-पोषसम्'** यह शब्द भी इस स्थल के अतिरिक्त केवल एक स्थान (१.७९.९) पर और आया है, अन्यत्र नहीं। १.७९.९ में भी इसके साथ **'जीवसे'** विशेषण और अधिक है, इसलिये वहाँ शारीरिक पुष्टि की ओर-विशेष रूप से निर्देश है, जबकि यहाँ सब प्रकार की पुष्टि है।

हे इन्द्राग्नी ! हमने तुम्हारे उन सब गुणों का वर्णन कर दिया जिनसे तुमने **जननायक** तथा **राजा** की पदवी उपार्जित की है, इसलिये यह **सवनोपार्जित धन** तुम्हारा अधिकारलब्ध है, इसे स्वीकार करो—

इन्द्राग्नी उक्थवाहसा स्तोमेभिर्हवनश्रुता।
विश्वाभिर्गीर्भिरा गतमस्य सोमस्य पीतये ॥ (१० म मन्त्र)

षष्टितम सूक्त

जिस **सहनशक्ति** के आधार पर विश्व की एकता का निर्माण होगा उसका, **जननायक** तथा **शासननायक** में सबसे अधिक मात्रा में उपस्थित होना आवश्यक है, इसलिये ६० वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में इस विषय के तीन शब्द इकट्ठे पड़े हैं—**'सहुरी'**, **'सहस्तमा'** और **'सहसा वाजयन्ता'**। **'सहुरि'** से यहाँ अभिप्राय यह है कि वे परस्पर पूर्ण सहयोग करते हैं—उनका यह स्वभाव बन गया है, फिर बाहर के द्वेषोत्पादक आक्रमणों को सहन करने का सबसे अधिक साहस उनमें है, इसलिये वे **'सहस्तमा'** हैं और इसीलिये तो उन्हें शासन-नायक तथा जननायक की पदवी मिली है। साथ ही **'यह गुण उनमें सबसे अधिक है'** इसी बात से स्पष्ट है कि सारा राष्ट्र इस गुण से आविष्ट हो चुका है, फिर तीसरा विशेषण है—**'सहसा वाजयन्तौ'** अर्थात् यह गुण उनके अपने अन्दर है, केवल इतनी ही विशेषता उनमें नहीं है, अपितु वह दूसरों को भी इस गुण से आविष्ट कर रहे हैं। यह गुण उनमें अति सजीव तथा जागरूक है, प्रच्छन्न अथवा प्रसुप्त मात्र नहीं। **'सहुरि'** विशेषण स्वाभाविक

सहनशक्ति का द्योतक है। 'सहस्तमो' निरन्तर अभ्यास द्वारा उस गुण की प्रदीप्ति का द्योतक है। 'सहसा वाजयन्तौ' उस गुण के प्रबल पराक्रमयुक्त विकास का सूचक है। ऐसे नेता जन-जन के वृत्रासुर (=आलस्य) (Lethargy) को ढीला करने तथा उस स्थान 'वाज' (पराक्रम) को देने में निपुण तथा तत्पर हैं—

श्नथद् वृत्रमुत सनोति वाजमिन्द्रा यो अग्नी सहुरी सपर्यात्।
इरज्यन्ता वसव्यस्य भूरेः सहस्तमा सहसा वाजयन्ता ॥ (१ म मन्त्र)

हे शासननायक तथा जननायक ! (इन्द्राग्नी) अपनी उस सहनशक्ति के बल पर तुम दोनों ने गौवों को लक्ष्य रूप से सामने रखकर खूब युद्ध किया (देखो २८ वाँ सूक्त, विशेषकर १ म मन्त्रस्थ 'पुरुरूपा.' शब्द तथा ५ म मन्त्र)। अपः (=सेना आदि सब प्रकार की आपः) हर क्षेत्र का सुख और उत्साह से खिलती उषाएँ (स्त्रीरूप, वाणीरूप आदि), हे जननायक ! तुमने वहन करके यथा-स्थान पहुंचा दीं। हे इन्द्र ! इन सुख भरी उषाओं से दिशा-दिशा चेतनमयी हो गई (चित्राः)। क्यों न हों, जब कि, हे जननायक ! तू 'आपः' (देखो ६.१९.५; ३६.३; ५२.४) और गौओं से भरे अपने काफिले के काफिले लेकर—'नियुत्वान्' होकर इन्द्र से आ जुड़ता है—

ता योधिष्टमभि गा इन्द्र नूनमपः स्वरुषसो अग्न ऊळ्हाः।
दिशः स्वरुषस इन्द्र चित्रा अपो गा अग्ने युवसे नियुत्वान् ॥ (२ य मन्त्र)

तुम अपने वृत्रघाती बलों के साथ हमारे समीप सदा रहो—

आ वृत्रहणा वृत्रहभिः शुष्मैरिन्द्र यातं नमोभिरग्ने अर्वाक्।
युवं राधोभिरकवेभिरिन्द्राऽग्ने अस्मे भवतमुत्तमेभिः ॥ (३ य मन्त्र)

यह एकतामय विश्व कई बार टूटा और न जाने कितनी बार, सच्चे शासननायक तथा जननायकों ने उसे फिर खड़ा कर दिया। आज भी मैं विश्वप्रजाजन उन्हें फिर बुलाता हूँ। इतिहास उस पूर्व बनाये हुए विश्व का स्तुतिगान सदा करता चला आया है। अरे, ये दोनों थकते ही नहीं ! ढह गया तो फिर बनाने में लग गये—

ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुरा कृतम्।
इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जो श्रेष्ठ लोग (आर्याः) भी परस्पर भ्रान्तिवश तथा दुष्ट लोग (दासानि) दुष्टतावश नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित कर देते हैं (वृत्राणि), तो तुम सच्चे नेता उन विघ्नों को नष्ट कर देते हो—

हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती।
हतो विश्वा अप द्विषः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

तुम दोनों, जो तुम्हारे ज्ञान, अन्न तथा उत्साह आदि से भरे काफिले (=नियुतः, क्योंकि इनमें 'नि' एक के पीछे दूसरा वाहन 'यु' जोड़ दिया जाता है) हैं उन्हें लेकर पहुंचो—

या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा ।
इन्द्राग्नी ताभिरा गतम् ॥ (८ म मन्त्र)

यह साधारण अग्नि तो जिस वन पर अपनी ज्वाला रूप जिह्वा डालता है उसे हरे-भरे से काला कर देता है, परन्तु यह जननायक अग्नि विलक्षण है। यह अज्ञान से काले हुए-हुए वनों को अपनी ज्ञानमयी जिह्वा द्वारा अर्चनीय प्रकाश से (अर्चिषा) आलिङ्गित कर देता है। अरे, स्थूल अग्नि को छोड़ कर इसकी स्तुति करोः—

तमीळिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत् ।
कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥ (१० म मन्त्र)

यह प्रदीप्त (समिद्ध) होकर इन्द्र के राज्य में सुख का साम्राज्य स्थापित कर देता है, यह ऐसा मर्द है। किं च यह विश्वधन-कोष के लिये पुल, नाव, जहाज आदि का प्रबन्ध करके 'आपः' को सुख से पार करने योग्य बना देता है—

य इद्ध आ विवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्यः ।
द्युम्नाय सुतरा अपः ॥ (११ श मन्त्र)

हे लोगो! तुम कलहवती नहीं, अपि तु जानदार अन्न मात्राएं पहुँचाने के लिये, नाना प्रकार से सुनियन्त्रित वाहनों को (अर्वतः) तय्यार रक्खो। इन्द्र और अग्नि, जहां की प्रजा दुःखी होगी वहाँ इनका वहन करेंगे—

ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः ।
इन्द्रमग्निं च वोळ्हवे ॥ (१२ श मन्त्र)

हे इन्द्राग्नी! तुम दोनों निमन्त्रणयोग्य हो (अनुकरणीयत्वात्)। तुम दोनों लोक-कल्याण-कारी साधनों को (राधसः) यथाप्रयोजन पहुँचाकर इकट्ठे मस्ती में आते हो। अन्न और धन दोनों तुम्हारे पास देने के लिये हैं (जोड़ने के लिये नहीं) संसार में उत्साह बांटने के लिये मैं (विश्वप्रजाजन) तुम दोनों को बुलाता हूँ—

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारविषां रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ (१३ श मन्त्र)

एकषष्टितम सूक्त

'वध्रि' का अर्थ है—जो इतना दुर्बल हो कि चाबुक की भी मार खा कर मुश्किल से उठे या उठे ही नहीं, इसी लिये यह शब्द नपुंसक का पर्यायवाची हो गया है, परन्तु जिस बस्ती के 'अश्व'

(=क्षत्रिय, 'क्षत्रं वा अश्वः' शत १३.२.२.१७) इतने निर्बल हों कि मार खाकर मुश्किल से उठें, उस वस्ती ने भी 'सरस्वती'= (ज्ञान-अन्नादि दूर-दूर देशों से संग्रह करके अभीष्ट स्थान की ओर प्रवाहित करने वाली) सुनियन्त्रित सेना ठीक-ठीक तय्यार कर ली हो। यह सरस्वती उसे क्या-क्या देती है, यह बात इस सूक्त में बताई गई है।

जब तक राष्ट्र बलवान् नहीं हो जाता तब तक उसे, 'सिन्धु' को नहीं छेड़ना चाहिये अर्थात् युद्ध से यथाशक्ति वचना चाहिये। तब तक उसकी सेनाओं में 'सरस्वती' का ही स्थान मुख्य है। इस समय, क्यों कि षष्ठ मण्डल में राष्ट्रों के आर्थिक सहयोग का वर्णन है, इसलिये सरस्वती की महिमा विशेषरूप से कही गई है।

यथाशक्ति बलवर्धक सामग्री-संग्रह में प्रवृत्त यह 'सरस्वती' उस दुर्बल शक्ति वाले पुरुष वा राज्य के लिये (बध्र्यश्वाय)— जो कि अपने आप को सरस्वती के अर्पण कर देता है—उसके लिये ऐसा वेगवान् पुत्र देती है जो एकदेशदास न होकर-स्वार्थदास न होकर 'दिवोदास' कहलाता है, कुल अथवा राज्य के सब ऋण चुका देता है, सदा चेष्टाशील रहता है तथा हरामखोर, कामचोर और स्वार्थी (स्वोदरम्भरि=अवसम्) सट्टेबाजों को उखाड़ फेंकता है। हे सरस्वति! तेरे दान-विरुदों की यह कहानी है अथवा तेरी दराँती यह फसल काटती है—

इयमददाद् रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे।
या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति॥ (१ म मन्त्र)

जिन्होंने आलस्य की पुष्टि के लिये बड़े-बड़े अन्नकूट, वस्त्रकूट या धनकूट बना लिये हैं उन के ऊँचे-ऊँचे शिखरों को तू यों उखाड़ फेंकती है मानो वे मृणालदण्ड हों और तेरे उत्साह की प्रबल तरङ्गों से वे शिखर चूर-चूर हो कर प्रजा के समान स्तर पर आ जाते हैं। तू दूर-दूर के ठगों को मारती है। हम अपनी रक्षा के लिये तेरी परिचर्या किया करें—

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥ (२ य मन्त्र)

हे सरस्वति! इस संसार में मायावी 'बृसय' की=विशाल तन्तु-जाल वाले स्वार्थी की ('सयः'=सितिः=तन्तुजालम्, बृ शब्दो 'बृहत्' शब्दस्य संक्षेपः,' बृसयस्य'=सुदूर-विततबृहत्तन्तुजालस्य 'बृसयस्त्वष्टेति' सायणभाष्यम्) नानाविध सन्तान, जो देवों की— स्वार्थरहित होकर विश्वकल्याण के लिये सर्वस्व दान करने वालों की— 'मूर्ख', 'गधे', 'संसार में मातम मनाने आये हैं' 'नीरस ठूंठ हैं' इत्यादि उपहासमय शब्दों से निन्दा करते हैं, उन के प्रति तू प्रजा में वह भावना पैदा कर जिससे कि वे समूल उच्छिन्न हो जावें। जहाँ-जहाँ लोग भूमिरहित होकर भूमि आदि रक्षासाधन मांगते हैं, उन (क्षितिभ्यः) निवास की तलाश में घूमने वाले ईमानदार श्रमशील लोगों के लिये भूमि आदि रक्षासाधन (अवनीः, करणेऽधिकरणे वा ल्युट्) प्राप्त करा। हे शक्ति-शालिनि सरस्वति! (सामग्री-संग्राहिणी सेना अथवा लोकवाणी) तू जहाँ-जहाँ विषमता है वहाँ जमा हुए-हुए कोषों कोप्रवाहित कर दे—

सरस्वति देवनिदो नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः ।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अस्रवो वाजिनीवति ॥ (३ य मन्त्र)

यदि चीन के अदूरदर्शी नेता भारत पर डाका डालने के स्थान पर विश्व का एक राज्य बनाने के निमित्त प्रयत्नशील होकर अपनो सरस्वती को आग लगाने के काम में न लगा कर, ठीक दिशा में प्रवाहित करने का उद्योग करते तो सरस्वती तो प्रवाहित होती, किन्तु रुधिर-नदी प्रवाहित न होती। हाय ! इन तक वेदवाणी कैसे पहुँचे ? **'भारत के नादान दोस्त कम्युनिस्टो ! तुम भी देशद्रोह का पाठ पढ़ने के स्थान में वेद पढ़ो।'**

इस प्रकार सरस्वती के प्रताप से **विश्व के हरामखोरों का नाश तथा श्रमशीलों की रक्षा हो—**

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
धीनामवित्र्यवतु ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे सरस्वति ! जो भी तेरे समीप पहुँचता है वह हाय ! हाय !! तथा हत्या न मचाकर संसार के प्रच्छन्न अथवा हितकारी धन के विषय में ही चर्चा करता है और जैसे, इन्द्र को वृत्रनाश के लिये बुलाते हैं ऐसे ही आर्थिक पीड़ा-रूप वृत्रासुर के वध के लिये तुझे बुलाता है अर्थात् हे सरस्वति ! आर्थिक सहयोग के प्रसङ्ग में तुझे ही इन्द्र का स्थान मिला है—

यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते ।
इन्द्रं न वृत्रतूर्ये ॥ (५ म मन्त्र)

तू कोषविभागाध्यक्ष के समान (पूषेव) हमारे लिये अभीष्ट धन को खोद-खोद कर निकाल—

'रदा पूषेव नः सनिम्' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इस आर्थिक सहयोग के प्रसङ्ग में दुर्भिक्ष, दारिद्र्य, निवासाभाव आदि रूप वृत्र के वध में वह सरस्वती ही घोर 'वृत्रघ्नी' है, परन्तु उसका मार्ग रुधिर से रंगा हुआ नहीं है—**स्वर्ण से मढ़ा हुआ है** (हिरण्यवर्तनिः)। हाँ, दुर्भिक्ष आदि के लिये घोर है। वह सरस्वती ही इस प्रसङ्ग में तुम्हारी स्तुति के योग्य है—

उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः ।
वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम् ॥ (७ म मन्त्र)

जिसका अपरिमेय (=अमः) अनन्त अकुटिल तीव्रधार (त्वेषः) और सदा प्रबल वेग से चलने वाला (चरिष्णुः) प्रवाह जय-नाद करता हुआ चलता है—

यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः ।
अमश्चरति रोरुवत् ॥ (८ म मन्त्र)

वह सरस्वती अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये, अपनी अन्य बहिनों—गङ्गा, यमुना, शुतुद्रि, सिन्धु आदि नियन्त्रित-रूप से नाप-तोलकर चलने वाली ऋतावरियों के सम्पूर्ण शत्रुओं के अतिक्रमण इस प्रकार तैनात करती है। जैसे, दिन के निर्माणार्थ सूर्य अपने रश्मिजाल को—

सा नो विश्वा अति द्विषः स्वसॄरन्या ऋतावरी ।
अतन्नहेव सूर्यः ॥ (९ म मन्त्र)

इस सरस्वती की गङ्गा, यमुना, शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी और मरुद्वृधा ये छह बहिनें और हैं। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक सप्तस्वसा है, परन्तु इस प्रसङ्ग में इन प्यारी बहिनों में से भी सरस्वती हमारे लिये सबसे प्यारी है। उसकी प्रीति-पूर्वक सेवा होनी चाहिये। वही स्तोतव्य है—

उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा ।
सरस्वती स्तोम्या भूत् ॥ (१० म मन्त्र)

यह सरस्वती साधारण प्रजा अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमस्थ को (पार्थिवा), अन्तरिक्षस्थ=गृहस्थवर्ग को और बड़े लोक अर्थात् विद्वानों के वानप्रस्थ लोक को तृप्त करती हुई हमें निन्दनीयता से बचावे—

आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम् ।
सरस्वती निदस्पातु ॥ (११ श मन्त्र)

इन तीनों लोकों में सप्तधातु वाले यज्ञ से—(ब्रह्मचर्याश्रम में रसासृङ्-मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि इन धातुओं की वृद्धि-रूप यज्ञ से, गृहस्थाश्रम में ईश्वरपूजा, स्वाध्याय एवं अध्यापन इन तीनों भागों में विभक्त ब्रह्मयज्ञ; चतुर्थ देवयज्ञ, पञ्चम पितृयज्ञ, षष्ठ अतिथियज्ञ और सप्तम वैश्वदेवयज्ञ इन ७ धातुओं वाले यज्ञ से और वानप्रस्थाश्रम में पञ्चविध प्रत्यक्ष, षष्ठ अनुमान और सप्तम शब्द प्रमाण इन ७ धातुओं वाले यज्ञ से) यह सरस्वती ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा इतर जन इन पांचों प्रकार के जनों को बढ़ाती हुई (=वर्धयन्ती) हर प्रकार के युद्ध में सदा बुलाई जाने योग्य रही है—

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती ।
वाजेवाजे हव्या भूत् ॥ (१२ श मन्त्र)

जो अपनी महिमा से तथा अपने दिये हुए देदीप्यमान सामग्री-संभारों से (=द्युम्नेभिः) अभिलाषा-पूर्ति करने वालों में (=अपसाम्) सबसे अधिक पूर्तिकारिणी (=अपस्तमा) है। चाहे युद्ध किसी भी प्रकार का हो, सामग्री के बिना तो निर्वाह है ही नहीं—

प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा ।
रथ इव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती ॥ (१३ श मन्त्र)

हे सरस्वती ! तू ही हमें वसु से 'वस्यः' तक पहुँचाती है। तू न तो हमें सामग्री की बाढ़ से अनुचित समृद्धि में बहा और न हमें आवश्यक सामग्री के वियोग में जलने दे। न अतियोग हो और न

हीनयोग हो तथा न मिथ्यायोग ही हो। तेरी मैत्री में हमें न मित्रों की कमी हो न 'वेशी' की=बसने के स्थान की। तेरा कोई भी प्रवाह-क्षेत्र अरमणीय, भद्दा, ग्लानिकर, गन्दा तथा व्याधिकर न हो—

सर॑स्वत्य॒भि नो॑ नेषि॒ वस्यो॒ माप॑ स्फरी॒: पय॑सा॒ मा न॒ आ ध॑क् ।
जु॒षस्व॑ नः स॒ख्या वे॒श्या॑ च॒ मा त्वत् क्षेत्रा॒ण्यर॑णानि गन्म ॥ (१४ श मन्त्र)

द्विषष्टितम सूक्त

अब सरस्वती के सदा के साथी अश्विनौ मैदान में आते हैं। यातायात तथा समाचार के विना सामग्री पहुँचेगी कैसे ?

वे अश्विनौ 'ज्मा' अर्थात् धरती के दूरस्थ सिरों को यातायात द्वारा जोड़ना चाहते हैं और इस संसार में वरणीय पदार्थों को अथवा शीतोष्णादि से बचाने वाले घर, वस्त्र आदि पदार्थों को (=वरांसि) उन सिरों तक पहुँचाना चाहते हैं ('परि' चारों ओर तथा 'उरु' प्रभूत मात्रा में)। इसमें उपमा देते हैं— (व्युष्टौ) उषाकाल में जिस प्रकार सूर्य अपनी वरणीय किरणों को (=वरांसि उस्रा) चारों ओर प्रभूत मात्रा में विस्तृत करता है, वैसे ही—

स्तु॒षे नरा॑ दि॒वो अ॒स्य प्र॒सन्ता॒ऽश्विना॑ हुवे॒ जर॑माणो अ॒र्कैः ।
या स॒द्य उ॒स्रा व्यु॒षि॒ ज्मो अन्ता॒न् युयू॑षत॒: पर्यु॒रू वरां॑सि ॥ (१ म मन्त्र)

इस मन्त्र के 'तमांसि' पद का सायणकृत अर्थ प्रकरणविरुद्ध होने से अमान्य है।

उन्होंने अपना रथ दिव्य ज्योति से चमकाया है और अपनी अमित वरणीय प्रभा चारों ओर फैलाई है। इस संसार के मरु प्रदेशों में अपने वाहनों को (अज्रान्) अतिक्रान्त करने के लिये वहाँ जल पहुँचाते हैं—

ता य॒ज्ञमा शुचि॑भिश्चक्रमा॒णा रथ॑स्य भा॒नुं रु॑रुचू॒ रजो॑भिः ।
पु॒रू वरां॒स्यमि॑ता॒ मिमा॑ना॒ऽपो धन्वा॒न्यति॑ याथो॒ अज्रा॑न् ॥ (२ य मन्त्र)

वे अपने मनोजव वाहनों से सब प्रकार की जीवन-यात्रा-निर्वाहक सामग्री (वर्त्तिः) वहन करते हैं। जिस प्रकार की उग्र शक्ति के साथ वह दारिद्र्यग्रस्त (=अरध्र) को सता रही है उसी प्रकार के उग्र प्रयत्न से वह उस अवर्त्ति पर वर्त्ति द्वारा आक्रमण करते हैं और उन दारिद्र्यग्रस्तों को व्यथा पहुँचाने वाले दुष्टों को, धरती पर से मिटाने के लिये अपनी उग्र शक्ति का प्रयोग करते हैं—

ता ह॒ त्यद् व॒र्तिर्यद॒र॑ध्रमुग्रे॒त्था धिय॑ ऊहथु॒: शश्व॒दश्वैः॑ ।
मनो॑जवेभिरिषि॒रैः श॒यध्यै॒ परि॒ व्यथि॑र्दा॒शुषो॒ मर्त्य॑स्य ॥ (३ य मन्त्र)

उनके वाहन सदा जुते ही रहते हैं। वे शरीर का अङ्ग बनने वाले शुभ अन्न को (=पृक्षम्) तथा बलवर्धक पदार्थों को सदा ढोते ही रहते हैं। वे सदा युवा हैं और कार्यव्यस्त हैं—

ता नव्य॑सो॒ जर॑माणस्य॒ मन्मोप॑ भूषतो युयुजा॒नस॑प्ती ।
शु॒भं पृक्ष॒मिष॒मूर्जं॒ वह॑न्ता॒ होता॑ यक्षत् प्र॒त्नो अ॒ध्रुग्युवा॑ना ॥ (४ र्थ मन्त्र)

वे अश्वी उन 'भुज्युओं' को जो कि प्रजा के भोजन-संग्रहार्थ समुद्रयात्रा पर निकल पड़े हैं तथा जो शत्रुहिंसक पराक्रम के पुत्र हैं उनको अपने देदीप्यमान, धूलि से रहित पङ्खों वाले तथा पक्षियों की तरह उड़ने वाले विमानों के द्वारा समुद्र से—समुद्र की गोद में से—जल में से निकाल लेते हैं—

ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्तुग्रस्य सूनुमूहथू रजोभिः ।
अरेणुभिर्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभिरर्णसो निरुपस्थात् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

(भुज्युम् = भोजयति अन्यान्, यद्वा अन्येषां भुजे आत्मानं यौतीति वा स भुज्युस्तम्)

वे समाचार तथा यातायात के अधिष्ठाता सूर्यचन्द्र के समान दिन-रात उजाला रखने वाले अपने सदा विजयी रथ से पर्वतों के शिखर पर भी पहुँच जाते हैं और उजाड़ स्थान में जहाँ वृक्ष धरती आदि सब ही वध्रि हैं—बधिया के समान अनुत्पादक हैं, वहाँ नाना उपजाऊ उपकरणों को पहुँचा कर उस धरती को फल-पुष्पवती बना देते हैं जिससे वह वन्ध्या गाय भी दूध देने लगती है अथवा उजाड़ में पड़े हुए ज्ञान-हीनों को ज्ञानसाधन पहुँचा कर उनकी वाणी को उर्वरा बना देते हैं—(इसी प्रकार गो शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों के अनुसार अर्थविस्तार स्वयं कर लेना चाहिये)—

वि जयुषा रथ्या यातमद्रिं श्रुतं हवं वृषणा वध्रिमत्याः ।
दशस्यन्ता शयवे पिप्यथुर्गामिति च्यवाना सुमतिं भुरण्यू ॥ (७ म मन्त्र)

फिर वे अपने समाचार तथा यातायात-साधनों से राक्षसों के साथ गठजोड़ करने वालों पर दैव तथा मानुष दोनों प्रकार का सन्तापकारी प्रहार करते हैं अर्थात् शस्त्रास्त्रों से मार कर मानुष कोप तथा उनके जल-अन्न के मार्ग बन्द करके उन पर दैवी कोप बरसाते हैं—

यद् रोदसी प्रदिवो अस्ति भूमा हेळो देवानामुत मर्त्यत्रा ।
तदादित्या वसवो रुद्रियासो रक्षोयुजे तपुरघं दधात ॥ (८ म मन्त्र)

यह नहीं कि वे सदा कठोर ही रहते हैं, अपितु वे यथायोग्य अवसर पर 'मित्र-वरुण (ब्राह्मण-क्षत्रिय) सब ही रूप धारण करते हैं । जिसकी ऋतु अर्थात् कल्याणार्थ प्राप्त-काल हो, वैसा ही रूप धारण कर लेते हैं—

य ईं राजानावृतुथा विदधद् रजसो मित्रो वरुणश्चिकेतत् ।
गम्भीराय रक्षसे हेतिमस्य द्रोघाय चिद् वचस आनवाय ॥ (९ म मन्त्र)

इस प्रकार वे वृत्तिहीनों को वृत्ति प्रदान करते हैं और हिंसकों का सिर तक काट डालते हैं—

अन्तरैश्चक्रैस्तनयाय वर्तिः···वनुष्यतामपि शीर्षा ववृक्तम् ॥ (१० म मन्त्र)

वे दीनों की—विपद्ग्रस्तों की रक्षार्थ तथा दुष्टवधार्थ; अत्यन्त ऊँचे आकाश में, मध्यम लोक में अथवा जलपूर्ण अन्तरिक्ष लोक में तथा धरती पर, जहाँ जिस प्रकार के यान की उन्हें आवश्यकता है, वैसे यान सदा उनके सामने पहुँच जाते हैं—

आ प॒र॒माभि॑रु॒त म॒ध्य॒माभि॑र्नि॒युद्भि॑र्यातमव॒माभि॑र॒र्वाक् ।
दृ॒ळ्हस्य॑ चि॒द् गोम॑तो॒ वि व्र॒जस्य॒ दुरो॑ वर्तं गृण॒ते चि॑त्ररा॒ती ॥ (११ श मन्त्र)

इस प्रकार पृथिवी पर सौहार्द-स्थापन में 'अश्विनौ' भी सहयोग देते हैं। तब विश्व की एक राजा वाली प्रजा बनती है तथा विश्वमानुष का जन्म होता है (८.४५.४२)।

त्रिषष्टितम सूक्त

६२ वें सूक्त में उन विपद्ग्रस्तों का वर्णन था जहाँ वे बिना बुलाये पहुँचते हैं। अब ६३ वें सूक्त में कहा है कि प्रजा का भी यह कर्त्तव्य है कि वह उन्हें निमन्त्रण देकर बुलावे, तभी उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त हो सकता है अर्थात् जैसे, बिना सूचना पाये भी स्वयं खोजकर पीड़ितों के पास पहुँचना अश्विदेवों का कर्त्तव्य है, वैसे ही प्रजा का भी उनको सूचित करने का-निमन्त्रण देने का कर्त्तव्य है। यही बात इस सूक्त में कही गई है।

हे प्रजाजनो ! वे विपत्ति में तुम तक पहुँचें और तुम सम्पत्ति में उनको स्वागत-सत्कार-पूर्वक बुलाकर उनका उत्साह बढ़ाओ तथा नानाविध सामग्री देकर विपत्तिकाल में आने वाले कोष की स्थापना तथा वृद्धि करो। वे सहृदय हैं और जहाँ 'यज्ञियों' का—लोककल्याणी लोगों तथा उद्योगों का जन्म होता है, वहां पहुँच कर प्रजा के सुख के सामान देखकर नाच उठते हैं—

अधि॑ श्रि॒ये दु॑हि॒ता सूर्य॑स्य॒ रथं॑ तस्थौ पुरुभुजा श॒तोति॑म् ।
प्र मा॒याभि॑र्मायिना भू॒तमत्र॒ नरा॑ नृतू॒ जनि॑मन् य॒ज्ञिया॑नाम् ॥ (५ म मन्त्र)

वे, हर सूर्या को—पतिलोक को जाने वाली नवविवाहिता कन्या को पुष्टि पहुँचाकर बड़े प्रसन्न होते हैं तथा सैंकड़ों उपायों से उसकी सहायता करते हैं—

यु॒वं श्री॒भिर्द॑र्श॒ताभि॑रा॒भिः शु॒भे पु॒ष्टिमू॑हथुः सू॒र्याया॑: ॥ (६ ष्ठ मन्त्र क ख)

वे अनासक्त होकर, पक्षपातरहित होकर सबको दूधभरी गाय के समान पुष्टिकारक अन्न पहुँचाते हैं अथवा (यदि असक्राम् की व्युत्पत्ति 'सम्+क्रम' से मानी जाय तो) अविचल अन्नरूप गाय देते हैं, जो अन्नभण्डार कहीं संक्रान्त न हों—

पु॒रु हि वां॑ पुरुभुजा दे॒ष्णं धे॒नुं न इषं॑ पिन्वत॒मस॑क्राम् ।
स्तुत॑श्च वां माध्वी सुष्टु॒तिश्च॒ रसा॑श्च॒ ये वा॒मनु॑ रा॒तिमग्म॑न् ॥ (८ म मन्त्र)

जहाँ प्रजा तथा राजपुरुषों में इस प्रकार सहयोग होता है, वहां लोग कहते हैं कि हे अश्वियो ! तुम्हारे सहयोग से सुडौल (ऋज्जे) और उत्तम नस्ल के सांड से प्राप्त (सुमीढे) हलके शरीर वाली तथा अधिक दूध देने वाली (रघ्वी) दो गौएँ मुझे मिल गई हैं। अश्विनों ने सूचना दी

कि एक दुःखी को दो बढ़िया गौएँ चाहियें तो एक गोपालक ने प्रसन्नतापूर्वक दे दीं और अश्विनों ने किराये लिये बिना ही मुझ तक पहुंचा दीं। एक ग्राम के निवासियों ने अश्वियों की सहायता से हमारे ग्राम के लिये १०० गाय अथवा बैल भेजे। एक खिलाने-पिलाने के शौकीन (पेरुक) ने ग्राम के बालकों को खूब पक्वान्न खिलाए और 'शाण्ड' अर्थात् शमशील ठंडे स्वभाव वाले एक धनपति ने विश्वराष्ट्र-सहयोगार्थ स्वर्णजटित वस्त्रों वाले १०० (ऋष्वान्) और स्मेरमुख (स्मद्दिष्टीन्) सैनिक प्रदान किये। जहाँ-तहाँ ऐसे ही दृश्य देखने में आते हैं—

उत मं ऋज्रे पुरयस्य रघ्वी सुमीळ्हे शुतं पेरुके च पक्वा।
शाण्डो दाद्धिरणिनः स्मद्दिष्टीन् दश वुशासो अभिषाच ऋष्वान् ॥ (९ म मन्त्र)

'शम्+ड'=शण्डः= ठंडा मन, उसका अपत्य अर्थात् इस गुण से बड़े धनी के पद पर पहुँचने वाला 'शाण्ड'। शण्ड नपुंसक को भी कहते हैं वह भी इसीलिये कि वह उस क्षेत्र में गरम हो ही नहीं सकता, सदा ठण्डा पड़ा रहता है। वस्तुतः 'शण्ड' का तात्त्विक अर्थ है ठण्डा और कदाचित् 'ठण्डा' शब्द 'शण्ड' का ही अपभ्रंश हो तो आश्चर्य नहीं।

फिर नाना मार्गों से नाना देशों में घूमकर पशु-संग्रह करने वाले एक पशुओं के व्यापारी ने (=पुरुपन्था ने) सौ और हजार तक घोड़े विश्वराष्ट्रनिर्माणार्थ दिये। यह, समाचार तथा यातायात विभाग के अधिष्ठाताओं की ही कृपा है—

स वां शुता नासत्या सुहस्राऽश्वानां पुरुपन्था गिरे दात्।
भरद्वाजाय वीर नू गिरे दादुधता रक्षांसि पुरुदंससा स्युः ॥ (१० म मन्त्र)

हे अश्विनौ ! मैं प्रजाजन तुम्हारी कृपा से सदा विद्वानों का वरणीय बना रहूं और वे इसी प्रकार मुझे स्वेच्छापूर्वक यज्ञ में सहयोगार्थ प्रेरणा देते रहें—

'आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिः ष्याम्' ॥ (११ श मन्त्र)

चतुःषष्ट सूक्त

अब अश्विनौ की नित्य सहचरी उषा आती है, क्योंकि जहाँ समाचार तथा परिवहन विभाग ठीक कार्य करते हैं, वहाँ के कोने-कोने में प्रजा के मुखों पर उत्साहमयी उषा की लाली देखने को मिलती है।

हे खुशहाली की मूर्त्ति उषा ! जहाँ अश्विलोग सामान पहुँचाते हैं वहाँ प्रजा में उत्तम साहित्य द्वारा उषा का—उत्साह का राज्य न हो तो उस उदारता के फल-रूप अन्न को कंजूस दबा कर बैठे रहें, परन्तु तेरे उत्साहवर्धक प्रभाव से खिले हुए स्त्रीपुरुष यदि विश्व में बसते होंगे तो मनुष्य तो अन्नभागी (पितुभाजः) होंगे ही, चिड़ियाँ तक आनन्द-विभोर होकर चहचहाती उड़ती होंगी—

उत् ते वयश्चिद् वसुतेरपप्तुन् नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ।
अमा सुते वहसि भूरि वाममुषो देवि दाशुषे मर्त्याय ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

पञ्चषष्टितम सूक्त

इस विश्व की एकता-निर्माणरूप यज्ञ के उत्साह से भरे हुए साहित्य-रूप उषा ने केवल एक मनुष्य-बस्ती को ही नहीं, अपितु मानवबस्तियों को जगा दिया है—(क्षितीः मानुषीरजीगः)। इस भावना से प्रेरित बस्तियाँ रात्रि में भी आनन्द से सोई थीं—उनकी रात्रि भी राम्या थी—रमणीय थी, परन्तु अब जागने का समय आया तो उषा ने कहा—**'उठो अन्धकार दूर हुआ, अब पृथिवी नई ज्योति से जगमगा रही है'**—

एषा स्या नो दुहिता दिवोजाः क्षितीरुच्छन्ती मानुषीरजीगः ।
या भानुना रुशता राम्यास्वज्ञायि तिरस्तमसश्चिदक्तून् ।। (१ म मन्त्र)

इस कार्य में स्त्रियों की स्वाभाविक रुचि होती है, क्योंकि वे वीर भी हों तो भी माता होने के कारण युद्ध को यथासम्भव दूर रखना चाहती हैं, इसीलिये इसके प्रचार में वेद ने संसार के सामने स्त्रीलिङ्ग उषा को लाकर रक्खा है।

उषा के समान खिलती हुई महिलाओं ने अरुणोदय के सदृश घोड़े जोत लिये हैं और वे इस महान् यज्ञ के अग्रभाग (Van Guard) की नेत्री हैं। वे विश्व की बस्तियों के हृदय में उठने वाली दुष्ट तरंग-रूपी अन्धकार से लड़ती हैं—

वि तद् ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः ।
अग्रं यज्ञस्य बृहतो नयन्तीर्वि ता बाधन्ते तम ऊर्म्यायाः ।। (२ य मन्त्र)

वे जिधर जाती हैं, **यश, मस्ती, अन्न** तथा बल का सन्देश वहन करती हैं। हे विश्व के ऐश्वर्य की वृद्धि चाहने वाली, वीरवती (**वीरभगिनी, वीरपत्नी, वीरपुत्री**) महिलाओ! अब तुम चारों ओर पहुँच कर, वीरों की तरह संसार को सिखाओ कि परस्पर युद्ध में भी वीरता है, परन्तु परस्पर रक्षा उससे भी बढ़िया रत्न है। इसे संभाल कर रक्खो—

श्रवो वाजमिषमूर्जं वहन्तीर्नि दाशुष उषसो मर्त्याय ।
मघोनीर्वीरवत् पत्यमाना अवो धात विधते रत्नमद्य ।। (३ य मन्त्र)

हे महिलाओ! रत्नदान का यही समय है जब सारा संसार एकता की ओर चला है—

इदा हि वो विधते रत्नमस्तीदा वीराय दाशुष उषासः ।। (४ र्थ मन्त्र)

हे अविचल विश्वास की ऊँची चट्टान पर खड़ी हुई—उदयाचल के शिखर पर विराजमान उषा के समान स्त्रीजाति! (=**अद्रिसानो**), यह समय है जब प्रभुप्रेमरस जिनके अङ्ग-अङ्ग में व्याप गया है वे पृथिवी के समस्त विद्वान् (=**अङ्गिरसः**) जिस प्रकार युद्ध में योद्धा गोत्रोच्चारण-पूर्वक आगे बढ़ते हैं **'चौहान की चोट संभालो बना फल राय'**, इसी प्रकार अब प्रभुभक्त भी एक से एक बढ़ कर गोत्रोच्चारण कर रहे हैं कि **'मैं एकता-स्थापन करके रहूँगा', अब भरद्वाज के कारनामे देखो, 'अब मौद्गल्य किसी से पीछे रहने वाला नहीं, 'अब इस एकतास्थापन-रूप महायज्ञ में संसार के**

मनुष्यों का प्रभुभजन तथा वैज्ञानिक विवेचन (अर्केण ब्रह्मणा च) और देवसमागम (देवहूतिः (Call for rally addressed to well learned men) सच्चा हो गया जानो'—

इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति ।
व्य१र्केण बिभिदुर्ब्रह्मणा च सत्या नृणामभवद् देवहूतिः ॥ (५ म मन्त्र)

हे संसार की महिलाओं के लिये आदर्शभूत देवलोक की पुत्री उषा ! संसार भर में आज तक प्रजा में मस्ती भरने वाले जितने भरद्वाज हुए हैं, उन्हीं के पदचिह्नों पर चलती हुई तू इस विश्व के प्रजाजन के लिये उत्तम वीर (शान्ति-वीर) उत्पन्न करने वाला धन दे। किं च, इन महिलाओं को भी उषा बना दे। तेरी कृपा से सर्वत्र महान् आनन्दगान (उरुगाय) ही आनन्दगान का साम्राज्य हो—

उच्छा दिवो दुहितः प्रत्नवन्नो भरद्वाजवद् विधते मघोनि ।
सुवीरं रयिं गृणते रिरीह्युरुगायमधि धेहि श्रवो नः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

षट्षष्टितम सूक्त

अब अङ्गिरसों (प्रभुभक्तों) और उषाओं (विश्व की महिलाओं) के सदुद्योग से शान्तिसेना के वीर (सुवीर) तय्यार हो गये। ६६ वें सूक्त का देवता 'मरुतः' हैं। इस सूक्त का ४ थं मन्त्र ऐसा है जो इन्हें अन्य स्थलों के मरुतों से भिन्न रूप देता है। वही इस सूक्त का प्राण है, शेष तो सैनिकों का वर्णन है। यहां मरुत् एक विलक्षण रूप में प्रकट हुए हैं। उस रूप को प्रकट करने वाले शब्द हैं—'अन्तः .. अवद्यानि' और 'पुनानाः' (४ थं मन्त्र)। ये शब्द अन्य किसी मण्डल में आये ही नहीं।

मरुतों का काम है, 'मारना', पर यहां वे मनुष्यों के अन्दर विद्यमान निन्दनीय, वर्णन के अयोग्य (अवद्य) विश्वकलह के भावों को पवित्र कर रहे हैं। जिससे शरीर एक अपूर्व कान्ति बरसाने लगता है। वे मुंह से बोलते नहीं, मौन उपदेश देते हैं, परन्तु स्वयं 'शुचिः' हैं, इसलिये चुप रहने के द्वारा (जोषमनु) शरीर को अपूर्व श्री से आसिक्त करते हैं—

न ये ईषन्ते जनुषोऽया न्व१न्तः सन्तोऽवद्यानि पुनानाः ।
निर्यद् दुह्रे शुचयोऽनु जोषमनु श्रिया तन्वमुक्षमाणाः ॥ (४ थं मन्त्र)

बस, सैनिक भी इस यज्ञ में सहायता करें और विश्व की बस्तियों के अन्तःकरणों में सहनशक्ति पैदा करें, द्वेष दूर करें, इसीलिये ९ वें मन्त्र में कहा है—

'ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः' ॥ (९ म ग घ)

वे आक्रमणों को—जो कि उनके लिये सहनयोग्य वस्तु हैं उनको अपनी सहन-शक्ति से सहन करते हैं। वे मख हैं, उनके जमे हुए पग को कोई उखाड़ नहीं सकता है। उलटा धरती उनके सामने कांपती हैं।

सप्तषष्टितम सूक्त

हे संसार के सज्जनो ! तुम सब में अपनी वाणी के बल से ज्येष्ठतम ब्राह्मण तथा क्षत्रिय (**'ब्रह्म वै मित्रः, क्षत्रं वरुणः'** शत. ४.१.४१) हमें आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा कर रहे हैं। वे दोनों अपने सम्मिलित बाहुओं से इतने शक्तिशाली हैं कि धरती के सब लोग मिलकर भी इन दोनों के जोड़ नहीं—इनके तुल्य नहीं (**असमा**), वे अपनी वाणी के बल के सारी जनता को ऐसा बांध देते हैं कि उन्हें **'यमिष्ठ'** कहना पड़ता है। **ब्राह्मण शास्त्र-बल से और क्षत्रिय बाहुबल से अपनी आज्ञा मनवाते हैं**, परन्तु जब वे दोनों इकट्ठे हो जावें तो दोनों का सम्मिलित वाग्बल ही संसार को नियम में रखने के लिये पर्याप्त है—

विश्वेषां वः सतां ज्येष्ठतमा गीर्भिर्मित्रावरुणा वावृधध्यै ।
सं या रश्मेव यमतुर्यमिष्ठा द्वा जनाँ असमा बाहुभिः स्वैः ॥ (१ म मन्त्र)

जब विश्वकलह दूर हो जायगा तो हमारा घर अखण्ड छत वाला हो जायगा। अभी तो भय लगा रहता है कि कब युद्ध छिड़ें और मकान की छत ढह जाय। सो, हे ब्राह्मण-क्षत्रियो ! तुम मिलकर हमें अधृष्ट छत वाला घर दो—

इयं मद्वां प्र स्तृणीते मनीषोप प्रिया नमसा बर्हिरच्छ ।
यन्तं नो मित्रावरुणावधृष्टं छर्दिर्यद् वां वरूथ्यं सुदानू ॥ (२ य मन्त्र)

तुम इस विश्व की जनता-रूप बुद्धिमान् यजमान को सबसे पहिले इस काम में लगाते हो कि धरती पर कोई भूखा न रहे, सबका जठर भरा रहे, यहां से विश्वसहयोग आरम्भ होता है। दृढ़ निश्चय वाली, हवा के झोंके के साथ न बहने वाली (**अवाताः**) संसार की युवतियाँ तुम्हारी सबसे बड़ी सहायक हैं, जो मातृवात्सल्य के कारण विश्व में जान डालने वाली हैं तथा संसार के भूखे लोगों को देखकर जिनका दूध भर आता है अथवा आँखों में पानी भर आता है (**पयो भरन्ते**)—

ता विग्रं धैथे जठरं पृणध्या आ यत् सद्म सभृतयः पृणन्ति ।
न मृष्यन्ते युवतयोऽवाता वि यत् पयो विश्वजिन्वा भरन्ते ॥ (७ म मन्त्र)

हे मित्रावरुणो ! जो संगठन के सेवक नहीं हैं—जिनके वाहन संगठन के काम नहीं आते वे चाहे विद्वान् हों अथवा साधारण मनुष्य और भले ही तुम्हारे पुत्र ही क्यों न हों, तुम्हारी दृष्टि में कर्महीन हैं—

'न ये देवास ओहसा न मर्ता अयज्ञसाचो अप्यो न पुत्राः' ॥ ९ म मन्त्र ग घ)

अष्टषष्टितम सूक्त

वे ऐश्वर्यवानों में सबसे बड़े ऐश्वर्यवान् हो जावें (**मघोनां मंहिष्ठाः**), और शूरों में शूरतम हो जावें (**शूराणां शविष्ठा.**)। सो कैसे ? (**'देवताती'**)=देवों के इस एक विश्वरूप विशाल

सङ्गठन के लिये लोगों की गति तीव्र करते हुए (=तुजा) और ज्ञान के विस्तार से (=ऋतेन) वृत्रवध करते हुए तथा इस मार्ग से सारे विश्व की एक सेना बनाते हुए (=सर्वसेना)—

ता हि श्रेष्ठा देवताता तुजा शूराणां शविष्ठा ता हि भूतम् ।
मघोनां मंहिष्ठा तुविशुष्म ऋतेन वृत्रतुरा सर्वसेना ॥ (२ य मन्त्र)

यही मन्त्र इस सूक्त का प्राण है ।

वे इन्द्र तथा वरुण वृत्र से तो लड़ते हैं, पर दोनों में एक भेद है। जब कोई बल से हम पर आक्रमण करता है तो इन्द्र बल से उसका सामना करता है, पर जब कोई प्रजा में वर्जनीय काम करता है तो वरुण बुद्धिबल से उसका पीछा करके किसी न किसी प्रकार उससे जा चिपटता है। भाव यह है कि खुले—बाह्य शत्रुओं से इन्द्र लड़ता है और प्रच्छन्न शत्रुओं के साथ बुद्धि-कौशल से विप्र-वरुण—

ता गृणीहि नमस्येभिः शूषैः सुम्नेभिरिन्द्रावरुणा चकाना ।
वज्रेणान्यः शवसा हन्ति वृत्रं सिषक्त्यन्यो वृजनेषु विप्रः ॥ (३ य मन्त्र)

इस धरती पर जो स्त्रियाँ और जो पुरुष निस्सहाय अवस्था में अपने उद्यम से बड़े बनते हैं वे श्रमशील स्त्री-पुरुष ही इन्द्र तथा वरुण के परम सहायक होते हैं। हे इन्द्र-वरुण ! तथा हे नेता और नीयमान (द्यावापृथिव्यौ) ! तुम दोनों ऐसे पुरुषों के प्रति सदा बड़ा हृदय रक्खो—

ग्नाश्च यन्नरश्च वावृधन्त विश्वे देवासो नरां स्वगूर्ताः ।
प्रैभ्य इन्द्रावरुणा महित्वा द्यौश्च पृथिवि भूतमुर्वी ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे इन्द्र तथा वरुण ! तुम्हारे शत्रुओं से तैरने का—पार उतरने का एक बहुत बड़ा साधन धन है। जो तुम्हारा धन है तथा जो धनवाले मनुष्य हैं उन्हें कहो कि धरती पर दाता ही सबका प्यारा होता है, सो देना सीखो, कंजूस मत बनो—

स इत् सुदानुः स्ववाँ ऋतावेन्द्रा यो वां वरुण दाशति त्मन् ।
इषा स द्विषस्तरेद् दास्वान् वंसद् रयिं रयिवतश्च जनान् ॥ (५ म मन्त्र)

ऐसे दाता जन-हिंसकों की दुष्ट योजनाओं को भङ्ग कर देते हैं—

'प्र यो भनक्ति वनुषामशस्तीः' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र घ)

हे इन्द्रावरुणौ ! तुम मधुमत्तम सम्पत्ति के बरसाने वाले हो, इसे खूब बरसाओ। हम अपने श्रमनिर्मित पदार्थों की धाराएँ पात्र के पात्र भर कर तुम्हारे पास लाये हैं। स्वीकार करो और बरसाओ—

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमस्मे आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम् ॥ (११ श मन्त्र)

एकोनसप्तत सूक्त

इन्द्र का सबसे बड़ा 'युज्यः' सखा 'विष्णु' अर्थात् मनुष्य समाज है, राजा भी उसका एक सशक्त तथा सदा सक्रिय अंग है, परन्तु जब तक वह विष्णु इन्द्र के साथ न आ मिले, इन्द्र कोई आन्दोलन नहीं चला सकता। हम धरती पर सम्पूर्ण समाजों का एक मानव-समाज बनाना चाहते हैं, इसलिये सब बस्तियों के शासक अपने-अपने समाज की शरण में जावें। हम इस महान् समारम्भ के पार तभी पहुंचेंगे, जब कि हम क्रियाशील होकर पहिले सब धग्नी को अन्न पहुँचावें। हे इन्द्राविष्णु! तुम सम्पूर्ण द्रविण (Liquid money) मानव-समाज के निर्माण में लगा दो और अचूक मार्गों से हमें पार उतारते हुए आगे बढ़ो—

स वां कर्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य।
जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता ॥ (१ म मन्त्र)

सम्पूर्ण श्रमोपार्जित द्रव्यों का कलश जो सब बस्तियों का कोष है वह तुम हो, क्योंकि सारे संसार में तुम ही सुमति उपजाते हो। **जहाँ सुमति कोष हैं वहाँ सब कोष हैं,** इसीलिये तुम्हारे गीत गाये जाते हैं—

या विश्वासां जनितारा मतीनामिन्द्राविष्णू कलशा सोमधाना।
प्र वां गिरः शस्यमाना अवन्तु प्र स्तोमासो गीयमानासो अर्कैः ॥ (२ य मन्त्र)

जब इन्द्र और विष्णु इकट्ठे होते हैं तो हर सहस्र को इनमें बांट देते हैं* और तब असुरों से लड़ते हैं। वे भाग इस प्रकार हैं—एक सहस्र में से ३३३ भाग 'विष्णु' की वाणी के अर्थात् मानव-समाज, यहाँ कौन 'इन्द्र' पदवी पर तथा कौन 'वरुण' पदवी पर नियत होगा यह व्यवस्था करता है, क्योंकि प्रजा ही सब देवों को नियत करती है; ३३३ भाग 'इन्द्र' के अर्थात् इन्द्र का शासन-विभाग जो विष्णु को आज्ञा देता है कि इस प्रकार चलो उसके; ३३३ भाग 'वेद' के अर्थात् विद्या के, जिसके द्वारा यह सब निर्णय होता है कि व्यवस्था ठीक हुई वा नहीं और उसमें संशोधन भी होता है; १ भाग सब इन्द्रों के इन्द्र परमात्मा का, जिसमें सब देव एकत्र होते हैं; जिसका अनुसरण राजा को करना है और जिसके लिये कहा है कि **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** (ऋ. १. १६४. ४६.)। जहाँ इन्द्र और विष्णु में—राजा तथा समाज में इस प्रकार का सहयोग होता है वहाँ ये दोनों मिलकर अवश्य जय पाते हैं, कभी पराजित नहीं होते। असुर=हरामखोर स्वार्थी इनसे कैसे स्पर्धा कर सकते हैं? इसलिये हे इन्द्र! तथा विष्णु! तुम इस **विश्वसमन्वय-यज्ञ** में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करो, तब ही विजय होगी—

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥ (८ म मन्त्र)

---

* यह कथा ऐतरेय० ६.१५ में दी गई है।

सप्ततितम सूक्त

परिवार, व्यापार, विद्यालय तथा कारखाने आदि समाज के हर घटक अंग के नेता और नीयमान भी इस यज्ञ में सम्मिलित हों, इसलिये ७० वां सूक्त **'द्यावापृथिवी'** के अर्पण है।

हे नेता और नीयमान **द्यावापृथिव्यौ** ! तुम सदा स्नेहयुक्त रहो (=**घृतवती**) और पोलिस विभाग के धर्म तुम स्वेच्छा से पालन करो, क्योंकि वे नियम ही सबको यथास्थान जमाये रखते हैं—टक्कर नहीं होने देते। तुम दोनों ने ही परस्पर सहयोग का पवित्र व्रत धारण किया है (**शुचिव्रते**), तुम दोनों को शिक्षकों ने ठीक घड़ कर बनाया है। तुम दोनों वह रचना रचो जो मनुष्य मात्र के लिये हितकारी हो, परन्तु यह व्रत तभी सफल होगा जब तुम आसक्ति-रहित होकर निष्काम भाव से व्रतपालन सीखो (**असश्चन्ती**)—

असंश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।
राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम् ॥ (२ य मन्त्र)

तुमने भिन्न रूपवालों को एक व्रत में बांधकर इकट्ठा किया है। अब विश्वप्रजा में भी सर्वलोकहित द्वारा सारे संसार को सव्रत बनाओ—

प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि युवोः सिक्ता विषुरूपाणि सव्रता ॥ (३ य मन्त्र ग घ)

उस संसार भर के पुरोहित को—जिसकी सारे ब्राह्मण पुरोहित-धर्म सीखने के लिये स्तुति करते हैं उसको—तुम भी पुरोहित-रूप में वरण करो। तुम घृत से घिरे रहो—स्नेह में ही अपनी श्री समझो (**घृतश्रिया**) तुम सदा स्नेह के ही सम्पर्क में रहो, उस स्नेह की सदा वृद्धि करो—

घृतेन द्यावापृथिवी अभीवृते घृतश्रिया घृतपृचा घृतावृधा।
उर्वी पृथ्वी होतृवूर्ये पुरोहिते ते इद् विप्रा ईळते सुम्नमिष्टये ॥ (४ थं मन्त्र)

यह व्रत कितना मधुर है। तुम मधु की पिचकारी चलाते रहो। तुम्हारे हर व्यवहार से मधु निचुड़ता हो। मधु का ही दोहन करो। सदा मधुव्रता रहो—

मधु नो द्यावापृथिवी मिमिक्षतां मधुश्चुता मधुदुघे मधुव्रते ॥ (५ म मन्त्र क ख)

समाज की हर सृष्टि के मातापिता उस क्षेत्र के नेता और नीयमान हैं। अब तुम **विश्वविद्** बनो। अनेक **क्षितिविद्** का युग हटाकर, एक **विश्वयुग** लाओ। **सर्वत्र समन्वय पैदा करो**—

ऊर्जं नो द्यौश्च पृथिवी च पिन्वतां पिता माता विश्वविदा सुदंससा।
संरराणे रोदसी विश्वशम्भुवा सनिं वाजं रयिमस्मे समिन्वताम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

एकसप्ततितम सूक्त

जब सारा मानव-समाज, उसके सब घटक एक मत होकर किसी आन्दोलन का समर्थन करें, तब ही वह कानून का रूप धारण कर सकता है, इस लिये अब **सविता** की वारी आई। उसका स्वरूप २ य मन्त्र में लिखा है—

हम सविता देव की श्रेष्ठ आज्ञा में (=**सवीमनि**) सदा बने रहें अर्थात् '**इन्द्र**' जिन नियमों के अनुसार शासन करे वे '**सविता**' द्वारा निर्धारित आदेश हों और इस महायज्ञ में **सविता** विश्व-सहयोगार्थ सब प्रकार का धन देने के लिये नियम बनावे, क्योंकि **द्विपात्, चतुष्पात्** सबके सम्बन्ध में **कौन कहाँ बसेगा तथा किस प्रकार चलेगा** इस **निवेशन** और **प्रसव** दोनों में अन्तिम सत्ताधारी (=**भूमनः**) वही है—

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः॥ (२ य मन्त्र)

हे सवितः! तुम अपने बिना दबाव के निर्माण किये हुये रक्षार्थ नियमों के द्वारा हमारे प्रदेश को सुरक्षित करो और जब कोई नया नियम बनाना हो तो तुम्हारी ज्योतिर्मय **सत्य-युता जिह्वा** से वह शासन-नियम निकले जिससे कोई बुरा चाहने वाला कदापि हम पर प्रभुत्व न पा सके—

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वं शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत॥ (३ य मन्त्र)

उस सविता के हाथ स्वर्ण के हैं, जबड़े लोहे के बने हैं, किन्तु जिह्वा आनन्द से भरी हुई है अर्थात् राज्य में सब प्रकार के धन के बांटने का अधिकार उसे है। उसकी जिह्वा से सबके आनन्द को बढ़ाने वाला शासन निकलता है, पर उस जिह्वा के पीछे उसका लोहमय **निश्चय** है। वह किसी से दबकर नियम नहीं बनाता—

उदु ष्य देवः सविता दमूना हिरण्यपाणिः प्रतिदोषमस्थात्।
अयोहनुर्यजतो मन्द्रजिह्व आ दाशुषे सुवति भूरि वामम्॥ (४ र्थ मन्त्र)

तू हमारे लिये, आज भी सुखदायक—कल भी सुखदायक-दिनोदिन सुखदायक नियम तथा आदेश प्रचारित कर। हम हर प्रकार से सुख के भाजन हों—

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

द्विसप्ततितम सूक्त

जब तक राज्य की प्रजा सुशिक्षित न होगी तब तक वह राज्य निगम कैसे बनायेगा, इसलिये **इन्द्र** (राजा) तथा **सोम** (ब्राह्मणराज—गुरुकुलों के आचार्य) का अब सहयोग मांगते हैं।

हे इन्द्र और सोम ! मनुष्य-जीवन के प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रम में तुम मिलकर जो महान् कार्य करते हो वही तुम्हारा बड़प्पन है-महित्व है। तुम्हीं ज्ञान को खोजते हो। तुम्हीं प्रजा को सुख-मार्ग बताते हो। तुम्हीं सब प्रकार के अन्धकार तथा निन्दा का निवारण करते हो—

इन्द्रासोमा महि तद् वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः।
युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च ॥ (१ म मन्त्र)

तुम उत्साह भरने वाले साहित्य-रूप उषा को सारी प्रजा में बसाते हो। तुम ज्ञान के अधिष्ठाता को (सूर्य को) उसकी ज्योति के साथ घर-घर पहुंचाते हो—

इन्द्रासोमा वासयथ उषासमुत्सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह।
उप द्यां स्कम्भथुः स्कम्भनेनाप्रथतं पृथिवीं मातरं वि ॥ (२ य मन्त्र)

तुम ज्ञान-प्रवाह-निरोधक अन्धविश्वास का वध करते हो। राज्य में-शरीर में जितनी प्रकार की नदियाँ हैं उनके वेग का नियन्त्रण तुम करते हो। हर प्रकार के समुद्र—हृदयसमुद्र, मस्तिष्कसमुद्र, युद्धक्षेत्रसमुद्र, राज्यकोषसमुद्र आदि ये सब समुद्र तुम्हारे कारण भरते हैं—

इन्द्रासोमावहिमपः परिष्ठां हथो वृत्रमनु वां द्यौरमन्यत।
प्रार्णांस्यैरयतं नदीनामा समुद्राणि पप्रथुः पुरूणि ॥ (३ य मन्त्र क ख)

तुम विद्यार्थियों की कच्ची बुद्धि, कच्ची इन्द्रिय आदि गौओं में सत्यरूप परिपक्व दूध भरते हो—

इन्द्रासोमा पक्वमामास्वन्तर्नि गवामिद् दधथुर्वक्षणासु ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे इन्द्रासोमौ ! तुम हमारी संतान का सुधार करने वाला और जीवन को तार देने वाला विद्यारूप श्रोत्रग्राह्य धन हमें देते हो और शिक्षाकाल में सैन्य-शिक्षा देकर प्रजा को आक्रमण सहने में समर्थ करते हो—

इन्द्रासोमा युवमङ्ग तरुत्रमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथे।
युवं शुष्मं नर्यं चर्षणिभ्यः सं विव्यथुः पृतनाषाहमुग्रा ॥ (५ म मन्त्र)

त्रिसप्ततितम सूक्त

अब गुरुकुल में जाने से पूर्व बच्चों को ब्रह्मचर्याश्रम के योग्य बनाने वाले विप्रराज्य के अधिष्ठाता बृहस्पति का पदार्पण होता है। विप्र-राज्य का स्पष्ट नाम आगे ऋ. ८. ३. ४. में आयेगा। यजुर्वेद ३३.८४ में भी यह शब्द आया है।

यह बृहस्पति ज्ञान-प्रचारकों में सबसे प्रथम प्रकट होता है। सोम तो प्रथमाश्रम में कार्यकर्त्ता है। बृहस्पति प्रथमाश्रम से भी पूर्व घर में तथा बालक के जन्म से पूर्व माता-पिता के हृदय में राज्य करता है, इसलिये कहा—'प्रथमजा ऋतावा'। यह अज्ञान के कठोर से कठोर दुर्गों का भी भेदन करता है, अतः 'अद्रिभित्' है। जिनके अङ्ग-अङ्ग में प्रभुभक्ति समाई है, उन्हीं की सङ्गति से

इसका जन्म होता है। यह **पितृलोक** तथा **आचार्यलोक** दोनों लोकों के जन्म का आसव निर्माण करता है। शुक्रशोणितजन्य जन्म के लिये माता-पिता के चरित्र में आसन जमाता है तथा गुरुकुल में होने वाले जन्म के लिये बालक के हृदय में अग्न्याधान करता है, इसलिये यज्ञोपवीत संस्कार में आचार्य शिष्य से कहता है—**'बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्'** (पार. गृ. २०.२.१६) इसी के राज्य में शब्दरूप वृषभ मस्ती से हुंकारता है[1]—

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ।। (१ म मन्त्र)

जब साधारण मनुष्यों को देव बनने के लिये शिक्षार्थ बुलाया जाता है तो उस **देवहूति** में उपस्थित जन-जन के लिये **बृहस्पति** अपने लोक में (विद्यालोक में—देवलोक में) स्थान प्रदान करता है और मानव-समाज के शत्रुओं पर जय पाता है—

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार ।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् ।। (२ य मन्त्र)

विद्यया देवलोकः (शत-पथ)

वृहस्पति ने हर प्रकार का धन विजय किया, हर प्रकार की वाणी आदि गौओं के लिये इसने व्रजभूमि (चरागाह) विजय की, सब व्रजभूमियों को सींचा। और अब वह मानवसमाज के शत्रुओं से चुपचाप युद्ध करके उन्हें प्रभु-अर्चना सिखाने द्वारा मारता है—

बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः ।
अपः सिषासन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ।। (३ य मन्त्र)

चतुःसप्ततितम सूक्त

वृहस्पति की कृपा से विद्यार्थी गण विद्या के दोनों भाग—**उत्तम गुणों की सम्भूति** और **दुष्ट गुणों का विध्वंस** सीखकर—**सोम** तथा **रुद्र** दोनों शक्तियों से युक्त मस्तिष्क पाकर सर्वाङ्ग सम्पूर्ण विद्या का लाभ करते हैं—

हे सोम तथा रुद्र ! गुरुकुल के आचार्य तथा शत्रुनाशविद्या के आचार्य ! (अथवा प्राणविद्या के पण्डित[2] आयुर्वेद-विशारद प्राणाचार्य अथवा युद्ध-विद्या के शिक्षक अथवा समालोचनाचार्य) तुम्हारी अभीष्ट इच्छाएँ बृहस्पति की सहायता से सर्वत्र फैलें तथा घर-घर में—५ प्रत्यक्ष, ६ ठा अनुमान और ७ वाँ शब्द प्रमाण इन सात रत्नों का निधान हो जावे। जिससे न केवल मनुष्यों का, किन्तु पशुओं का भी भला हो; यही सच्ची शिक्षा का फल है—

१. तुलना करो—**'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति'** (ऋ. ४.५८.३) की व्याख्या में महाभाष्यकार—'महान् देवः = शब्दः' 'रोरवीति = शब्दं करोति', पस्पशाह्निक।

२. 'प्राणाः वै रुद्राः' (शतपथ)

सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं१ प्र वामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ (१ म मन्त्र)

'गय' उस क्षेत्र को कहते हैं जो किसी पहरेदार के गश्त के लिये नियत हो। हे सोम और रुद्र ! हमारे 'गय' 'गय' में किसी प्रकार की बाह्य अथवा आभ्यन्तर कोई विसूचिका अथवा अन्य रोग घुस गया हो उसे उखाड़ फेंको। हम 'निर्ऋति' को—नियत समय तक मनुष्य को सामाजिक जीवन से पृथक् करने वाले जेलखाने को—अपराध से उलटे कर्मों द्वारा=प्रतिपक्षभावना द्वारा दूर से ही रोक दें। ऐसे अपराध होने ही न दें। इस प्रकार हम रुद्र की कृपा से न केवल बुराई को दूर रक्खें, किन्तु सोम की कृपा से उत्तम यश के भी भागी हों। हम जहाँ जावें, हमारे सम्बन्ध में प्यारी लगने वाली भद्र बात ही सुनने को मिले—

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
आरे बाधेथां निर्ऋतिं पराचैरस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु ॥ (२ य मन्त्र)

हे सोम तथा रुद्र ! तुम इसी प्रकार हमारे शरीर में 'स्वस्थस्यौजस्करं' तथा 'आर्त्तस्य रोगनुत्' दोनों प्रकार के औषध पहुंचा दो। हमारे शरीरों में शारीर अथवा मानस किसी भी अपराध से जो रोग बद्धमूल हो गया हो, उसकी जड़ें काटकर उससे हमें छुड़ा दो—

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ (३ य मन्त्र)

तुम्हारे शस्त्र तीव्र हैं और अस्त्र भी तीव्र हैं। तुम शल्यक्रिया (आयुध) से और हेति (औषध) से—दोनों से रोग काटते हो, किन्तु साथ ही उत्तम बल भी बढ़ाते हो। हे सोम तथा रुद्र ! हमें उत्तम सुख पहुँचाओ। हमें वरुण के पाश से भी छुड़ाओ। वह इस प्रकार कि, हमारे मन इतने पवित्र बना दो कि हम उन कर्मों से बचे रहें जिनसे वरुण-पाश (पोलिस का पाश) हमें पकड़ सकता है—

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृळतं नः ।
प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं नः सुमनस्यमाना ॥ (४ र्थ मन्त्र)

पञ्चसप्ततितम सूक्त

अब सब राष्ट्रों का बस्ती-रूप में आर्थिक सहयोग हो गया। विश्वराष्ट्रनिर्माण की प्रथम सीढ़ी समाप्त हुई। भूख, रोग, दारिद्रय आदि मानवसमाज के मानवमात्रसाधारण शत्रुओं से छुटकारा पाकर मानव-प्रजा को शान्ति का स्वाद मिल गया, परन्तु स्वार्थी दुष्ट जन यह शान्ति कब रहने देंगे। कोई न कोई 'माऊ चाऊ' इसे विध्वंस करने का कुचक्र रचेगा ही, इसलिये सब बस्तियों का राष्ट्रों के रूप में समन्वय होकर राजनीतिक समन्वय भी होना आवश्यक है। उसके लिये 'विश्वसेना' भी अत्यावश्यक

है। विश्वसेना के लिये योद्धा तैयार करने होंगे, अतः अब युद्धयात्रार्थ सैनिकों की सजावट आरम्भ होती है।

'**जीमूत**' उस स्निग्धश्यामलकान्ति मेघ को कहते हैं जो अब बरसा ही चाहता है। बस, युद्धयात्रार्थ सन्नद्ध सैनिक के चेहरे पर जो गम्भीर मुद्रा होती है वह वैसी ही प्रसन्न गम्भीर होती है जैसी '**जीमूत**' की। अब उस सैनिक का वर्णन सुनिये।

जब संग्रामरस में मस्त सैनिक साथियों के बीच में कवचनद्ध होकर पहुँचता है, तो उसकी छवि, उसका प्रतीक (Appearanec) '**जीमूत**' का सा हो जाता है। हे सैनिक! जिस प्रकार के शत्रु से तुझे लड़ने जाना है उसके प्रहारों से बचाने के लिये जो आच्छादक वेश (**वर्म**) तुझे पहिनाया गया है, उसकी महिमा तेरा पालन करने वाली हो। युद्ध में एक खरोंच भी जिसमें न लगा हो ऐसे शरीर से तू जय-लाभ कर—

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु॥ (१ म मन्त्र)

हम अपने हिंसासाधनों से गोविजय करें। प्रतियोगिता में जीतें और घोर घमासान में जयलाभ करें। हमारा प्रत्येक 'धनुः' शत्रु की कामना भङ्ग करता है। सो, हम इस प्रकार के हिंसक शस्त्रों से, संसार में कलह फैलाने वालों के साथ यदि युद्ध करना पड़े तो युद्ध द्वारा उन्हें जीतें—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ (२ य मन्त्र)

धन्व, धनुः—किसी भी विशाल वस्तु को थोड़े से स्थान में बन्द करके फिर छोड़ने से जो शक्ति छूटती है वह छूटने वाले पदार्थ में प्रबल गति उत्पन्न करती है। वह गति चाहे बांस से उत्पन्न हो, सींग से हो, बारूद से हो अथवा गैस आदि से हो। उस प्रकार की गति उत्पन्न करने वाला हर पदार्थ '**धन्वन्**' कहलाता है[1]।

इस धनुष की '**ज्या**' को देखो। वह धनुष पर कसी हुई खींची जाने पर, वीर पुरुष के कान के पास कुछ वीर रसमय सन्देश सुनाने के लिये, मानो इस प्रकार आती है, जिस प्रकार वीर-पत्नी वीर-प्रयाण के समय वीर का आलिङ्गन करके उसे युद्ध-यात्रा के समय प्रेम-सन्देश दे रही हो। जब यह धनुष में अथवा बन्दूक, तोप आदि में फैलती है (सिकुड़ कर फैलने वाली '**ज्या**') तो वीरपत्नी के समान कलकण्ठ से वीरगान के साथ नृत्य करती प्रतीत होती है। यह हर संग्राम में पार उतारती है—

---

१. मरुभूमि में इसी प्रकार का कम्पन गरम रेत के समीप की हवा में दृष्टिगोचर होता है, इसलिये मरुभूमि को भी '**धन्वन्**' कहते हैं अथवा उस गरमी की कल्पना से हृदय में ऐसा कम्पन होता है, इसीलिये वह '**धन्वन्**' कहलाती है।

वुक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती ।। (३ य मन्त्र)

'समन'—चाहे वह tournament का संग्राम हो चाहे सचमुच का युद्ध हो, जहाँ जानदार शक्तिशाली लोग टक्कर लेते हैं उसे 'समन' कहते हैं (सम्+'अन' प्राणने)।

इस धनुष की कोटियों को देखो। वे दोनों ओर से 'ज्या' को इस प्रकार संभाले हुए हैं, जिस प्रकार दो सहेलियाँ जो तीसरी सहेली की समान मन वाली हों, मातृवात्सल्य से नृत्य आदि में थकने पर अपनी सहेली को गोद में संभाल रही हों। ये धनुष की दोनों कोटियाँ अथवा गोली आदि को जकड़ कर पकड़ने वाली मसाले की डिबिया, सहेली के साथ सहयोग करती हुई-नाचती हुई शत्रुओं को—जो मित्र नहीं रहे—स्नेहहीन हो गये हैं—इनको खूब बींध डाले—

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे ।
अप शत्रून् विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् ।। (४ र्थ मन्त्र)

वैदिक शब्दों का क्षेत्र कुछ व्यापक है। उदाहरण के लिये, 'इषु' शब्द को लीजिये, यह वेद में उभयलिङ्ग है[1]। यह क्यों? शस्त्र-अस्त्र दो प्रकार के हैं। एक आकृति तथा नाद में भी भयानक हैं, यथा गदा आदि। कुछ अस्त्र फेंककर भी मारे जाते हैं और उनका भार भी मारने में सहायक होता है वे पुंल्लिग हैं, जैसे बरछा, गोला आदि, किन्तु जो हलके हैं, फिर भी चुपचाप अथवा कम नाद से सफाई से मार करते हैं वे स्त्रीलिङ्ग हैं, जैसे गोली, छुरी, कटार आदि। बस 'गोली' आदि स्त्रीलिंग इषु हैं और 'गोले' आदि पुल्लिग 'इषु'। इसी प्रकार 'इषुधि' अस्त्रभण्डार का नाम है। चाहे वह थोड़ी मात्रा में सैनिक की पीठ पर लदा हो, जैसे तरकश, कारतूस-पेटी आदि अथवा 'रथ' आदि में भरा हो। पहले रथों में सहस्रों बाण और तूणीर भरे रहते थे, आजकल सेना में पीछे-पीछे अस्त्र-भण्डार चलता है, ये सब 'इषुधि' हैं, इसलिये कहा कि—

'इषुधि' बहुत-सी इषुओं का पिता है और बहुत-से इषु उसके पुत्र हैं[2] सो 'समन' में पहुंच कर यह पीठ पर बंधा अथवा सेना के पृष्ठ भाग में जुड़ा हुआ 'इषुधि'=शस्त्रास्त्र-भण्डार सङ्काः—ललकार कर, चिल्लाकर, आक्रमण करती हुई शत्रुसेना को अथवा मुठभेड़ में प्रहार करती हुई 'पृतना' को—सबको आज्ञा पाने पर जय कर लेता है—

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य ।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ।। (५ म मन्त्र)*

---

१. देखो इस मन्त्र का सायणभाष्य ।
२. एक ही मन्त्र में दोनों लिङ्ग उस व्याख्या के बिना स्पष्ट नहीं होते, जो हमने ऊपर की है ।
* यहाँ 'समन' शब्द स्पष्टतः संग्राम का वाचक है । न जाने जयचन्द्र विद्यालङ्कार आदि ने 'समन' का यह अर्थ कैसे निकाला है कि 'प्राचीनकाल में विवाह नहीं होता था । 'समन' में इकट्ठे होकर लड़के-लड़की बच्चे पैदा कर लेते थे' । इस घर को आग लग गई घर के चिराग से ।

उत्तम सारथि रथ पर बैठा हुआ घोड़ों को जहाँ-जहाँ चाहता है बचाता हुआ ले पहुँचता है, इस सारथि के हाथ में पड़ी हुई लगामों की प्रशंसा करो कि मन में इच्छा हुई कि लगाम उसी ओर घूमी—

रथे॒ तिष्ठ॑न् नयति वा॒जिन॑: पु॒रो यत्र॑यत्र का॒मय॑ते सुषार॒थिः ।
अ॒भीशू॑नां महि॒मान॑ं पनायत॒ मन॑: प॒श्चाद॑नु॒यच्छन्ति र॒श्मय॑: ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

नाना हिंसकपदार्थवर्षी शस्त्रास्त्रों को हाथों में लिये क्षत्रिय तथा रथ में बल दिखाते हुए घोड़े खूब तीव्र घोष करते हैं और अपने पञ्जों (खुरों) से कुचलते हुए शत्रुओं का नाश करते हैं। तब उनके शस्त्रास्त्र भी व्यर्थ व्यय नहीं होते—

ती॒व्रान् घोषा॑न् कृण्वते॒ वृष॑पाण॒योऽश्वा॒ रथे॑भिः स॒ह वा॒जय॑न्तः ।
अ॒व॒क्राम॑न्त॒: प्रप॑दैर॒मित्रा॑न् क्षि॒णन्ति॒ शत्रूँ॒रन॑पव्ययन्तः ॥ (७ म मन्त्र)

युद्ध भी एक यज्ञ है। रथों में जहाँ शस्त्रास्त्र-भण्डार तथा कवच आदि सम्भार लदा है वहाँ मानो वह 'युद्ध-यज्ञ' का 'हवि' भरा रहता है, इस हवि का नाम साधारण हवि नहीं, किन्तु 'रथवाहन' हवि है। इस प्रकार के युद्धसामग्री-सजे हविर्धान रथ में हम भीरुओं की तरह रोते हुए न चढ़ें, किन्तु शान्तचित्त तथा प्रफुल्लित मन से चढ़ें और सदा इसी प्रकार रहें—

र॒थ॒वाह॑नं ह॒विर॑स्य॒ नाम॒ यत्रायु॑धं॒ निहि॑तमस्य॒ वर्म॑ ।
तत्रा॒ रथ॒मुप॑श॒ग्मं स॑देम वि॒श्वाहा॑ व॒यं सु॑मन॒स्यमा॑नाः (८ म मन्त्र)

हर महारथ के साथ जो पदाति चलते हैं, वे कैसे हों? महारथी के प्रति उनकी वही वात्सल्यभरी बुद्धि हो जो पितरों की सन्तान की ओर होती है। वे हर अन्न में स्वाद लेने वाले हों। युद्धकाल में बढ़िया अन्न न मिले तो जो मिले उसे सैनिकमण्डली में बैठकर बड़े स्वाद से खावें। वे जीवटदार हों। कठोर से कठोर घाव आदि कष्ट को आनन्दपूर्वक झेलकर दूसरों का सहारा बनें। उनके उत्साह का आश्रयस्तम्भ हों। वे शक्तिमान् हों, किन्तु व्यर्थ वीरता का प्रदर्शन विकत्थनादि द्वारा न करते हों। शक्तिमान् होकर भी गम्भीर हों। उनका इकट्ठा होकर चलना आदि दर्शनीय हो (=चित्रसेनाः)। उन्हें अपने शस्त्रास्त्रों पर पूरा भरोसा हो; न कि अफीम, शराब आदि से उधार मांगे बल पर। वे किसी से मर्दन किये जाने योग्य न हों। पूरे यौवन पर पहुंचे हुए वीर हों। वे विशाल डीलडौल वाले हों और शत्रु के सम्मिलित प्रहार को भी सहन करने में समर्थ हों—

स्वा॒दु॒षं॒सद॑: पि॒तरो॑ वयो॒धाः कृ॑च्छ्रे॒श्रित॒: शक्ती॑वन्तो गभी॒राः ।
चि॒त्रसे॑ना इषु॑बला॒ अमृ॑ध्राः स॒तोवी॑रा उ॒रवो॑ व्रातसा॒हाः ॥ (९ म मन्त्र)

हम युद्ध पर चले हैं अन्याय पर नहीं। हम यदि किसी दुष्ट मार्ग पर चलने लगें तो **'ऋतावृधः'**=ज्ञानवर्धक, सत्यशील, पापरहित और सोम्यस्वभाव ब्राह्मण, जो कि हमारे बुजुर्ग हैं वे; हमारे राज्य के नेता और नीयमान अथवा घर-घर के दम्पती तथा अन्न धन आदि कोष का नियन्त्रक

पूषा हमें दुष्ट मार्ग से बचावें। 'पूषा' हमें दुष्ट कार्यों के लिये धन ही न दे। हमें नपा-तुला पुष्टिवर्धक धन मिले (=ऋतावृधः), किं च हमें पाप की ओर ले जाने वाला पाप का प्रशंसक हम पर कभी नेतृत्व न पा सके—

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ॥ (१० म मन्त्र)

जो इसे पंखों पर रखकर उड़ा दे ऐसी सामग्री इसमें है। इस इषु का दांत निशाने को ढूंढकर उस पर प्रहार करने वाला है। नाना विद्वानों ने अपनी वैज्ञानिक वाणियों से इसे तय्यार किया है। जहां हम आज्ञा दें वहीं यह 'इषु' पहुंचती है। जहाँ वीर टक्कर लेते हैं तथा भीरु भागते नजर आते हैं वहाँ घोर घमासान में यह हमें शरण दे—

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥ (११ श मन्त्र)

हे ऋजीते! चतुर वैज्ञानिकों के वाणी-बल से तय्यार की हुई और सीधी निशाने पर पहुँचने वाली इषु, कहीं हमारी भूल से हम पर न आ पड़े। वैज्ञानिकों के बुद्धिबल से, शत्रु की भेजी हुई इषु के लिये हमारा शरीर पत्थर हो जाय अर्थात् उसका प्रतीकार पहिले ही से हमारे पास हो। चतुर विद्वान्, अस्त्रविद्या का सवनकर्त्ता सोम हमें वह उपाय बतावे और धरती माता अथवा प्रकृति माता अपनी शरण में लेकर हमें सारे उपादान प्रदान करे—

ऋजीते परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥ (१२ श मन्त्र)

हमारी चाबुक क्षत्रिय तथा घोड़ों पर, जहां उन्होंने दर्पोन्मत्त होकर सिर उठाया उसी चोटी पर कड़ाके से पड़ती है। (मनुष्यों के लिये वाणी की चाबुक है) और यदि वे पीछे हटने लगते हैं तो उनके नितम्ब प्रदेश पर पड़ती है। हे अश्वाजनि! (चाबुक!) हमारे क्षत्रियों तथा घोड़ों को घमासान की ओर धकेल—

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय ॥ (१३ श मन्त्र)

शत्रुप्रहार को अपने ऊपर झेलकर—स्वयं मार खा कर भी हाथ को बचाने वाला (हस्ते हन्यते) रक्षणसाधन 'हस्तघ्न' बाहु को सांप की तरह लपेटे रखता है और ज्या के प्रहार को रोकता है। यह मर्दाना हस्तघ्न (जो अपने ऊपर प्रहार लेकर दूसरों को बचावे वह) आचरणलब्ध उपदेश द्वारा तथा अपने सामर्थ्य से हमारी सब ओर से रक्षा करे—

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः ।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः ॥ (१४ श मन्त्र)

यदि शत्रु हम पर विषाक्त, हिंसक नोक वाली और लोहे के मुख वाली 'इषु' फेंके तो हम घबराने वाले नहीं। शत्रु के वैज्ञानिक यदि **'विषाक्त-रेताः'** हैं तो हमारे वैज्ञानिक **'पर्जन्यरेताः'** हैं। उन्होंने **'विषाक्तरेताः'** इषु के प्रतीकारार्थ **'पर्जन्यरेताः'** इषु बनाई है। यह पर्जन्य (पर+जन्य) क्या है ? 'पर' शब्द 'पृ' पालनपूरणयोः इस धातु से बना है। जो जल किसान की कामना पूरी करता है, उसके खेत की पालना करता है उसको **'पर्जन'** कहते हैं और ऐसे जल के बरसाने में समर्थ मेघ का नाम **'पर्जन्य'** है। सो, विषप्रभाव दूर करने वाली प्रतीकारयुक्त **इषु** हमारे वैज्ञानिकों ने बना रक्खी है। यदि शत्रु के वैज्ञानिक **विष-शस्त्र-जनयिता** हैं तो हमारे वैज्ञानिक **पर्जन्य-शस्त्र-जनयिता** हैं। निस्सन्देह शत्रु अपने वैज्ञानिकों को विषाक्त शस्त्रास्त्रजननी बुद्धि तथा तज्जनित हिंसक साधनों के कारण उन्हें नमस्कार करते होंगे, परन्तु हम अपने वैज्ञानिकों की पर्जन्यशस्त्रास्त्र-जननी, पालन तथा पूरण करने वाली बुद्धि को **'बृहत् नमः'** बड़ा नमस्कार करते हैं—

आलाक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयो मुखम् ।
इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः ॥ (१५ श मन्त्र)

हे हमारे धनुर्विद्याकुशल ब्राह्मणों द्वारा पैनी की हुई शस्त्रास्त्रमाला ! तू, जिन्होंने भेजा है उन्हीं पर **'परा पत'** वापिस गिर। उन्हें ही अपना शिकार बना। जा, शत्रुओं पर पहुँच और उनमें से किसी को भी मत छोड़। यही उनका दण्ड है—

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कं चनोच्छिषः ॥ (१६ श मन्त्र)

हमारा **'ब्रह्मणस्पति'** जो आयुर्वेद-विशारद तथा विशल्यङ्करण और अगदङ्कार साधनों से सम्पन्न है वह, जहाँ हमारे सैनिकों पर शत्रुओं के बाण क्रोध में चोटी खोले हुए तरुणों की तरह गिरते हैं, निमित्त होकर हमें शरण दे। धरती माता भी औषधों का उपादान कारण देकर हमें शरण दे। युद्ध में ही नहीं, सदा वह इस प्रकार शरण देती रहे—

यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
तत्रा नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥ (१७ श मन्त्र)

अब ब्राह्मण कवच पहिनाते समय सैनिक को आशीर्वाद देता है—

हे वीर ! तेरे मर्मस्थलों को मैं वर्म से ढांकता हूं। अन्दर वीर्य राजा तेरे रुधिर को अमृत से आच्छादित कर दे जिससे चोट लगे भी तो वह शीघ्र स्वयं ठीक हो जावे अथवा **आयुर्वेदविशारद सोम** तेरे रुधिर को **अमृत** से अनुवासित कर दे। **वरुण** तेरे लिये अच्छे से अच्छा प्रबन्ध करे अर्थात् प्रच्छन्न प्रहार करने वालों को सैनिकों तक पहुंचने ही न दे। यह पोलिस का काम है। जब तू विजय

करके आवे तो विद्वान् कहें कि न्याय की-सत्य की विजय हुई है। और तब तेरे विजयोल्लास में वे भी मस्त हो उठें—

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ (१८ श मन्त्र)

हमारे अन्दर अपना आभ्यन्तर दोष-काम-क्रोधदि-रूप जो शत्रु है तथा जो बाह्य-पराया शत्रु हमें मारना चाहता है उसको सब देवलोग धुन डालें। 'ब्रह्म' अर्थात् परमात्मा-रूप कवच, शत्रुप्रहार तथा मेरे बीच सदा व्यवधान बनकर खड़ा रहे—

यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ (१९ श मन्त्र)

॥ इति षष्ठं मण्डलम् ॥

सप्तम मण्डल

अब हम ७ वें मण्डल की ओर आते हैं। इस मण्डल में **'वसिष्ठ'** शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। सारे मण्डल का एक ही ऋषि है और वह है **'वसिष्ठ'**, इस शब्द का ७ वें मण्डल से पूर्व केवल दो स्थलों पर प्रयोग हुआ है। एक तो १.११२.९ में तथा दूसरा २.९.१ में। प्रथम मण्डल में **'अश्वि लोग वसिष्ठ को शक्ति देते हैं'** इस बात का वर्णन है। द्वितीय मण्डल में यह स्पष्ट रूप से अग्नि का विशेषण है। शब्द इतने स्पष्ट हैं कि उनमें सन्देह का कोई स्थान ही नहीं। शब्द इस प्रकार हैं—

अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥ (ऋ० २. ९. १)

वह अग्नि कैसा है ? (१) **व्रतपालन में किसी से दबकर दम्भ करने वाला नहीं है।**
(२) **अत्यन्त तीव्र-बुद्धि है।**
(३) **राजनीतिक चेतना में-बसने की विद्या में निपुणतम है।**
(४) **सहस्र का भरण करने वाला है।**
(५) **अत्यन्त विश्वासपात्र जबान वाला (शुचिजिह्व) है।**

राजनीति की निपुणता दो ही बातों में परखी जाती है। **१—राज्य के आर्थिक ढांचे को ठीक रखने में, और २—राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध में। वेद कहता है,** कि **'वसिष्ठ'** राजनीति के सर्वोत्कृष्ट विद्वान् बस्ती की आर्थिक सम्पत्ति को संभालें, इसलिये अर्थोपार्जन, प्रधान रयिवित् अग्नि वाले द्वितीय मण्डल में **'वसिष्ठ'** का स्मरण किया गया, परन्तु राजनीति की निपुणता अपनी पराकाष्ठा पर राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध में प्रकट होती है। वर्त्तमान युग में यह निपुणता **शक्ति-प्रतिमान** (Balance of Power) के सिद्धान्त पर आश्रित है, परन्तु वैदिक-समाजव्यवस्था में **शक्ति-प्रतिमान** समाज-व्यवस्था का अङ्ग है, राष्ट्रव्यवस्था का नहीं।

समाज में बुद्धिजीवी, भुजबलजीवी, अर्थबल-जीवी अथवा शारीरिक श्रमजीवी कोई भी वर्ग अति प्रबल हो जायेगा तो उसका पतन हो जायगा, इसलिये **ब्राह्मण को पूजा, क्षत्रिय को शासन-सत्ता, वैश्य को ऐश्वर्य-भोग** तथा **शूद्र को सामाजिक स्वतन्त्रता** सबसे अधिक दी गई। उसे (शूद्र को) पूजा-पाठ आदि के बन्धनों में जकड़ा नहीं गया और विवाहादि में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता दी गई, परन्तु राजनीति के क्षेत्र में वेद **शक्तिप्रतिमान** (Balance of Power) को नहीं, अपितु **शक्ति की एकता** (Unity of power) को आधारभूत सिद्धान्त मानता है।

संसार में लोग जीविकोपार्जन, नवीन-अनुभव-प्राप्ति और पराक्रमशीलता आदि कारणों से मूल स्थान से दूर-दूर जा बसते हैं। इन्हें वेद (६.१.५) **'क्षितयः पृथिव्यां'** कहता है, किन्तु धीरे-धीरे ये बस्तियाँ राष्ट्रों का रूप धारण करने लगती हैं। यदि इन्हें पूरी तरह से राष्ट्र का रूप धारण करने दिया गया तो फिर युद्ध अवश्यम्भावी है, इसलिये सत्र बस्तियों के **'वसिष्ठों'** का कर्त्तव्य है कि इन सम्पूर्ण बस्तियों अथवा छोटे-छोटे राष्ट्रों का एक राष्ट्र— **मानवराष्ट्र** बना दें। एक सेना—

मानवसेना बना दें। बस, यही कारण है कि ५ वें मण्डल तक 'वसु' ही वसु हैं, छठे में 'वस्यान्' हैं और सातवें में 'वसिष्ठ'! विशेषकर 'वसिष्ठाः' 'वसिष्ठैः' इत्यादि बहुवचन तो उपसंहारात्मक दशम मण्डल को छोड़कर सातवें ही मण्डल में हैं, अन्यत्र कहीं नहीं और सातवाँ तो इनसे भरा पड़ा है। सारा मण्डल ही 'वसिष्ठों' का है।

योरोपियन वेदविध्वंसक तथा तदनुवर्त्ती गतानुगतिक भारतीय वेदज्ञम्मन्य तो 'वसिष्ठ' शब्द को एक ऋषि-विशेष का नाम मानते हैं, इसलिये लगे हाथों इस पर भी विचार हो जाना उपयुक्त ही होगा। सो, इस विषय में अधिक न लिखकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलनात्मक तरप् और ईयसुन् आदि तथा अतिशायनात्मक तमप्, इष्ठन् आदि प्रत्ययों का प्रयोग संज्ञा-शब्दों में हो ही नहीं सकता (जब तक कि वे गौणरूप धारण न कर लें)। वेद में 'वसु' शब्द तो भरा ही पड़ा है, जैसे- 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्' ८.१०१.१५ आदि। किं च 'वस्यस्' 'वस्यान्' ये दोनों तुलनात्मक शब्द भी उपस्थित हैं ही, अतः फिर 'वसिष्ठ' अतिशायनात्मक भी संज्ञाशब्द कैसे हो सकता है? पुनश्च ७.१८ में तो 'अग्ने' सम्बोधनपद है और 'वसिष्ठ' उसका विशेषण है। यहाँ अग्नि और वसिष्ठ का पारस्परिक विशेष्य-विशेषण-भाव अति स्पष्ट है। यहाँ तक कि सायण ने भी 'वसिष्ठ' का अर्थ 'श्रेष्ठ' किया है. न कि एतन्नामक कोई ऋषिविशेष। Griffith को भी Excellent, यही अर्थ करना पड़ा है। इससे स्पष्ट है कि 'वसिष्ठ' वसु का अतिशायन (Superlative) है, न कि सञ्ज्ञा-विशेष।

अब यदि यहाँ एक और बात की ओर ध्यान दें तो हम और भी आश्चर्य में पड़ जायेंगे। 'राष्ट्रानाम्' यह बहुवचन सातवें मण्डल (७,३४,११) के अतिरिक्त और किसी मण्डल में प्रयुक्त नहीं हुआ है। सो, अब बात धीरे-धीरे खुलने लगी है। विशः का अर्थ है—किसी भी राष्ट्र में आबाद प्रजा। इसी अर्थ में इसका प्रयोग सारे संस्कृत-साहित्य में हुआ है। 'वसु' वे लोग हैं जिनकी राजनीतिक चेतना (Civic sens) जागृत हो चुकी है। 'वसिष्ठ' हैं राजनीतिक नेता, जिनकी विश्व-राष्ट्रचेतना जागृत हो चुकी है और जो विश्व का एक राष्ट्र, एक राजा तथा एक महासेना बनाने चले हैं, इसीलिये यहाँ 'वसिष्ठाः'=हर राज्य के विश्वचेतनाप्रबुद्ध लोग इकट्ठे हुए हैं जिन्हें उन-उन राष्ट्रों के नेताओं ने चुना है—

प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निः सुवीरासः शोशुचन्त द्युमन्तः।
यत्रा नरः समासते सुजाताः॥ (४ थं मन्त्र)

यह सब राष्ट्रों के एक राष्ट्र का निर्माण कहाँ हो रहा है? जहाँ वे 'अग्नि' जो हर बस्तियों के अग्नियों में 'वरम्' चुन-चुन कर 'निः प्र' अलग करके आगे बढ़ा दिये गये हैं, क्योंकि वे अपनी-अपनी बस्ती में 'सुवीर' हैं, (यह 'सुवीरासः' पद विशेषण-रूप में हेतु का काम देता हुआ 'काव्यलिङ्ग' नामक अलङ्कार बना रहा है) वे इकट्ठे होकर बैठते हैं। यहाँ वे सब वसिष्ठ मिलकर अपने में से भी मूर्धन्य 'वसिष्ठ' को नेता बनाकर, उसको स्तुतिगान द्वारा प्रदीप्त कर रहे हैं।

इस बात का वर्णन आठवें मन्त्र में इस प्रकार है—

आ यस्ते॑ अग्न इध॒ते अनी॑कं॒ वसि॑ष्ठ॒ शुक्र॒ दीदि॑वः पाव॑क ।
उ॒तो न॑ ए॒भिः स्त॒वथै॑रि॒ह स्याः ॥ (८ म मन्त्र)

हे वसिष्ठ अग्ने ! (=हे राजनीति के नेता जननायक !) तेरा सब लोग, '**शुक्र**' (अपनी दिव्य आभा से सबको शुचि करने वाले), '**दीदिवः**' (=**देदीप्यमान**), और '**पावकः**' (**पतितपावन**) आदि शब्दों से स्तोत्रगान करते हैं। वह स्तोत्रगान तेरी '**अनीकम्**'=सेना को '**इधते**'=प्रदीप्त करता है। अर्थात् ज्यों-ज्यों तेरा कीर्त्तिगान फैलता है, त्यों-त्यों लोग तेरी सेना में तेरे झण्डे के नीचे इकट्ठे होते जाते हैं। बस, तू अग्ने इस कीर्त्तिगान को अक्षुण्ण बनाये रख और '**इह**'=इस जननायक के पद पर '**एभिः स्तवथैः**' इस प्रकार के, जनता के हृदय से निकले हुए स्तोत्रगानों से सदा '**स्याः**'=बना रह।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। अग्नि को '**सहसः सूनुः**': **साहस अथवा सहन-शक्ति का पुत्र** तो अनेक स्थलों पर कहा गया है, परन्तु यहाँ प्रथम सूक्त के ५ म मन्त्र में उसे '**सहस्य**' भी कहा गया है। ६ ठे मण्डल में यह शब्द कहीं नहीं आया है। ६ ठे मण्डल के '**अग्नि**' ने सारे विश्व की बस्तियों (=**क्षितियों**) में सहनशीलता का वायुमण्डल उत्पन्न कर दिया। उस आर्थिक सहयोग द्वारा उत्पन्न वायु-मण्डल में उत्पन्न होने के कारण ये विश्व के राष्ट्रों को एक राष्ट्र बनाने वाले जननायक-'**वसिष्ठ**' लोग '**सहस्य**' हैं और इनका नेता जिसे इन '**सुवीरों**' ने चुना है वह भी '**सहस्य**' है।

आर्थिक सहयोग स्वयम् एक बड़ा यज्ञ है, परन्तु विश्व के राष्ट्रों का एक राष्ट्र बनाना तो उससे भी बड़ा यज्ञ है, इसीलिये यह मण्डल इस प्रकार के भावों वाले शब्दों से भरा पड़ा है। उदाहरणार्थ, देखिये—

सुमहान् होता (अग्निः) ७.८.२

बृहन्तम् इन्द्रम् (आवह अग्ने)

अदि॑तिं वि॒श्वज॑न्याम् (संसार भर की जनता से बनी अदम्य विशाल प्रजा) ७. १०. ४

बृह॒स्पति॑ं ··· **वि॒श्ववा॑रम्** ॥ ७. १०. ४

अ॒ग्निरी॑शे बृह॒तो अ॑ध्व॒रस्य॑ ॥ ७. ११. ४

त्वां व॑र्धन्ति म॒तिभि॒र्वसि॑ष्ठाः ॥ ७. १२. ३

प्राग्नये॑ विश्व॒शुचे॑; वैश्वान॒राय॑; मन्म॑ धी॒तिम् ॥ ७. १३. १

दे॒वहू॑तिभिः ॥ ७. १४. १

विश्व॑स्य दू॒तम् ॥ ७. १६. १

वि॒श्वमि॑न्व ॥ ७. २८. १

विश्व॑स्य पर॒मस्य॑ राजसि ॥ ७. ३२. १६

परन्तु सबसे आश्चर्यजनक शब्द इस मण्डल में 'महासेनासः' है। 'विश्व के राष्ट्रों का एक राजा हो', यह इस मण्डल के ३४ वें सूक्त में कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायुः ।
अविष्टो अस्मान् विश्वासु विक्ष्वद्युं कृणोत शंसं निनित्सोः ॥ (११ श व १२ श मन्त्र)

—यह वरुण = विश्व की पोलिस का अध्यक्ष सम्पूर्ण राष्ट्रों का राजा है। विश्व की सेना का क्या वेश होगा ? क्या रूप होगा ? इसका निर्णायक यही है। संसार भर के क्षत्रिय इसका बल हैं। यह विश्व-कल्याण-हेतु से चारों ओर सैन्य-संग्रह के लिये बढ़ता है। हे संसार भर के देवो ! (= दिव्यगुणयुक्त नेताओ !) हमें विश्व की सम्पूर्ण प्रजाओं तक पहुंचा दो। हमें सर्वत्र अव्याहतप्रवेश कर दो और जो स्वार्थ-वश हमारी निन्दा करे उसकी निन्दा को हमारे विश्वराष्ट्र-निर्माण-रूप सदुद्देश्य की महिमा बताकर फीका कर दो।

इन विश्व के जननायकों की सहायता के बल से संसार के सब भूमाः = सत्ताधारी देश एक राष्ट्र बनकर 'महासेन' हो गये हैं और जिस प्रकार सूर्य अन्धकार तथा मेघ को दूर करता है, इसी प्रकार वे विश्व-शत्रुओं को ताप पहुँचाते हैं।

एक और आश्चर्यजनक बात इस मण्डल में यह है कि 'इन्द्र' को 'ब्रह्मन्' इस पद से सम्बोधित किया गया है। सारे वेद में (इस स्थल को छोड़कर) इन्द्र को ब्राह्मण कहीं नहीं कहा गया है। विश्वराष्ट्र बन जाने पर तो विश्व के शत्रुओं को विश्वराष्ट्रपति दण्ड देगा, किन्तु विश्वराष्ट्र-निर्माण में तो इन्द्र को भी ब्राह्मण-रूप ही धारण करना होगा, क्योंकि यह तो विश्व की प्रजा की अनुमति से ही सम्भव है, इसलिये इस मण्डल में कहा गया है—

'ब्रह्मन् वीर ब्रह्मकृतिं जुषाणः' ॥ (७. २९, २ क)

हे इन्द्र ! तू वीर है, परन्तु क्योंकि तू इस समय समस्त विश्व की प्रजाओं को मिलाकर एक राष्ट्र बनाने का कार्य कर रहा है, इसीलिये तू ब्राह्मण वीर है। क्योंकि समन्वय-रूप ब्राह्मणोचित कर्म में प्रीतिपूर्वक सेवा-भाव से लगा हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सप्तम मण्डल का प्रतिपाद्य विषय 'विश्व के वसिष्ठों' द्वारा अर्थात् राजनीति-विशारद नेताओं द्वारा मानवराष्ट्र-निर्माण है' अब इस स्थापना की पुष्टि सूक्तक्रम से किस प्रकार होती है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

प्रथम सूक्त

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् ।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् ॥ (१ म मन्त्र)

इस अग्नि को (जिसे अष्टम मन्त्र में 'वसिष्ठ' कहकर सम्बोधित किया गया है) विश्व की समस्त बस्तियों के नेताओं ने (= नरः), जनयन्त' = उत्पन्न किया है। उत्पन्न करने का साधन क्या था ? 'दीधितिभिः' = अपने पुरुषार्थ-रूपी सूर्यकिरणों के समान अंगुलियों से। कहां उत्पन्न किया है ?

'अरण्यो':=प्रजा की भति-रूपी **अधरारणि** में तथा गुणमुग्ध प्रशंसकों के स्तोत्रगान-रूपी **उत्तरारणि** के मन्थन द्वारा। जिस प्रकार कि **'अरणिमन्थन'** द्वारा यज्ञाग्नि उत्पन्न करते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मन्त्र में तो **'अरण्योः'** के साथ कोई उपमावाचक शब्द है नहीं, आपने कहाँ से जोड़ दिया? इसका उत्तर यह है कि यहाँ उपमावाचक का अध्याहार **'दूरेदृशम्'** तथा **'गृहपतिम्'** इन दो विशेषणों के बल पर किया गया है। यह जड़ भौतिक अग्नि **'दूरदर्शी'** तथा **'गृहपति'** विशेषणों से विभूषित नहीं किया जा सकता। इस विश्वरूप कुटुम्ब को एक कुटुम्ब के समान समझने वाला **'गृहपति'** कोई चेतन ब्राह्मण ही हो सकता है, जड़ भौतिक अग्नि नहीं। कैसे उत्पन्न किया? **'हस्तच्युती'** जिस प्रकार किसी वस्तु को प्रमाणित करने वाला अपने हाथ से अंगुलियों द्वारा सच्चे प्रमाण, प्रमाणार्थी के हाथ में रख देता है; इसी प्रकार अपनी अंगुलियों द्वारा अर्थात् व्यक्तिगत अनुभव द्वारा लब्ध सच्चे प्रमाण, जब किसी के प्रशंसक सीधे जनता के हाथ में रख देते हैं, तो जैसे प्रशस्त एवं पवित्र यज्ञाग्नि उत्पन्न होता है वैसे ही **'नरो'** ने=जनता के नेताओं ने इस दूरदर्शी **अथर्यु** (=निरन्तर गतिशील=Dynamic) अग्नि को—जननायक को उत्पन्न किया।

जिस प्रकार अच्छा गृहपति वह कहलाता है जिसके घर में सब **दमनीय दुर्गुण दमन के अधीन रहते हैं** और अत एव वहाँ सुव्यवस्था का राज्य होता है, इसी प्रकार इस जननायक को सब **'वसुओं'** ने=राजनीति में प्रबुद्ध लोगों ने हर प्रकार के भय से रक्षार्थ जननायक के पद पर प्रतिष्ठित किया और जो अपने सुव्यवस्थित घर में सदा पूजा का पात्र रहा—

तमुग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित्।
दुक्षाय्यो यो दम आस नित्यः॥ (२ य मन्त्र)

जिस प्रकार उत्तम सुवर्ण निरन्तर फुकनाल से प्रदीप्त अग्नि में तपाया जाता है, इसी प्रकार हे अग्ने! हे जननायक! तुझे निरन्तर चलने वाली प्रचार और परीक्षा की अग्नि से प्रदीप्त किया गया। अब तू चमक और नाना प्रकार के बल तथा अन्न तेरे पास उपस्थित हों—

प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः॥ (३ य मन्त्र)

हे अग्ने! हे जननायक! जहां **विद्याव्रतादि से लब्धजन्मा** योग्य विद्वान् इकट्ठे होकर बैठते हैं वहाँ उन दीप्तिमान् (द्युमन्तः) लोगों ने नाना राष्ट्रों के जननायकों में प्रशस्ततम होने के कारण पृथक् करके तुझे चुना और उस चुनाव से वे अत्यन्त उज्ज्वल तथा शुचि हो गये—

प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निः सुवीरासः शोशुचन्त द्युमन्तः।
यत्रा नरः समासते सुजाताः॥ (४ र्थ मन्त्र)

इस मण्डल के प्रथम मन्त्र में **अग्नि** का विशेषण **गृहपति** आया है तथा **'वसिष्ठ'** सारे मण्डल का ऋषि है। यह बात ध्यान देने योग्य है। विश्व की सारी प्रजा को एक राष्ट्र बनाना है। इसमें सबसे अधिक बाधक भावना है विश्व के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों का संकुचित स्वराष्ट्रप्रेम अथवा स्वदेशभक्ति

इस भावना को जीत सकती है 'गार्हपत्य-भावना'। स्वदेशभक्ति के बल से ही राष्ट्र के लोग अपने-अपने घरों में सुख से बैठते हैं, परन्तु जब वह स्वदेशभक्ति विश्वकलह उत्पन्न करके सम्पूर्ण घरों को ही उजाड़ने लगे तो उसका स्वरूप बदलना होगा। विश्व को एक 'गृह' बनाना होगा। यह गार्हपत्य-भावना ही भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को एक कुटुम्ब बनाने में समर्थ हो सकती है। इस प्रवृत्ति के लोग 'रुद्र' मनोवृत्ति के नहीं होते, 'वसु' मनोवृत्ति के होते हैं। 'वसु' ही नहीं, वे 'वसिष्ठ' होते हैं। तभी तो वे विश्व को एक बस्ती बताने में समर्थ होते हैं।

संकुचित देशभक्ति का अनुचित लाभ उठाकर सम्पूर्ण राष्ट्रों के धूर्त्त मनुष्य वीर मनुष्यों को मरवाकर, स्वयं मौज उड़ाते हैं, इसलिये ५ वें मन्त्र में 'सुवीर' और 'स्वपत्य' अर्थात् उत्तम विवेक-सम्पन्न वीर और मनुष्य सन्तान को, भूखा, कूड़ा-करकट न समझने वाले वीर जनों की आवश्यकता बताई गई है और उन्हीं के लिये प्रार्थना की गई है—

दा नो॑ अग्ने धि॒या र॒यिं सु॒वीरं॑ स्वप॒त्यं स॑हस्य प्रश॒स्तम् ।
न यं याव॒ा तर॑ति यातु॒माव॑ान् ॥ (५ म मन्त्र)

विश्व में गृहपति-भावना उत्पन्न करने के लिये जब सब राष्ट्रों की युवतियाँ कटिबद्ध हो जाती हैं तब जानो कि धूर्त्त राजनीतिज्ञों के दिन लद गये।

इसलिये छठे मन्त्र में कहा है कि हर राष्ट्र की युवति इस जननायक से यही कहने आती है कि 'स्नेह से संसार को प्रदीप्त करो'। वह 'घृताची' बनकर आती है, पिशाची या रुधिराची बनकर नहीं। वह खून, खून नहीं चिल्लाती, वह तो 'वसूयुः' है। इस संसार को बसा हुआ देखना चाहती है, उजड़ा हुआ नहीं। यही नहीं, उसे स्वयं भी संसार की उजड़ी अवस्था से 'अरमतिः' है—विरक्ति है—

उप॒ यमेति॑ युव॒तिः सु॒दक्षं॑ दो॒षा वस्तो॑र्ह॒विष्म॑ती घृ॒ताची॑ ।
उप॒ स्वैन॑म॒रम॑तिर्वसू॒युः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इसीलिये ७ वें मन्त्र में तप से शत्रुनाश की महिमा कही गई है—

'येभि॒स्तपो॑भि॒रद॑हो॒ जरू॑थम्' ॥ (७ म मन्त्र ख)

८ वें मन्त्र में तो स्पष्ट 'वसिष्ठ' का वर्णन है ही, जैसी कि इस मण्डल के आरम्भ में व्याख्या की जा चुकी है।

९ वें मन्त्र में कहा है कि जो, इस विश्व-राष्ट्र-निर्माता 'वसिष्ठ' की सेना में भरती होने आते हैं वे पितृभक्ति की भावना लेकर आते हैं, विद्रोह की भावना लेकर नहीं। उनके साथ मिलकर यह जननायक सदा 'सुमनाः' हंसता-खिलता बना रहे यह उपदेश उसे किया गया है—

वि ये ते॑ अग्ने भेजि॒रे अनी॑कं॒ मर्ता॒ नरः॒ पित्र्या॑सः पुरु॒त्राः ।
उ॒तो न॑ ए॒भिः सु॒मना॑ इ॒ह स्याः ॥ (९ म मन्त्र)

परन्तु कहीं वस्ती की भावना---गृहपति की भावना मनुष्यों को भीरु तथा नपुंसक ही न बना दे, इसलिये १० वें मन्त्र में कहा कि हे जननायक ! **'इमे नराः'**=ये जो मनुष्य तेरी सेना में भरती होने आये हैं, इन्हें समझा कि हम राष्ट्रों के परस्पर कलह द्वारा होने वाली **'देवहत्या'** को बन्द करना चाहते हैं: **'वृत्रहत्या'** को नहीं। इन्हें इस एक राष्ट्र-निर्माण में सफलता हो। ये धूर्त्त **देश-भक्ताभासों** की रची हुई माया को परास्त करने में सफल हों। ये सब मिलकर **वृत्रहत्या** में समर्थ हों। यह **'अहिंसा'** तथा **'वृत्रहत्या'** की समन्वयात्मक प्रशस्त बुद्धि इन्होंने मुझ में उत्पन्न की है (ऐसा हर राष्ट्र के प्रजाजन कहते हैं)

इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि सन्तु मायाः ।
ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम् ॥ (१० म मन्त्र)

हम एक-राष्ट्र-निर्माण में प्रवृत्त 'वसिष्ठ' के सैनिक घोषणा करते हैं कि **'ऐसी वीरता किस काम की जिससे सारे घर ही शून्य हो जावें और साथ ही ऐसी शान्ति भी किस काम की जिससे संसार से वीरता ही बिदा हो जाय, इसलिये ऐसा उपाय कर कि हम शून्य में न रहें—निःशेष न हो जावें, किन्तु साथ ही वीरतारहित भी न हों। हर घर के द्वार पर ऐसी सन्तान दीखे जिसे पाकर संसार के सब गृहपति 'हम सन्तान वाले हैं' यह बात गौरव पूर्वक कह सकें—**

मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां माशेषसोऽवीरता परि त्वा ।
प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य ॥ (११ श मन्त्र)

हमारे हर घर में, उत्तम क्षात्रबलयुक्त लोग तीव्र यानों द्वारा यज्ञ में सम्मिलित हों। हमारा निवास-स्थान उत्तम सन्तान-युक्त हो। हममें से हर व्यक्ति जिस व्रत की पूर्त्ति के लिये दीक्षित होकर द्विजन्मा कहलाया है वह उसका व्यक्तित्व पुत्र-पौत्रादि-रूप में शेष रहे और बढ़ता रहे—

यमश्वी नित्यमुपयाति यज्ञं प्रजावन्तं स्वपत्यं क्षयं नः ।
स्वजन्मना शेषसा वावृधानम् ॥ (१२ श मन्त्र)

हे जननायक वसिष्ठ ! तू हमें राक्षसों से बचा। सेवारहित उन धूर्त्तों से बचा, जो स्वराष्ट्ररक्षा के नाम पर पाप फैलाते हैं। तेरे साथ मिलकर मैं विश्वराष्ट्र का नागरिक उन दुष्टों की सेना के सामने डटकर लड़ाई लड़ूँ—

पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात् पाहि धूर्तेरररुषो अघायोः ।
त्वा युजा पृतनायूँरभि ष्याम् ॥ (१३ श मन्त्र)

'गृहपति' अग्नि गृहलुप्त अग्नि नहीं, 'गृह+पति' अग्नि है। जहाँ इस जननायक का नेतृत्व होता है वहाँ सन्तान बलवान्, दृढ़हस्त, सहस्रों की रक्षक और अक्षीण-शक्ति होकर युद्ध में सम्मिलित होती है। जहाँ ऐसे वीर तनय हों, वहीं सच्चा जननायक अग्नि है ऐसा जानो—

सेदग्निरग्नीँरत्यस्त्वन्यान् यत्र वाजी तनयो वीळुपाणिः ।
सहस्रपाथा अक्षरा समेति ॥ (१४ श मन्त्र)

'अग्नि' वही है जो हिंसकों से हमारी रक्षा करता है और जो अपने सेवक को पापमार्ग से बचाता है। ऐसे अग्नि अर्थात् जननायक चारों ओर वीर-पुरुष-परिचर्यार्थ इकट्ठे होते हैं—

सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात् ।
सुजातासः परि चरन्ति वीराः ॥ (१५ श मन्त्र)

यही वह पवित्र जननायक है जिसके सन्देश को 'पुरुत्रा'=देश-देश में हर यजमान पूरे बल से प्रदीप्त करता है। जहां अहिंसा का प्रचार होता है, वहाँ 'होता' इस प्रकार के सच्चे जननायकों को इकट्ठा करते हैं (अहिंसा के नाम पर नपुंसकता का प्रचार करने वालों को नहीं)—

अयं सो अग्निराहुतः पुरुत्रा यमीशानः समिदिन्धे हविष्मान् ।
परि यमेत्यध्वरेषु होता ॥ (१६ श मन्त्र)

हे जननायक ! हम तो तुझे ही यज्ञाग्नि जानते हैं और नित्य नानाविध आहुति तुझ में ही देते हैं। जिससे हमारी दी हुई सामग्री और तू—तुम दोनों पवित्र यज्ञ के वाहन बनते हो—

त्वे अग्न आहवनानि भूरीशानास आ जुहुयाम नित्या ।
उभा कृण्वन्तो वहतू मियेधे ॥ (१७ श मन्त्र)

हे जननायक ! यह स्वादुतम हव्य जो हम इस विश्वराष्ट्रनिर्माण यज्ञ के लिये दे रहे हैं, इन्हें तू सदा देवमण्डल तक पहुँचाता है, इसलिये सर्वत्र इन हव्यों का सुगन्ध फैलता है और आगे भी फैले—

इमो अग्ने वीततमानि हव्याऽजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ ।
प्रति न ईं सुरभीणि व्यन्तु ॥ (१८ श मन्त्र)

हे जननायक ! तू न तो हमें वीरत्वशून्य बना और न हमें मैले वस्त्रों वाली-इस तमोगुण वाली अवस्था के हाथों में सौंप, जहाँ कि सदा दारिद्र्य, भूख और राक्षसभाव का राज्य हो। हे जननायक ! न तो हमारे घरों में कुटिलता हो और न वनों में। कुटिल लोगों को जंगलों में भी छिपने का स्थान न मिले—

मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै ।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः ॥ (१९ श मन्त्र)

हे जननायक ! तू हमारी आध्यात्मिक साधनाओं को (ब्रह्माणि) ऊँचा उठा। तू ही सच्चा देव है तथा ऐश्वर्य वालों को उत्तम ऐश्वर्य तक पहुँचने की प्रेरणा तूने ही दी है। हम इस देश के वासी

तथा दूसरे देशों के वासी सदा तेरे दिये मार्गदर्शन के अधिकारी बने रहें। हे जननायक! तथा हे जननायक के साथियो! तुम सब मिलकर सदा हमारी रक्षा करो—

नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्वं देव मघवद्भ्यः सुषूदः।
रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (२० श मन्त्र)

हे जननायक! जिस लोकवात्सल्यमयी सहन-शक्ति ने तुम्हें जन्म दिया है उसकी दिव्य आभा से तुम्हारी मूर्त्ति बड़ी मनोमोहक बन गई है। बस, यह आभा बनी रहे। तुम चमकते रहो। कोई दुष्ट हमारी सन्तान को कुसङ्गति में न डाल पावे, जिससे मैं नित्य जलता न रहूँ। न हमारा कोई भी वीर दासता में ग्रस्त हो—

त्वमग्ने सुहवो रण्वसंदृक् सुदीती सूनो सहसो दिदीहि।
मा त्वे सचा तनये नित्य आ धङ् मा वीरो अस्मन्नर्यो वि दासीत्॥ (२१ श मन्त्र)

हे जननायक! हमारे इस मानवराष्ट्र में कोई ऐसा न रहे जिसे उसके श्रम के बदले में ठीक-ठीक भृति प्राप्त न हो। इस संसार के हर देश में प्रभु की भक्ति से **समिद्ध** जो जननायक हैं—जिन्होंने कि तुम्हें अपना अग्नि चुना है*, उन सबसे कह दे कि वे भी हमें दुर्गति में कभी न जाने दें। **श्रमजीवी** का यथोचित भरण न करने वाली दुष्टबुद्धि रखने वाले वे दुर्बुद्धि लोग, तेरे भरण का कोई अंश किसी प्रकार प्राप्त न कर सकें अर्थात् तू अपने विचार इतने स्पष्ट रूप से देश-देश तथा घर-घर में पहुँचा दे कि वे तेरा नाम लेकर अपना समर्थन किसी प्रकार न कर सकें। उन्हें तेरा 'भृम' अर्थात् भरण किसी प्रकार प्राप्त न हो—

मा नो अग्ने दुर्भृतये सचैषु देवेद्धेष्वग्निषु प्र वोचः।
मा ते अस्मान् दुर्मतयो भृमाच्चिद् देवस्य सूनो सहसो नशन्त॥ (२२ श मन्त्र)

वह घोषणा किस रूप में हो यह अगले मन्त्र में बताते हैं।

हे उत्तम सहायक-सम्पन्न नानादेशवासी जननायकगण! इस संसार में वही मनुष्य धनवान् रहने तथा कहलाने योग्य है जो **लोककल्याणरूप** अथवा **प्रभुप्रेम-रूप** (दोनों एक ही हैं) अमर अग्नि में आहुति देता है। वह देवता है। वही प्रभु के द्वारा सम्पत्ति पाने का अधिकार धारण करता है, जिसके द्वार पर **'सूरिः-सुपात्र' अर्थी** उसका यश सुनकर उसका नाम पूछता-पूछता पहुँचता है—

स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवानमर्त्ये य आजुहोति हव्यम्।
स देवता वसुवनिं दधाति यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति॥ (२३ श मन्त्र)

हे जननायक! **'सुवित'** अर्थात् परमात्मा ने धन के सम्बन्ध में अधिकार-अनधिकार-सम्बन्धी जो महान् शासन बनाया है उसे तू भली भांति जानता है, इसलिये सारे विश्व के सहयोग से जो यह विशाल ऐश्वर्य-राशि उत्पन्न हुआ है यह लोककल्याण की ओर सरण करने वाले सत्पात्रों तक

* देखो, इसी सूक्त का चतुर्थ मन्त्र।

पूर्णतया पहुँच जाय ऐसी व्यवस्था कर; जिससे, हे साहस तथा सहनशक्ति वाले ! हम सदा प्रसन्न रहें। हमारी सम्पूर्ण आयु कहीं किसी प्रकार भी क्षीणता में न बीते। हम न केवल वीर हों, किन्तु सुवीर अर्थात् विवेकशील वीर हों—

महो नो अग्ने सुवितस्य विद्वान् रयिं सूरिभ्य आ वहा बृहन्तम्।
येन वयं सहसावन् मदेमाऽविक्षितास आयुषा सुवीराः॥ (२४ श मन्त्र)

इस विश्वराष्ट्र का हर मनुष्य कहता है—हे जननायक ! मेरी आध्यात्मिक भावनाओं को ऊँचा और ऊँचा उठा। तूने ही सच्चे ऐश्वर्य-शालियों को उस पद तक जाने की उत्तम प्रेरणा दी है। इस राष्ट्र के तथा अन्य राष्ट्रों के निवासी हम सब लोग मिलकर तेरे दिये सन्मार्गदर्शन की पहुँच में सदा रहें और, हे सम्पूर्ण जननायको ! तुम सदा स्वस्ति द्वारा हमारी रक्षा करते रहो—

नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्वं देव मघवद्भ्यः सुषूदः।
रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (२५ श मन्त्र)

द्वितीय सूक्त

इस सूक्त का देवता 'आप्रम्' है। 'आप्रम्' नाम एक सर्वाङ्ग-सम्पन्न बस्ती का है। संसार की सब बस्तियां इसी आदर्श पर बनी हों—सब घर इस आदर्श पर बने हों तो सारा विश्व भी एक राष्ट्र अथवा एक कुटुम्ब बन सकता है। वह आदर्श भी एक क्रम में व्यवस्थित हो। वह क्रम कैसा हो ? देखिये वेद उस क्रम को दिखाता है—

१. समित्।	५. बर्हिः।	९. तिस्रो देव्यः।
२. तनूनपात्।	६. द्वारः।	१०. त्वष्टा।
३. नराशंसः।	७. उषासानक्ता।	११. वनस्पतिः।
४. इळः।	८. दैव्यौ होतारौ।	१२. स्वाहाकृतिः।

इनका अर्थ इस प्रकार है—

१. समित्—गुणग्राही कार्यकर्त्ता अथवा गुणग्राहकता।

२. तनूनपात्—परिश्रमी कार्यकर्ता जो शारीरिक श्रम से नहीं घबराता अथवा शारीरिक श्रम-शक्ति।

३. नराशंसः—व्यवहारवित् जन जिसकी सज्जनता की सर्वत्र प्रशंसा होती है अथवा सज्जनता।

४. इळः—जो पदार्थ उत्पन्न करना है उसके उत्पादन में कुशल लोग अथवा कार्य-कुशलता।

५. बर्हिः—संभालने की चतुराई अथवा उत्पन्न पदार्थ को सुरक्षित रखने के साधन।

६. द्वारः—पदार्थों के यातायात में प्रतिबन्ध-रहित द्वार तथा विघ्नरहित द्वार।

७. **उषासानक्ता**—श्रम तथा विश्राम।

८. **दैव्यौ होतारौ**—उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को मिलाने वाले।

९. **तिस्रो देव्यः**—इळा = उत्पादन, भारती = उपयोग, सरस्वती = परिवहन।

१०. **त्वष्टा**—कार्यकर्त्ता का व्यक्तिगत जीवन।

११. **वनस्पतिः**—कार्यकर्त्ताओं को उत्तम विनीति तथा शिक्षा देने वाला।

१२. **स्वाहाकृतिः**—परिणाम से सन्तोष-कार्य; (कम से कम व्यय से अधिक से अधिक फलदायक हुआ हुआ)।

हर बस्ती में '**स्वाहाकृति**' हो (Efficiency) हो, इसलिये प्रथम मन्त्र में **आप्री-चक्र** के प्रथम अङ्ग **समित्** का वर्णन है (**समिद्धः**)। विश्व के हर राष्ट्र के लोग उस समिद्ध जननायक को निमन्त्रण देते हैं तथा कहते हैं—

हे जननायक! तू आज हमारी हर चेष्टा में बस जा। खूब चमक। यज्ञ-भावना के झण्डे को फहराता रह। उस झण्डे को इतना ऊँचा उठा कि वह दिव्य चोटी तक पहुँच जाय, वहाँ उसके चबूतरे बनें, वहाँ से वह सूर्य की रश्मियों का सा ताना तन दे—

जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद् यजतं धूममृण्वन्।
उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः स रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य॥ (१ म मन्त्र)

अब दूसरे मन्त्र में सज्जनता (**नराशंस**) का वर्णन है जिसका प्रमाण जन-जन के मुख द्वारा निःसृत कीर्त्तिगान है।

इन कर्मशील देवों में से जिसके गुणों का लाभ केवल उस तक सीमित न रहकर जन-जन तक पहुँच गया, जिसकी प्रशंसा हर मनुष्य के मुख पर है। सङ्गठनों द्वारा पूजनीय उस-उस '**नराशंस**' जननायक का स्तुतिगान हम भी करें। यह '**नराशंस**' वह है जिसके **स्वदेशहितार्थ** तथा **विश्वहितार्थ** किये हुए दोनों प्रकार के कर्मों का रसास्वादन, सुकर्मशील और पवित्र प्रज्ञाकर्म्म-सम्पन्न देव लोग करते हैं, क्योंकि **अन्यदेशहितानुपघातेन** स्वदेश की निष्काम सेवा करके ही मनुष्य विश्वसेवक के उच्च आसन पर पहुँच सकता है, परन्तु सच्चा विश्वसेवक वह तभी बनता है जब कि दोनों स्थानों पर उसकी प्रसंसा हो—

नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।
ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या॥ (२ य मन्त्र)

वह केवल '**नराशंस**' ही नहीं है, अपितु '**ईडेन्य**' भी है। वह लोगों को केवल प्रशंसित मार्ग ही नहीं सुझाता, उन्हें प्रशंसित पदार्थ भी देता है। आओ, हम भी इस '**असुर**' = जानदार = जीवटदार जननायक की सदा महिमा गावें जो सबका इष्टप्राप्तिसाधन है, क्योंकि वह **सुदक्ष** है। वह सब क्षेत्रों में, नेता तथा नीयमानों में **शान्तिदूत** का काम करता है, किन्तु वह झूठे वायदे करने

वाला दलाल नहीं है, वह सदा 'सत्यवाक्' है। विश्व को हिंसारहित करने के महान् अध्वर के लिये मनुष्य मात्र ने इसे प्रदीप्त किया है। सो, इसकी सच्चे मनुष्य के समान पूजा होनी चाहिये। आओ, हम सदा इसकी पूजा करें तथा महिमा गावें—

ईळेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम् ।
मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम ॥ (३ य मन्त्र)

लोग नाना दिग्दिगन्तों से जननायक की प्रशंसा सुनकर सामग्री ला रहे हैं तथा घुटने टेककर अपना-अपना उपहार दे रहे हैं। इसे सुरक्षापूर्वक सम्भालकर रक्खो—

सपर्यवो भरमाणा अभिज्ञु प्र वृञ्जते नमसा बर्हिरग्नौ ।
आजुह्वाना घृतपृष्ठं पृषद्वदध्वर्यवो हविषा मर्जयध्वम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

आय तथा व्यय के द्वार ऐसे खोल दे कि जिससे घर-घर में उत्तम कर्म हो रहा प्रतीत होने लगे और उत्पन्न को ले जाने वालों में तथा उत्पत्ति-साधन को लाने वालों में—दोनों में जननायक के प्रति ऐसी प्रीति हो कि जैसी गाय की बछड़ों से होती है। ये दोनों प्रकार की प्रवाहधाराएँ—नदियाँ संसार के सुख की खेती को सदा हरी-भरी रक्खें—

स्वाध्यो३ वि दुरो देवयन्तोऽशिश्रयू रथयुर्देवताता ।
पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन् ॥ (५ म मन्त्र)

घर-घर में जब सब कार्यकर्त्ता कार्य में लगे हों तो उषा का सुन्दर दृश्य हो। वही उत्साह, वही ताजापन, वही लाली और वही उमङ्ग हो तथा थके हुओं को पूर्ण विश्राम देने वाली 'नक्त' भी हर घर में मिले जिसमें विश्राम के समय किसी परिश्रम का रंग न चढ़ा हो (न+क्त)—

"उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः" ॥ (६ ष्ठ मन्त्र ख)

मेधावी सूचना देने वाले, 'किस पदार्थ की उत्पत्ति के साधन तथा अन्य सहकारी तत्त्व किस स्थान पर सर्वश्रेष्ठ हैं' इसकी सूचना उत्पादकों को और 'कहाँ के बने पदार्थ सबसे अधिक उपयोजनीय हैं' इसकी सूचना उपभोक्ताओं को सदा देते रहें। तभी सबको अपना-अपना वरणीय पदार्थ मिल सकेगा। हे दैव्यौ होतारौ! तुम इस प्रकार सबको 'वार्याणि' बांटते हो—

विप्रा यज्ञेषु मानुषेषु कारू मन्ये वां जातवेदसा यजध्यै ।
ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतं हवेषु ता देवेषु वनथो वार्याणि ॥ (७ म मन्त्र)

केवल सूचनामात्र ही पर्याप्त नहीं, व्यवस्था भी ऐसी हो कि 'भारती'=योग्य पदार्थों की धारा उपयोक्ताओं की मण्डली से जा मिले और उत्पादन की धारा उत्पादक मनुष्यों तथा उत्पादक देवों से जा मिले। साथ ही इनके यथास्थान परिवहन के लिये 'सरस्वती' सदा प्रवाहित होती रहे—

आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः ।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ॥ (८ म मन्त्र)

संसार में चाहे लाख यन्त्रों से कार्य लो, किन्तु अन्त में उत्तम व्यक्तित्व के बिना सारे यन्त्र धरे के धरे रह जाते हैं, इसलिये **त्वष्टा** देवता के व्यक्तित्व की महत्ता को कभी न भूलो । हे त्वष्ट-देव ! हे व्यक्तियों के लोकहितकारी व्यक्तित्व ! हमें अभावसागर से तारने वाले आप हैं । सो, कोई ऐसा **तारक** तथा **रायस्पोषकारक** उपाय कीजिये कि जिससे कर्मण्य, सुदक्ष, देवहितकारी, श्रम-परायण और सदा जुता रहने वाला वीर सदा उत्पन्न होता रहे—

तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देवत्वष्टर्वि रराणः स्यस्व ।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ॥ (९ म मन्त्र)

ऐसी उत्तम शिक्षा देने के लिये वन-वन में ऐसे **कुलपति** बैठे हों, जो राष्ट्र के हर **त्वष्टा** को हर **व्यक्तित्व** के देवों से जोड़ते रहें । हर व्यक्ति की पशुशक्तियों को उपद्रवरहित करने के लिये—शांत बने रहने के लिये प्रेरणा करते रहें । राष्ट्र की जनसंख्या बढ़ाने वाला **'होता'** अच्छा है, परन्तु वह **'होता'** सत्यतर है जो यह भली प्रकार जानता है कि मानवराष्ट्र-देवों का जन्म कैसे हो तथा असुर, राक्षस, पिशाचादि का जन्म न हो—

वनस्पतेऽव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति ।
सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद ॥ (१० म मन्त्र)

हे जननायक ! इस सारी प्रक्रिया को जानते हुए आप **विश्वमानुष** की उत्पत्ति के लिए हर कुटुम्ब तथा हर बस्ती को प्रदीप्त करते हुए हमारे बीच पधारिये । **विश्वराष्ट्रपति** का लक्ष्य सदा आपके सामने हो तथा सब देवों के रथ इस निमन्त्रण का उत्तर अपने त्वरितागमन द्वारा दे रहे हों, जिससे यह धरती माता सपूतों वाली कहलावे । सारे संसार में देवलोग उत्सव मनावें और कहें कि वाह! वाह!!—

आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः ।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ (११ श मन्त्र)

राजनीति के क्षेत्र में शारीरिक परिश्रम का अति विशेष महत्त्व नहीं है, इसलिये **वासिष्ठ** सूक्त में **'तनूनपात्'** नहीं दिया ।

तृतीय सूक्त

अन्य राष्ट्रों के नेताओं के सहयोग से ही विश्व में एक राष्ट्र का निर्माण हो सकता है, इसलिये कहा कि अग्नि को अन्य अग्नियों से प्रीतिपूर्वक, सेवाभाव से मिलकर चलने वाला बनाओ—
अग्निं अग्निभिः सजोषाः यजिष्ठं दूतं कृणुध्वम्—

'अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम्' ॥ (१ म मन्त्र)

वसिष्ठ को 'सजोषा' होना ही चाहिये तभी वह यजिष्ठ हो सकता है।

जिधर अन्धकार है वहीं 'वसिष्ठ' अग्नि पहुँचता है, इसलिये कहा—

'अधस्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति' ॥ (२ य मन्त्र घ)

जब विश्व की प्रजा के अग्नि अपने में से एक वसिष्ठ को चुनते हैं (अग्निभ्यो नि वरम् १.४) उस समय उस नव निर्वाचित वीर की ज्वालाएं अदम्य रूप से चारों ओर विचरने लगती हैं, तब उनका फहराता हुआ झण्डा (=धूमः) देवलोक तक पहुँचता है और वह साधारण प्रजा तथा 'देवान्'= संसार के ऊँचे पुरुषों के बीच सम्पर्क उत्पन्न करने वाला दूत बनकर उन तक पहुँचता है—

उद् यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः ।
अच्छा द्यामरुषो धूम एति सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् ॥ (३ य मन्त्र)

उसका तेज पृथिवी पर तुरन्त अपना डेरा जमा लेता है और सम्पूर्ण राष्ट्रों में स्नेह का बन्धन फैलाने वाली—एकता का जाल तानने वाली उसकी अनुचर-मण्डली सेना के समान अनुशासन-बद्ध होकर काम करती है—

वि यस्य ते पृथिव्यां पाजो अश्रेत्...सेनेव सृष्टा प्रसितिष्ट एति ॥ (४ र्थ मन्त्र क ख)

रातदिन जोशीले कार्यकर्त्ता उसे पैना करते रहते हैं और उनके उत्साह की हर आहुति से उसकी लपटें बार-बार चमक उठती हैं—

तमिद्द् दोषा तमुषसि यविष्ठमग्निमत्यं न मर्जयन्त नरः ।
निशिशाना अतिथिमस्य योनौ दीदाय शोचिराहुतस्य वृष्णः ॥ (५ म मन्त्र)

हे जननायक ! हे उत्तम सैन्य के नेता। तेरा चेहरा उत्साह के कारण कितना दर्शनीय हो जाता है। तेरे पास पहुँचने वाले तुझे स्वर्णाभरण के समान मनोमोहक पाते हैं। तेरा बल देवों के वस्त्र के समान गुणियों को शरण देने वाला है। तू अपने तेज से सूर्य का प्रत्याख्यान करता है—

सुसंदृक् ते स्वनीक प्रतीकं वि यद् रुक्मो न रोचस उपाके ।
दिवो न ते तन्यतुरेति शुष्मश्चित्रो न सूरः प्रति चक्षि भानुम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे जननायक ! हम जो अन्न तथा घृतवाले हव्य तुझ सत्पात्र तक ठीक-ठीक पहुँचाते हैं, वे हमारे लिये सैंकड़ों लोहमय दुर्ग बनकर हमें मिलते हैं, उन दुर्गों में तू हमें शरण दे—

यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परीळाभिर्घृतवद्भिश्च हव्यैः ।
तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि ॥ (७ म मन्त्र)

हे सबका समाचार लेने वाले जागरूक नेता ! तेरे तो उत्साह भरे शब्द ही हमें उत्साह देने वाले हैं—हममें साहस उत्पन्न करने वाले हैं। तू अपनी वे अधृष्ट बोलियाँ हमें सुनाता रह—

या वा ते सन्ति दाशुषे अधृष्टा गिरो वा याभिर्नृवतीरुरुष्याः ।
ताभिर्नः सूनो सहसो नि पाहि स्मत् सूरीञ्जरितृञ्जातवेदः ॥ (८ म मन्त्र)

तू तो ताजी धार रखे हुए छुरे के समान स्वच्छ और पैना है। तू नेता और नीयमान (द्यावापृथिवी) दोनों का लाडला है। यह विश्व का एकत्व-रूप यज्ञ पूर्ण हो, इसी लिए तेरा जन्म हुआ है—

निर्यत् पूतेव स्वधितिः शुचिर्गात् स्वया कृपा तन्वा३ रोचमानः ।
आ यो मात्रोरुशेन्यो जनिष्ट देवयज्याय सुक्रतुः पावकः ॥ (९ म मन्त्र)

हे जननायक ! तू यह सब सौभाग्य हमें दे। केवल तू ही नहीं, हे इस जननायक के सहायक नाना देशवासी अग्नियो ! तुम सदा स्वस्तियों द्वारा हमारी रक्षा करो—

एता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सुचेतसं वतेम ।
विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (१० म मन्त्र)

चतुर्थ सूक्त

जननायक तक सबकी पहुँच हो।

हे लोगों ! तुम अपने पवित्र हव्य तथा अपनी पवित्र सलाह इस देदीप्यमान भानु तक पहुँचाओ, जो कि मनुष्यमात्र के दिव्य जन्म तथा शारीरिक जन्म-दोनों के अन्दर गहराई तक पहुँचकर अपने ज्ञान से उन्हें प्रदीप्त करता है—

प्र वः शुक्राय भानवे भरध्वं हव्यं मतिं चाग्नये सुपूतम् ॥ (१ म मन्त्र)

वह जननायक भले ही तरुण हो, परन्तु मेधावी अवश्य होना चाहिये, क्योंकि लोकमति-रूप जननी ने इसी गुण के कारण उसे जन्म दिया है। वह अपने तर्क के पवित्र दांतों से ढेर के ढेर प्रमेय-रूप जंगलों को प्रदीप्त करके झट खा डालता है अर्थात् अनथक तथा तीव्र गति से बात की तह तक पहुँचकर निश्चय पर पहुँच जाता है—

स गृत्सो अग्निस्तरुणश्चिदस्तु यतो यविष्ठो अजनिष्ट मातुः ।
सं यो वना युवते शुचिदन् भूरि चिदन्ना समिदत्ति सद्यः ॥ (२ य मन्त्र)

इस विद्वान् जननायक की सभा में तथा सेना में मनुष्य सदा उस स्वच्छ, सभ्य अथवा सैनिक को पाते हैं जो उनकी दी हुई हर वस्तु को आदरपूर्वक स्वीकार करता है तथा हर मनुष्य के दुर्निवास को तमोनाश द्वारा सुप्रदीप्त कर देता है—

अस्य देवस्य संसद्यनीके यं मर्तासः श्येतं जगृभ्रे ।
नि यो गृभं पौरुषेयीमुवोच दुरोकमुग्निरायवे शुशोच ॥ (३ य मन्त्र)

क्योंकि प्रजाओं के नेताओं ने मिलकर बेसूझ वालों को सूझ तथा चेतावनी देने के लिए इसे नियत किया है*, इसीलिये सब इससे कहते हैं कि—तू हमें कहीं भटकने मत दे, तेरी हमारी सदा बनी रहे—

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि ।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥ (४ र्थ मन्त्र)

सब जननायकों ने इसे अपना नायक चुना है, अतः यह देवकृत सिंहासन पर विराजमान है। अपने हर कर्म से अमृत का वितरण करता है। वनवासी-गुरुकुलों के आचार्य तथा उनके हर मनुष्य में गर्मी भरने वाले शक्तिनिधि (ओष+धि) सहायक इसे गर्भ समझकर पालते रहे और अब भी उसी तत्परता से पालते हैं और सच पूछो तो सारी धरती अर्थात् मानवजाति उसे अपना गर्भ समझकर पालती है—

आ यो योनिं देवकृतं ससाद क्रत्वा ह्य१ग्निरमृताँ अतारीत् ।
तमोषधीश्च वनिनश्च गर्भं भूमिश्च विश्वधायसं बिभर्ति ॥ (५ म मन्त्र)

हे जननायक ! तू इतना कर्मशील है तो हम भी तेरी परिषद् में कभी भी प्रमादी होकर तथा अवीर होकर न बैठें। अवीर मनुष्य तेरी परिषद् में बैठने योग्य नहीं है—

मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परि षदाम मादुवः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हम दूसरे की कमाई पर न जीवें, दूसरे की कमाई पर जीना ऐसा ही है, जैसे-दूसरों के उत्पन्न किये बच्चों के भरोसे जीना—

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ॥ (७ म मन्त्र)

'दूसरे के पेट का जाया मुझे पाले' यह कामना मन में भी न आने दो। वह अपने घर क्यों न जायगा ? वह लौटकर उधर ही जायगा, इसलिये वाजी बनकर अपनी सन्तान पैदा करो और प्रार्थना करो कि नवागन्तुक भी (नवसन्तान भी) वाजी हो तथा शत्रुप्रहार-दमन-समर्थ हो—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ ।
अधा चिदोकः पुनरित् स एत्याऽऽनो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥ (८ म मन्त्र)

* अग्नयो अग्निभ्यो वरम् ॥ ७.१.४ ॥

जो, किसी नेता के **चरित्र अथवा गुणों** पर मुग्ध होकर उसके **मानसपुत्र** बनते हैं उनका यहाँ निषेध नहीं है, क्योंकि वे तो अन्नदान बीज के कीर्त्तिगर्भ में आधान द्वारा **स्ववीर्योपार्जित** हैं। हाँ, जो आलसी तथा अकर्मण्य लोग पराई सन्तान पर पलना चाहते हैं उनका निषेध है। ऐसे मनुष्यों से जननायक का क्या काम बनेगा ?

हे वसिष्ठ जननायक तथा अन्य जननायको ! तुम लोग स्वस्तियों द्वारा हमारी रक्षा करो—

'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' ॥ (१० म मन्त्र)

पञ्चम सूक्त

प्रथम सूक्त में विश्व की राजनीतिक एकता स्थापित करने वाले जननायक का जन्म बताया (**जनयन्त प्रशस्तम् १.१**)। दूसरे सूक्त में उसका लक्ष्य बताया (**दिव्यं सानु उपस्पृश—गगनचुम्बी ऊँचाई तक झण्डा लहरा २.१**)। तीसरे सूक्त में बताया कि उसका यह कर्त्तव्य है कि वह नाना-देश-वासिनी प्रजाओं का दूत बने (**यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम् ३.१**) जिससे संसार **हिंसारहित** हो। चौथे सूक्त में प्रजा को निर्देश है कि वह हर ठीक सलाह तथा हर आवश्यक द्रव्य उस जननायक तक पहुँचावे (**हव्यं मतिं च अग्नये भरध्वम् ४.१**)। अब ५ वें सूक्त में आर्थिक सहायता से भी बढ़कर वचनदान का वर्णन है, इसलिये कहा है—**अग्नये (प्र) भरध्वं गिरम् ५.१**। यह वचनदान उसे इसलिये दिया जा रहा है, क्योंकि वह **वैश्वानर है—विश्वभर के नेताओं का नेता** है। वैश्वानर देवता के सूक्तों में जो वर्णन है वह बिलकुल संन्यासी का वर्णन प्रतीत होता है। १३ वें सूक्त में तो स्पष्ट ही कहा है—'**वैश्वानराय यतये मतीनाम्**' १३.१। अतः यह निश्चित-प्रायः है कि अनुवर्त्ती साहित्य में जिस संन्यासधर्म का प्रतिपादन किया गया है वह **वैश्वानरसूक्तों** से अथवा '**पवमान सोम**' सूक्तों से लिया गया है। अब सूक्त का अर्थ सुनिये—

इस शक्तिशाली वैश्वानर जननायक को **वचन-दान** दो। यह **पृथ्वी** तथा **द्यौः** दोनों को सदा नियमित गति में चलाने वाला है। यह समस्त अमृतमय नेताओं की गोद में पला है तथा जागरूक लोगों के साथ मिलकर उन्हीं की सहायता से इस उच्च पदवी तक पहुँचा है—

प्राग्नये तवसे भरध्वं गिरं दिवो अरतये पृथिव्याः ।
यो विश्वेषाममृतानामुपस्थे वैश्वानरो वावृधे जागृवद्भिः ॥ (१ म मन्त्र)

समस्त पृथिवी में इसे नेता इसी लिये बनाया गया है कि इससे हर प्रकार के प्रश्न पूछे गये और उन प्रश्नों का यथोचित उत्तर, सबसे अधिक सन्तोषजनक रूप से इसी से प्राप्त हुआ; इसलिये सबसे पूछकर-अनुमति लेकर इसे **नेता** बनाया गया है। यह सब सेनाओं का नेता है। यह सब रक्षार्थियों पर सुख की वर्षा करने वाला है। जो इसके आगे हाथ फैलाता है उसकी हथेली पर मनोवाञ्छित फल फैल जाता है। सम्पूर्ण मनुष्य-लोक की प्रजाओं के सामने यह जगमगाता है, क्यों कि समस्त प्रजा ने इसे स्वेच्छापूर्वक चुना है। यह वर अर्थात् चुनाव ही इसकी वृद्धि का कारण है—

पृष्ठो दिवि धाय्यग्निः पृथिव्यां नेता सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् ।
स मानुषीरभि विशो वि भाति वैश्वानरो वावृधानो वरेण ॥ (२ य मन्त्र)

इसी लिये इसके सामने खड़े होकर **विश्वकल्याण की शपथ लो 'गिरं भरध्वम्'—'गृ' धातु** का अर्थ दृढनिश्चय पूर्वक बोलना, अतएव शपथ लेना है जो निश्चितार्थ बोलता है तथा जिसके सामने शपथ ली जाती है वह व्यक्ति इसी लिये 'गुरु' कहलाता है। जो निश्चित-मति नहीं है वह हलका है, हवा के झोंके से लुढ़क पड़ता है—**वह लघु है**। जो जमकर नीचे बैठ जाता है वह 'गुरु' अर्थात् भारी कहलाता है । संसार के सब लोग हर राष्ट्र के नेताओं में से एक **वसिष्ठ** चुनकर उसके सामने विश्वकल्याण की शपथ लें। तब वह **विश्वमानुष (विश्वप्रजा)** उत्पन्न होगी जिस का आठवें मण्डल में वर्णन है। जो **सार्वभौम** राजा का चुनाव करती है।

सो सातवें मण्डल में संसार भर के **'वसिष्ठ'** इकट्ठे होकर एक **'महावसिष्ठ'** का चुनाव करते हैं, जिसका **'प्र ते अग्नयो अग्निभ्यो वरम्'** इस प्रथम सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में वर्णन है।

यहाँ थोड़ी देर के लिये, **'वसिष्ठ'** शब्द के प्रयोग-स्थलों का विश्लेषण और भी अधिक फलदायक होगा।

'वसिष्ठः'— प्रथमा एकवचनान्त द्वितीय मण्डल में एक बार, सप्तम मण्डल में १२ बार और दशम मण्डल में ५ बार आया है।

'वसिष्ठम्'—द्वितीया-एकवचनान्त प्रथम मण्डल में एक बार और सप्तम में ४ बार आया है।

वसिष्ठाः—सप्तम मण्डल में १२ बार और दशममण्डल में २ बार आया है।

वसिष्ठाः—केवल सप्तम मण्डल में ३ बार आया है, अन्यत्र कहीं नहीं

'वसिष्ठान्'—द्वितीया-बहुवचनान्त केवल सप्तममण्डल में एक बार आया है।

'वसिष्ठासः'—सप्तम मण्डल में एक बार और दशममण्डल में भी एक बार आया है।

'वसिष्ठैः'—तृतीया बहुवचनान्त केवल सप्तम मण्डल में ३ बार आया है।

इनमें से दशम मण्डल तो समन्वयात्मक मण्डल है। सो उसमें किसी शब्द की पुनरावृत्ति इस शब्द की विशिष्टता पर कोई प्रभाव नहीं डालती, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि **'वसिष्ठ'** शब्द बहुवचनान्त तो सप्तम तथा दशम मण्डल के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं है ही नहीं। इसको **'राजा राष्ट्रानाम्'** ७.३४.११ के साथ मिलाइये तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। **विश्व के सब राष्ट्रों का राजा कैसे बने**, संसार के **वसिष्ठ** मिलकर, एक विश्वमानुष अर्थात् विश्व को एक राष्ट्र बनाने वाली प्रजा बनावें। वह **वासिष्ठ अग्नि** अर्थात् अग्रणी मनुष्य है। किस प्रकार का **अग्नि** है? **'अग्निं नरः जनयन्त प्रशस्तम्'**—इस प्रशस्त अग्नि को मनुष्य उत्पन्न करते हैं। किस प्रकार के मनुष्य? **'प्र ते अग्नयः अग्निभ्यः'** (७.१.४) वे मनुष्य अग्रणी हैं और अग्रणियों में से उसे उत्पन्न करते हैं। कैसे? 'वरम्' चुनाव द्वारा। किसे उत्पन्न करते हैं? हे वसिष्ठ! तुझे (७.१.८)। कहाँ? **'यत्रा नरः**

समासते सुजाताः' (७ १.४)—जहाँ इसी प्रकार हर राष्ट्र में से चुने हुए (सुजाताः—चुनाव द्वारा गुणों के कारण उत्पन्न) मनुष्य इकट्ठे होकर बैठते हैं वे 'सुजात' हैं। जनका भी इसी प्रकार प्रशस्त होने के कारण जन्म हुआ है अर्थात् चुनाव हुआ है। इस प्रकार चुनाव द्वारा प्रादुर्भूत वसिष्ठ के सामने सब शपथ लें। वह 'नेता सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्' है 'और वरेण चुनाव द्वारा 'वावृधानः' है ॥

हे जननायक ! तेरे भय से विरोधी प्रजाएँ, परस्पर बन्धन-रहित अर्थात् छिन्नभिन्न हो गईं। उनके मन एक दूसरे से फट गये। वे अपना-अपना भोजन छोड़कर भागीं। तब तूने विश्वकल्याण की परिपूर्ण भावना उत्पन्न करके दी तो पूर्णता चाहने वालों के घर के तो दीपक जल गये और उन सङ्कुचित स्वार्थों के बल पर जीने वालों के दुर्ग विदारित हो गये और 'वृत्रविदारण' के रूप में तू चमक उठा—

त्वद्भिया विश आयन्नसिक्नीरसमना जहतीर्भोजनानि ।
वैश्वानर पूरवे शोशुचानः पुरो यदग्ने दरयन्नदीदेः ॥ (३ य मन्त्र)

शासक, शासनीय और सम्पत्ति इन तीनों में नेता और नीयमान (द्यौः और पृथिवी) सब के सब तेरे दिये हुए व्रत से चिपट गये। तू निरन्तर दीप्ति से देदीप्यमान है। तेरी ही दीप्ति से द्यावा-पृथिवी-दोनों पर प्रकाश का ताना-बाना तना हुआ है—

तव त्रिधातु पृथिवी उत द्यौर्वैश्वानर व्रतमग्ने सचन्त ।
त्वं भासा रोदसी आ ततन्थाऽजस्रेण शोचिषा शोशुचानः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे जननायक ! अत्यन्त प्रेमभरी और तेरा सन्देश संसार तक पहुँचाने वाली लोकवाणियाँ तुझे केन्द्र बनाकर तेरी सेवा करती हैं, 'कलह का विधूनन करती हैं' और परस्पर स्नेह से समस्त राष्ट्रों का हृदय लिप्त करतीं हैं। तू पांचों खेतियों का पति है। तू धन का सन्मार्ग-नेता है। तू उत्साह भरने वाली उषा का और कर्म-योग से प्रकाशित दिनों का झण्डा है—

त्वामग्ने हरितो वावशाना गिरः सचन्ते धुनयो घृताचीः ।
पतिं कृष्टीनां रथ्यं रयीणां वैश्वानरमुषसां केतुमह्नाम् ॥ (५ म मन्त्र)

हे वसिष्ठ ! 'वसु' लोग (प्रदीप्त राज्यचेतना वाले लोग) अपना बल तुझ में संक्रान्त करते हैं। हे मित्रों के पूजनीय ! तेरे बताये हुए कर्ममार्गों में सब प्रीतिपूर्वक सेवाभाव से जुट जाते हैं। तू घर-घर में से दस्युओं को हाँक कर निकाल देता है। तेरी सुव्यवस्था से नाप कर जीवन बिताने वालों के (=आर्यों के) मार्ग में महान् ज्योति का जन्म होता है—

त्वे असुर्यं वसवो न्यृण्वन् क्रतुं हि ते मित्रमहो जुषन्त ।
त्वं दस्यूँरोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे वैश्वानर ! तेरा जन्म 'मेरा घर, मेरी जाति, मेरा देश आदि'-संकुचित वायुमण्डल में नहीं होता। तू देशकालजात्यनवच्छिन्न सार्वभौममहाव्रत-* रूप विश्वव्यापिनी अहिंसा के हिंसाविध्वंसक व्योममण्डल में उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार वायु, जल को पीकर मेघ-रूप में इस विशाल आकाश में घूमता है, इसी प्रकार विश्ववात्सल्य के मधुर जल को जहाँ हो वहाँ से तुरन्त ग्रहण करके विश्व-कल्याणार्थ बरसाने के लिये सर्वत्र घूमता है। जैसे, पर्जन्य का मङ्गल घोष, धरती को सस्यश्यामला करने की घोषणा करता हुआ ग्रीष्मतप्त धरती के दुःखों पर मानो रो देता है; वैसे ही, नवीन उत्साह, नवीन चेतना और नवीन ज्ञान प्राप्ति की सस्य-सम्पत्ति के लिये तू भी नाना तापपीडित प्राणिमात्र के कल्याण के लिये करुणामय घोष करता हुआ रो देता है। संसार के प्राणिमात्र तेरे अपत्य हैं और तू सदा उन्हें कुछ न कुछ दिया चाहता है—

स जायमानः परमे व्योमन् वायुर्न पाथः परि पासि सद्यः ।
त्वं भुवना जनयन्नभि क्रन्नपत्याय जातवेदो दशस्यन् ॥ (७ म मन्त्र)

हे जननायक ! हम यह साधारण अन्न की फ़सल नहीं माँगते, हे विश्ववार ! (विश्व-कल्याणकारी होने के कारण विश्व के वरणीय अथवा विश्व को अपनी शरणागत-वत्सलता का आच्छादन देने वाले!) हमें, मानवमात्र में परस्पर प्रेम की वह जाज्वल्यमान फ़सल दीजिये जिससे हर प्रकार की आराधना पूरी होती है। पुरुषार्थलब्ध लाभ की, यज्ञ में लोककल्याणार्थ आहुति देने वाले मनुष्यमात्र के लिये अपनी विशाल श्रवण-शक्ति दे-जिस प्रकार तू सबकी सुनता है वैसे ही वे भी सबकी सुनें—

तामग्ने अस्मे इषमेरयस्व वैश्वानर द्युमतीं जातवेदः ।
यथा राधः पिन्वसि विश्ववार पृथु श्रवो दाशुषे मर्त्याय ॥ (८ म मन्त्र)

तू हमें वह बहुजनहितकारी (पुरुक्षु) धन दे जिससे रुद्र तथा वसु दोनों का घर पूरा हो, दोनों की प्रीति हो और जिससे दुष्टों की हिंसा द्वारा सज्जनों की रक्षा हो, न कि सज्जनों की हिंसा द्वारा दुर्जनों की रक्षा हो—

तं नो अग्ने मघवद्भ्यः पुरुक्षुं रयिं नि वाजं श्रुत्यं युवस्व ।
वैश्वानर महि नः शर्म यच्छ रुद्रेभिरग्ने वसुभिः सजोषाः ॥ (९ म मन्त्र)

षष्ठ सूक्त

यह वैश्वानर यद्यपि ब्राह्मण है (अग्निर्ब्रह्मा ७. ७. ५) तथापि इसके काम इन्द्र के से हैं। यह भी विश्व-कलह फैलाने वाले दुष्टों के दुर्ग विदारित करता है। मैं इसके इस दारुणरूप की वन्दना करता हूँ। मैं सदा इसकी इस प्रकार की वन्दना करता हुआ इसकी प्रशंसा करता हूँ—

प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि ॥ (१ म मन्त्र)

* 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' यो० द० २.३१ ॥

पुरन्दर इन्द्र के सदृश इसका भी पुरन्दर व्रत है। वह इन्द्र तो **पापियों** के दुर्ग गिराता है और यह **पापचिन्तकों** के दुर्ग गिराता है। इसके व्रत, विश्व को एक करने के कारण देशादि की सीमाओं से अनाक्रान्त हैं, अतः यह महान् है और अत एव यह **द्यावापृथिवी** में शान्ति का राज्य स्थापित करता है—

कुविं केतुं धासिं भानुमद्रेर्हिन्वन्ति शं राज्यं रोदस्योः ।
पुरंदुरस्य गीर्भिरा विवासेऽग्नेर्व्रतानि पूर्व्या महानि ॥ (२ य मन्त्र)

हर तरह की गांठें लगाकर उलझन पैदा करने वाले (**ग्रथिनः**), क्रूर वाणी बोलने वाले और श्रद्धारहित सौदेबाज़ अथवा जुएबाज़ यज्ञ-विरोधियों को-उन दस्युओं को वह अग्नि सदा परे भगाता रहा है। भगाता क्या रहा है, सदा उनके सामने डटकर इन यज्ञहीनों को और का और बनाता रहा है अर्थात् यज्ञशील बनाता रहा है—

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान् ।
प्र प्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥ (३ य मन्त्र)

जो अपमार्ग-गामिनी और अन्धकार में आनन्द समझने वाली तमोग्रस्त प्रजाओं को अपनी शक्तियों से प्रकाशरसास्वादिनी और अग्रगामिनी बनाता रहा है वह नरों का नर यह **नृतम** अग्नि ही है। हे विश्वप्रजाजन ! तू इस कभी सिर न झुकाने वाले तथा आक्रमणेच्छुक दुष्टों का दमन करने वाले राजनीतिक चेतना के धनी **जननायक** की स्तुति करता रह—

यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार नृतमः शचीभिः ।
तमीशानं वस्वो अग्निं गृणीषेऽनानतं दमयन्तं पृतन्यून् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जो, सबका स्वत्व छीनकर अपनी ढेरियाँ ऊँची करने में व्यस्त स्वार्थी कंजूसों को, '**वध**'= मारना तथा '**स्न**'= उनका धन सुपात्रों में बांटना-इन '**वधस्न**' कर्मों द्वारा विनम्र करता रहा है और जिसने उषाओं को रजाई में मुंह छिपाने वाले आलसियों की उपेक्षिता पत्नी न बनाकर, ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर-नियम पूर्वक नपा हुआ जीवन बिताने वाले स्वकर्म द्वारा अर्चनसम्भारसज्जित स्वामियों (=**अर्यो**) की पत्नी बनाया है*, उसी, सबको नियम में रखने वाले (=**नहुष**) महान् जननायक ने प्रजाओं को सहनशक्तिसम्पन्न करके उन्हें स्वकर्मानुरूप (सत्य-यश-श्री-रूप) बलि प्रदान करने वाला बनाया है—

यो देह्यो३ अनमयद् वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार ।
स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः ॥ (५ म मन्त्र)

इस वैश्वानार जननायक की शरण में जो भी आये—जिनकी भी यह भिक्षा थी कि इसके सुजनों की सूची में हमारा नाम भी हो, वे निरन्तर परिश्रम-रूप भेंट लेकर इसके दरबार में उपस्थित

*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ गीता १८.४६ ॥

हुए। द्यावापृथिवी अर्थात् संसार भर के नेता और नीयमानों के चुनाव (वरम्) में यह बैठा और उनकी गोद में बैठा रहा—(सदा उनका लाडला रहा)—

यस्य शर्मन्नुप विश्वे जनास एवैस्तस्थुः सुमतिं भिक्षमाणाः।
वैश्वानरो वरमा रोदस्योराग्निः ससाद पित्रोरुपस्थम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इसने, 'संसार को भौतिक सम्पत्ति-सम्पन्न बनाना' अपना लक्ष्य नहीं समझा, किन्तु यह सम्पूर्ण उन्नति के (बुध्न्या वसूनि) भूलभूत द्रव्यों को—लोककल्याणव्रत, सत्य, अनालस्यादि गुणों को सदा इकट्ठा करता रहा और इसी लिये इसके भक्त सूर्योदय के समय भेंट हाथों में लिये खड़े पाये गये। इसने अवर समुद्र अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से तथा पर समुद्र अर्थात् गृहस्थाश्रम से और इसी प्रकार द्यौः= नेताओं से तथा पृथिवी=संसार की प्रजा से—दोनों से चरित्र-सम्पत्ति ही भेंट में ली—

आ देवो ददे बुध्न्या१ वसूनि वैश्वानर उदिता सूर्यस्य।
आ समुद्रादवरादा परस्मादाग्निर्ददे दिव आ पृथिव्याः ॥ (७ म मन्त्र)

सप्तम सूक्त

प्रजाजन उसका आदर करें।

हे मनुष्यो! मैं प्रजाजन नाना स्तुतियों द्वारा इस सहनशक्ति-सम्पन्न देव को तुम्हारी ओर भेज ही देता हूँ। मैं उस जननायक से कहता हूँ कि हमारे इस हिंसाविध्वंस-यज्ञ का विश्वभर में दूत बन। तू दौड़-धूप में भी नियमित जीवन रखता है, इसलिये अपने इस गुण से तू विद्वानों में स्वयं पहिचाना जाता है—

प्र वो देवं चित् सहसानमग्निमश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः।
भवा नो दूतो अध्वरस्य विद्वान् त्मना देवेषु विविदे मितद्रुः ॥ (१ म मन्त्र)

हे जननायक! तू अपने निर्धारित मार्ग पर चलता हुआ सदा मस्त तथा समस्त दिव्य गुण वालों के प्रेम का पात्र बनता हुआ हमारे बीच आ। अपनी ओजस्विनी गर्जना से धरती की चोटियों को गुंजाता हुआ आ और हर वन में प्रेम के बल से वनवासी ब्रह्मचारियों को दग्धकल्मष तथा विदग्ध बनाता हुआ आ—

आ याह्यग्ने पथ्या३अनु स्वा मन्द्रो देवानां सख्यं जुषाणः।
आ सानु शुष्मैर्नदयन् पृथिव्या जम्भेभिर्विश्वमुशधग्वनानि ॥ (२ य मन्त्र)

यह यज्ञ अग्रगामी है, इसका सब सामान सुव्यवस्थित है। यहां यह जननायक निमन्त्रण देने वाले के रूप में सबको आनन्द देता है। यह मानवजाति के नेता तथा जनता इन दोनों पृथिवी-द्यावा-रूप विश्वकल्याणकारिणी 'मातरौ' को एकत्र होने के लिये निमन्त्रण देता है। हे उत्तमबलयुक्त

जननायक ! तू इस जोड़े से अर्थात् जननायक और जनता के जोड़े से उत्पन्न हुआ है, इसलिये दोनों का प्यारा है। अतएव उत्तम बलयुक्त है—

प्राचीनो यज्ञः सुधितं हि बर्हिः प्रीणीते अग्निरीळितो न होता ।
आ मातरा विश्ववारे हुवानो यतो यविष्ठ जज्ञिषे सुशेवः ।। (३ य मन्त्र)

जो इससे भिन्न मत रखते थे उन्हों ने भी जब देखा कि यह विश्व को हिंसा रहित करने जा रहा है और इस विषय में ठीक नेतृत्व कर रहा है तो सबने मिलकर चुनाव द्वारा इसे उत्पन्न किया। यह प्रजापति होकर प्रजा के दिये घर में बैठाया गया। सब मनुष्यों ने इसे क्यों चुना, इसके तीन कारण हैं—१. यह सदा प्रफुल्लित रहता है (मन्द्रः)। २. मधुर वाणी बोलता है (मधुवचाः) किन्तु साथ ही ३. अनृत कभी नहीं बोलता (ऋतावा)—

सद्यो अध्वरे रथिरं जनन्त मानुषासो विचेतसो य एषाम् ।
विशामधायि विश्पतिर्दुरोणे३ऽग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा ।। (४ र्थ मन्त्र)

यह इस आसन पर इसलिये बैठाया गया है कि यह चुना गया है (वृतः) और धीरे-धीरे कार्यवहन की समर्थता का (=वह्नित्व का) प्रमाण देकर इस पद पर आया है। यह ब्राह्मण इस प्रकार का नेता है जो परस्पर लड़ने नहीं देता। मनुष्य समाज में यही इसका गुण है। इसे जननायक तथा जनता दोनों बढ़ावा देते हैं (द्यौश्च पृथिवी च) और इस विश्ववार' को निमन्त्रित करता हुआ 'होता' इसे जनता की ओर से पूजता है—

असादि वृतो वह्निराजगन्वानग्निर्ब्रह्मा नृषदने विधर्ता ।
द्यौश्च यं पृथिवी वावृधाते आ यं होता यजति विश्ववारम् ।। (५ म मन्त्र)

जिन जनहितकारी 'नर्य' लोगों ने यह वरणीय प्रस्ताव (वारं मन्त्रम्) प्रस्तुत किया (अतक्षन्) उन्होंने योग्य चुनाव द्वारा विश्व को नाना प्रकार के धन से छा दिया। जिन्होंने इसकी योग्यता की सत्यता को जनता के सामने प्रकाशित किया उन्होंने संसार की प्रजा की भाग्यवृद्धि की (नहीं तो यह रत्न छिपा ही रह जाता)—

एते द्युम्नेभिर्विश्वमातिरन्त मन्त्रं ये वारं नर्या अतक्षन् ।
प्र ये विशस्तिरन्त श्रोषमाणा आ ये मे अस्य दीधयन्नृतस्य ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

हे वसिष्ठों के वसिष्ठ ! हम सब चुनने वाले वसिष्ठ तेरी स्तुति करते हैं। तू सब प्रकार के धनों का स्वामी है और सहनशक्ति का पुत्र है। इन ऐश्वर्य शाली स्तोताओं को इष्ट सम्पत्ति (विश्वप्रेम) की गठरी बांध कर दे। हे वसिष्ठो ! तुम सदा हमारी रक्षा करो—

नू त्वामग्न ईमहे वसिष्ठा ईशानं सूनो सहसो वसूनाम् ।
इषं स्तोतृभ्यो मघवद्भ्य आनड् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। (७ म मन्त्र)

अष्टम सूक्त

सब अपने अपने राष्ट्रों में महान् हैं, परन्तु यह **वसिष्ठों का वसिष्ठ** होने के कारण 'सुमहान्' है और मनुष्य मात्र का लाडला (=मन्द्र) है। जहाँ जहाँ अन्धकार का काला पहिया चला वहाँ वहाँ पृथिवी में इसने प्रकाश किया। संसार के **जोशीले** लोग (ओष+धि), इसे कन्धों पर उठाकर ले गये—

अयमुष्य सुमहाँ अवेदि होता मन्द्रो मनुषो यह्वो अग्निः ।
वि भा अकः ससृजानः पृथिव्यां कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे ॥ (२ य मन्त्र)

हे जननायक ! तू अपनी स्तुतियाँ सुनकर आलसी न बन जाना। तू स्वयं अपने बल से वृद्धि प्राप्त कर। इसी में तेरा 'सुजातत्व है। (गुण-मुग्धों के द्वारा चुना जाना 'सुजन्म' है और इस प्रकार चुना हुआ 'सुजात' है। केवल जन्म की दुहाई देने वाला सुजात नहीं कुजात है)—

स्तुतश्चिदग्ने शृण्विषे गृणानः स्वयं वर्धस्व तन्वं सुजात ॥ (५ म मन्त्र ग घ)

तेरी यह स्तुति है कि तू सैंकड़ों प्रकार का दान करता है और सहस्रों उन्नति के उपाय उत्पन्न करता है तथा जननायक और जनता दोनों में तेरा बड़प्पन माना हुआ है (द्विबर्हाः)—

इदं वचः शतसाः संसहस्रमुदग्नये जनिषीष्ट द्विबर्हाः ॥ (६ ठ मन्त्र)

हम सब वसिष्ठ तेरा स्तुतिगान करते हैं—

नू त्वामग्न ईमहे वसिष्ठाः ॥ (७ म मन्त्र)

नवम सूक्त

जननायक को सदा आशावादी होना चाहिये। इसलिए कहा कि यह तो उत्साह की प्रतीक उषाओं की गोद में पलकर बड़ा हुआ है। सदा उनकी गोद में जागा है। इसने कभी रोनी सूरत नहीं बनाई। यह अत्यन्त 'मन्द्र' है=मस्त रहने वाला है। यह हर वस्तु में कविता ढूंढने वाला 'कवितम' है। इसकी कविता अत्यन्त पवित्रता भरी होती है इसलिये यह 'कवितमः पावकः' कहलाता है। कोई जनता का कवि होता है और कोई जननायकों का। यह दोनों का झण्डा उठाये फिरता है। यह देवों को उनके योग्य ज्ञानवृद्धिसाधन आदर आदि हवि देता है और जिन्होंने उत्तम श्रम द्वारा उत्तम पदार्थ रचे हैं उन्हें यथोचित धन देता है। उसका यह धन 'सुकृत्सु'=उत्तम कारीगरी करने वालों में सदा रहे—

अबोधि जार उषसामुपस्थाद्धोता मन्द्रः कवितमः पावकः ।
दधाति केतुमुभयस्य जन्तोर्हव्या देवेषु द्रविणं सुकृत्सु ॥ (१ म मन्त्र)

इस मन्त्र में धन के लिये जो **'द्रविण'** शब्द पढ़ा है वह बड़ा मार्मिक है। यह धन धरती में गड़ा नहीं रहता, अपितु द्रव पदार्थों के समान सदा बहता रहता है—विनियोग प्रवाह में प्रवाहित होता रहता है। (**कुसीदिनः=धरती में धनगाड़ने वाले=असुराः** । (देखो —शत० १३.४.३.११)

यह जननायक **'सुकर्मा'** है, जो कि धरती में धन गाड़ने वाले अथवा सट्टा खेलने वाले लोगों के घरों में दवे हुए, बहुतों के भोजन के द्वार खोल देता है जिससे जनता के पास पहुँचकर वह भोजन पवित्र हो जाता है। वह प्रजाओं को प्रसन्न रखनेवाला होता है। वह लोगों की दुष्टता का दमन करना सिखाकर—घर-घर की रात्रियों का अन्धकार, निवारित करके उन्हें **'राम्या'** बना देता है—

स सुक्रतुर्यो वि दुरः पणीनां पुनानो अर्कं पुरुभोजसं नः ।
होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम् ॥ (२ य मन्त्र)

वह **'अमर कवि'** है। वह अखण्डित सूर्य है जो मेघाच्छन्न कभी नहीं होता। वह संसद में ठीक प्रकार से बैठना जानता है। वहाँ जाकर प्रजा का मित्र रहता है। उसे **राजमद** कभी नहीं व्यापता*। वह सदा घूमने वाला(=**परिव्राजक**) हमारा कल्याण करता है। हर उत्साह युक्त मण्डलो में वह सूर्य के समान चमकता है और साधारण प्रजा में इस प्रकार हिलमिल जाता है जैसे गर्भजाया बालक माता की गोद में—

अमूरः कविरदितिर्विवस्वान्त्सुसंसन्मित्रो अतिथिः शिवो नः ।
चित्रभानुरुषसां भात्यग्रेऽपां गर्भः प्रस्व१ आ विवेश ॥ (३ य मन्त्र)

हे मनुष्यो ! वह तुम्हारे जमावों में इष्ट फलदाता है। वह हर **'समन'** में (**वीरोत्सव में—Tournament में**) अपनी दर्शनीय यथोचित चमक से चमकता है। लोगों की श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियाँ उस पर लगी रहती हैं और उसकी हर चेष्टा का अनुकूल प्रतिबोधन करती हैं। वह हर समन के व्यवहार का ज्ञाता है—

ईळेन्यो वो मनुषो युगेषु समनगा अशुचज्जातवेदाः ।
सुसंदृशा भानुना यो विभाति प्रति गावः समिधानं बुधन्त ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे जननायक ! हर राष्ट्र में जहाँ राजनिर्माता सैनिकगण हैं वहाँ **ब्रह्मकृत्=ब्राह्मण निर्माता अथवा विद्या निर्माता** गण भी हैं (जिसका कि वर्णन २ य मण्डल २३ वें सूक्त में कर आये हैं) इन गणों का गणपति **इन्द्र** नहीं, अपितु **बृहस्पति** है। तू उस गण से हमारा सम्पर्क जोड़ने वाला दूत बन। **'सरस्वती'**=ज्ञानादि पदार्थ वहन कर्त्री, **'मरुतः'**=सैनिक, **'अश्विनौ'**=परस्परान्वेषी गुरुशिष्य, पतिपत्नी आदि दोनों पक्षों के प्रतिनिधि और **'आपः'**=साधारण प्रजा इन सबका तू आदर कर। न जाने कौन-सा रत्न किसके पास छिपा है। तू तो **ब्रह्मकृत्** गण से साधारण प्रजा तक सबकी अर्चना कर। जिससे वे अपने रत्न तुझे सौंप दें—

---

* भरतहिं व्यापि न राजमद विधि हरिहरपद पाय ।
कवहुं कि को जि सी करनि क्षीरसिन्धु बिलगाय ॥ तुलसीदास ॥

अग्ने॒ याहि॑ दू॒त्यं१॒॑ मा रि॑षण्यो दे॒वाँ अच्छा॑ ब्रह्म॒कृता॑ ग॒णेन॑ ।
सर॑स्वतीं म॒रुतो॑ अ॒श्विना॒पो यक्षि॑ दे॒वान् र॑त्न॒धेया॑य॒ विश्वा॑न् ॥ (५ म मन्त्र)

हे जननायक ! हर राष्ट्र का वसिष्ठ तुझे प्रदीप्त कर रहा है तू झूठी खुशामद से ऊपर उठ। उसे धत्ता बता दे। राष्ट्र के धन की रक्षा के लिये विश्व की स्त्रियों को पुरन्धि बनाकर उनकी पूजा कर। तू बहुतों के पीछे मत चल, बहुतों को अपने पीछे चला और उनकी स्तुति का पात्र बन। हे समस्त विश्व के वसिष्ठो ! तुम हमारी सदा रक्षा करो—

त्वाम॑ग्ने समि॒धा॒नो वसि॑ष्ठो॒ जरू॑थं ह॒न् यक्षि॑ रा॒ये पुर॑न्धिम् ।
पु॒रु॒णी॒था जा॑तवेदो जरस्व यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

दशम सूक्त

नवम सूक्त में यह बताया गया था कि वह जननायक उषाओं की गोद में पला है अब इस दशम सूक्त में यह बताया जा रहा है कि उषाएँ उनकी गोद में पलती हैं उषाओं को पालने वाले का तेज उषा से तो अधिक ही होना चाहिये। सो यही बात यहाँ बताई गई है।

जिस प्रकार उषाओं का लाडला सूर्य तेजस्वी होकर माता के तेज को परास्त कर देता है इसी प्रकार उत्साहभरी युवकों की टोलियों ने इस जननायक को पाला और फिर यह उषाओं के लाडले सूर्य के समान तेज को प्राप्त हो गया। अब वह विद्युत् के समान अन्धकार को भेदकर चमकता है, परन्तु निरन्तर चमकता है। यह विद्युत् के समान क्षणिकद्युतिवाला नहीं है—क्षणभङ्गुर नहीं है। इसलिये यह 'दीद्यत्' है। किंच चन्द्रमा के समान निरन्तर प्रकाश देना ही केवल इसका गुण नहीं है; अपितु यह तो अपने प्रकाश से संसार भर को चमका देता है। (सो चमक का गुण 'दविद्युतद्' शब्द से कहा और निरन्तरत्व का गुण 'दीद्यत्' शब्द से कहा। दूर दूर तक घने प्रकाश का होना जिसमें कि लोकव्यवहार चारु रूपेण चलसके यह 'शोशुचानः' शब्द से कहा)। इस प्रकार आवरणभेदन का गुण विद्युत् से, निरन्तरता का गुण चन्द्रमा दीपक से और घनता तथा दूरगामिता का गुण सूर्य से लेकर यह जननायक चमका, इसलिये यह सुखवर्धक है—सन्देशहर है (=हरिः) और शुचि है। यह इतना प्रदीप्त है कि अन्धकार तथा अशुचिता इसमें रह ही नहीं सकती। इसने बुद्धियों को तथा कर्मशीलता को प्रेरणा दी है और सूर्य के समान उत्साहयुक्त टोलियों को जगा कर उषा की टोलियाँ बनाई हैं—

उ॒षो न जा॒रः पृ॒थु पाजो॑ अश्रे॒द् दवि॑द्युत॒द् दीद्य॒च्छोशु॑चानः ।
वृषा॒ हरि॒ः शुचि॒रा भा॑ति भा॒सा धियो॑ हिन्वा॒न उ॑श॒तीर॑जीगः ॥ (१ म मन्त्र)

जिस प्रकार सूर्य उषाओं को रुचिकर है। जिस प्रकार एक लक्ष्य से प्रेम करने वाले संगठन कर्त्ताओं को पग पग पर विचार करना प्यारा है, ऐसे ही उत्साह-युक्त लोगों को यह जननायक प्यारा है। किंच इस जननायक को जनहित इतना प्यारा है कि इसके दूत देवों की ओर सदा दौड़ते रहते हैं

अथवा यह स्वयं दौड़ते रहने वाला दूत है। यह सदा देवों की ओर जाता है और उनसे अत्यन्त प्रेम करता है। उन देवों का रूप जनता में कैसे उत्पन्न हो यह विद्या भी यह भली प्रकार जानना है। इसीलिये यह नई उषाओं को जन्म दे पाता है—

स्व१र्ण वस्तोरुषसामरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म ।
अग्निर्जन्मानि देव आ विद्वान् द्रवद् दूतो देवयावा वनिष्ठः ॥ (२ य मन्त्र)

चारों ओर से उस के पास यही मांग आ रही है—

'अग्निं यन्ति द्रविणं भिक्षमाणाः' ॥ (३ य मन्त्र ख)

हे अग्ने! तू हमारे लिये वसुयुक्त 'इन्द्र' ला—**सैनिकयुक्त सेनापति ला**, सपूतों से भरी गोद वाली विश्वहितकारिणी '**प्रकृति के समान माता** ला, जो कि आदित्यों को जन्म दे और वह '**बृहस्पति**' ला जो ज्ञानभण्डार से विश्व को आच्छादित कर दे अथवा **विश्व भर का वरणीय हो**—

इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम् ।
आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

इस **लोकमोहन** (=मन्द्र) **जननायक** को इसके भक्त हिंसाविध्वंसक समारम्भों में सदा पूजते हैं। यहधन को नित्य आश्रय देने वाला तथा देवों को निमन्त्रण देने वाला दूत है—

मन्द्रं होतारमुशिजो यविष्ठमग्निं विश ईळते अध्वरेषु ।
स हि क्षपावाँ अभवद् रयीणामतन्द्रो दूतो यजथाय देवान् ॥ (५ म मन्त्र)

एकादश सूक्त

सब धरती के मनुष्य तेरी स्तुति करते हैं कि तू राष्ट्रों के **एकीकरण** का दूत बन—

'त्वामीळते अजिरं दूत्याय हविष्मन्तः सदमिन्मानुषासः ॥ (२ य मन्त्र क ख)

राष्ट्र की एकता एक '**अध्वर**' है क्योंकि इसमें एक राष्ट्र गत हिंसा की हिंसा होती है, परन्तु **राष्ट्रों की एकता महान् अध्वर है**। यह जननायक उस **अध्वर** का ईश है। उस अध्वर में विश्व भरने हविर्दान दिया है। यह **वसिष्ठ** है। समस्त **वसु** इसके **क्रतु** में जुटे हुए हैं। देवों ने इसे **हव्यवाह** के काम पर लगाया हैं। अब यह यही कार्य करेगा—

अग्निरीशे बृहतो अध्वरस्याऽग्निर्विश्वस्य हविषः कृतस्य ।
क्रतुं ह्यस्य वसवो जुषन्ताऽथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

द्वादश सूक्त

उस जननायक का निज जीवन भी पवित्र होना चाहिये और अपने लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य सब व्यासङ्गों से उसे पराङ्मुख होना चाहिये, इसलिये कहा—'**विश्वतः प्रत्यञ्चम्**'। चारों ओर से मुख

मोड़े हुए उस जननायक के पास हम बड़े आदर से उपस्थित होते हैं। वह अपने लक्ष्य में (=दुरोणे) प्रदीप्त है और अन्य सब ओर से प्रतीचीन है—

अगन्म मुहा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे।
चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम्॥ (१ म मन्त्र)

इस पदवी पर पहुँचने से पूर्व वह हर प्रकार के दुराचरण का सामना कर चुका है—वह पूर्णतया दान्त है। अतः वह उन सब दुराचरण जैसे चर्चा न करने योग्य (अवद्य) कर्मों से हमें बचावे—

स मुह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः।
स नो रक्षिषद् दुरितादवद्यादस्मान् गृणत उत नो मघोनः॥ (२ य मन्त्र)

हे जननायक! तू 'वरुण'—(राजनियम का ज्ञाता क्षत्रिय) गुणयुक्त भी है और 'मित्र'—(ब्राह्मण) गुणयुक्त भी है*। तू इस प्रकार-का उभयगुण विशिष्ट जननायक है। ये सब अन्य वसिष्ठ =आचार तथा विधान शास्त्र के पण्डित लोग तेरे सहायक होकर तुझे वृद्धि देते हैं। तेरे द्वारा धन का ठीक ठीक बंटवारा होगा। हे वसिष्ठो! तुम हमारी सदा रक्षा करो—

त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः।
त्वं वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (३ य मन्त्र)

त्रयोदश सूक्त

यह वैश्वानर विश्वभर को शुचि करने वाला है। यह विश्वमानवों को कर्मयोगी तथा प्रज्ञासमृद्ध बनाता है और असुरों का नाश करता है। तुम लोग इसके सामने अपने मनन के परिणाम तथा अपने कर्मों से प्राप्त अनुभव उपहाररूप में दो। मैं सबसे पहिले इस मतियों के नियन्ता यति के सामने हवि के तुल्य अपने 'मन्म' (=मनन) तथा अनुभव को प्रसन्नचित्त होकर भेंट करता हूँ। यही जननायक के प्रति सर्वश्रेष्ठ उपहार है—

प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम्॥ (१ म मन्त्र)

हे जननायक! हमारे यज्ञ को नास्तिकता से बचा और ब्रह्म की ओर लेजा—

'वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुम्'॥ (३ य मन्त्र)

*'ब्रह्ममित्रः क्षत्रं वरुणः' शत ४.१.४.१

चतुर्दश सूक्त

इस जननायक का मुख्य कार्य विश्व भर के देवों को निमन्त्रण देकर इकट्ठा करना है इसलिये संसार भर के श्रेष्ठ पुरुषों के निमन्त्रणार्थ समिध्, घृत तथा अन्य हवि, जो देवों के निमन्त्रणार्थ उचित है उन सबके साथ, देवहूतियों से नतमस्तक होकर इस जननायक को हम सदा समृद्ध रखें। हे वसिष्ठो ! तुम हमारी सदा रक्षा करो—

समिधा जातवेदसे देवाय देवहूतिभिः ।
हविर्भिः शुक्रशोचिषे नमस्विनो वयं दाशेमाग्नये ॥ (१ म मन्त्र)
वयं घृतेनाध्वरस्य होतर्वयं देव हविषा भद्रशोचे ॥ (२ य मन्त्र ग घ.)
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः । (३ य मन्त्र)

पञ्चदश सूक्त

ऐसे त्यागी जननायक सब कुछ दूसरों को खिलाने में ही प्रसन्न रहते हैं, इसलिये जनता का कर्त्तव्य है कि सदा इस बात का ध्यान रक्खे कि कुछ इनके (जननायकों के) मुख में भी जाता है वा नहीं ?

इसलिये इस जननायक के पास बैठकर इस के मुख में हवि पहुँचाओ। पास न बैठोगे तो यह स्वयं खाना टाल जायगा, खिलाता ही रहेगा। इस के साथ अति नेदिष्ठता बरतनी पड़ेगी। तुम इसे अपना सबसे समीप का बन्धु जानो (इसके साथ बेतकल्लुफी बरतो, इसे जबर्दस्ती खिलाओ)—

उपसद्याय मीळ्हुष आस्ये जुहुता हविः ।
यो नो नेदिष्ठमाप्यम् ॥ (१ म मन्त्र)

यह कवि है, गृहपति है और युवा है—

'कविर्गृहपतिर्युवा' ॥ २ य मन्त्र ग. ॥

तू हमारी रात्रियाँ और हमारे दिन सबको चमकदार बना। तेरे द्वारा हम उत्तम जननायक वाले बने हैं। तू सुवीर है और हमारा हितैषी है—

क्षप उस्रश्च दीदिहि स्वग्नयस्त्वया वयम् ।
सुवीरस्त्वमस्मयुः ॥ (८ म मन्त्र)

सम्पूर्ण विद्वान् ज्ञान के रत्न पाने के लिये तेरे पास आते हैं तथा सहस्रों की वर्षा करने वाली अक्षरवाणी तेरे पास सदा उपस्थित रहती है—

उप त्वा सातये नरो विप्रासो यन्ति धीतिभिः ।
उपाक्षरा सहस्रिणी ॥ (९ म मन्त्र)

षोडश सूक्त

यह जननायक विश्व का दूत है, इसे मैं बुलाता हूँ—

...ऊर्जो नपातमा हुवे ।...विश्वस्य दूतममृतम् ॥ (१ म मन्त्र ख घ.)

यह श्रेष्ठ ब्राह्मण है। यह सब राजनीतिक चेतनावालों में शांति फैलाता है। यह जनता को मनचाहे पदार्थ देता है। विश्वभर को भोजन देने वाला है—

स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥ (२ य मन्त्र)

हम तुझे दूत बनाते हैं जिससे तू विश्वभर के मनुष्यों को उनका भोजन दे और उनकी मांग भण्डार तक पहुँचा—

तं त्वा दूतं कृण्महे यशस्तमं देवाँ आ वीतये वह ।
विश्वा सूनो सहसो मर्तभोजना रास्व तद् यत् त्वेमहे ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे जननायक ! तू विश्ववार है। तू ही होता गृहपति तू ही होता, तू ही पोता और तू ही प्रचेता है। कौन किस व्यवहार के योग्य है' यह तू जानता है, तथा सत्कारपूर्वक सबको उनके वरणीय पदार्थ देता है—

. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे ।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि वेषि च वार्यम् ॥ (५ म मन्त्र)

तेरी वाणी अतिमादक है और तेरा मुख विद्या से भरा हुआ है। जो ऐश्वर्य के योग्य हैं उन्हें तू धन दे और साथ ही उन्हें दान के लिये प्रेरणा करता रह—

स मन्द्रया च जिह्वया वह्निरासा विदुष्टरः ।
अग्ने रयिं मघवद्भ्यो न आ वह हव्यदातिं च सूदय ॥ (९ म मन्त्र)

सप्तदश सूक्त

हे जननायक ! पहिले तू उत्तम ज्ञानाग्नि यज्ञाग्नि आदि पवित्र अग्नियों के दीपक पदार्थों से युक्त बन फिर हर घर को देवस्वागतयोग्य सामग्री से सम्पन्न कर; जिससे कि द्वार-द्वार में स्वागत करने वाले इस प्रेम से भरे खड़े हों कि मानो द्वार ही स्वागत कर रहे हैं, और तब हर राष्ट्र के श्रेष्ठ पुरुषों को हर राष्ट्र में ले जा सब राष्ट्रों के लोग तुझ से कहते हैं कि 'तू ही हमारा गृहपति है' : यह (हमारा) घर तेरा है, संसार के देवों को हमारे घर ला—

अग्ने भव सुषमिधा समिद्ध उत बर्हिरुर्विया वि स्तृणीताम् ।। (१ म मन्त्र)
उत द्वार उशतीर्वि श्रयन्तामुत देवाँ उशत आ वहेह ।। (२ य मन्त्र)

इतने दिन जो प्रार्थनाएँ हमने की हैं वे आज सच्ची हों—

'सत्या भवन्त्वाशिषो नो अद्य' ।। (५ म मन्त्र ख.)

हमने तुझे ही **हव्यवाहक** बनाया है—

'त्वामु ते दधिरे हव्यवाहम्' ।। (६ ष्ठ मन्त्र क)

अष्टादश सूक्त

फिर संसार भर के वसिष्ठ जिस मनुष्य को **विश्वराष्ट्रपति** पद में योग्य समझें उसे ब्राह्मण मार्ग से ब्राह्मण बनाकर विश्व विजय के लिये निकलें अर्थात् वह अपनी **सच्चरित्रता, न्यायपरायणता** और **वीरता** आदि गुणों से विश्व की प्रजा को एक राष्ट्र बनाने में जननायक का सबसे बड़ा सम्पर्क हो, जिससे कि शीघ्र **साध्यसिद्धि** हो। फिर **विश्वमानुष** उसे विश्व-राष्ट्रपति अथवा **विश्व के राजा** के पद पर आसीन करे। उससे पहिले वह राजा नहीं किन्तु 'राजवत्' व्यवहार करे। इसलिये केवल इस १८वें सूक्त में इन्द्र को **'राजा इव'** कहा है। नहीं तो वह अन्यत्र सर्वत्र राजा अथवा सम्राट् कहा गया है। थोड़े से प्रमाण देखिये—

महोदिवः पृथिव्याश्च सम्राट् (१.१०८.१) **भुवः सम्राट्** (४.१९.२)
सत्यः सम्राट् (४.२१.२) **मघवा सम्राट्** (६.२७.८)
(इन्द्रावरुणौ) सम्राडन्यः स्वराडन्यः (७.८२.२) ।।

ऐसी स्थिति में ७वें मण्डल के १८वें सूक्त में **'राजेव हि जनिभिः क्षेषि'** (२ य मन्त्र) कहना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। फिर जब इसे २९वें सूक्त के **'ब्रह्मन् वीर'** इस सम्बोधन के साथ मिलाते हैं तो यह बात अतिस्पष्ट हो जाती है कि ७वें मण्डल में **विश्वनायक** तथा **विश्वराष्ट्रपति** इन्द्र का निर्माण हो रहा है।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—हे इन्द्र ! यद्यपि तू राजा नहीं है पृथिवी पर विद्यमान सब ही प्रजाओं से तेरा राजा के समान व्यवहार है तू कवि है, परन्तु केवल काव्यलोक का कवि नहीं। तू कवि होते हुए भी संसार के लोगों को केवल काव्यरस नहीं पिलाता, अपितु उन्हें भौतिक लाभ भी कराता है। तेरे शब्द केवल ध्वनियों का परिधान पहिन कर ही नहीं आते। तेरे **'अश्व'** कहने पर अथवा **गाय** कहने पर तेरी वचनानुवर्त्तिनी प्रजा के पुरुषार्थ से प्रत्यक्ष उत्तमोत्तम अश्व, गाय आदि आ खड़ी होती है, इसलिये तू अपनी **वाणी को गौः 'अश्व' आदि भौतिक सम्पत्ति का परिधान पहिना**। हम तेरी ओर भक्ति लेकर आवें। तो तू हमारी ओर नानाविध धन लेकर आ—

राजेव हि जनिभिः क्षेष्येवाऽव द्युभिरभि विदुष्कविः सन् ।
पिशा गिरो मघवन् गोभिरश्वैस्त्वायतः शिशीहि राये अस्मान् ।। (२ य मन्त्र)

सच तो यह है कि हम तेरे स्तोत्रगान में 'गिरा कवि' बनें और तू ऐश्वर्य-दान में 'रै कवि' बन, इसीलिये हमारी स्तुतियाँ तथा वचनदान की माला तेरी ओर परस्पर स्पर्धा करती हुई उमड़ी चली आती हैं। तेरे बनाये हुए मार्ग, धन-सम्पत्ति को हमारी ओर आने के लिये सुगमता देने वाले हों, तेरी सुमति (Good faith) में हम सदा बने रहें—

इमा उ त्वा पस्पृधानासो अत्र मन्द्रा गिरो देवयन्तीरुपस्थुः ।
अर्वाची ते पथ्या राय एतु स्याम ते सुमताविन्द्र शर्मन् ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र! वसिष्ठ में=जननायकों के चुने हुए विश्वजननायक में कार्य करवाने की अद्भुत शक्ति है। तुझ में अनथक कार्य करने की शक्ति है*। सो वह अपने सत्परामर्श रूप बछड़ों द्वारा तेरा दूध खूब दोहन करके हमें देता है, परन्तु सारी प्रजा तेरे लिये उत्तम चारा दिलवाती है। इसलिये सारा संसार तुझे गौओं में श्रेष्ठतम गाय (A 1 Cow) कहता है। सबकी यही प्रार्थना है कि इन्द्र हमारी ओर कृपादृष्टि वाला बना रहे—

धेनुं न त्वा सूयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः ।
त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहाऽऽन इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ ॥ (४ र्थ मन्त्र)

एकोनविंश सूक्त

हे इन्द्र! ब्राह्मणों के 'ब्रह्म' (मननपूर्वक दिये गये सत्परामर्श) परामर्श तक ही न रह जावें। हे शक्ति के भण्डार इन्द्र! (पुरुशाक!) वे ब्रह्म परामर्श कार्य में परिणत होकर जानदार बनें (व्यन्तुवाजम्)—

'व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम्' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र घ.)

हे वसिष्ठ के परामर्शों को मूर्त्तरूप देने वाले इन्द्र! तेरी वाणी में कुछ ऐसी अदा है कि शंसन नहीं, शासन बन जाती है और तुरन्त उस पर चल पड़ते हैं। तेरी पुकार सुनकर सूदखोर और सट्टेबाज (पणयः) भी पुरुषार्थदानी बन जाते हैं। बस, हमें भी किसी ऐसे ही 'युज्य' (=Task) में लगा—

सद्यश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था ।
ये ते हवेभिर्वि पणीँरदाशन्नस्मान् वृणीष्व युज्याय तस्मै ॥ (९ म मन्त्र)

हे इन्द्र! तेरी शूरता सदा ब्रह्म (=परमात्मा, वेद तथा वेदधारी ब्राह्मण) के साथ जुड़ी रहे और इस अङ्कुश के साथ वृद्धि को प्राप्त हो। तू हमारे हर सङ्घर्ष तथा हर घर के लिये उपमानभूत हो जा। हे इन्द्र! हे वसिष्ठ! और हे इनके सहचरो! तुम सदा स्वस्ति द्वारा हमारी रक्षा करो—

* अभिगन्तैव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रियः शत० ४.१.४.१ ॥

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तुन्वा वावृधस्व।
उप नो वाजान् मिमीह्युपस्तीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (११ श मन्त्र)

विंश सूक्त

बीसवें सूक्त में यह बात अति स्पष्ट हो जाती है कि इन्द्र किसी दैव अथवा मानुष व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। जो भी मनुष्य इन गुणों से युक्त हो वह मनुष्य इन्द्र पदवी पा सकता है, पर ऐसे गुणों से युक्त मनुष्य की जननी कोई विरली नारी होती है। वे गुण क्या हैं? देखिये **वेद 'इन्द्र' की योग्यता के गुण बताता है—**

जो जन्म से **उग्र (=अन्याय के प्रति) अत्यन्त असहिष्णु** अति **विश्वासवान् (स्वधावान्)**, जो करने का निश्चय कर ले उसे करके छोड़े, सदा गतिशील हो, सदा युवा बना रहे, जिस बैठक में पहुँचे वहाँ रक्षक रूप में ही आदर पावे और बड़े से बड़े पाप से बचावे, प्रलोभन में न फंसे और न फंसने दे—

उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावाञ्चक्रिरपो नर्यो यत् करिष्यन्।
जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिस्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित् ॥ [१ म मन्त्र)

जो वृत्र का हन्ता हो, तीव्र गति वाला हो (कभी चैन से न बैठे): स्तोताओं की लाज अपने आचरण से रक्खे, उत्तम दान देने वालों के लिये **पारितोषिक** का दाता हो और वारं वारं दे एक ही बार देकर सन्तोष न कर ले—

हन्ता वृत्रमिन्द्रः शूशुवानः प्रावीन्नु वीरो जरितारमूती।
कर्ता सुदासे अह वा उ लोकं दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत् ॥ (२ य मन्त्र)

जो योद्धा हो, घोड़ा न मिले तो पैदल ही सङ्ग्राम करे, साधनों का दास न हो, शूर हो, जत्थों के जत्थों से अकेला लड़ सके (**सत्राषाट्**) जन्म से ही दुष्टों के लिये असह्य हो, सेनाओं का संचालन करना जानता हों, अपना ओज उनमें भरने वाला हो और कोई भी आक्रमण करने आवे तो उसे मार गिराने वाला हो—

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाट् जनुषेमषाळ्हः।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥ (३ य मन्त्र)

द्यौ और पृथिवी दोनों को इन्द्र ने अपनी महिमा से आपूरित कर दिया। उस शक्तिशाली की शक्तियों का बखान हर स्थान पर है। इसलिये वह जब भी शत्रुओं पर वज्रप्रहार की सामग्री तथा हर प्रकार के हर्षोत्साह वर्धक साधन उसे सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं। उसकेकीर्त्तिक्रीत प्रशंसक सर्वत्र हैं—

उभे चिदिन्द्र रोदसी महित्वाऽऽपप्राथ तविषीभिस्तुविष्मः।
नि वज्रमिन्द्रो हरिवान् मिमिक्षन्त्समन्धसा मदेषु वा उवोच ॥ (४ थं मन्त्र)

इस रणमस्त मर्द को किसी मर्द ने ही जन्म दिया। यह भी कोई नारियों में नारी थी जिसने नेताओं के इस नेता का (नृ=नेता, नर्म=नेताओं का नेता) प्रसव किया था। बस इन्द्र पद पाने का अधिकारी वही है जो नरों का भी प्रकृष्ट सेनानी हो। **सेना शब्द 'स+इन+आ'** इस प्रकार बना है अर्थात् जो **स्वामिसहित** हो अथवा एकसमान चले वह सेना कहलाती है। सो वह इन्द्र **'इन'** अर्थात् सञ्चालन समर्थ **स्वामी** हो, सत्त्ववान् हो, हर बात की ठीक पड़ताल करता हो और वह धृष्णु हो, अन्याय से दबे नहीं, उलटा दृढ़ता से आक्रमण करे—

वृषा॑ जजान॒ वृष॑णं॒ रणा॑य॒ तमु॑ चि॒न्नारी॒ नर्यं॑ ससूव ।
प्र यः सें॒नानी॒रध॒ नृभ्यो॒ अस्ती॒नः सत्वा॑ ग॒वेष॑णः॒ स धृ॒ष्णुः ॥ (५ म मन्त्र)

इस मन्त्र के **'यः अस्ति सः'** ये शब्द अत्यन्त ध्यान देने योग्य हैं। इससे स्पष्ट है कि **'इन्द्र'** एक पदवी का नाम है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। इससे निघण्टु में बारं बार आने वाले **'पदनामसु पठितम्'** इस वाक्य की भी सुन्दर व्याख्या होती है ॥

वह ज्ञान का रक्षक है और न्याय नियमों के अनुसार नापतोल से चुनाव द्वारा उसका जन्म हुआ है—

'क्षय॑त् स रा॒य ऋ॑तु॒पा ऋ॑ते॒जाः' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे इन्द्र ! इस संसार में तीन प्रकार का धन है जो कि हमारे अन्दर सच्ची चेतना उत्पन्न करता है। एक वह **शिक्षा रूप धन** जो बड़े छोटों को देते हैं, दूसरा **आज्ञापालन रूप धन** जो बड़े छोटों से प्राप्त करते हैं और तीसरा **अनुकरण रूप धन** जो देश काल की दूरी पर स्थित प्रशंसक लोग अपने अनुकरणीय देव को प्रदान करके उसे अमर कर देते हैं। हे इन्द्र ! तू हमें तीनों प्रकार का धन दे; उत्तम शासन दे; राज्यनियमों का ठीक पालन स्वयं करके अनुशासन परायणता सिखा, जिससे प्रजा देखे कि तू प्रजा से बड़ा है पर कानून तुझ से भी बड़ा है, तथा **दूरदेशस्थ** और **दूरकालस्थ** (=दूर कालान्तर में होने वाली) प्रजा का अनुकरणीय बनकर अमरत्व को पा। जब वे तेरा नाम लेकर अनुकरण करेंगे तो तू अमर हो जायेगा और यदि अनुकरण ठीक होगा तो वे भी अमर हो जायेंगे—

यदि॑न्द्र पू॒र्वो अप॑राय॒ शिक्ष॒न्नय॒ज्ज्याया॒न् कनी॑यसो दे॒ष्णम् ।
अ॒मृत॒ इत्पर्या॑सीत दू॒रमा चि॑त्र चि॒त्र्यं॑ भरा र॒यिं नः ॥ (७ म मन्त्र)

एकविंश सूक्त

हे इन्द्र ! प्रजा को सदा चलता रख, कार्यव्यग्र रख—

'त्वमि॑न्द्र स्र॒वित॒वा अ॒पस्कः' ॥ (३ य मन्त्र क)

जिसने **'शिश्न देव'** अर्थात् **कामासक्त** लोग हमारे संगठन में न घुस पावें—

'मा शि॒श्नदे॑वा अपि॑ गु॒ऋ॑तं॒ नः' ॥ (५ म मन्त्र घ.)

द्वाविंश सूक्त

इन्द्र की वृद्धि के उपाय ऋषिलोग सदा से बताते चले आये हैं और उन्हीं के अनुसार इन्द्र की वृद्धि तथा पदप्राप्ति होती है—

ये च पूर्वे ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः ॥ (९ म मन्त्र क ख)

त्रयोविंश सूक्त

हे वसिष्ठ (विश्वजननायक) ! तू इन्द्र सम्बन्धी मन्त्र सुनाकर इन्द्र पदवी का महत्त्व सबको समझा। सब जनता से कह कि सुनो मेरी बात—**इन्द्र पद के योग्य वह है जो अपने बल से सबके ऊपर शामियाना तान देता है**—

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥ (१ म मन्त्र)

इस प्रकार के इन्द्र की संसार भर के जननायक स्तुतियों द्वारा अर्चना करते हैं। हे इन्द्र तथा वसिष्ठो ! तुम स्वस्तियों द्वारा हमारी रक्षा करो—

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
...यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र क ख घ.)

चतुर्विंश सूक्त

तू इतना श्रद्धाभाजन है कि मनुष्यों के नेताओं ने तेरे लिये सदन बनाया है। तू अपने अनुचर नेताओं सहित इस सदन में डेरा कर। यहाँ हमें हमारे योग्य धन दे और प्रजा द्वारा सम्पादित श्रम-जन्य पदार्थों को पाकर आनन्दित हो, हमारी रक्षा भी कर और वृद्धि भी कर—

यो निष्ठ इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि ।
असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥ (१ म मन्त्र)

तू जबरदस्ती इस आसन पर नहीं बैठ गया है। विश्व भर के मनीषियों की **मनीषा** तुझे बारंबार आग्रह करके बुलाती हुई यहाँ लाई है—

विसृष्टधेना भरते सुवृक्तिरियमिन्द्रं जोहुवती मनीषा ॥ (२ य मन्त्र ग घ.)

पञ्चविंश सूक्त

प्रजा इन्द्र को इस पदवी पर क्यों लाई है ?

जब-जब मन्यु में भरी हुई सेनाएँ नियमित गति से समर में इकट्ठी हुईं तब-तब तेरी भुजा में स्थित वज्र, हमारी रक्षा के लिए उन पर पड़ा। इसलिये हम भी उत्सुक हैं, तेरा मन हमें छोड़कर कहीं न जावे। तू हमारी रक्षा करता है और हम तेरे **योगक्षेम** की चिन्ता करते हैं—

आ ते॑ मह इन्द्रोत्युग्र सम॑न्यवो यत् स॒मर॑न्त॒ सेनाः॑ ।
पता॑ति दि॒द्युन्नर्य॑स्य बा॒ह्वोर्मा ते॒ मनो॑ विष्व॒द्र्य१॒॑ग्वि चा॑रीत् ॥ (१ म मन्त्र)

शत्रु लोग दुर्ग में छिप गये हैं, तू उन्हें भी ढीला करके छोड़। ऐसे वीर कर्मों से तू निन्दकों की प्रशंसा का पात्र बन और हमारी उन्नति के सम्भार इकट्ठे कर—

नि दु॒र्ग इ॑न्द्र श्नथिह्य॒मित्राँ॑ अ॒भि ये नो॒ मर्ता॑सो अ॒मन्ति॑ ।
आ॒रे तं शंसं॑ कृणुहि निनि॒त्सोरा नो॑ भर सं॒भर॑णं॒ वसू॑नाम् ॥ (२ य मन्त्र)

षड्विंश सूक्त

बिना स्वयं के पुरुषार्थ के द्वारा उत्पादित अन्यों के परिश्रम का—सवन का फल सोम—इन्द्र को प्रसन्न नहीं करता। जो सोम लाया है सवन भी उसी का किया हुआ हो। अर्थात् वह इन्द्र हराम के माल से प्रसन्न नहीं होता और स्वयं सवन किया पदार्थ भी जब तक ब्रह्मार्पण न हो—केवल स्वार्थसिद्धि के लिये दिया गया हो तो वह भी उसे हर्षित नहीं कर सकता। इसलिये मैं प्रशंसनीय नये से नया माल स्वयं अपने पुरुषार्थ से उसके लिये उत्पन्न करता हूँ—

न सोम॒ इन्द्र॒मसु॑तो ममाद॒ नाब्र॑ह्माणो म॒घवा॑नं सु॒तासः॑ ।
तस्मा॑ उ॒क्थं ज॑नये॒ यज्जुजो॑षन्नृ॒वन्नवी॑यः शृ॒णव॒द्यथा॑ नः ॥ (१ म मन्त्र)

जब-जब प्रजा ने उसको अर्पण करने के लिये तय्यार किया हुआ श्रमफल (=सोम) प्रभुभक्ति भरे स्तोत्रों से पवित्र किया तब-तब इन्द्र प्रसन्न हुआ और वह श्रमजन्य पदार्थ जब ठीक सदुपयोग करने वालों के पास ले जाये गये तो, इस प्रकार के 'नीथ' पर (=नयनक्रिया पर) उसने अनुभव किया कि आज मैं ऐश्वर्यवाला हुआ जो ये पदार्थ यथास्थान ले जाये गये। उसके इस न्यायवात्सल्य को देख कर जिस प्रकार विवाद उत्पन्न होने पर पुत्र पिता को बीच में बैठाते हैं इसी प्रकार संसार भर के विवादार्थी न्याय पाने के लिये इसे पुकारते हैं—

उ॒क्थउ॑क्थे॒ सोम॒ इन्द्रं॑ ममाद नी॒थेनी॑थे म॒घवा॑नं सु॒तासः॑ ।
यदीं॑ स॒बाधः॑ पि॒तरं॒ न पु॒त्राः स॑मा॒नद॑क्षा॒ अव॑से॒ हव॑न्ते ॥ (२ य मन्त्र)

इस इन्द्र ने पहिले भी अनेक पुरियाँ बनाई हैं और नई से नई पुरियों का निर्माण करता रहता है, जिनकी कि कुशलता की चर्चा, हर कुशल निर्माता जन प्रत्येक निर्माणकर्म के समय प्रशंसापूर्वक करते हैं। फिर उन्हें यह सजाता भी इस प्रकार है कि जैसे दूल्हा दुलहिन को। फिर विशेषता यह कि यह सबके साथ पक्षपातरहित न्याय का वर्त्ताव करता है—यह सबके प्रति समदृष्टि है—

च॒कार॒ ता कृ॒णव॑न्नू॒नम॒न्या यानि॑ ब्रु॒वन्ति॑ वे॒धसः॑ सु॒तेषु॑ ।
जनी॑रिव॒ पति॒रेकः॑ समा॒नो नि मा॑मृजे॒ पुर॒ इन्द्रः॒ सु सर्वाः॑ ॥ (३ य मन्त्र)

इस प्रकार उसकी प्रशंसा होती है। सच तो यह है कि वह अपने न्याय के कारण ऐश्वर्यों के ठीक-ठीक बांटने में अपना-सा एक ही **विभक्ता** है। पहिले भी न्याय में उसकी सहायता हमें सदा तुरन्त मिलती रही है और अब भी वह हमारे प्रिय हितमाधनों में जुटा रहता है—

एवा तमाहुरुत शृण्व इन्द्र एको विभक्ता तरणिर्मघानाम्।
मिथस्तुर ऊतयो यस्य पूर्वीरस्मे भद्राणि सश्चत प्रियाणि ॥ (४ र्थ मन्त्र)

विश्वराष्ट्रपति बनाने के लिये, वसिष्ठों का वसिष्ठ जिसे चुनता है उसकी इस प्रकार सच्ची स्तुति कर सकता है इसलिये उसे चुनता है। प्रजा उस इन्द्र से कहती है कि तू हमारे सहस्रों जानदार कामों का (Master Deeds का) उपमान बन। हे इन्द्र तथा वसिष्ठो! तुम स्वस्तियों से सदा हमारी रक्षा करो—

एवा वसिष्ठ इन्द्रमूतये नॄन् कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति।
सहस्रिण उप नो माहि वाजान् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (५ म मन्त्र)

सप्तविंश सूक्त

इन्द्र को लोग युद्ध में भी याद करते हैं, परन्तु जो विशाल गोचरभूमियों (व्रजभूमियाँ) हैं—जहाँ कि गोपाल गौवें चराते हैं वहाँ भी वे गोपाल आदि उससे कहते हैं कि हे इन्द्र! तू हमें इनका सेवन करा। हम गौवों की सेवा करें और दूध पीवें—

इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते···आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥ (१ म मन्त्र क घ.)

हे इन्द्र! तू प्रजा को सिखा कि इन गोचर भूमियों में ही तुम्हारा बल निहित है। तू यह रहस्य प्रजा को सदा समझाता रह—

य इन्द्र शुष्मो मघवन् ते अस्ति शिक्षा सखिभ्यः पुरुहूत नृभ्यः ॥ (२ य मन्त्र क ख)

इन्द्र की कुशलता इसमें है कि जो पदार्थ अति 'विषुरूप' है=जिससे किसी प्रकार के ऐश्वर्य के पाने की आशा नहीं की जा सकती उसमें से भी नाना धन उत्पन्न करके प्रजा को दे, इसीलिये सामने बैठकर लोग उसकी स्तुति करते हैं (**हरे खेत से तो सभी फल पाते हैं, पर वह बंझर और ऊसर में से भी धन पैदा कर लेता है**)—

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥ (३ य मन्त्र)

फिर वह देशकाल पात्र में दान देना भी सिखाता है और विवेक पूर्वक यह बताता है कि कौन रक्षा का पात्र है और कौन नहीं है? वह हमारी दान भावना को भी नियम में लाता है। एतदर्थ

वह हमें सिखाता है कि सर्वप्रथम श्रमजीवी को पूरी दक्षिणा मिल जाय, तब पारितोषिक की अथवा दयार्द्र उदारता की बात सोचो और तत्पश्चात् मित्रों में वांटने की बात सोचो—

नू चिन्न इन्द्रो मघवा सहूती दानो वाजं नि यमते न ऊती ।
अनूना यस्य दक्षिणा पीपाय वामं नृभ्यो अभिवीता सखिभ्यः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू इस प्रकार हमें हमारे धन को प्रभुपूजायुक्त करना सिखा । ऐश्वर्य से हमें घृणा न हो, हम उसका न्याय-पूर्वक तथा वरिवस्या (= प्रभुपूजा) पूर्वक सेवन करें । हमारे पास गौवें हों, घोड़े हों और रथ हों । वे सब ठीक चलें । हे इन्द्र ! तथा हे वसिष्ठो ! तुम स्वस्तियों द्वारा सदा हमारी रक्षा करो—

नू इन्द्र राये वरिवस्कृधी न आ ते मनो ववृत्याम मघाय ।
गोमदश्वावद् रथवद् व्यन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (५ म मन्त्र)

अष्टाविंश सूक्त

हे इन्द्र ! तू राजा बनने जा रहा है, परन्तु वह योग्यता सम्पादित करने के लिए तू पहिले विद्वान् ब्राह्मण बनकर हमारे घर आ । तू ही नहीं, तेरे सन्देशहर भी जब हमारे घर आवें तो वे युक्ताहारविहारशील और तेरे बताये मार्ग पर चलने वाले हों और हे विश्वमोहन ! (= विश्वमिन्व !) सब की इच्छा यही होती है कि तू हमारी ही बात सुन और कहीं न जा—

ब्रह्मा ण इन्द्रोप याहि विद्वानर्वाञ्चस्ते हरयः सन्तु युक्ताः ।
विश्वे चिद्धि त्वा विहवन्त मर्ता अस्माकमिच्छृणुहि विश्वमिन्व ॥ (१ म मन्त्र)

हे इन्द्र ! तेरी महिमा क्या कहें । ये सब निमन्त्रण तुझे इसीलिये तो बाँधते हैं । जब तू हाथ में वज्र ग्रहण करता है और घोर उग्र रूप धारण करता है तथा जब तू अपने सङ्गठित कर्मों से असह्य हो जाता है, तब भी संसार कहता है कि तू ऋषियों का आदेश पालन कर रहा है । तेरे क्रूर कर्म भी ऋषियों द्वारा प्रमाणित हैं । इन्हीं शूर कर्मों में तेरा विश्वराष्ट्रपति के रूप में जन्म हुआ है—

हवं त इन्द्र महिमा व्यानड् ब्रह्म यत् पासि शवसिन्नृषीणाम् ।
आ यद् वज्रं दधिषे हस्त उग्र घोरः सन् क्रत्वा जनिष्ठा अषाळ्हः ॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! विश्व की प्रजा विश्वराष्ट्रपति के रूप में जब तुझे जन्म देती है, तो इसलिये कि द्यावापृथिवी अर्थात् संसार भर के नेता और नीयमानों को तू इस प्रकार चलाता है कि मानो वे तेरे सैनिक हों । अभी तो सब राष्ट्रों का छोटा-छोटा क्षत्र तथा बल है, पर सब राष्ट्रों के एक राष्ट्र बनने पर एक महान् क्षत्रिय-समाज—एक महान् बल उत्पन्न होता है । बस तेरी प्रणीति में—तेरे नेतृत्व में सब इस ओर चलते हैं । इसका फल यह होता है कि कंजूसों का राज्य दानशीलों पर होने के स्थान में दान-शील जन कंजूसों की अकड़ ढीली कर देते हैं—

तव प्रणीतीन्द्र जोहुवानान्त्सं यन्नॄन् न रोदसी निनेथ ।
महे क्षत्राय शवसे हि जज्ञेऽतूतुजिं चित् तूतुजिरशिश्नत् ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! हमें वह सुदिन दिखा, जिस दिन के लिये दुर्मित्र बस्तियाँ प्रयत्न कर रही हैं। वह दिन तब होगा जब निर्दोष दोषी को डाँट सकेगा और चालबाजों की चालों को **मायामर्मज्ञ वरुण** (=हमारा विश्व का पुलिस विभाग) उनके दो टुकड़े करके अवसान को पहुँचा देगा—

एभिर्न इन्द्राहभिर्दशस्य दुर्मित्रासो हि क्षितयः पवन्ते ।
प्रति यच्चष्टे अनृतमनेना अव द्विता वरुणो मायी नः सात् ॥ (४ थं मन्त्र)

जब यह इन्द्र विश्वराष्ट्रपति के पद पर आसीन हो तब हम उससे कहें कि हे मघवन् ! हे ऐश्वर्य-शालिन् ! अब हमें राष्ट्रों का पृथक्-पृथक् छोटा धन नहीं चाहिये। अब तो हमें—सारे मानव-राष्ट्र को सारे मानव-राष्ट्र का धन दे, जो कि हमारी सब आराधनाओं का 'राधस्' हो—**पूर्ण करने वाला हो**। हे इन्द्र ! इस धरती पर **'विश्वेन्द्र'** का पद वह **पावे** जो **'ब्रह्मकृति'** की=वेदप्रतिपादित तथा ब्राह्मण-निर्दिष्ट की पूजा करने वालों में श्रेष्ठ हो अथवा ब्रह्मकृति-पूजकों का प्रतिपालकतम हो—

वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद् ददन्नः ।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (५ म मन्त्र)

एकोनत्रिंश सूक्त

हे इन्द्र ! संसार भर की मानव-प्रजा के सर्वोत्तम श्रमजन्य पदार्थों की (=**सोम** की) धारा तेरी ओर प्रवाहित हो रही है। तू अपने सन्देशहरों समेत घर-घर में पहुँच और इस सोमरस का पान कर—

अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्व आ तु प्र याहि हरिवस्तदोकाः ।
पिबा त्वस्य सुषुतस्य चारोर्ददो मघानि मघवन्नियानः ॥ (१ म मन्त्र)

हे ब्राह्मण वीर ! तू स्वयं ब्राह्मण है तथा ब्राह्मणों के आदेश का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। तू अपने सन्देशहरों समेत हमारे पास शीघ्र आ। यह जो **विश्वराष्ट्र-निर्माण** का **पवित्रतम सवन** चल रहा है इसमें सम्मिलित होकर हर्ष की पराकाष्ठा में पहुँच और सबको पहुँचा। इस पवित्र कर्म में हमारे जो सत्परामर्श हैं उन्हें तू सुन। ये ही हमारी भेंटें हैं—

ब्रह्मन् वीर ब्रह्मकृतिं जुषाणोऽर्वाचीनो हरिभिर्याहि तूयम् ।
अस्मिन्नू षु सवने मादयस्वोप ब्रह्माणि शृणव इमा नः ॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! स्तोत्रगान से हम तुझे क्या सजा सकते हैं ? तेरा दिया हम कब दे सकते हैं ? इस सारे विश्व की उत्तम विचार-धाराओं का तानाबाना तेरे हाथ में है, परन्तु हे इन्द्र ! फिर भी हमारी बातें सुनो, क्योंकि हमारे पास और है ही क्या ?—

का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
विश्वा मतीरा ततने त्वायाऽधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥ (३ य मन्त्र)

आज तक जिन ऋषियों की उपदेशमाला और आदेशमाला तू सुनाता और ग्रहण करता आया है, वे पुरुषार्थ-परायण तथा परमपुरुष के परम भक्त थे। उन्हीं के मार्ग पर चलता हुआ मैं साधारण प्रजा-वर्ग भी तुझे वारं-वार पुकारता हूँ। हे इन्द्र ! तू हमारे पिता के समान है—

उतो घा ते पुरुष्या३ इदासन् येषां पूर्वेषामशृणोर्ऋषीणाम् ।
अधाहं त्वा मघवञ्जोहवीमि त्वं न इन्द्रासि प्रमतिः पितेव ॥ (४ थं मन्त्र)

जब यह इन्द्र विश्वराष्ट्रपति पद पर आसीन हो तब हम उससे कहें·······

(२८ वें सूक्त का अन्तिम मन्त्र ही इसका भी अन्तिम मन्त्र है)।

त्रिंश सूक्त

हे इन्द्र ! यद्यपि विश्वराष्ट्रपति पद पर आसीन होने से पूर्व तू ब्राह्मण बनकर हमारे पास आया है, तथापि उस पद पर पहुँच कर हे, शूर ! बड़े क्षत्रियत्व का—बड़ी मर्दानगी का कार्य करना होगा। अभी तक तो छोटे-छोटे युद्ध करने पड़ते हैं, फिर धरती भर की सेना धरती भर के संगठित दुष्टों से लड़ने जायेगी, सो हे सुवज्र! 'महे नृम्णाय' 'महि क्षत्राय पौंस्याय' तू हमारे पास आ। हम ही तो तेरा बल हैं। आ, हमारी सम्मिलित सम्पत्ति को बढ़ा—

आ नो देव शवसा याहि शुष्मिन् भवा वृध इन्द्र रायो अस्य ।
महे नृम्णाय नृपते सुवज्र महि क्षत्राय पौंस्याय शूर ॥ (१ म मन्त्र)

हे भावी इन्द्र ! संसार के भीरु पुरुष तो शरीरनाश से डरते ही हैं, परन्तु सच्चे वीर भी व्यर्थ के शरीरनाश से संसार को बचाना चाहते हैं। विश्व का एक राष्ट्र बन जाने पर भी कुछ मनुष्य अथवा कुछ राष्ट्र. (विश्वन्यायालय) की आज्ञा भंग करेंगे। उनके विरुद्ध विश्व की सेना लेकर तू लड़ने जायेगा, परन्तु सच्चे शूर हिंसा के चारों ओर चक्कर नहीं काटते, क्योंकि हिंसा तो न्यायरक्षा का एक साधन मात्र है। विश्वसेना के सैनिक शूर पुरुष जिस सूर्य की परिक्रमा करते हैं वह है न्याय। सो, वह न्याय शस्त्रों द्वारा न होकर न्यायालय में पक्ष-प्रतिपक्ष के विवाद द्वारा हो; इसलिये विश्व के शूर पुरुष पहिले विश्व का न्यायालय बनाने के लिये तेरा इन्द्र पद पर आह्वान करते हैं। जहां वादी प्रतिवादी व्यक्ति अथवा राष्ट्र भिन्न-भिन्न प्रकार की बात आग्रहपूर्वक कहते हैं। सो, न्याय के बंटवारे में (=सूर्यस्य सातौ), विवाद उत्पन्न होने पर (=विवाचि) शारीरिक शक्ति में शूर पुरुष तुझको ही बुलाने योग्य (=हव्यम्) जानकर बुलाते हैं। संसार भर के प्रजाजनों में तू ही सेना को आज्ञा देने का अधिकारी है। तू सेना को, हर प्रकार के न्यायविघ्नकारी तत्त्वों को सुगमता से नष्ट करने योग्य बनादे (=रन्धया); अर्थात् यह जानकर कि विरोधी लोग न्याय का अपमान कर रहे हैं, विश्वसेना का बल बढ़ जाता है और विरोधियों का बल घट जाता है और तब वे आसानी से नष्ट किये जा सकते हैं—

हवन्त उ त्वा हव्यं विवाचि तनूषु शूराः सूर्यस्य सातौ ।
त्वं विश्वेषु सेन्यो जनेषु त्वं वृत्राणि रन्धया सुहन्तु ॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! वह दिन बड़ा सुदिन चढ़ेगा जब तू इस न्याय के प्रशंसनीय उपमानभूत झण्डे का युद्ध क्षेत्रों में धारण करेगा अर्थात् प्रजा को पारस्परिक युद्ध में उपस्थित होने के स्थान में न्यायालय में उपस्थित होना सिखा देगा। वह जननायक जो संसार भर के श्रेष्ठ पुरुषों को इस न्यायरक्षा-समारम्भ में निमन्त्रण देने के लिए बैठा है, इस सौभाग्य के लिये उन्हें बुला रहा है। वह यज्ञ में जानदार होता के समान इस पवित्र यज्ञ का होता है—

अहा यदिन्द्र सुदिना व्युच्छान् दधो यत् केतुमुपमं समत्सु ।
न्य१ग्निः सीददसुरो न होता हुवानो अत्र सुभगाय देवान् ॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! हम तथा अन्य सब सामग्री पहुँचाने वाले जो इस यज्ञ में सहायता दे रहे हैं, सब के सब तेरे हैं—

वयं ते त इन्द्र ये च देव स्तवन्त शूर ददतो मघानि ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जब यह इन्द्र विश्वराष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठित हो तो हम उससे कहें……
(२८ वें सूक्त का अन्तिम मन्त्र 'वोचेमे०' ही यहाँ भी पठित है)।

एकत्रिंश सूक्त

हे इन्द्र ! तू हमारा कवच है। तू युद्ध में सबसे आगे बढ़कर लड़ता है । हे वृत्रहन् ! मैं न्याय-विरोधियों का प्रत्याख्यान तेरे सहयोग से करता हूँ—

त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् ।
त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

मरुत्वती वाणी (=सैनिकों की वाणी) सदा तेरे साथ 'सयावरी' सहयोग पूर्वक चलने वाली है—

तं त्वा मरुत्वती परि भुवद् वाणी सयावरी ।
नक्षमाणा सह द्युभिः ॥ (८ म मन्त्र)

इन्दु अर्थात् प्रेम-रस से संसार को आर्द्र करने वाले संन्यासी लोग— जो संसार में ऊर्ध्वतम हैं—वे तेरे अनुयायी हैं—पृष्ठ पोषक हैं और संसार की पांचों कृष्टियां तुझे सर झुकाती हैं—

ऊर्ध्वासस्त्वान्विन्दवो भुवन् दस्ममुप द्यवि ।
सं ते नमन्त कृष्टयः ॥ (९ म मन्त्र)

इस महान् विश्वराष्ट्र के विशाल क्षेत्र को प्रकाशित करने वाले विप्रलोग उत्तम त्याग तथा

ब्रह्मनिर्माण करते हैं अर्थात् इसे वेदानुकूल मार्ग बताते हैं, इसीलिए धीर पुरुष इसके व्रतों को नष्ट नहीं होने देते—

उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः ।
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः ॥ (११ श मन्त्र)

संसार भर की प्रजा की वाणियों में एक स्वर से इन्द्र को, आभ्यन्तर तथा बाह्य शत्रुओं के सहन करने में समर्थ होने के कारण सर्वत्र राजा बनाया है । मनोहारी सन्देश हरों द्वारा संसार में व्यक्त होने वाले इन्द्र के समीप तुम सब भी अपने बन्धुओं को ले आओ—

इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै ।
हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ॥ (१२ श मन्त्र)

इस प्रकार का यह प्रचार यदि महा-वसिष्ठ, महान् इन्द्र के लिये कर सके तभी वह 'राजा राष्ट्रानाम्' बने ।

द्वात्रिंश सूक्त

वसिष्ठ और इन्द्र सब मिलकर समस्त ससार के राजा भगवान् से प्रार्थना करते हैं । वे कौन-कौन हैं ? विप्रलोग, जिनका वर्णन पिछले सूक्त के ११ वें मन्त्र में है (इन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः) ।

वह इन्द्र जिसे विश्व-राष्ट्रपति बनना है, परमात्मा को कैसे पुकारता है, सो सुनो—हे परम इन्द्र ! मैं विश्व-प्रजा के कल्याणार्थ उपयोग में आने वाले धन की कामना से आपको ऐसे पुकारता हूँ जैसे पिता पुत्र को—

रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ॥ (३ य मन्त्र)

संसार भर के ऐश्वर्यशाली परमात्मा से कहते हैं—

'भवा वरूथं मघवन् मघोनाम्' ॥ (७ म मन्त्र क)

हे परमेश्वर ! तू ऐश्वर्य वालों का भी शरण-रूप हो

विश्व की प्रजा का भावी इन्द्र प्रभु से कहता है—हे इन्द्र ! जिसका मन तुझ में बस गया हैं उसे कौन दबा सकता है । संसार के जानदार मनुष्य लोक-कल्याणार्थ संग्राम में अपनी हवि लगाना चाहते हैं, तो यह उनकी संसार की समस्याओं से पार उतारने वाले तेरे दिव्य सामर्थ्य में श्रद्धा है जो वे ऐसा करते हैं—

कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा इत्ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥ (१४ श मन्त्र)

हे परमेश्वर इन्द्र ! तू इस संसार के हम इन्द्रों को वृत्रवधों में प्रेरणा दे । हम जो भी अपना

प्रिय धन दान दें वह वृत्रहत्या में दें। तेरे द्वारा प्रणीत मार्ग पर चलकर हम सब दुष्ट चालों को पार कर सकें—

मुघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।
तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥ (१५ श मन्त्र)

यहाँ सायण ने 'मघोनः' पद में षष्ठी मानी है, परन्तु हमें द्वितीया का बहुवचन मानना सङ्गततर प्रतीत हुआ।

हे प्रभो ! मैं जहाँ से भी जो धन पाऊँ उसे प्रति दिन तेरे बताये **महनीय** महान् मार्ग में दान करूँ। हे इन्द्र ! तुझ से अधिक 'वस्यस्' (=संसार में बसना सिखाने वाला अथवा आच्छादक) तो पिता भी नहीं है—

नहि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥ (१९ श मन्त्र ग घ)

हे प्रभो ! तू स्थावर, जङ्गम सबका ईश है। हम तुझे इस प्रकार बारंबार प्रणाम करते हैं—तेरे प्रति झुकते हैं, जैसे बिना दुही गाय झुकती है अर्थात् हमारी तेरे सामने झुकने की अभिलाषा इतनी प्रबल है कि वह पूरी न हो तो दूध भरी गाय का दोहन न होने से जो कष्ट होता है वह हमें हो—

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ (२२ श मन्त्र)

हे इन्द्रों के इन्द्र ! हम सब अपने-अपने क्षेत्र में इन्द्र कहलाते हैं, परन्तु हमारे सदृश मघवा तो सैंकड़ों हुए और होंगे, पर— 'न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते'। धरती का एक इन्द्र पार्थिव अर्थात् पृथिवी का राजा है, और द्यौः का इन्द्र सूर्य है, परन्तु तू राजाओं का रक्षक है। तुझ से कहते हैं— 'भवा वरूथं मघवन् मघोनाम्' (७. ३२. ७)। दिव्य इन्द्र को तूने उत्पन्न किया है (यः सूर्यं य उषसं जजान २. १२. ७), परन्तु तुझ सरीखा न पैदा हुआ, न होगा। हमें तो गाय, घोड़ा तक तुझ से मांगना पड़ता है—

त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ (२३ श मन्त्र)

हम मनुष्य मात्र ही नहीं, अपि तु जीवमात्र तेरी शरण में आते हैं। हमें तेरी ज्योति का लाभ मिले—

'जीवा ज्योतिरशीमहि' ॥ (२६ श मन्त्र)

हे हिंसकों के हिंसक शूर ! हम तेरी कृपा से भवसागर से पार हों—

त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥ (२७ श मन्त्र ग घ)

त्रयस्त्रिंश सूक्तं

वसिष्ठ चुना गया और इन्द्र भी चुना गया। अब विश्व-वसिष्ठ अपने सहयोगी भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के वसिष्ठों को लक्ष्य करके कहता है—

श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः।
उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नृन् न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः॥ (१ म मन्त्र)

इस मन्त्र में दो शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ समझे बिना सारे सूक्त का आशय समझ में नहीं आ सकता। वे शब्द हैं—'दक्षिण' और 'कपर्द'। इनमें से पहिले 'दक्षिण' शब्द को लेते हैं। दक्षिण शब्द ऋग्वेद में सव्य का उलटा होकर आया है (ऋ. १.८२.५.)। दक्षिण दिशा को जो दक्षिण नाम से कहते हैं उसका मूल भी इसी में छिपा है। पूर्वाभिमुख खड़े हुए मनुष्य के दाहिने हाथ की दिशा का नाम दक्षिण दिशा है, इसलिये दक्षिण शब्द का मूल तत्त्व दाहिने हाथ में छिपा है, इस कारण पहले यह देखना चाहिये कि दाहिने हाथ को दक्षिण क्यों कहते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति देखिये—'दक्षिण' शब्द 'दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च' इस धातु से बना है। निरुक्त में 'दक्षति समर्धयति-कर्मा (१.३.७) लिखा है। सो, क्षीण को समृद्ध करना—संवृद्ध करना अथवा शीघ्रता 'दक्ष' धातु का अर्थ है, अतः 'दक्षिणतः' का अर्थ हुआ—क्षीणता की पूर्त्ति की ओर—वृद्धि की ओर अथवा शीघ्रकारित्व उत्पन्न करने वाली दक्षता अथवा कार्य-कुशलता की ओर।

दक्षिण का उलटा सव्य है। एवं च समृद्धि पैदा करना दक्षिण कर्म है और उसका उपभोग करना सव्य कर्म, क्योंकि उपभोग में कुछ तो स्थिरकोष में सुरक्षित रख लिया जाता है तथा कुछ व्यय किया जाता है। यह सुरक्षा-व्यय-सहित सुरक्षा सव्य हस्त का काम है। यह कार्य भी बिना सीखे नहीं आता। इस विषय के गुरु वामदेव ऋषि अर्थात् हृदय महाराज हैं। यहाँ रुधिर क्षणभर के लिये सुरक्षित करके तुरन्त शरीर-कल्याण के लिये आगे धकेल दिया जाता है। सो, चर्बी आदि यथा-स्थान सुरक्षित हो जाते हैं। इसी का नियम ठीक न रहने से नाना रोग उत्पन्न होते हैं। बस, सुरक्षा तथा व्यय दोनों का शिक्षक हृदय हमारे सव्य भाग में अर्थात् बाईं ओर रहता है। यह सव्य-दक्षिण का रहस्य समझ लेने पर वेद की अनेक ग्रन्थियाँ स्वयं सुलझ जाती हैं, इसीलिये इस रहस्य को यहाँ वेद-मन्त्र की भेंट किया गया है।

अब 'कपर्द' शब्द का अर्थ विचारना चाहिये। 'कपर्द' शब्द 'क' और 'पर्द' इन दो शब्दों से बना है। 'क' का अर्थ है जल और 'पर्द' का अर्थ है फुंकार करते हुए चक्कर देना। अजगर को इसी लिये 'पृदाकु' कहते हैं, क्योंकि वह फुंकार मारते हुए अपने सामने के पदार्थ पर लपेटा डाल लेता है। अपानवायु को भी पर्द कहते हैं, क्योंकि गुदप्रदेश में वायु फुंकार मारती हुई चक्कर काटकर निकलती है। कभी फुस्स करके रह जाती है और कभी ध्वनिविशेष भी करती है। जल में—विशेषकर समुद्रादि के खड़े जल में जब पवन चक्कर मारता है तो विशेष प्रकार की आवाज उत्पन्न होती है तथा लहर उठती है। बस, उस फुंकारती हुई लहर का नाम 'कपर्द' है। उस लहर के समान ही जटाजूट की आकृति होती है, इसलिये उसे भी 'कपर्द' कहते हैं। जटाजूट के समान आकृति वाली होने के

कारण ही **कौड़ी** भी **'कपर्दिका'** तथा बड़ी कौड़ी **'कपर्द'** कहलाती है। अब देखना है कि यह जटाजूट किस का प्रतीक है ? किसी मनुष्य की विचारधाराओं के प्रतीक उसके सिर के बाल है। वे सब एकाग्ररूप से यज्ञ-भावनामय हों, इसीलिये शिखा है। **अस्त-व्यस्त विचारधारा का प्रतीक अस्त-व्यस्त केश हैं तथा एकाग्र विचारधारा का प्रतीक जटाजूट।** सो, जिन का **जटाजूट** अर्थात् **एकाग्र विचारसमूह** मानवराष्ट्र की समृद्धि की ओर एकाग्रता से लगा हो उन्हें **'दक्षिणतस्कपर्दाः'** कहेंगे । पृथिवी पर जब सबसे प्रथम विश्वराष्ट्र-निर्माता विद्वान् को **'वसिष्ठ'** पदवी दी गई तो उसके स्मरणार्थ उन्होंने प्रथा चला दी कि हमारे कुल में **जटाजूट** दाहिनी ओर बांधा जायगा, परन्तु वैदिक **'दक्षिणतस्कपर्दाः'** का अर्थ है कि अपना सिर भिन्न-भिन्न राष्ट्रों का एक मानव-राष्ट्र बनाने में लगाने वाले अर्थात् सर्वविध एकाग्रता से तत्पर **राजनीतिविशारद लोगों** ने मिलकर जिसे अपने में से भी **वसिष्ठ** चुना, वह **वसिष्ठ** कहता है कि—

सदा मानवराष्ट्र की **श्विति** अर्थात् **वृद्धि** चाहने वाले (=**श्वित्यञ्चः**), अपने मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्ति विश्वराष्ट्र की समृद्धि में समर्पित करने वाले (**दक्षिणतस्कपर्दाः**), सदा अपने हर साथी को प्रज्ञायुक्त कर्मयोग में लगे रहने की शिक्षा देने वाले तथा उनकी कर्मशीलता में जान डालने वाले (**धियञ्जिन्वासः**) ये सब राष्ट्रों के राजनीति-विशारद (=**वसिष्ठाः**) मुझे, मेरे सामने आकर आनन्दविभोर कर देते हैं (**अभिप्रमन्दुः**)। जब कभी मैं बोलने खड़ा होता हूँ तो चारों ओर **नेता** ही **नेता** पाता हूँ, क्योंकि इनमें से प्रत्येक किसी न किसी राष्ट्र के **वसुओं** का **वसिष्ठ** है। मैं इनसे कहता हूँ कि-हे विश्वराष्ट्रनिर्माणपरायण नाना-राष्ट्र-नेतृत्वदक्ष वसिष्ठो ! आप लोगों ने विश्वमानुष बनाने का काम मुझे सौंपा है। सो, आप लोग मुझसे कभी दूर न हों, सदा मेरे सहायक होवें—

श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः ।
उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नॄन् न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः ॥ (१ म मन्त्र)

हे वसिष्ठो ! इस संसार में 'इन्द्र' पदवी पाने के सामर्थ्य वाले अनेक पुरुष उत्पन्न होते हैं, परन्तु आप सरीखे सच्चे गुरु को न पाने के कारण, वे कुटिलगति में पड़कर नाना प्रकार के **राजनीतिक जाल** बुनने में लग जाते हैं। परिणाम यह होता है कि **'ऋतेजाः' 'ऋतपाः'** (७. २०. ६) इन्द्र बनने के स्थान पर **'जाल की सन्तान' 'पाशधन'** (=**वायत, पाशद्युम्न**) बन जाते हैं, परन्तु आप लोग मनुष्य बनाना जानते हैं। आपने इस पुरुष को जिसे कि हम विश्व का इन्द्र बनाना चाहते हैं उस कुटिल मार्ग के पास भी नहीं फटकने दिया। उससे बचाकर आपने इसे दुष्टों पर अत्युग्र तथा सज्जनों का अतिरक्षक बनाकर ऐसे लोगों का नेता बनाया है जिनकी कमाई पवित्र है और जो विश्वराष्ट्र-निर्माण सरीखे पवित्र यज्ञों में व्यय होती है। यह प्रजा द्वारा दिये हुए प्रेम-रूप सरोवर में सदा रसपान करता हुआ उसमें डूबा रहता है। इसमें कोई स्वाभाविक पवित्र संस्कार थे, जो इसने कुटिल, धूर्त और जाल फैलाने वाले दुष्टों को गुरु न बनाकर वसिष्ठ पुरुषों को अपना **मार्गदर्शक** चुना—

दूरादिन्द्रमनयन्ना सुतेन तिरो वैशन्तमति पान्तमुग्रम् ।
पाशद्युम्नस्य वायतस्य सोमात् सुतादिन्द्रोऽवृणीता वसिष्ठान् ॥ (२ य मन्त्र)

यही तो कारण है कि यह विश्वराजनीति के अथाह समुद्र को पार करने में समर्थ हुआ। यही कारण है कि यह 'भेद' अर्थात् राष्ट्रों की परस्पर फूट को मारने में सफल हुआ। जहाँ-जहाँ दश इन्द्रियाँ जीव को परास्त करके उसे कुवास बनाना चाहती हैं, परन्तु जीव विषयों का तथा इन्द्रियों का दास न बनकर अपने आपको प्रभु की प्रजा की सेवा में समर्पण करना चाहता है, वहाँ-वहाँ 'सुवास्' का 'दश' राजाओं से युद्ध होता है। यह युद्ध सदा से होता आया है और आगे भी होता रहेगा, परन्तु सच्चे गुरु उन जीवों को 'इन्द्र' (=परमात्मा अथवा श्रेष्ठ राजा) से मिला देते हैं। तब परमात्मा तथा तद्गुणविशिष्ट राजा उनकी रक्षा करता आया है तथा करता रहेगा। इसीलिये तो इससे पूर्व सूक्त में जीवों ने कहा है कि 'जीवा ज्योतिरशीमहि' (७. ३२. २६) हे प्रभो! तेरी कृपा से हम जीव सदा तेरी ज्योति पाते रहें—

एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः॥ (३ य मन्त्र)

हे सहयोगी वसिष्ठो! धन्य हैं वे पितर, जिन्होंने तुम्हें उत्पन्न किया। आज इस एकमानव-राष्ट्र-निर्माण यज्ञ में तत्पर आप को देखकर वे कितने प्रसन्न हो रहे हैं। मैं अब अपनी निर्माण-यात्रा पर चला हूँ, परन्तु आप ही के कारण मेरे रथ का अक्ष अव्यय है। इसे कहीं भ्रष्ट न होने देना। आपकी ही वाणियाँ प्रजा में शक्ति भरने वाली हैं और आपने प्रजा में अपनी शक्ति भरी वाणियों से जो बल भरा है उसी से यह इन्द्र बलवान् हुआ है। हे वसिष्ठो! आप ही इस इन्द्र का राज्य बनाने वाले हो (भक्तिपक्ष में-प्रभु के भक्त ही प्रभु का राज्य धरती पर स्थापित करते हैं)—

जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न किला रिषाथ।
यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः॥ (४ र्थ मन्त्र)

जब कभी इन्द्रत्वाभिलाषी जन विषयवासनाओं से लड़ते हुए अपने तथा दश विषयरूपी राजाओं के सङ्घर्ष में व्याकुल होकर, विश्वसमृद्धिपरायण दक्षिणतस्कपर्द वसिष्ठों की शरण में आते हैं तो वे वसिष्ठ लोग उस परम इन्द्र परमात्मा की ऐसे सच्चे हृदय से व्याकुल होकर प्रार्थना करते हैं, जैसे, प्यासे लोग मेघ को देखकर उससे बरसने की प्रार्थना करते हैं। तदनन्तर वे सच्चे गुरु वसिष्ठ लोग इस प्रकार शरणार्थियों द्वारा वृत होने पर अपने उत्साह भरे उपदेशों और अपनी प्रभुभक्ति के द्वारा उन 'तृत्सु'=दुःखनिवारणेच्छु लोगों को प्रदीप्त करते हैं। तब उनकी इस व्याकुलता भरी स्तुति को इन्द्र अर्थात् परमात्मा सुनता है और उनमें उत्साह भर कर भगवान् उन्हें भी इन्द्र बना देता है। वे 'तृत्सु' लोक से इन्द्रलोक में आ जाते हैं—

उद् द्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासोऽदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः।
वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोदुरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम्॥ (५ म मन्त्र)

ये संसार को भरण करने के इच्छुक विश्वराष्ट्रनिर्माणार्थी आरम्भ में थोड़े-से गिने-चुने लोग

थे और बैल हांकने के डंडे के समान पत्र-पुष्पविहीन नीरस काष्ठ मात्र थे और ये थोड़ी संख्या वाले भी निरे शैशवभाव से युक्त थे, परन्तु जब से यह वसिष्ठों का चुना हुआ '**वसिष्ठ**' इनका नेता बना है, इनके डेरे फैलते ही चले गये—

दुण्डा इवेद् गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः ।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

इस संसार में, **अग्नि, वायु** और **आदित्य** ये तीन देवता मनुष्यों में कर्मयोग के काम में आने वाली शक्ति भरते हैं। इनसे तीन प्रकार की—**आग्नेय, वायव्य** और **आदित्य**—प्रजा उत्पन्न होती है जो कि **नपा-तुला जीवन बिताने के कारण 'आर्य' कहलाती है और जिनका लक्ष्य ज्योति की उत्पत्ति, रक्षा और विस्तार है।** इन तीनों के प्रयत्न से पृथिवी में अर्थात् **ब्रह्मचर्याश्रम** में वसु प्रजा, अन्तरिक्ष अर्थात् **गृहस्थाश्रम** में रुद्र प्रजा और द्युलोक अर्थात् **वानप्रस्थाश्रम** में आदित्य प्रजा जन्म लेती है और तीन प्रकार की उषा पैदा होती है और तीन ज्योति के कटाह उषा को प्राप्त होते हैं। '**घर्म**' उस कढ़ाई अथवा डेग को कहते हैं जिसमें बड़ी मात्रा में घी दूध आदि गरम किया जाता है। किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के जीवन में कोई महान् कार्य आरम्भ करने से पूर्व जो उत्साहवर्धक आन्दोलन होता है उसे **उषा** कहा जाता है।

जिस प्रकार **द्यौः** से होने वाली वर्षा से भूमि हरी-भरी होती है इसी प्रकार **आदित्यवत्** ज्ञान से देदीप्यमान आदित्य (=**वानप्रस्थ+संन्यासी**) लोगों की विद्यावर्षा से ब्रह्मचर्याश्रम हरा-भरा होता है, इसलिये ब्रह्मचर्याश्रम को **पृथिवी लोक** कहा है। जिस प्रकार अन्तरिक्ष में वायु निरन्तर गतिशील रहता है (इसीलिये उसका नाम **सदागति है**) इसी प्रकार **गृहस्थी** भी सदा गतिशील रहता है। **गृहस्थाश्रम में कर्मयोग ही कर्मयोग है।** जिस प्रकार **द्यौः** के उत्पन्न किये मेघ पवनवेग से अन्तरिक्ष में विचरते हैं इसी प्रकार आदित्य लोगों के उपदेश पर आचरण गृहस्थाश्रम में होता है तथा जैसे **द्यौः** और **पृथिवी** दोनों की शक्तियों का सङ्गम अन्तरिक्ष में होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्याश्रम से उत्पन्न स्नातक तथा आदित्य लोक से उत्पन्न ज्ञान का सङ्गम गृहस्थाश्रम में होता है। सो गृहस्थाश्रम को **अन्तरिक्ष-लोक** कहा गया है। साथ ही स्त्री को **पृथिवी** तथा पुरुष को **द्यौः** कहा है। इनका मेल भी **गृहस्थाश्रम** में होता है, इसीलिये विवाह-संस्कार में मन्त्र पढ़ा जाता है—'**द्यौरहं पृथिवी त्वम्**' (पार. गृ. १. ६. ३), अतः जहाँ वे दोनों इकट्ठे हों **उस गृहस्थाश्रम को अन्तरिक्ष लोक कहा है।**

इन तीनों आश्रमों में तीन प्रकार का उत्साह है। ब्रह्मचर्याश्रम में **शक्तिसम्पादन** तथा **शक्ति-संग्रह** का, गृहस्थाश्रम में **शक्तिदान** का और वानप्रस्थाश्रम में **शक्तिप्रकाश** का। ये तीनों उत्साहमय आन्दोलन मानो तीन गुलाबी रंग के कटाह हैं जिनमें **वसु, रुद्र** तथा **आदित्य** अपने वस्त्रों को गुलाबी रंग में रंगते हैं; जिससे सारी प्रजा उषा के समान खिल उठती है। **प्रथमाश्रम में जिज्ञासा की अग्नि है, द्वितीयाश्रम में प्रचार का वायु है, तृतीयाश्रम में नये-नये तत्त्वों के प्रकाश का चमत्कार है।** इन तीनों के आरम्भ में उत्साहमयी उषा है, इसलिये कहा—

तीन—**अग्नि, वायु** और **आदित्य** संसार में **नवबीजारोपण** करते हैं, तीन प्रकार की ज्योतिरनुरक्त

प्रजा आर्य कहलाती है और तीन कटाह उषा के रंग में रगते हैं। ये इन सब का मर्म भली प्रकार जानते हैं तभी तो **वसिष्ठ** कहलाते हैं—

त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।
त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वाँ इत् ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः॥ (७ म मन्त्र)

कौन-सा पदार्थ कहाँ पड़ा है? यह अन्धकार में पता नहीं लगता है, किन्तु प्रकाश स्पष्ट वचन से कह देता है कि कौन-सा पदार्थ कहाँ पड़ा है, इसलिये प्रकाश को (**वच्+सथ**) '**वक्षथ**' कहते हैं। इन **वसिष्ठों** का सत्यार्थप्रकाशक वचन इनकी ज्योति है। इनकी महिमा समुद्र के समान गम्भीर है। वायु के समान इनका वेग है। हे वसिष्ठो! तुम्हारे इन स्तुत्य गुणों को अतिशयित करना तो दूर रहा, इनका अनुकरण भी सबके लिये कठिन है—

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः॥ (८ म मन्त्र)

अगले मन्त्र में **राजनीतिविशारद** का रूप इतना स्पष्ट हुआ है तथा **वसु** और **वसिष्ठ** शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ इतना समुन्मीलित हुआ है कि देखना तो दूर, आँख मूंदकर हाथ से छुआ जा सकता है। **वसिष्ठ** शब्द '**वस्-निवासे**' तथा '**वस् आच्छादने**' दोनों धातुओं से बन सकता है, किन्तु इस मन्त्र में आये '**वसिष्ठ**' शब्द में '**वस् आच्छादने**' धातु अधिक सुव्यक्त होती है। इसका प्रमाणभूत शब्द है '**परिधि**'। परिधि शब्द यहाँ परिधान अर्थात् वस्त्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रमाण है '**वयन्तः**' शब्द। वसिष्ठ का कार्य क्या है? **यथासम्भव संसार भर के लोगों की अभिलाषाओं का समन्वय।**

एक स्त्री के दो प्रशंसक हैं। दोनों के हृदय में उसे प्राप्त करने की प्रबल अभिलाषा है, इस अभिलाषा को अग्नि कहते हैं। क्योंकि प्रबल अभिलाषा सब अन्य अभिलाषाओं को पीछे छोड़कर उस मनुष्य को अपने पीछे खींचकर ले जाती है और स्वयं उसकी अग्रणी होती है। **अग्रणी** का ही संक्षेप '**अग्नि**' है। अब यदि कोई चतुर मनुष्य इन दो प्रशंसकों में से, यह जांच कर कि स्त्री का हित तथा रुचि किसमें है? उनमें से एक की अभिलाषा को भाई-बहिन अथवा सखा-सखी के रूप में बदलकर तीनों में **सौहार्द** उत्पन्न कर दे तो उसे हम **नीतिज्ञ** कहेंगे, क्योंकि उसने **अग्रणियों** का भी **अग्रणीत्व** किया है।

अब हम यदि एक मनुष्य की प्रबल अभिलाषा के निरन्तर प्रवाह को एक तन्तु से उपमा दे दें तो हम कहेंगे कि उसने तीनों के तारों से एक ऐसा कपड़ा बुन दिया है जो तीनों को ढक गया तथा सुन्दर बुना गया। कपड़े के दो ही उद्देश्य हैं। शीतोष्णादि विकारों से बचाना तथा दूसरों के लिये मनोरम बनाना, इसलिये भारतीय नीतिशास्त्र में '**तन्त्र**' तथा '**आवाप**' ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। स्वराष्ट्रनीति का नाम '**तन्त्र**' नीति तथा परराष्ट्रनीति का नाम '**आवाप**' नीति है जो सुख शान्ति के बीज तुमने परराष्ट्रों में बोये हैं उन्हीं के तन्तु वस्त्र बनकर तुम्हें ढांकेंगे। सो परराष्ट्रनीति '**आवाप**' (आ+वप्+घञ्) नीति है और स्वराष्ट्रनीति '**तन्त्र**' (तन्+त्र) नीति है। तन्त्र शब्द वेद में स्पष्ट ही वस्त्र अर्थ में आया है ('**तन्त्रमेके**' अथर्व० १०. ७. ४२)।

अब मन्त्र के एक और शब्द का अर्थ जानना शेष रह गया है, वह शब्द है 'यम'। निरुक्त में भगवान् यास्क कहते हैं—'अग्निरपि यम उच्यते' (नि. दैवत. १०,२.२०) शतपथ में लिखा है 'अग्निर्वै यमः इयं (पृथिवी) यमी' (शत. ७.२.१.१०)। अब प्रश्न यह है कि यहाँ इस मन्त्र में अग्नि न कहकर परमेश्वर ने यम क्यों कहा ? सो इसका अभिप्राय है कि जो अग्नि (प्रबल अभिलाषा) समाजकल्याण की बुद्धि से यमन में—नियमों के बन्धन में आने को तय्यार हो वह 'यम' है। अब मन्त्र का अर्थ इस प्रकार हुआ—

वसिष्ठ अर्थात् प्रजामात्र को सुख तथा सौन्दर्य का परिधान पहिनाने की विद्या में चतुरतम* राजनीति-विशारद लोग, हर मनुष्य का नियन्त्रणसह प्रबल अभिलाषा-रूप अग्नि जिस वस्त्र को बुनना चाहता है उस वस्त्र को बुनने के निमित्त प्रजा-रूप सुन्दर युवतियों❋ के पास पहुँचते हैं और जिस प्रकार सच्चे वात्सल्ययुक्त पिता, युवतियाँ लज्जावश जिस रहस्य को छिपाए रखती हैं उसे भी प्रेमपूर्वक निकाल लेते हैं; इसी प्रकार प्रजा के हृदय में छिपे हुए भाव को उनकी स्वाभाविक चेष्टाओं के प्रकेतों से (चाहे संकेत उलटे ही क्यों न हों) जानकर उनकी पूर्त्ति के लिये रातदिन सञ्चार करते हैं और उनके सुख-रूपी बीज को सहस्रशाख वृक्ष बना देते हैं—

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ॥ (९ म मन्त्र)

हे वसिष्ठ ! भौतिक दुनियाँ में तुम जल हो। क्योंकि, पृथिवी तेज, वायु और आकाश चारों तत्त्व मिलकर भी न दुनियाँ को वसा सकते हैं और न उसे हरियावल से आच्छादित कर सकते हैं. जब-तक कि तुम्हारा सहयोग न हो, इसलिये वे वसु भले ही हों, पर 'वसिष्ठ' तुम्हीं हो। हे वसिष्ठ ! इस भौतिक संसार में तुम कैसे उत्पन्न हुए ? मित्र और वरुण ने=प्राण और उदान ने+ अपने आप को तुम्हारे रूप में देखा (मित्रावरुणौ आत्मानं त्वा त्वद्रूपमपश्यताम्), परन्तु एतत्स्वरूपपरित्याग-पूर्वक देहान्तर-धारण तब हुआ, जब विद्युत् में से एक ज्योति निकलकर तुम में आ मिली। यह तुम्हारा एक जन्म है। उस समय अगस्त्य अर्थात् वायु (अगेषु पर्वतेषु स्त्यायते) ने तुझे तेरे निवास स्थान से ऊपर उठा लिया अर्थात् प्राण और उदान में विद्युत्सम्पर्क होने से जब जल उत्पन्न होता है तो वायु उसे उड़ाकर ले जाता है, इसी प्रकार राजनीति के उत्पन्न होते ही उसकी हवा चारों ओर वहने लगती है—हवा उसे उड़ाकर ले जाती है—

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा ।
तत् ते जन्मोतैकं वसिष्ठाऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार ॥ (१० म मन्त्र)

हे वसिष्ठ ! जो भौतिक संसार में प्राण तथा उदान से तुम्हारा जन्म होता है वह तो तुम्हारा एक जन्म हुआ, अब दूसरा जन्म भी लो। मानव-समाज में भी तुम मैत्रावरुण हो। क्योंकि

---

* साधारणतया चतुर 'वसु', वसुतर 'वस्यस्' और वसुतम 'वसिष्ठ'।
❋ 'युवतयः शोभनाः'=अप्सरसः (शत. १३. ४. ३. ८)
+ प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (शत. १. ८. २. १२)

मानवसमाज में आचारशास्त्र के ज्ञाता तथा मित्र बनकर उपदेश द्वारा संसार को सदाचार की शिक्षा देने वाले ब्राह्मण का नाम **मित्र** तथा दण्डनीयों को अदण्डयों से पृथक् करके फिर उन्हें दण्ड देने वाले अथवा ब्राह्मणनिर्दिष्ट मार्ग का वरण करके संसार को उस पर चलाने वाले क्षत्रिय का नाम **वरुण** है। **राजनीतिज्ञ ब्राह्मण को मैत्रावरुण होना आवश्यक है,** इसीलिये १६ ऋत्विजों में होता के सहायक ऋत्विज् को '**मैत्रावरुण**' कहते हैं। इसका दूसरा पर्यायवाची '**प्रशास्ता**' अर्थात् उत्तम शासक है।

राजसूय यज्ञ में जब अध्वर्यु यजमान की दोनों भुजाएँ ऊपर उठाता है, उस समय वह मन्त्र पढ़ता है—'**आरोहतं वरुण मित्र गर्त्तम्**' (यजुः १०. १६)। इसका अर्थ है—हे वरुण ! (दक्षिण-भुजा) हे मित्र ! (वामभुजा) तुम दोनों पुरुष नाम के व्याख्यान-पीठ पर आरोहण करो। इस पर शतपथ में लिखा है—'**बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणः**' (शत. ५. ४. १. १६)—**क्षत्रिय दो भुजाओं से मैत्रावरुण है**। फिर शतपथ में ही कहा है—'**ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणः**' (शत, ४. १. ४. १)—**ब्राह्मण मित्र है और क्षत्रिय वरुण**। सो, राजनीतिज्ञ ब्राह्मण भी **मैत्रावरुण है**, क्योंकि वह **आचार-शास्त्र** तथा **विधानशास्त्र** (Ethics and Low) दोनों का पण्डित होना चाहिये।

इसलिये हे मानव-समाज के वसिष्ठ ! तुम भी **मैत्रावरुण** हो। ब्राह्मणमार्ग (=मित्रमार्ग) और क्षत्रियमार्ग (=**वरुणमार्ग**) दोनों में पारङ्गत हो तथा हे ब्रह्मन् ! उर्वशी से अर्थात् अत्यन्त प्रबल अभिलाषा से तुम्हें इस पद के योग्य समझने वाली लोकमति के मन से तुम्हारा जन्म हुआ है।

तुम्हारा पहिला जन्म गुरुकुल में हुआ जहाँ तुमने '**मित्र**' तथा '**वरुण**' दोनों विद्याओं का पूर्णरूप से अध्ययन किया। उस समय विद्युत् के समान चमकने वाली तुम्हारी प्रतिभा के चमत्कार को देखकर हवा जल के समान तुम्हें ले उड़ी, परन्तु तुम्हारा दूसरा जन्म तब हुआ जब लोकमति ने तुम्हारा **मित्रशास्त्रज्ञान** तथा **वरुणशास्त्रज्ञान** देखकर मननपूर्वक तुम्हें '**वसिष्ठ**' पद के लिये चुना। उस समय तुम दिव्य वीर्य से उत्पन्न हुए और जैसे, कमलपत्र पर ओस का जल मोती के समान शोभा पाता है, वैसे ही जब तुम्हें विद्वानों ने अपने अनुमोदन-रूपी पुष्टिकारक पत्र पर उठा लिया तब तुम सुशोभित हुए—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वा ददन्त ॥ (११ श मन्त्र)

इस संसार में **द्यौः** और **पृथिवी** के समान जनता के भी दो भाग हैं—एक **नेता** और दूसरे **नीयमान**। नीयमान अपना सर्वस्व नेता के लिये दान करते हैं तथा नेता उसे सहस्रगुण करके उन्हें दान करता है—लौटाता है।*

यह राजनीतिविशारद वसिष्ठ, कौन '**सहस्रदान**' होकर नेता पद के योग्य है ? और कौन **सर्वस्वदानी** होकर अनुयायी कहलाने योग्य है इन दोनों के देशकालपात्रादि की मीमांसा का पूर्ण ज्ञान रखता है तथा पक्षपातरहित होकर दोनों का झण्डा उठाये रहता है (**प्रकेतः**), यह **प्रकृष्ट न्याय** ही इसका झण्डा है। सम्पूर्ण मानवराष्ट्र की अभिलाषाग्नि के तन्तुओं को उलझने से बचाकर उनका

* सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः (रघुवंश १. १८)

सुन्दर परिधान बुनने की इच्छा वाला यह, इस सबको वश में करने वाली अथवा प्रबल प्रेम करने वाली (उरुवशी = उर्वशी) लोकमति-रूप तरुणी के गर्भ से जन्मा है। यह इसका मानस जन्म है (मनसोऽधिजातः)—

स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः ।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः ॥ (१२ श मन्त्र)

हर 'वसिष्ठ' के साथ एक न एक 'अगस्त्य' भी आवश्यक है जो हवा के समान उसे ले उड़े और दुर्गम (= अग) घाटियों में भी फैल जाये।

वसिष्ठ का चुनाव करने वाले सब एक सत्र (= बैठक) में इकट्ठे हुए। उनमें मित्र (= ब्राह्मणवर्ग) और वरुण (= क्षत्रियवर्ग) दोनों ने अपना सारभूत ज्ञान दो प्रकार के व्यक्तियों को दिया। एक तो उनमें कठिनाइयों से पार उतरने के लिये हर चीज़ का ठीक-ठीक नाप करने वाला 'अगस्त्य' था और दूसरा उन सुलझे हुए विचारों द्वारा ऐश्वर्य की ओर एकाग्र मन वाला (दक्षिण-तस्कपर्द), इन्द्र को पाशद्युम्न के जाल में फंसने से बचाने वाला और एक मानवराष्ट्ररूप महान् परिधान का रचने वाला 'वसिष्ठ' था। एक ही प्रकार के आन्दोलन-रूप घड़े में समानरूप से मित्र-वरुण दोनों ने अपना सार सिञ्चित किया। उनमें से पहिले 'अगस्त्य' (= कठिन से कठिन समस्याओं को ठीक-ठीक नाप द्वारा सुलझाने वाला 'मान' उत्पन्न हुआ और उस 'मान' से 'वसिष्ठ' ऋषि उत्पन्न हुआ और सदा ऐसा हुआ करता है, इस प्रकार सब विद्वान् कहते आये हैं—

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम् ।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥ (१३ श मन्त्र)

हे निराशा के साथ सङ्घर्ष करके—भित्ति तोड़कर निकलने वाले साहसी प्रतृदो ! तुम वसिष्ठ को प्रसन्नतापूर्वक चारों ओर से घेर लो। यह तुम्हारे पास आता है। इसके पास कविताधारी भी हैं, सङ्गीतधारी भी हैं और निर्भय होकर सत्य की घोषणा करने वाले भी हैं। किं च, यह उन सब को ठीक-ठीक प्रवचन करके पहिले तय्यार कर लेता है—

उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत् प्र वदात्यग्रे ।
उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो वसिष्ठः ॥ (१४ श मन्त्र)

चतुस्त्रिंश सूक्त

अब महावसिष्ठ के साथ मिलकर सब राष्ट्रों के वसिष्ठ विश्वराष्ट्रपति इन्द्र के पद पर योग्य व्यक्ति को प्रतिष्ठित करने के लिये एक स्थान पर बैठे हैं। महावसिष्ठ कहता है—हे मेरे सहयोगी वसिष्ठो ! विश्व के एक राष्ट्रनिर्माण का कार्य सहज नहीं। आज यहां पार्थिव और दिव्य दोनों प्रकार के जन्म को जानने वाले (= प्रकेतः उभयस्य विद्वान् ३३. १२) लोग इकट्ठे हुए हैं। हम सब एक होकर सुव्यवस्थित मार्ग निश्चित करें। वह हमारी मनीषा एक बलवान् उत्तम शिल्पी द्वारा निर्मित रथ के समान सुपरिकल्पित हो—

प्र शुक्रैतु देवी मनीषा अस्मत् सुतष्टो रथो न वाजी ॥ (१ म मन्त्र)

वह मनीषा हम से प्रकट हो और फिर संसार भर की प्रजा (मनुष्या वा आपः, शत० ७.३.१. २०) आनन्दाश्रु बरसाती हुई उस मनीषा को—उस सुनिर्णीत कार्यपद्धति को सुने—

विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं शृण्वन्त्यापो अध क्षरन्तीः ॥ (२ य मन्त्र)

हम जिस इन्द्र को स्वपद पर प्रतिष्ठित करने चले हैं उसके लिये साधारण प्रजा ही आनन्दाश्रु न बहावे, किन्तु 'वृत्रेषु शूरा उग्रा आपः' अर्थात् उपद्रवों का नाश करने वाली सेनाएँ भी उसके नाम पर आप्यायित हों और उसे स्वेच्छापूर्वक अपना नेता चुनें अथवा क्योंकि वसिष्ठ, पार्थिव और दिव्य जन्म का विद्वान् है अर्थात् इस इन्द्र के पार्थिव जन्म = सुशिक्षा तथा दिव्य जन्म = प्रजाद्वारा चयन—इन दोनों को जानने वाला है। सो, इस इन्द्र के विषय में इसके द्वारा प्रजा दोनों तत्त्व जान चुकी है कि इसकी शिक्षादि कैसी है और यह दिव्य पद पर प्रतिष्ठित होने के योग्य क्यों है। इन दोनों तत्त्वों को जान लेने के बाद आनन्दातिरेक से वह प्रजा भी आनन्दाश्रु बरसाती है और शूर उग्र सेना भी—

आपश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथ्वीर्वृत्रेषु शूरा मंसन्त उग्राः ॥ (३ य मन्त्र)

हे वसिष्ठो ! तुम संसार की प्रजा से कहो कि संसार भर के अश्वों अर्थात् क्षत्रियों को इस इन्द्र का रथ वहन करने के लिये जोत दो। यह सूर्य के समान वज्री तथा हिरण्यबाहु है—

आ धूर्ष्वस्मै दधाताश्वानिन्द्रो न वज्री हिरण्यबाहुः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

सेना ही नहीं, हर व्यक्ति यह समझे कि मैं इसे इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये घर से प्रस्थान कर चुका हूँ और घर से प्रस्थित बटोही के समान स्वयं रास्ता ढूढूंगा और मंजिल पर मुसाफिर की तरह पहुँचकर ही छोड़ूंगा। स्वयं ही नहीं, सब एक दूसरे को ऐसा करने की प्रेरणा करो—

अभि प्र स्थाताहेव यज्ञं यातेव पत्मन् त्मना हिनोत ॥ (५ म मन्त्र)

हे इन्द्र के पक्षपोषको ! तुम्हें अपनी यात्रा में अनेक सङ्घर्ष भी करने पड़ेंगे। वहाँ न हम होंगे और न हमारी सुव्यवस्थित मनीषा। वहाँ यह तुम्हारा झण्डा ही तुम्हारा मार्गदर्शक होगा। इस यज्ञ को आगे बढ़ाओ और इस वीर को झण्डा समझकर यथास्थान पहुँचाओ। यह वीर जन-कल्याण के लिये है, इसलिये इसे यथास्थान पहुँचाना ऐसा ही जनहित का कार्य है, जैसे, झण्डा गाड़ना—

त्मना समत्सु हिनोत यज्ञं दधात केतुं जनाय वीरम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

यह जो एक राष्ट्रपतिनिर्माण यज्ञ हम करने चले हैं इसके बल से मानव-समाज में सूर्योदय-सा हो जायगा। यह यज्ञ पृथिवी के समान समस्त मानव-समाज का भारवहन करता है—

उदस्य शुष्माद् भानुर्नार्त बिभर्ति भारं पृथिवी न भूम ॥ (७ म मन्त्र)

महावसिष्ठ कहता है—मैं निष्कपट भाव से समस्त धरती के देवों को अर्थात् ईमानदार

पुरुष को (सत्यमेव देवा:, शत० १. १. १. ४) इस यज्ञ में निमन्त्रित करता हूँ। मैं हर कार्य को ठीक-ठीक नापकर करने के लिये प्रस्तुत करता हूँ—

ह्वयामि देवाँ अयातुरग्ने साधन्नृतेन धियं दधामि ॥ (८ म मन्त्र)

हे इन्द्र को अपने पद पर प्रतिष्ठित करने के अभिलाषी लोगो ! कभी कोई बुद्धिविरुद्ध बात अपने पक्ष के समर्थन में मत कहो। अपने सामने सदा बुद्धि देवी को रक्खो। किं च, वाणी से कोई क्षुद्रता भरी कमीनी बात भी मत कहो। **अपनी वाणी को सदा देवलोक की वाणी बनाये रक्खो—**

अभि वो देवीं धियं दधिध्वं प्र वो देवत्रा वाचं कृणुध्वम् ॥ (९ म मन्त्र)

याद रक्खो, तुम्हारे हृदय में चलने वाली धाराओं को अन्तर्यामी भगवान् भली प्रकार जानता है, वह किसी को बख्शने वाला नहीं। वह उग्र है और हजार आँखों वाला है—

आ चष्ट आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः ॥ (१० म मन्त्र)

तुम मत भूलो कि तुम क्या बनाने चले हो। तुम सब राष्ट्रों का एक राजा बनाने चले हो, वह संसार भर की सब प्रकार की नदियों को—**नाडीरूप शरीरनदी, नहररूप भौतिकनदी** और **सेनारूप सामाजिक नदी** इन सबको ठीक रूप अर्थात् **विश्वस्वास्थ्यनदी, विश्वकृषिजलनदी** और **विश्वसेनानदी** इन सबको ठीक रूप=सम्मिलित एक रूप देने वाला होगा। उसके बल को कोई नहीं रोक सकेगा, क्योंकि वह सारे विश्व का सम्मिलित बल होगा (**विश्वायु**), संसार भर के क्षत्रिय उसमें एक होंगे—

राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु ॥ (११ श मन्त्र)

हे संसार भर के मनुष्यो ! हम वसिष्ठ लोग अलग-अलग राष्ट्रों के वसिष्ठ नहीं रहना चाहते, हमें सम्पूर्ण विश्व की प्रजाओं में पहुँचाओ और इस प्रकार सर्वसम्मत समर्थन से निन्दकों को निस्तेज कर दो—

अविष्टो अस्मान् विश्वासु विक्ष्वद्युं कृणोत शंसं निनित्सोः ॥ (१२ श मन्त्र)

परमाग्नि परमात्मा जो सब **हव्यादों का हव्याद्** है, वह हमारी रक्षा करे। हमने नमस्कार-पूर्वक उसकी प्रियतम स्तुति की है। हम जो मांग रहे हैं, उसी के लिये पूर्ण बल से प्रयत्नशील भी हैं—

अवीन्नो अग्निर्हव्यान्नमोभिः प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोमः ॥ (१४ श मन्त्र)

'अपांनपात्', जल द्वारा उत्पन्न होने वाली विद्युत् का नाम है। इस संसार में लोकप्रिय मनुष्यों को भी **'अपांनपात्'** कहा जाता है, क्योंकि वे लोक की किसी न किसी जलधारा के बल से चलते हैं, परन्तु वह जलधारा राक्षसी भी हो सकती है। कई मनुष्य संसार की दुष्ट प्रवृत्तियों को तृप्त करके लोकप्रिय बनते हैं। वे **अपांनपात्** (प्रजा के लाडले) तो हैं, परन्तु **'सजूर्देवेभिः'** नहीं हैं, **'सजूरक्षोभिः'** हैं, इसलिये कहा कि हे इन्द्र को स्वपद पर प्रतिष्ठित करने के अभिलाषियो ! तुम हर राष्ट्र के उन लोकप्रिय मनुष्यों को मित्र बनाओ जो दिव्य भावनाओं में प्रेरित होकर लोकप्रिय बने हैं। जिससे हमारा कल्याण हो, क्योंकि केवल लोकप्रिय होना तो अशिव का कारण भी हो सकता है—

सजूर्देवेभिरपांनपातं सखायं कृध्वं शिवो नो अस्तु ॥ (१५ श मन्त्र)

जहाँ लोकप्रिय मनुष्यों को मित्र बनाओ वहाँ यह भी देखो कि हर राष्ट्र में जो **विचारनदी अर्थनदी** और **सैन्यनदी** आदि नदियाँ बह रही हैं उनके मूल में देदीप्यमान आसन पर बैठे हुए गम्भीर नेता कौन से हैं ? जिनका कि जन्म ही लोककल्याण के लिये हुआ है (=अब्जाम्) । इस बात का ध्यान रक्खो कि तुम उनकी उचित स्तुति कर रहे हो—

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन् ॥ (१६ श मन्त्र)

वे लोकप्रिय लोग नहीं, किन्तु बुनियादी लोग हैं—'**बुध्न्य**' हैं । वे कहीं हमारे रथ को खड्डे में न डाल दें । उन यथार्थ ज्ञान के दीवाने लोगों के अभिशाप से हमारा यज्ञ दलदल में न फंस जाय—

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मागा यज्ञो अस्य स्रिधद् ऋतायोः ॥ (१७ श मन्त्र)

वे बुध्न्य लोग शाप न दें । उलटा हमारे इन मनुष्यों को अपने अनुभव सुनाएँ और उनका सदुपदेश पाकर प्रजा वीरनाद करती हुई राष्ट्र की आर्थिक उन्नति में लग जावे (**'प्रजा वा अरीः'**, श० ३. ९. ४. ३१) ।

उत न एषु नृषु श्रवो धुः प्र राये यन्तु शर्धन्तो अर्यः ॥ (१८ श मन्त्र)

एक मानवराष्ट्र बन जाने पर अलग-अलग सेना नहीं रहती, अपितु एक महासेना बन जाती है और ऐसे महासेनायुक्त विश्वराष्ट्रपति सूर्य के समान (**स्वर्णः**), अपने शत्रुओं को अपनी सत्ता और इन महासेना के सैनिकों के बलों से तपाते हैं—

तपन्ति शत्रुं स्वर्ण भूमा महासेनासो अमेभिरेषाम् ॥ (१९ श मन्त्र)

जब इस प्रकार विश्वराष्ट्र की महासेना के सैनिक बनकर हम अपनी पत्नियों के पास जाते हैं तो फिर वीर्यरूप दान करने वाला व्यक्तित्व का देव **त्वष्टा** हमारे कुल में वीर पुत्र अपने पवित्र हाथों से देता है—

आ यन्नः पत्नीर्गमन्त्यच्छा त्वष्टा सुपाणिर्दधातु वीरान् ॥ (२० श मन्त्र)

त्वष्टा देव हमारी प्रार्थना सुने । हमारा व्यक्तित्व ही लोककल्याणमय हो जाय और इस प्रकार व्यक्तित्व का देवता त्वष्टा भी हमारे सामूहिक धन की वृद्धि करने वाला और पूर्ण बुद्धियुक्त हो अथवा कभी कार्य से विरत न हो, अनथक हो (अ+रमतिः)—

प्रति नः स्तोमं त्वष्टा जुषेत स्यादस्मे अरमतिर्वसूयुः ॥ (२१ श मन्त्र)

जब तक स्त्री-जाति का सहयोग न होगा हमारा यज्ञ सफल न होगा, इसलिये हम, सबका सच्चा आवरण करने वाली **वरूत्रियों** की शरण में जाते हैं । त्वष्टा देवता उन्हीं की सहायता से उत्तम सन्तान देकर हमारी रक्षा कर सकता है, अतः हम पत्नियों की शरण में आये हैं । **'वरुणानी'** अर्थात्

विवेकपूर्वक चुनाव की शक्ति हमारे नेता तथा नीयमान दोनों में प्रादुर्भूत होकर हमारी बात सुने—

ता नो रासन् रातिषाचो वसून्या रोदसी वरुणानी शृणोतु ।
वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः ॥ (२२ श मन्त्र)

हमारे पास धन हो—धन ही नहीं, धन के पर्वत हों । हमारी मानव-प्रजा, उनमें ओज भरने वाले विद्यालय (ओष+धि), हमारी विद्वन्मण्डली (=द्यौः) और हमारे तपोवनों के कुलपतियों (वनस्पति) के साथ पृथिवी अर्थात् ब्रह्मचारी-मण्डली, ये सब द्यौः और पृथिवी हमारी रक्षा करें—

तन्नो रायः पर्वतास्तन्न आपस्तद् रातिषाच ओषधीरुत द्यौः ।
वनस्पतिभिः पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो नः ॥ (२३ श मन्त्र)

जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी एक दूसरे के दुःख में दुःखी होकर रोते हैं—पृथिवी को तपता देखकर द्यौः वर्षा के रूप में रोती है और आकाश को तपता देखकर धरती दावानल से धूमिल शोकाकुल रूप धारण करती है, उसी का अनुकरण हमारे नेता और नीयमान भी करें । जिस प्रकार देदीप्यमान वरुण (=उदान वायु) इन्द्र का मित्र बनता है, इसी प्रकार क्षत्रियमात्र इन्द्र के सखा बनें, ('क्षत्रं वरुणः' श० ४. १. ४. १) जिस प्रकार मरुत् सूर्य के सहयोगी बनते हैं, उसी प्रकार सैनिक भी इस विश्वराष्ट्रपति के सहयोगी हों और हम विश्वकोष के निधिधाम बनें—

अनु तदुर्वी रोदसी जिहातामनु द्युक्षो वरुण इन्द्रसखा ।
अनु विश्वे मरुतो ये सहासो रायः स्याम धरुणं धियध्यै ॥ (२४ श मन्त्र)

वसिष्ठ कहते हैं—इस प्रकार इन्द्र, वरुण (=पोलिस का अध्यक्ष), मित्र (=सदाचार-शास्त्री ब्राह्मण), अग्नि (=पुरोहित) और ओषधि (=विद्यापीठ) ये सब प्रीतियुक्त होकर हमारे यज्ञ में जुट जावें । हम सैनिकों की गोद में ऐसे बैठें, जैसे अपने घर में पहुँच गये हों । तुम सब मिलकर स्वस्तियों द्वारा सदा हमारी रक्षा करो—

तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त ।
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (२५ श मन्त्र)

पञ्चत्रिंश सूक्त

इस प्रकार महासेनानिर्माण से सर्वत्र शम् ही शम् हो ।

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः ···॥ (१ म मन्त्र)
···शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः ॥ (१३ श मन्त्र)

षट्त्रिंश सूक्त

सारा संसार ज्ञान की खोज के धन्धे में लग जावे और ऋत के सदन से ज्ञान चारों ओर फैले—

प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्निः ॥ (१ म मन्त्र)

नये से नया—

'नवीयः' ॥ (२ य मन्त्र)
'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (९ म मन्त्र घ)

सप्तत्रिंश सूक्त

चारों ओर 'ऋभुक्षा'=उत्तम शिल्पी, नये से नये जो अभी तक किसी ने न ढूंढे हों (अमृक्तम्) ऐसे रत्नों का दान करें—

यूयं ह रत्नं मघवत्सु धत्थ स्वर्दृश ऋभुक्षणो अमृक्तम् ॥ (२ य मन्त्र क ख)

हम वसिष्ठ लोग नये से नया ज्ञान दें—

वयं नु ते दाश्वांसः स्याम ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः ॥ (४ र्थ मन्त्र ग घ)

इन्द्र सर्वत्र लोककल्याण के लिये घूमे, उसे कभी घर में बैठना न मिले—

'अस्ववेशं यं कृणवन्त मर्ताः' ॥ (७ म मन्त्र)
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (८ म मन्त्र घ)

अष्टात्रिंश सूक्त

जिस प्रकार महासेना बनी, उसी प्रकार 'महासावित्री' अर्थात् विश्व भर की एव विधान-निर्मात्री सभा का होना भी आवश्यक है। यह मण्डल वसु, वस्यान् और वसिष्ठों का है। संसार भर के राजनीतिक चेतना वाले इस सविता की शपथ लेते हैं, ऐसा तीसरे मन्त्र में कहा है।

वह सविता देव अपने ज्योतिर्मय रूप से (दण्डमय रूप से नहीं, वह तो वज्री इन्द्र का रूप है) नियम बनाकर इस धरती को बन्धन में बांधता चला आया है। जब वह सविता रूप आश्रयण करता है तब नियम बनाकर उनमें विश्व को बांधना यही उसका कर्त्तव्य होता है। विश्व के सब रत्न उसके पास हैं—

उदु ष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत् ।
नूनं भगो हव्यो मानुषेभिर्वि यो रत्ना पुरूवसुर्दधाति ॥ (१ म मन्त्र)

हे सवितः ! (=नियमनिर्माता तथा आज्ञा देने में समर्थ !) हममें से जो भी कुछ अधिकार मांगता है उसका ठीक-ठीक नापने का (=ऋतस्य) अधिकार तुझे है, इसलिये तू सबकी सुन। इस

पृथिवी को क्या रूप देना है इसका निर्णय तू कर तथा किस मनुष्य को कितना भोग्य पदार्थ किस प्रकार मिलना है इसका निर्णय तू कर—

उदु॑ तिष्ठ सवितः श्रु॒ध्य१॒स्य हिर॑ण्यपाणे॒ प्रभृ॑तावृ॒तस्य॑ ।
व्यु१॒र्वीं पृ॒थ्वीम॒मतिं॑ सृजा॒न आ नृभ्यो॑ मर्त॒भोज॑नं सु॒वा॒नः ॥ (२ य मन्त्र)

संसार भर के राजनीतिक चेतना वाले वसु लोग जिस सविता की स्तुति करते हैं, विश्वराष्ट्र-निर्माण में सबसे प्रथम प्रस्तुत हो—

अपि॑ ष्टु॒तः स॑वि॒ता दे॒वो अ॑स्तु॒ यमा॒ चि॒द् विश्वे॒ वस॑वो गृ॒णन्ति॑ ।
स न॒: स्तोमा॑न् नम॒स्य१॒श्चनो॑ धा॒द् विश्वे॑भिः पातु पा॒युभि॒र्नि सू॒रीन् ॥ (३ य मन्त्र)

यह अदिति देवी = धरती, धरती पर बसने वाली प्रजा सबसे प्रथम इस सविता को सामने रखकर शपथ लेती है और सदा इसकी आज्ञा का प्रीतिपूर्वक सेवन करती है—पालन करती है। इस धरती के पाशधारी सम्राट् **वरुण**, उपदेशक सम्राट् **मित्र** तथा पदार्थों में किसका कितना स्वामित्व है यह नापने वाले न्यायाधीश (**अर्यमा**) ये तीनों ही सम्राट् इसी के सामने आज्ञा-पालन की शपथ लेते हैं और परस्पर प्रीतिपूर्वक चलते हैं, क्योंकि उनके बीच **'सविता'** रूप बन्धन-सूत्र है—

अ॒भि यं दे॒व्यदि॑तिर्गृ॒णाति॑ स॒वं दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्जु॑षा॒णा ।
अ॒भि स॒म्राजो॒ वरु॑णो गृ॒णन्त्य॒भि मि॒त्रासो॑ अर्य॒मा स॒जोषा॑: ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जब लोग परस्पर बंटवारे के लिये समवेत होते हैं और निर्णय करते हैं कि कितना भाग द्यौः का—**आध्यात्मिक उन्नति** का है और कितना पृथिवी का—**भौतिक अन्न-वस्त्रादि सामग्री** का? उस समय हर विचारधारा के बुनियादी पुरुष भी वहाँ उपस्थित होते हैं। संसार का पालन करने वाली स्त्रीजाति भी वहां उपस्थित होती है। वे सब भी हमारी प्रार्थना सुनें कि तुम्हें भी सविता के नियमों को सामने रखकर (**अभि**) चलना है—

अ॒भि ये मि॒थो व॒नुष॒: सप॑न्ते रा॒तिं दि॒वो रा॑ति॒षाच॑: पृथि॒व्याः ।
अहि॑र्बु॒ध्न्य॑ उ॒त न॑: शृणोतु वरू॒त्र्येक॑धेनुभि॒र्नि पा॑तु ॥ (५ म मन्त्र)

धरती का राजा (**जास्पति = विश्वराष्ट्रपति**) भी देव सविता के शासन को मानता हुआ उसकी अनुमति से चले। यह सविता ही **भग देवता** है। जो सबके दोषों को जानता हुआ भी क्रोध में न आकर ठीक निर्णय करता है। उनके दोषों के प्रति उचित रूप से अन्धा होना जानता है, इसलिये उग्र स्वभाव वाले और नम्र स्वभाव वाले दोनों ही इस **भजनीय सविता** को अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं (**'अन्धो भगः'** शत० १. ७. ४. ६)। भाव यह है कि उग्र तो उग्रता के बल से अपना काम चला ही लेते हैं, किन्तु सविता के नियमों से रक्षित होकर अनुग्र की भी रक्षा हो जाती है—

अनु॒ तन्नो॑ जास्पति॑र्मंसीष्ट॒ रत्नं॑ दे॒वस्य॑ सवि॒तुरि॑या॒नः ।
भग॑मु॒ग्रोऽव॑से॒ जोह॑वीति॒ भग॒मनु॑ग्रो॒ अध॑ याति॒ रत्न॑म् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

सविता की सभा के वे जानदार पारिषद्य (=वाजिनः) भी हमें शान्ति दें—जो कि मितद्रु हैं, दौड़ने में भी नपा हुआ पग रखते हैं और अजगर के समान अगतिशीलों को और भेड़िये के समान लोभी तथा राक्षस-स्वभाव वालों को अपनी विधाननिर्माण की दाढ़ में रखकर चबा डालते हैं। वे सदा हमारे साथी रहें और हर प्रकार के रोगों को हम से पृथक् करते रहें—

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवाः॥ (७ म मन्त्र)

हे न्यायनिर्माता ऋतज्ञ मेधावी विप्रो! तुम युद्ध-युद्ध में हमारी रक्षा करो—हमारी सम्पत्ति की रक्षा करो। हम जो प्रेमोपहार आपको देते हैं, उसे स्वीकार कीजिये और सदा हमारे पास से तृप्त होकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ यान द्वारा अपने स्थान पर जाइये—

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥ (८ म मन्त्र)

एकोनचत्वारिंश सूक्त

अग्नि, इन्द्र, सविता आदि किसी देव की लम्बी स्तुति के पश्चात् 'विश्वेदेवाः' की स्तुति इसलिये की जाती है कि उस देवता के (=परमात्मा के दिव्य गुण के) सेवन का ठीक नाप यही है कि उससे सब देवों का भला हो। सो, वसिष्ठों की (राजनीति-विशारदों की) उत्तम नीति का क्या फल है यह ३९ वें सूक्त में बताया है। भाव यह है कि जब विधाननिर्माण ठीक होगा तो जिस प्रकार भगवान् के सब गुण सदा एकरस रूप से विकसित रहते हैं, उसी प्रकार मानवराष्ट्र के हर विभाग में भी विकास दृष्टिगोचर होता है। निरुक्त के दैवतकाण्ड के 'तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव' (नि० ७. ५. २. ६) शब्दों का यही तात्पर्य है जिसे न जानकर भारत के वर्त्तमान पौराणिक लोग मार्गभ्रष्ट हो गये।

यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (७ म मन्त्र)

चत्वारिंश सूक्त

राष्ट्र के सब विभागों के विकास से हम प्रजाजनों को क्या लाभ होता है यह चालीसवें सूक्त में कहा है। यह वसिष्ठों की कृपा है।

यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (७ म मन्त्र)

एकचत्वारिंश सूक्त

वसिष्ठों (राजनीति-विशारदों) की कृपा से घर-घर में प्रातःकाल का दृश्य उपस्थित होता है। सारा परिवार मिलकर कहता है—

हम विश्व-परिवार के अङ्गभूत इस परिवार के लोग इस प्रातःकाल* में अपने-अपने ब्राह्मणत्व

---

* प्रातः—'प्र'=आरम्भ करता हूँ, 'अतः'=यहाँ से अथवा 'प्रा' पूरणे रात्रिशयन द्वारा सब प्रकार की न्यूनता दूर हुई, मैं पूर्ण होकर फिर कार्य आरम्भ करने लगा हूँ।

क्षत्रियत्वादि स्वयंवृत वर्णधर्मरूप व्रत को पुकारते हैं, क्योंकि वही हमें परमाग्नि परमात्मा से मिलाने वाला दूत है ('अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे' ऋ० १. १२. १.) उसके पश्चात् हम 'इन्द्र' को पुकारते हैं, क्योंकि अग्नि द्वारा हमें इस पद तक पहुँचना है ('स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' गीता १८. ४६), हमें पापपुण्य का विवेक देने वाले 'मित्र' देवता तथा अपराध-अनपराध का विवेक देने वाले 'वरुण' देवता को पुकारना है। नहीं तो हम इन्द्र पदवी तक कैसे पहुँचेंगे ? जो भी क्षेत्र हमने चुना है उसमें हमें इन्द्र बनना है। कवीन्द्र, आयुर्वेन्द्र, व्याकरणेन्द्र, सङ्गीतेन्द्र आदि कुछ भी हो, हमें इन्द्र बनना है, परन्तु इस यात्रा में पापपुण्य का विवेक देने वाले वरुण को हम पुकारते हैं। जो हमसे आगे हैं उनसे अगला कुंडा जोड़ना है, जो पीछे हैं उनसे पिछला कुंडा जोड़कर उन्हें आगे लाना है। तब एक नियुत् (Trian) बनेगी, अतः हम इन दो कुंडों के लिये 'अश्वियों' को पुकारते हैं।

प्रातःकाल हम एक दूसरे के दोषों को जानते हुए भी सहन करने वाले और शक्ति देने वाले 'भग' देवता को पुकारते हैं। हम आज्ञापालन के देवता 'पूषा' को पुकारते हैं जिसके कि तर्क के दांत नहीं हैं। जब विवेक से जान लिया कि अमुक पुरुष बड़ा है तो फिर आज्ञापालन में तर्क नहीं करना; जैसे कि सिर की आज्ञा को हाथ बिना तर्क के मानता है (पू॒ष्णो ह॑स्ताभ्याम् यजुः १. १०)। नहीं तो मित्र वरुणादि के दिये विचार विचारमात्र रह जायेंगे। किं च, यदि सन्देह हो तो हम वेदज्ञान के भण्डार 'ब्रह्मणस्पति' (परमात्मा तथा तदनुवर्ती ब्राह्मण) को पुकारते हैं। ये सब देवता मिलकर हमारे अन्दर अच्छे पदार्थों के उत्पादन तथा बुरों के नाश की शक्ति उत्पन्न करें, अतः सम्भूति के लिये 'सोम' को तथा विनाश के लिये 'रुद्र' को सदा बुलावें—

प्रा॒तर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं हु॑वेम ॥ (१ म मन्त्र)

इन सब देवताओं में प्रातःकाल के साथ जिसका सबसे अधिक सम्बन्ध है, वह है 'भग' देवता। हम सब में दोष-रहित कौन है ? कोई नहीं। यहां तक कि हम अपनी अल्प दृष्टि से परमात्मा को भी दोषयुक्त समझ बैठते हैं। यद्यपि परमात्मा तो वस्तुतः सर्वथा दोषरहित है, किन्तु हम अल्पज्ञ जीवों को, संसार में दुष्टों का क्षणिक सुख और धर्मात्माओं का क्षणिक दुःख देखकर उसमें भी दोष= त्रुटि प्रतीत होने लगती है, परन्तु मनुष्य में एक शक्ति है जिसका नाम है 'विस्मरण-शक्ति'। जहाँ स्मरणशक्ति हमारा कल्याण करती है वहाँ विस्मरणशक्ति भी हमारी कल्याणकारिणी है, अतः वह भी अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो, यदि हम एक दूसरे के दोषों को सदा याद करते रहें तो हमारा एक क्षण भी सहयोग नहीं हो सकता, इसलिये एक दूसरे के वास्तविक तथा परमात्मा के प्रतीयमान दोषों को विस्मरण करके ही भजन हो सकता है। यह शक्ति सबसे अधिक भगवान् में है, इसीलिये वह हमारे असंख्य अपराधों को विस्मरण-सा करके हमारा कल्याण करता है। इसी भजन की इस आधार-भूत शक्ति का नाम ही 'भग' देवता है और इसके कारण ही भगवान्-भग+वान् कहलाता है।

इस 'भग' शक्ति के साथ परमात्मा का विशेष सम्बन्ध यह है कि रात भर की निद्रा हमें अपने पराये दोष भूलने में सहायक होती है। प्रातःकाल हम विस्मरणशक्ति-सम्पन्न होकर नये सिरे से

नया दिन आरम्भ करें, इसलिये 'भग' देवता प्रातः-स्मरणीयों में श्रेष्ठ है। यह 'भग' देवता दूसरों से भगवान् के गुण सुन-सुनकर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसकी प्रेममयी विस्मरणशक्ति का साक्षात्कार करके जो भजन की प्रबल अभिलाषा उत्पन्न होती है उसका नाम है—जीता हुआ = स्वयं अपने प्रयत्नों से उपार्जित किया हुआ 'भग'। सो, हम प्रातःकाल उस 'जित भग' को, जो कि बड़ी उग्र शक्ति वाला है उसको नित्य पुकारा करें। इस 'अदिति' = धरती = मानवराष्ट्र-प्रजा का धारण करने वाला यह 'भग' देवता ही है और यह इसका पुत्र भी है, क्योंकि इसका नाम 'सर्वं-सहा' है। हम नाना प्रकार का मैल इस अदिति माता पर गिराते हैं; किन्तु यह कुपित होने के स्थान पर हमारे दोष भूलकर—अन्धी होकर ('अन्धो भग' शत० १७. ४. ३) उन गन्दे पदार्थों को, पत्र-पुष्प-फल आदि का सुन्दर रूप देकर हमें वापिस देती है। यह है विस्मरण की पराकाष्ठा, इसलिये 'भग' को 'अदिति' का पुत्र कहा है। यही धरती का विधर्त्ता है।

पराये आधार के बिना खड़े होने में असमर्थ 'आध्र' अर्थात् दुर्बल मनुष्य, मननशील मनुष्य और यहाँ तक कि राजा भी इस भग देवता के विना आगे नहीं बढ सकते, अतः सबके सब कहते हैं कि हे भग देव! मैं तुझे पा जाऊँ—तेरी सेवा करूँ—

प्रातर्जितं भर्गमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥ (२ य मन्त्र)

हे भग! विस्मरणशक्ति-सम्पन्न होने के कारण तू ही प्रकृष्ट नेता है, तू ही हमारी आराधनाओं को सत्य करने वाला है। हम जो इस विश्वराष्ट्रनिर्माण-रूप कर्म में लगे हैं इसमें तू हमें ऊपर उठा ले। हमारी नैया डूबने मत दे। बस, हमें देना है तो यह दे—हमें गौ, अश्व और उनका ठीक उपयोग करने में समर्थ कर दे, जिससे हम भी 'नृवान्' कहलाएँ—

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ (३ य मन्त्र)

यह 'भग' शक्ति जो इस समय प्रातःकाल हमारे पास है—वह दिन भर बनी रहे। ज्यों-ज्यों दिन आगे बढ़े, बनी रहे, मध्याह्न के सुखविश्रान्तिमय समय में बनी रहे (सूर्यास्त तथा रात्रि की निद्रा में बनी रहे) और अगले सूर्योदय में फिर हमारे पास हो; जिससे हम देवों के प्यारे बने रहें—

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यह विस्मरण-शक्ति ही हमारा भगवान् हो अर्थात् हम भगवान् की जैसी विवेकशक्ति-सम्पन्न विस्मरण-शक्ति पावें और उस सच्ची भग-शक्ति से हम भी (अपने-अपने छोटे से क्षेत्रों में) भगवान् बनें, इसीलिये हे भग देवता! हर कोई तुझे वार-वार पुकारता है। सो, तू हमारा अग्रगामी बन, जहाँ-जहाँ हम चलें, आगे-आगे तू चल। हम नित्य नये मित्र बनावें। वे हमारे दोषों को विस्मृत कर सकें और हम उनके दोषों को विस्मृत कर सकें—

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ॥ (५ म मन्त्र)

जिस प्रकार 'दधिक्रावा' (=विजित प्रदेश को सुव्यवस्था द्वारा पूर्णतया वश में लाने वाला) इस पवित्र पद के लिये शुचिता उत्पन्न करता है, इसी प्रकार इस विस्मरण-शक्ति से नवीन उत्साह भरी उषाएँ हमें प्राप्त होती हैं। हमारे सामने, उत्साह भरी उषाओं का जन्मदाता यह वसुवित् भग देवता खड़ा है। हम विश्वकलह-नाशक इस महान् (विश्वराष्ट्र-निर्माण) यज्ञ के लिये भग को याद करते हैं, क्योंकि जब व्यक्तियों के दोष विस्मृत करना कठिन है तो मानव-राष्ट्र की एकता में तो परस्पर किये गये कितने ही अपराध भुलाने होंगे। सो, इस (बृहतो अध्वरस्य ७. ११. ४) महान् अध्वर के लिये उत्साहभरी उषाएँ आवें और वसिष्ठ के सहायक तीव्र वाजियों की तरह भग देवता को हमारे पास ले आवें—

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

भग देवता की कृपा से हमारी हर उषाः गाय, घोड़े और वीरों से युक्त हो, सदा मङ्गलवाली हो, चारों ओर का स्नेह लेकर चारों ओर बरसाती हो। हे भग, अग्नि, इन्द्र आदि प्रातः-स्मरणीय देवो ! तुम स्वस्तियों के द्वारा सदा हमारी रक्षा करो—

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (७ म मन्त्र)

द्विचत्वारिंश सूक्त

४२ वें सूक्त में पुरोहितों से कहा गया है कि हे अग्ने ! आपकी कृपा से हमारे सैनिक तथा इन्द्र यशस्वी हों जिससे वसिष्ठ वह धन प्राप्त करने में समर्थ हो, जिसे वह उत्पन्न किया चाहता है। वह धन कैसा है ? 'विश्वप्स्न्य'=हर रूप को सजाने वाला—

'मरुत्स्विन्द्रे यशसं कृधी नः' ॥ (५ म मन्त्र)
एवाग्निं सहस्यं१ वसिष्ठो रायस्कामो विश्वप्स्न्यस्य स्तौत् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र क ख)

त्रिचत्वारिंश सूक्त

विश्वभर के पुरोहितों के सहयोग से —जिन लोगों के मन्तव्य परस्पर भिन्न हैं वे भिन्न-भिन्न दिशा में इस प्रकार फैलते हैं, जैसे एक ही वृक्ष की शाखा चारों ओर एक दूसरे से विपरीत फैलती है, परन्तु जैसे वे एक ही वृक्ष को पत्रित, पुष्पित और फलित करती हैं वैसे ही सब राष्ट्र एक ही विश्व की शाखा बन कर विश्वकल्याण करें—

येषां ब्रह्माण्यसमानि विप्रा विष्वग्वियन्ति वनिनो न शाखाः ॥ (१ म मन्त्र ग घ)

सब मिलकर अपने-अपने स्नेह भरे घृतपात्र यज्ञ में आहुति के लिये उठाओ—एक मन से उठाओ। विश्वकलह-नाशरूप अध्वर के लिये सुन्दर आसन बिछाओ, इस यज्ञ की ज्वाला से हम देवत्व की ओर बढ़ें और सबको बढ़ावें—

प्र यज्ञ एतु हेत्वो न सप्तिरुद् यच्छध्वं समनसो घृताचीः ।
स्तृणीत बर्हिरध्वराय साधूर्ध्वा शोचींषि देवयून्यस्थुः ॥ (२ य मन्त्र)

जैसे, पुत्र मां का भरण करते हैं, हम सब धरती माता के पुत्र उस चोटी पर जा बैठें जहां देव बैठते हैं। यह विश्वकल्याणकारिणी विश्वप्रजा की प्रेमाहुति हमारी यज्ञज्वाला में सदा पड़ती रहे। हे ब्राह्मण अग्ने ! हमारे देवताति संग्राम में कोई हमारा पराजय न कर सके—

आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु ।
आ विश्वाची विदथ्यामनक्त्वग्ने मा नो देवताता मृधस्कः ॥ (३ य मन्त्र)

हे विश्वभर के वसिष्ठानुगामी वसुओ ! इस यज्ञ में वे इकट्ठे हुआ करते हैं जो यज्ञप्रेमी होते हैं—जो ज्ञान की धाराओं का जी भर के दोहन कर चुके हैं। आज तक तुमने अनेक छोटे-छोटे सङ्गठनों में अपना तेज दिखाया है, परन्तु आज, विश्व को एक करना है। आज तुम्हारे ज्येष्ठ तेज की आवश्यकता है, आओ और एक मन होकर पूरा यत्न करो—

ते सीषपन्त जोषमा यजत्रा ऋतस्य धाराः सुदुघा दुहानाः ।
ज्येष्ठं वो अद्य मह आ वसूनामा गन्तन समनसो यति ष्ठ ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे ब्राह्मण ! इस यज्ञ में तू राजा है और हम तेरे सहयोगी हैं। संसार की प्रजा में तू अपना ज्ञान दे। तेरे द्वारा ही हममें भी साहस उत्पन्न हुआ है और हम अस्खलित-व्रत होकर यज्ञ कर रहे हैं—

एवा नो अग्ने विक्ष्वा दशस्य त्वया वयं सहसावन्नास्क्राः ।
राया युजा सधमादो अरिष्टा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (५ म मन्त्र)

चतुश्चत्वारिंश सूक्त

जिस प्रकार पुरोहित ब्राह्मणरूप से घर-घर में शासन करता है, इसी प्रकार 'दधिक्रा' घर-घर में सुशासन पहुँचाता है। वह रथों के आगे चलता है (क्षत्रिय है)—

दधिक्रावा प्रथमो वाज्यर्वाऽग्रे रथानां भवति प्रजानन् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

उससे प्रार्थना की गई है कि तू भी हमारे मार्ग को अपनी शक्ति से अभ्यक्त कर दे। जिससे सब ऋत के मार्ग पर चलें—

आ नो दधिक्राः पथ्यामनक्त्वृतस्य पन्थामन्वेतवा उ ॥ (५ म मन्त्र क ख)

पञ्चचत्वारिंश सूक्त

विश्वराष्ट्रपति का एक कार्य सबको भोजन देना है। इसके लिये राजनियम बनाना **सविता** का काम है। उसका वर्णन ३८. २. में (मर्तभोजनं सुवानः) हो चुका। अब विश्व में कहीं तो कई राष्ट्रों के पास करोड़ों मील भूमि खाली पड़ी है और कहीं बसने को भी स्थान नहीं है। सो, **सविता** राजनियम बनाकर इसकी भी व्यवस्था करे, क्यों कि उसके हाथ में अपनी बात मनवाने के पूरे साधन हैं—

हस्ते दधानो नर्या पुरूणि निवेशयञ्च प्रसुवञ्च भूम ॥ (१ म मन्त्र)

सूर्य की भुजा तो भौतिक संसार पर ही शासन करती है, परन्तु इस विधाननिर्माता सविता का शासन तो मनुष्यों पर भी चलता है, इसलिये सूर्य को इसकी अर्चना करनी है—कुछ भेंट करना है (अपना उदाहरण)।

'सूरश्चिदस्मा अनु दादपस्याम्' ॥ (२ य मन्त्र)

सूर्य भोजन उत्पन्न करता है और यह हमें भोजन बाँटकर देता है—

मर्तभोजनमध रासते नः ॥ (३ य मन्त्र)

वह साथ ही 'सुपाणि' है, वह पवित्र हाथों से कानून बनाता है और हमारे हाथों की व्यापारविषयक अपवित्रता दूर करता है। यह **हिरण्यपाणि** है (३१. २) (**'सत्येन सोमं पराहणा-नीति तस्माद्वा अस्यां हिरण्यं बध्नीतेति'** शत० ३. ३. २. २), इसलिये **'हिरण्यपाणि'** का अर्थ हुआ **'ज्योतिर्मयपाणि'—'सत्यमयपाणि'**। सो, सविता व्यापार को सत्यमय बनाने के लिये कानून बनावे—

इमा गिरः सवितारं सुजिह्वं पूर्णगभस्ति मीळ्हते सुपाणिम् ॥ (४ र्थ मन्त्र क ख)

षट्चत्वारिंश सूक्त

अब रुद्र की बारी है। हे रुद्र ! तेरे शस्त्रों के प्रयोग की हमें कभी आवश्यकता ही न हो। तेरी रुद्र-शक्ति रोगों पर पड़े, अतः शान्तिकाल में सेना को **स्वास्थ्य-विभाग** का काम करना चाहिये—

अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव ॥ (२ य मन्त्र ग घ)

सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः ॥ (३ य मन्त्र ग घ)

सप्तचत्वारिंश सूक्त

रुद्र=सेनापति सेना के लिये सैनिक कहाँ से लायेगा। जब विश्वराष्ट्रकलह न रहेगा तो, जहाँ अनेक लाभ होंगे वहाँ तप के नाश होने से विलासमय जीवन के विकास का भय भी उपस्थित हो जायेगा, इसलिये प्रजा कैसी हो, यह ४७ वें सूक्त में बताया है। **'आपः'** का अर्थ है मानव-प्रजा (**मनुष्या वा आपः'** ७. ३, १. २०), हे मानव-प्रजा ! जब राज्य की सुव्यवस्था नहीं होती तब **'इळ'**

अर्थात् अन्नोत्पादक किसान अपने परिश्रम से श्रमोपार्जित आनन्द की लहर उत्पन्न करता है; परन्तु अब विश्वराष्ट्र की सुव्यवस्था से अन्नादि पदार्थ तुम्हें अतिसुलभ हो गये हैं। अब परिस्थितियों की विवशता उस लहर को उत्पन्न न कर सकेगी। अब तो अपनी पवित्रता को स्थिर रखने के लिये तुम्हें सैंकड़ों उपाय करने पड़ेंगे और 'स्वधा' से=स्वयं उत्पादित अन्तः-प्रेरणा से उस मस्ती को कायम रखना होगा। बस, हम यही चाहते हैं कि वह मधुमान् लहर स्थिर रहे, इसलिये स्वयं कर्त्तव्य समझकर परिश्रम करो।

जहाँ इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक तप करने वाली प्रजा होती है, वहाँ प्रजारूप नदियों की आनन्दमय लहर स्थिर रहती है और परमात्मा के बनाये ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि व्रतों का—जिनको कि उन प्रजाओं ने प्रभुसाक्षिक स्वधापूर्वक स्वीकार कर लिया है—उनका वे वचनपाशबद्ध प्रजाएँ कभी भंग नहीं करतीं—

शुचिपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथः।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ (३ य मन्त्र)

ज्ञान और वीर्य का सूर्य उन पर अपना ज्योतिर्मय परिधान ताने रहता है—

'याः सूर्यो रश्मिभिराततान' ॥ (४ र्थ मन्त्र क)

अष्टाचत्वारिंश सूक्त

विश्वकलह दूर होने पर तप को स्थिर करने के लिये, व्रतधारण के पश्चात् दूसरा स्थान शिल्प-कला का है। शिल्पशास्त्रियों को वेद में 'ऋभु' कहा है (ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः ७. ३५. १२)। सो, ऋभुकर्म द्वारा शान्तिकाल में भी तप स्थिर रहता है, इसलिये ४८ वें सूक्त में ऋभुओं का वर्णन है।

वे हमें अन्न दें—

'समस्मे इषं वसवो ददीरन्' ॥ (४ र्थ मन्त्र ग)

एकोनपञ्चाश सूक्त

वैश्वानर संन्यासी लोग प्रजा में घुसकर तप को स्थिर रखें—

'वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु' ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जब तक संन्यासियों का उपदेश सुना जाता है, प्रजा पवित्र रहती है।

पञ्चाश सूक्त

संन्यासियों के प्रताप से पुरोहित तथा दण्डाधिकारी (=मित्र तथा वरुण) ठीक रहते हैं। उनका कर्त्तव्य है कि प्रजा में राष्ट्रों के परस्पर कलह का विष न फैलने दें—

'आ मां मित्रावरुणेह रक्षतम्' ॥ (१ म मन्त्र क)

'अग्निष्टच्छोचन्नपं बाधतामितः' ॥ (२ य मन्त्र ग)

यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परि जायते विषम् ।
विश्वे देवा निरितस्तत् सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत् त्सरुः ॥ (३ य मन्त्र)

एकपञ्चाश सूक्त

मित्रा-वरुणौ अपना कार्य ठीक कर रहे हैं वा नहीं, इसको ऐसे पहिचानना कि आदित्य लोग=विद्या तथा प्रकाश के पुञ्ज आदित्य ब्रह्मचारी अपना कार्य ठीक कर रहे हैं वा नहीं। अन्त में कहा—सब आदित्य, सब मरुत् (सैनिक), सब विद्वान्, सब शिल्पशास्त्री, इन्द्र, अग्नि और अश्वि इन देवों की हम सदा स्तुति करते रहें। हे देवो ! तुम सब स्वस्तियों के द्वारा सदा हमारी रक्षा करते रहो—

आदित्या विश्वे मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्व ऋभवश्च विश्वे ।
इन्द्रो अग्निरश्विना तुष्टुवाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (३ य मन्त्र)

द्विपञ्चाश सूक्त

हे आदित्यो ! आपकी सङ्गति से हम भी अदिति हो जावें—अखण्डनीय हो जावें। मित्र-वरुण आपके प्रभाव से उत्तम शासन करें। हम उनकी महिमा को बढ़ाने वाले बनें। प्रजा के सहयोग के बिना 'मित्रावरुणौ' भी अपना कार्य ठीक नहीं कर सकते। सो, हम भी अदिति बनें—

आदित्यासो अदितयः स्याम पूर्देवत्रा वसवो मर्त्यत्रा ।
सनेम मित्रावरुणा सनन्तो भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः ॥ (१ म मन्त्र)

त्रिपञ्चाश सूक्त

नेता लोग द्यौः के समान वात्सल्यपूर्ण हों और अनुयायी पूर्णतया आज्ञापालक हों। वे आदित्यों के प्रताप से अपने पूर्वजों की पवित्र परम्पराओं के प्रतिपालक हों, सदा 'ऋतसदन' में वास करें और दैव्य जन बनने का यत्न करें, उनमें बड़ी महान् शक्ति है—

प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभिर्गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य ।
आ नो द्यावापृथिवी दैव्येन जनेन यातं महि वां वरूथम् ॥ (२ य मन्त्र)

चतुःपञ्चाश सूक्त

साधारण उपदेशमात्र से काम न चलेगा। घर-घर में घुसकर हम सबको इकट्ठे बैठकर ज्ञानचर्चा सुनना सिखावें—

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ॥ (३ य मन्त्र क ख)

—घर-घर में रमणीयता हो, गाना हो।

पञ्चपञ्चाश सूक्त

घर-घर में सब सुख की नींद सोवें। दुष्टों को—निद्रा-भंग करने वालों को भगा दो। सब सुख की नींद सोवें। केवल राजनीतिज्ञ वसिष्ठ, चोर आदि के नियन्त्रणार्थं वहां घुसें। सुख की नींद ही सुशासन का चिह्न है—

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
सुसन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥ (५ म मन्त्र)

षट्पञ्चाश सूक्त

विश्वराष्ट्रनिर्माणार्थ उत्सुक सेना का वर्णन ५६ वें सूक्त में करते हैं—

वे सैनिक=(मरुतः) नाना देशवासी हैं, परन्तु एक ही सैनिक-घर में रहते हैं उनकी पृथक्ता को कौन जानता है ? सब इतना जानते है कि वे उत्तम क्षत्रिय हैं और रुद्र के (सेनापति के) पुत्र हैं—

क ईं व्यक्ता नरः सनीळा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः॥ (१ म मन्त्र)

हाँ, दिनरात एक साथ रहने से वे तो परस्पर जानते हैं कि कौन कहाँ का है ? परन्तु भेदभाव उन्होंने ऐसा मिटाया है कि और कोई नहीं जान सकता कि किसका जन्म किस देश में और किस कुल में हुआ है—

नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम्॥ (२ य मन्त्र)

उनमें यदि स्पर्धा है तो इस बात में है कि किसने दूसरों का कितना पालन अथवा पूरण किया अर्थात् वे आपस में गर्ज-गर्जकर एक दूसरे को ललकारते हैं और श्येन के समान सीधे लक्ष्य पर पहुँचते हैं, वह लक्ष्य है 'पालन और पूरण'—

अभि स्वपूभिर्मिथो वपन्त वातस्वनसः श्येना अस्पृध्रन्॥ (३ य मन्त्र)

जिन धीर विद्वानों ने इस महा-सेना का निर्माण किया, वे ही जानते हैं कि इन सब को परस्पर मिलाने वाली शक्ति कौन-सी है ? वह शक्ति है 'पृश्निमाता' अर्थात् धरती माता, जिसका स्तन्यपान इनका भरण करता रहा है—

एतानि धीरो निण्या चिकेत पृश्निर्यदूधो मही जभार॥ (४ थं मन्त्र)

जिस मानवराष्ट्र की प्रजा को ऐसे परस्पर प्रेम करने वाले तथा दूसरों के पालनपूरण में स्पर्धा करने वाले सैनिक मिले हैं, वह इन सैनिकों के बल पर सदा 'सुवीरा', विरोध-सहन में समर्थ तथा विश्व के धन को पुष्टि देने वाली रहे—

सा विट् सुवीरा मरुद्भिरस्तु सनात् सहन्ती पुष्यन्ती नृम्णम्॥ (५ म मन्त्र)

सदा यात्रा के लिये तय्यार, सदा सजावट से सुशोभित, सदा व्यवहार में सेवापरायण (श्रिञ् सेवायाम्) और दुष्टों के प्रति ओजस्वी तथा उग्र, यह है इन मरुतों का रूप—

यामं येष्ठाः शुभा शोभिष्ठाः श्रिया संमिश्ला ओजोभिरुग्राः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

तुम्हारा प्रताप उग्र है, परन्तु वह व्यर्थ आडम्बर मात्र नहीं। उसके पीछे स्थिर वल है और सबसे बड़ी वात यह है कि इनमें से हर एक का वल अपने गण की शक्ति को बढ़ाने के लिये है (व्यक्तिगत शान के लिये नहीं)—

उग्रं व ओजः स्थिरा शवांस्यधा मरुद्भिर्गणस्तुविष्मान् ॥ (७ म मन्त्र)

हे मरुतो ! तुम्हारा बल अति शोभायुक्त है, सो कैसे ? मन तो क्रोध भरे हैं, परन्तु शत्रु को विधूनित करने वाली चेष्टा मुनियों के समान निर्विकार मननपूर्वक चलने वाली है और जयघोष दुष्टों को दहला देने वाला है—

शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः ॥ (८ म मन्त्र)

हमसे पीडाजनक दुष्टों को सदा दूर रक्खो। तुम हमारे प्रति कभी दुर्मतियुक्त न होओ, जिससे हमारा कभी नाश न हो—

सनेम्यस्मद् युयोत दिद्युं मा वो दुर्मतिरिह प्रणङ्नः ॥ (९ म मन्त्र)

हे मरुतो ! जब विपत्ति आती है तो, त्वरित गति से कार्य करने वाले तुम लोगों का प्यारा-प्यारा नाम तुरन्त हमारे मुख पर आता है। तुम हमसे—विश्व के प्रजाजनों से इतना गहरा प्रेम रखते हो कि हमारी सदा तृप्ति करते हो। तुम्हारे नामस्मरणमात्र से चित्त को सन्तोष होने लगता है—

प्रिया वो नाम हुवे तुराणामा यत् तृपन्मरुतो वावशानाः ॥ (१० म मन्त्र)

क्या शान है तुम्हारी !—उत्तम शस्त्र वाले, उत्तम बाण वाले, उत्तम स्वर्णाभूषण वाले और व्यायामादि से भी अपना शरीर सदा सुन्दर रखने वाले ! ऐसे हो तुम—

स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्का उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः ॥ (११ श मन्त्र)

धरती माता के तुम पुत्र हो ! क्या पवित्र तुम्हारा जन्म है !! तुम स्वयं पवित्र आचरण करने वाले हो और दूसरों को भी पवित्र करने वाले हो; यथार्थ नपे-तुले ज्ञान वाले हो, सत्यपरायण हो और सदा यथार्थ से चिपटे रहते हो। तुम्हारे जैसे पवित्र लोगों के हव्य अर्थात् निमन्त्रण की सामग्री भी पवित्र है। इस विश्वराष्ट्रनिर्माण-रूप पवित्र यज्ञ के लिये तुम सरीखे पवित्र लोगों को प्रेरणा करता हूँ और यह यज्ञ तुम्हारे अर्पण करता हूँ—

शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः ।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानः शुचयः पावकाः ॥ (१२ श मन्त्र)

तुम्हारे कन्धों पर तुम्हारी खाद्य सामग्री है, छाती पर स्वर्णपदक हैं। जैसे, विद्युत् से वृष्टि जगमगाती है ऐसे शस्त्रों से तुम चमक रहे हो और अपने सामर्थ्य का सहारा प्रजा को दे रहे हो—

अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः ।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना अनु स्वधामायुधैर्यच्छमानाः ॥ (१३ श मन्त्र)

गृहस्थ लोग अपनी सन्तान को इस सेना में भरती कराते हुए कह रहे हैं—हे मरुतो! तुम्हारी महिमा ही मानव-राष्ट्र की बुनियाद है, जिसकी चर्चा सब करते हैं और जो हमें यह उपहार करने के लिये प्रेरित करती है। हे यज्ञार्थ अपनी आहुति देने वाले सच्चे 'यज्यु' मरुत् लोगो! अपने नाम का दान हमें भी देते रहो। तुम्हारी महिमा सुनकर तुम्हारे नामों पर रक्खे हुए अपने नामों की शान रखने वाले ये हमारे बच्चे, हम गृहस्थ लोगों का सर्वश्रेष्ठ उपहार हैं। इसे प्रीतिपूर्वक स्वीकार कीजिये। यह हमारा एक-एक बच्चा सहस्रों का मूल्य रखता है। हमारे घर का यही सार है। इसने हमारे घर में परिवार के निमित्त अपनी भावनाओं का दमन करना सीखा है, यही भावना सैनिक जीवन के काम आयेगी—

प्र बुध्न्या व ईरते महांसि प्र नामानि प्र यज्यवस्तिरध्वम् ।
सहस्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम् ॥ (१४ श मन्त्र)

हमने यह जानदार हवि आपको भेंट की है। यदि इस प्रशंसनीय हवि को आपने ठीक संभाल लिया तो हमें शीघ्र ही सुवीरोचित धन मिलेगा, जिसे कोई शत्रु छीन नहीं सकता—

यदि स्तुतस्य मरुतो अधीथेत्था विप्रस्य वाजिनो हवीमन् ।
मक्षू रायः सुवीर्यस्य दात नू चिद् यमन्य आदभदरावा ॥ (१५ श मन्त्र)

सुशिक्षित घोड़ों के समान इन सैनिकों की सुन्दर चाल है। ये मर्द क्या सजीले हैं! मानो कोई मूर्त्तिमान् यज्ञ ही हो। घर में खेलते हुए शिशुओं के समान भोले-भाले और बछड़ों के समान उछल-कूद मचाने वाले तथा भरपेट दूध पीने वाले सैनिकों की क्या सुन्दर यह टोली है—

अत्यासो न ये मरुतः स्वञ्चो यक्षदृशो न शुभयन्त मर्याः ।
ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः ॥ (१६ श मन्त्र)

इनकी उपस्थिति में हमारी गौओं अथवा हमारे मनुष्यों को कौन मार सकता है। ये हमारी रक्षा करते हुए हमें सदा सुख पहुँचावें। कह दो हत्यारों से—गोहत्यारों से—नरहत्यारों से कि 'तुम्हारी वधशक्ति अब हमसे दूर-दूर रहे, हे वीरो! तुम सुखभण्डार लिये सदा हमारी ओर झुके रहो—

दशस्यन्तो नो मरुतो मृळन्तु वरिवस्यन्तो रोदसी सुमेके ।
आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु सुम्नेभिरस्मे वसवो नमध्वम् ॥ (१७ श मन्त्र)

इस प्रकार इन मरुतों की गोद में हम सदा सुख में रहें। हे देवो ! हे मरुतो ! तुम सदा स्वस्तियों द्वारा हमारी रक्षा करो—

शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (२५ श मन्त्र)

सप्तपञ्चाश सूक्त

पिछले सूक्त में गृहस्थों ने अपनी सन्तान मरुतों को दी और उनकी महिमा गाई। अब उनको घर में बुलाकर उनका स्वागत करते हैं—

हर राष्ट्र के अपने-अपने भी सैनिक हैं, परन्तु जो चमक, जो शस्त्र और जो सुडौल शरीर इन सैनिकों के हैं ऐसे किसी के नहीं हैं। न किसी की चमक ऐसी है, न किसी की सजावट, न शस्त्र और न शरीर किसी के इतने सुन्दर हैं। संसार भर के लोग देख रहे हैं कि इन्होंने विश्वसेना की पोशाक पहिनी है और सबके चिह्न भी समान हैं—

नैतावदन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते रुक्मैरायुधैस्तनूभिः ।
आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः समानमञ्ज्यञ्जते शुभेकम् ॥ (३ य मन्त्र)
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (७ म मन्त्र घ)

अष्टपञ्चाश सूक्त

हे मरुतो ! जिस ब्राह्मण की तुमने रक्षा की मानो उसके सौ सहायक हो गये। जिस अश्व ने तुम्हारी शिक्षा पा ली वह अकेला सहस्रों की चोट सहन कर सकता है, क्योंकि तुम गण के अङ्ग हो (···अर्चता गणाय (१ म मन्त्र), जिस सम्राट् के तुम सहायक हो वही वृत्र का वध करने में समर्थ होता है। तुम्हारी कम्पनशक्ति की इतनी देन है—

युष्मोतो विप्रो मरुतः शतस्वी युष्मोतो अर्वा सहुरिः सहस्री ।
युष्मोतः सम्राळुत हन्ति वृत्रं प्र तद् वो अस्तु धूतयो देष्णम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

एकोनषष्ट सूक्त

इस सेना के सेनापति में कुछ ऐसा आकर्षण है कि हर सैनिक यह चाहता है कि मेरा घर भले छूट जाय, परन्तु मृत्युभय का नाश करने वाला यह मृत्युञ्जय घर न छूटे। (जहाँ मर कर भी अमर हो जाते हैं १. ३८. ४)—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ (१२ श मन्त्र)

षष्टितम सूक्त

यदि विश्वराष्ट्रनिर्माण हो भी जाय तो भी विद्या के प्रकाश के बिना वह फिर नष्ट हो जाता

है। इसलिये ६३ वें सूक्त में सूर्य की महिमा कही गई है। जो मनुष्यों में सत्यपरायणता लावे ऐसी विद्या सब पढ़ें—

यदद्य सूर्यं ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम् ॥ (१ म मन्त्र)

सबको ज्ञान हो कि ऋजुमार्ग=सरल सच्चा मार्ग क्या है और वृजिनमार्ग=पापमार्ग क्या है—

'ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्' ॥ (२ य मन्त्र)

विद्या के अधिष्ठता की कृपा से, 'अनृत क्या है और ऋत की वृद्धि कैसे हो' यह जानने वाले अदिति के पुत्र सर्वत्र सत्य का प्रकाश करें—

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति ।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥ (५ म मन्त्र)

जो जानते हैं वे 'अचेतस्' को=अनजानों को ठीक मार्ग पर चलाते हैं। इस कर्त्तव्यपालन में कभी झपकी नहीं मारते। इन विद्वानों की कृपा से राष्ट्र की यात्रा में गहरी नदी गाधा हो जाती है—

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति ।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ॥ (७ म मन्त्र)

वे आदित्य ब्रह्मचारी—पूर्ण विद्वान् मित्रावरुणों के भी 'पुरोहिति'=आदर्श हैं—

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि ॥ (१२ श मन्त्र क ख)

एकषष्टितम सूक्त

परम विद्वान् विद्या-प्रचार का अधिष्ठाता 'सूर्य' नामक राज्याधिकारी ब्राह्मण सबका मार्ग-दर्शक है। उसके बताये नियमों का पालन सब करें।

सूर्य को आदर्श मानकर ही मित्र और वरुण भी गुप्त रहस्यों का पता लगावें और उसके शासन में चलें। जिस प्रकार विद्वान् विद्या के रहस्यों की खोज करते हैं, उसी प्रकार मित्रावरुण प्रजा के छिपे दोषों को खोजकर बाहर लावें। कैसे? 'मित्र' मित्र बनकर और 'वरुण' गुप्तचरों के द्वारा—

प्रोरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः प्र दिव ऋष्वाद् बृहतः सुदानू ।
स्पशो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वृधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥ (३ य मन्त्र)

उनसे कोई रहस्य छिपा नहीं रहना चाहिये—

'न वां निण्यान्यचिते अभूवन्' ॥ (५ म मन्त्र घ)

३७

द्वाषष्टितम सूक्त

जहाँ सूर्य (=विद्वान्) सत्य का प्रचार करे (ब्रवः सत्यम् ६०. १) वहाँ उसे ज्ञान को इतना आकर्षक बनाना चाहिये कि उसकी 'अर्चींषि' से आकृष्ट होकर सब उसकी ओर चले जावें और कहें कि, वाह धन्य है उन गुरुओं को जिन्होंने ऐसा विद्वान् बनाया ! रचने वालों ने यह सुन्दर सूर्य रचा है*—

उत् सूर्यो बृहदर्चींष्यश्रेत् पुरु विश्वा जनिम मानुषाणाम् ।
समो दिवा ददृशे रोचमानः क्रत्वा कृतः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥ (१ म मन्त्र)

यह विद्वान्-रूपी सूर्य, सूर्य के सामने खड़ा होकर उससे पुरोगाः=आगे निकल जाता है। क्योंकि वह सूर्य बोलता नहीं है, किन्तु यह सूर्य तो सबको उपदेश देता है—मित्र को, वरुण को, अर्यमा को और अग्नि को उपदेश देता है—

स सूर्य प्रति पुरो न उद्गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः ।
प्र नो मित्राय वरुणाय वोचोऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च ॥ (२ य मन्त्र)

ज्ञान-प्रचारक सूर्य तथा मित्र, वरुण आदि की कृपा से हमारे सब मार्ग सुपथ सुगम हो जावें, वे न दुर्ग रहें, न दुष्पथ रहें—

सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

त्रिषष्टितम सूक्त

यह सूर्य मनुष्य का सूर्य है—

'साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्' ॥ (१ म मन्त्र ख)

इस सूर्य का विशाल झण्डा जन-जन को उसके कर्त्तव्य का आदेश करता है—

'उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य' ॥ (२ य मन्त्र क ख)

देव सविता ने जो नियम बनाये हैं उन्हें सूर्य घर-घर तक पहुँचाता है—

'नूनं जना सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि' ॥ (४ र्थ मन्त्र क ख)

चतुःषष्टितम-षट्षष्टितम सूक्त

अगले तीन सूक्तों के देवता मित्रावरुणौ हैं। प्रथम मन्त्र में 'वाम्' द्विवचन है और उसके उत्तरार्ध में मित्र, वरुण और अर्यमा तीन का वर्णन है और 'जुषन्त' यह बहुवचन भी है। यह समस्या इसी प्रकार सुलझ सकती है कि मित्र को एक देवता माना जाय और वरुण+अर्यमा को एक मानकर, अर्यमा को वरुण में अन्तः-प्रविष्ट माना जाय। मित्र ब्राह्मण देवता है और वरुण तथा अर्यमा क्षत्रिय

* इस वाक्य से स्पष्ट है कि यहाँ साधारण भौतिक सूर्य का वर्णन नहीं है।

देवता हैं। सो २ य मन्त्र में **'सिन्धुपती क्षत्रिया'** यही वरुण तथा अर्यमा हैं और इनके साथ मित्र के मिल जाने पर, महान् सत्य राज्य के राजा ये तीनों हुए, इसीलिये ६६ वें सूक्त के ११ वें मन्त्र में तीनों को **'राजानः'** कहा है।

सूर्य के वर्णन के पश्चात् इन तीन मित्रावरुण सूक्तों का तात्पर्य ६६ वें सूक्त के १० वें तथा १३ वें मन्त्र में स्पष्ट हुआ है। सूर्य के प्रचार से **मित्रावरुणौ** को क्या सहायता मिलती है, यह सूर्य-सूक्तों में कहा गया। अब इन तीन सूक्तों में यह बताया है कि **मित्रावरुणौ** ज्ञान प्रचार में कैसे सहायक हैं। इस प्रकार **सूर्य** तथा **मित्रावरुणौ** की अन्योन्याश्रयता स्पष्ट की गई है। ६६ वें सूक्त के १० वें मन्त्र में कहा है कि दण्डन्याय, स्वामित्वन्याय तथा दोनों के मूल सदाचार को **मित्र, वरुण, अर्यमा** तीनों मिलकर संभालते हैं—

> बहवः सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः।
> त्रीणि ये येमुर्विदथानि धीतिभिर्विश्वानि परिभूतिभिः॥ (१० म मन्त्र)

— **सदाचार-शिक्षा, दण्डनिर्णय** तथा **स्वामित्वनिर्णय** इन तीनों यज्ञसदनों को, सूर्य के गुणों का विस्तार करने वाले **मित्र, वरुण, अर्यमा** ये तीनों अग्नि की जिह्वा वाले और तपे हुए ज्ञान की वृद्धि करने वाले नियन्त्रित करते हैं। वे अपनी **'परिभव'** शक्ति से **दुराचार, अन्याय** तथा **स्तेय** को रोकते हुए संसार में अपनी **परिभूतियों** की विभूति दिखाते हैं।

यहाँ अर्यमा को वरुण के अन्तर्गत इसलिये रक्खा कि स्वामित्व का निर्णय होने पर दण्डशक्ति के बिना निर्णय का कोई मूल्य नहीं।

अब ६६ वें सूक्त के १३ वें मन्त्र को लीजिये। उसमें स्पष्ट बताया है कि जो विश्व में एक राष्ट्र बनाने का महायज्ञ करने चलें उनके गुण क्या-क्या होने चाहियें अर्थात् वे कैसे हों—

> ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।
> तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः॥ (१३ श मन्त्र)

—सबसे प्रथम तो वे स्वयं यथार्थज्ञान वाले हों (=**ऋतावानः**), फिर यथार्थज्ञान के वायुमण्डल में उत्पन्न हुए हों (**ऋतजाताः**), ऐसे ही यथार्थज्ञान के वायुमण्डल में बड़े हुए हों (=**ऋतावृधः**) और केवल यथार्थज्ञान से प्रेम ही न रखते हों, अपितु अनृत से घोर द्वेष भी रखते हों (= **घोरासो अनृतद्विषः**)। ऐसे हे मित्र, वरुण, अर्यमा! तुम्हारे सुखमय (=**सुम्ने**) और प्रदीप्ततम (=**सुच्छर्दिष्टमे, 'छृदी सन्दीपने'**) संरक्षण में हम सब बने रहें और जो भी ज्ञानोपासक हों वे सब रहें।

इससे स्पष्ट है कि जो एक राष्ट्र बनाने चले हों, वे प्रजा को यह पूर्ण विश्वास दिला दें कि वे यथार्थ ज्ञान के परमोपासक तथा झूठ के घोर विरोधी हैं। साथ ही इस महान् आन्दोलन में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का भेद कुछ अंश तक दूर करना पड़ता है। **इन्द्र को ब्राह्मण (२९.२.) तथा मित्र को क्षत्रिय (६२.२,६६.११)** मानना होगा।

सप्तषष्टितम—चतुःसप्ततितम सूक्त

अब ६७ वें सूक्त से ७४ वें सूक्त तक ८ सूक्त अश्विनौ के हैं, क्योंकि जो विश्व को एक राष्ट्र बनाने चले हैं, उन्हें दिन-रात एक देश से दूसरे देश में चक्कर काटना होगा, इसलिये वसिष्ठों का ध्यान अब अश्विनौ की ओर आवे तो आश्चर्य क्या है ?

६७ वें सूक्त में कहा है कि—

हे अश्विनौ ! सामान्य यातायात तथा समाचार-यातायात के अधिष्ठाता लोगो। तुम्हारी कृपा से अब मानव-राष्ट्र एक हुआ चाहता है। लोककल्याण की भावना से प्रेरितमनाः वसिष्ठ-मण्डली-परिवृत वसिष्ठ ने (महावसिष्ठ ने) तुम्हें जगाया है (मानो धरती के भाग जाग गये)।

अब विश्वराष्ट्र की भावना-रूप अग्नि चमक उठा है। इस धरती पर से अन्धकार का अन्त हुआ चाहता है, ऐसे लक्षण दीखने लगे हैं—

अशोच्यग्निः समिधानो अस्मे उपो अदृश्रन्तमसश्चिदन्ताः ।
अचेति केतुरुषसः पुरस्ताच्छ्रिये दिवो दुहितुर्जायमानः ॥ (२ य मन्त्र)

दशम मण्डल में कहा है कि 'निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात्' (१०.१.१)—संसार अन्धकार से निकलकर ज्योतिर्मय हो गया है। इसको 'उपो अदृश्रन् तमसश्चिदन्ताः' के साथ मिलाइये तो कैसा सुन्दर क्रम दीखने लगता है। जब तक राष्ट्रों का परस्पर कलह रहता है तो अन्धकार एक राष्ट्र से भागकर दूसरे राष्ट्र में जा छिपता है; परन्तु एक राष्ट्र बन जाने पर अन्धकार के अन्त समीप आते दिखाई दे रहे हैं, किं च दशम मण्डल तक विश्व न केवल अन्धकार से निकल आया, अपितु ज्योति से मिल गया।

हे अश्विनौ ! तुम हमारे हर कर्म में घुस जाओ (अविष्टं धीषु)। सारी मानव-जाति को वसिष्ठ तक ठीक समाचार पहुँचाने की चिन्ता हो जिससे ठीक इन्द्र अपने पद पर प्रतिष्ठित हो। 'ठीक इन्द्र' वह है, जिसकी चिन्ता वसिष्ठों को है, मित्रावरुणों को है, मरुतों को है और अश्विनौ को है—

अविष्टं धीष्वश्विना न आसु प्रजावद् रेतो अह्रयं नो अस्तु ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

अश्विनौ का रथ अप्रतिहत हो, सर्वत्र उसका स्वागत हो। वे सबके साथ मधुर बोलें—

एष स्य वां पूर्वगत्वेव सख्ये निधिर्हितो माध्वी रातो अस्मे ॥ (६७. ७ म मन्त्र)

अश्विनौ का रथ 'मनोजव' हो और 'शतोति' हो=सैंकड़ों का रक्षक और सैंकड़ों से रक्षित हो—

प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजांस्यश्विना शतोतिः ॥ (६८. ३ य मन्त्र)

वह समुद्र में डूबतों को बचावे—

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे ।
निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः ॥ (६८. ७ म मन्त्र)

जिधर जाय, स्नेह बरसे (=घृतवर्तनिः) सबको अन्न पहुँचाए (इषां वोढा)—

घृतवर्तनिः पविभी रुचान इषां वोळ्हा नृपतिर्वाजिनीवान् ॥ (६९.१ म मन्त्र)

समुद्र में डूबतों को व्योमयान द्वारा बचावें—

युवं भुज्युमवविद्धं समुद्र उदूहथुरर्णसो अस्रिधानैः ॥ (६९.७ म मन्त्र)

तुम्हारा यह कार्य एक राष्ट्र तक सीमित न हो, अपितु विश्ववार हो—

'आ विश्ववाराश्विना गतं नः' ॥ (७०.१ म मन्त्र)

जङ्गल में पर्वत-शिखर पर बसती प्रजा तक अन्न पहुँचाते हुए—

नि पर्वतस्य मूर्धनि सदन्तेषं जनाय दाशुषे वहन्ता ॥ (७०.३)

ऋषियों के नाना प्रकार के ब्रह्मज्ञानमय उपदेश तुम्हारे द्वारा मनुष्यों तक पहुँचते हैं—

अभि ब्रह्माणि चक्षाथे ऋषीणाम् ।
प्रति प्र यातं वरमा जनाय ॥ (७०.५ म मन्त्र)

इस संसार में रात्रि अपनी बहिन उषा के लिये स्थान छोड़ देती है, अन्धकारमयी रात्रि दिन के लिये प्रेमपूर्वक स्थान छोड़ देती है । मनुष्य लोग भी यह धर्म सीखें—

अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ॥ (७१.१ म मन्त्र)

संसार का हर मनुष्य गा-गा कर तुम्हें बुलाता है—

'अभि यद् वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ॥ (७१.४ र्थ मन्त्र घ)

संसार भर की ट्रेनें (='नियुतः'—जिनमें एक के पीछे एक जुड़ा होता है, चाहे ऊँटों का काफिला हो, चाहे रेल के डिब्बे हों) श्री से लदी हुई, वसिष्ठ की ओर चली आवें और वह धन क्योंकि एक राष्ट्रनिर्माणरूप पवित्र यज्ञ के लिये है, इसलिये स्पृहणीय है—

'अभि वां विश्वा नियुतः सचन्ते स्पार्हया श्रिया तन्वा शुभाना' ॥ (७२.१ म मन्त्र ग घ)

इसी का वर्णन आगे अष्टम मण्डल में विश्वमानुष के प्रसंग में होगा (८.४५.४२) ।

हम भी विश्व में एक राष्ट्र बनाने चले हैं (३४.११) और तुम भी 'विश्ववारौ' (७०.१) हो । विश्वकल्याण की, किं वा विश्व की एकता की भावना ने हमें और तुम्हें जन्म दिया है, इसे मत भूलो—

युवोर्हि नः सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुरुत तस्य वित्तम् ॥ (७२.२ य मन्त्र ग घ)

तुम 'नासत्यौ (=न+असत्यौ) हो, तुम कभी असत्य नहीं बोलते। यदि तुम असत्य बोलने लगो तो लोकयात्रा ही बन्द हो जावे, क्योंकि यदि तुम रथ के चलने का समय बताओ कुछ और, पहुँचो कभी और तो बस ! हो ली लोकयात्रा !! अतः तुम सर्वथा सच्चे हो। अत एव ब्राह्मण तुम्हारे गीत गाता है। उषा के आते ही यात्री भी तुम्हारे गीत गाने लगते हैं—

'अच्छा विप्रो नासत्या विवक्ति' ॥ (७२.३ य मन्त्र घ)

'वि चेदुच्छन्त्यश्विना उषासः प्र वां ब्रह्माणि कारवो भरन्ते' ॥ (७२.४ र्थ)

तुम, आगे-पीछे नीचे-ऊपर चारों ओर से पाञ्चजन्य धन लेकर आओ—

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात्।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (७२.५ म मन्त्र)

त्रिसप्ततितम सूक्त

इस विश्वकलहरूप अन्धकार से तो तुमने तीव्रवेग से भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के लोगों को इकठ्ठा करके हमें पार उतार दिया, परन्तु अभी बहुत कार्य अपेक्षित है—

'अतारिष्म तमसस्पारमस्य' ॥ (७३.१ म मन्त्र क)

विश्वसेना, विश्वयातायात आदि सब हुआ, परन्तु अब सारे विश्व के धन का एक विश्वकोष भी तो चाहिये, इसलिये हे अश्विनौ ! तुम्हारे कार्य की तो चरम सफलता इसमें होगी कि—

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात्।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (७३.५ म मन्त्र)

—आगे-पीछे, नीचे-ऊपर चारों ओर से पाञ्चजन्य धन=सम्पूर्ण विश्व को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य सब प्रजा का—पांचों जनों का हितकारी धन विश्वकोष में पहुँचाओ। केवल अश्विनौ इसमें सफल नहीं होंगे। सबके सब देवों को इसमें जुटना पड़ेगा।.........॥

चतुः-सप्ततितम सूक्त

हे अश्विनौ ! हमें अन्न भी चाहिये, विपत्ति से रक्षा भी चाहिये, परन्तु हमारा अन्तिम ध्येय है—इस धरती को देवलोक बनाना। सो, इस 'दिविष्टि' के लिये हम तुम्हें बुलाते हैं। तुम भी निष्पक्षपात होकर प्रजा के एक-एक मनुष्य के पास तथा हर राष्ट्र की प्रजा-प्रजा के पास पहुँचते हो—

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ॥ (७४.१ म मन्त्र)

हम जो अन्न तथा जो दीप्तिसाधन मांगते हैं वह यह स्थूल अन्न नहीं। वह अन्न तो यह यश है कि हमने मानवराष्ट्र एक कर दिया—

ता यंसतो मघवद्भ्यो ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या ॥ (७४.५ म मन्त्र ग घ)

और तुम्हारे वाहनभूत अश्व भी ये साधारण घोड़े नहीं, किन्तु वे निष्कपट जनता के रक्षक लोग हैं जो अपनी अन्तः-प्रेरणा से—निष्काम-भाव से विश्वकल्याण की वृद्धि करते हैं, वे लोग केवल घोड़े ही नहीं, किन्तु रथ भी स्वयं वे ही हैं—

प्र ये ययुरवृकासो रथा इव नृपातारो जनानाम् ।
उत स्वेन शवसा शूशुवुर्नर उत क्षियन्ति सुक्षितिम् ॥ (७४.६ ष्ठ मन्त्र)

अब अगले ७ सूक्त उषा के हैं। अब तक के उद्योग से जो उत्साह उत्पन्न हुआ वह इन उषा-सूक्तों में है—

पञ्चसप्ततितम सूक्त

६.४७.२५. में विश्वजनहितकारी धन (विश्वजन्यं राधः) का वर्णन है जिसके लिये संगठन किया गया है। और वह धन है—'प्रभुप्रेम'। जिसके लिये सृञ्जय के (जितेन्द्रियत्व के) पुत्रों ने लोकभरण-तत्पर मनों को सदा प्रेरित किया है। उस विश्वजन्य आराधना का फल अब प्रकट हुआ। विश्व में एक राष्ट्र बन रहा है। यह ज्योति विधानसभा के अधिपति के घर जा पहुंची है और विश्व की एक **विधानसभा** बन रही है।

इस देव-मण्डली में उत्पन्न होने वाली उषा ने आज अपने आप को विश्व की प्रजा के सामने प्रकट कर दिया है। यह सम्भव तब हुआ है, जब इसने अश्वियों की (विशंविशं हि गच्छथः ७४.१) सहायता से **'एक राष्ट्र निर्माण की क्या महिमा है'** यह ज्ञान झोंपड़ी-झोंपड़ी में पहुंचा दिया। अब राष्ट्रों के परस्पर द्रोह का अन्धकार दूर हुआ जो कि अति कष्टदायक, अप्रिय तथा असेवनीय था। अब इस प्रजा के अङ्ग-अङ्ग में रस भरने वालों में श्रेष्ठ उत्साहमयी उषा ने सब मार्गों में प्रजा को जागृत कर दिया है—

व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाऽऽविष्कृण्वाना महिमानमागात् ।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः ॥ (१ म मन्त्र)

'हम विश्व की एक विधान-सभा बनाना चाहते हैं', इस महान् सुवित=आज्ञा देने के लिये तू हमें जगा। **'विश्व की एक विधान-सभा बने'** इस महान् सौभाग्य के लिये हमें परस्पर जकड़ दे। वह स्पृहणीय धन जिसका वर्णन ७.७२.१ तथा ८.४५.४२ में किया है, उस विश्वमानुषोपभोग्य धन को जो मानव-समाज का **विश्वमानुषोपभोग्यत्वात् मूर्त्तिमान् यश है** उसको हमारे बीच पहुँचा। हे देवि! तू हम मर्त्तों में दिव्य भाव उत्पन्न कर। हे समस्त मनुष्यसमाज की पुत्रि! उत्साहमयी उषा! वह धन ऐसा हो जिसकी कथा लोग युग-युग तक सुना करें—

महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्र यन्धि ।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम् ॥ (२ य मन्त्र)

इस दर्शनीय उषा के वे विचित्र लोकोत्तर किरण संसार में आ पहुँचे हैं जो मनुष्यों में **दैव्य व्रतों** को उत्पन्न कर रहे हैं। फलस्वरूप कोई सूर्य बनने का व्रत ले रहा है, कोई पर्जन्य बनने का, कोई चन्द्र बनने का और कोई वायु बनने का। इस मानव-समाज के अन्तरिक्ष में सबका पालन-पूरण करते हुए ये लोकसेवक-रूप किरण व्यवस्था-पूर्वक चल रहे हैं—

एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः ।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः ।। (३ य मन्त्र)

यह जो आकाश में उषा दीखती है न जाने किस दूर देश से यहाँ आई है। बस, वही उषा हमारी उत्साहमयी उषा का प्रतीक है। जिस प्रकार यह भौतिक उषा सबको जगाकर अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन में जोड़ती है, बस, हमारी उषा भी यही कर रही है। यह पांचों जनों को (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्यों को) जल्दी ही कार्य-क्षेत्र में आगे लगाती है। हर मनुष्य को अपने जीवन-काल में एक जीवन-चरित्र-रूप वस्त्र बुनना है। यह उत्साहमयी उषा देख रही है कि किसी बुनती (=बनावट) में कोई कच्चा या गन्दा तार न रह जाय, कोई तार उलझ न जाय। इसकी अपनी गुलाबी साड़ी तो देखो, कहीं है कोई दाग़ ! **देवलोक** ने अपनी यह पुत्री **मानवलोक** की पत्नी बनाकर भेजी है। बस, घर-घर में हर स्त्री इस उषा का रूप धारण करे—

एषा स्या युजाना पराकात् पञ्च क्षितीः परि सद्यो जिगाति ।
अभिपश्यन्ती वयुना जनानां दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ।। (४ र्थ मन्त्र)

यह उत्साहमयी उषा बड़ी **जानदार** (**=वाजिनीवती**) है। इसका पति बनने के लिये मानव-समाज को भी सूर्य बनना होगा। यह अपारसम्पत्तिधारी पिता से विचित्र ऐश्वर्य लेकर आई है। सारे वसुओं का धन इसके **स्वामित्व** में हैं। इस उत्साहमयी उषा की तो ऋषिलोग भी स्तुति करते हैं। इस भौतिक उषा का भी ऋषिलोग प्रातःकाल स्वागत करते हैं। यह ऐसी **मघोनी** है कि अपने गुणों के कारण सब से हठात् स्तुति करवा लेती हैं। चाहे अग्नि चूल्हे में जले, चाहे वेदि में—उससे स्तुति इसी की होती है—

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम् ।
ऋषिष्टुता जरयन्ती मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना ।। (५ म मन्त्र)

यह उषा भौतिक उषा की **प्रतिद्युति** अर्थात् **प्रतिच्छवि** है, जिस प्रकार गुलाबी किरण-रूप अश्व इसका रथ खींचते हैं, इसी प्रकार **'अरुषः'**=नियमित जीवन बिताने वाले, विशुद्ध रक्तप्रवाह वाले (अवृकासो रथा इव नृपातारो जनानाम् ७४.६) सच्चे क्षत्रिय लोग* इसका रथ खींचते हुए दिखाई देते हैं। यह शोभा भरी उषा संसार भर को नये वस्त्र देने वाले रथ से संसार में चल रही है। परिश्रम करके कुछ उत्पन्न करते हुए हर मनुष्य को देने के लिये इसके पास रत्न है।

---

* क्षत्रं वा अश्वः। शत० १३.२.२.१७ ॥

प्रति द्युतानामरुषासो अश्वाश्चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः ।
याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन दधाति रत्नं विधते जनाय ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

यह उषा सत्यमयी है, क्योंकि सत्यपरायण लोगों ने ही यह उत्साहमय दिन उत्पन्न किया है। यह बड़ी है, क्योंकि हर राष्ट्र के बड़ों ने यह उत्साह उत्पन्न किया है। यह देवी है, क्योंकि इसके जन्मदाता देव हैं और यह यजनीय है, क्योंकि यज्ञभावना वालों ने ही इसको बनाया है। अब उनके कारण वह दुष्टों के दृढ़ दुर्गों को ढा रही है और छीन कर श्रमोत्पन्न योग्य पदार्थ-रूप दूध से भरी गौओं के समान श्रमशील प्रजा को देती है और तब वह प्रजा भी इस प्रकार रंभाती है, जैसे इस उषा को देखकर उसके प्रति गौएँ रंभाती हैं—

सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः ।
रुजद् दृळ्हानि ददुदुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ॥ (७ म मन्त्र)

हे विश्व को एक राष्ट्र बनाने के लिये उत्पन्न उत्साहमयी उषा ! हमारे घर में गौवें हों उत्तम वीर सन्तान हो, उत्तम अश्व हों और उत्तम रत्न हों—कूड़ा करकट न हो। हमारे लिये पूरी भोजन-सामग्री हो। हमारे आसन हमारी पुरुषता को गाली न दें कि कौन नपुंसक मुझ पर आ बैठा है। हे सब के सब देवों ! स्वस्तियों से सदा तुम हमारी रक्षा करो—

नू नो गोमद् वीरवद् धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे ।
मा नो बर्हिः पुरुषता निदे कर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (८ म मन्त्र)

षट्-सप्ततितम सूक्त

विश्वभर के विधि-निर्माता इस परिणाम पर पहुँच गये हैं कि यह विश्व में एक नई उषा है। खाली भजन-कीर्त्तन से नहीं, धरती भर के सब विद्वानों के क्रत्वा=कर्मयोग से आज संसार की आंख उत्पन्न हो गई है। अब तक संसार राष्ट्रमोह में अन्धा था, किन्तु अब इस नये उत्साह की उषा ने संसार को राष्ट्रदर्शन से ऊपर उठाकर विश्वदर्शन करा दिया है—

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत् ।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः ॥ (१ म मन्त्र)

वसिष्ठ, मानवसमाज का प्रतिनिधि होकर कहता है—

अब विश्वकलह समाप्त हुआ। अब देवयान मार्ग दीख पड़े हैं। यही वे मार्ग हैं जो हिंसाहीन हैं तथा जिनके लिये इतने दिनों तक वसु लोगों ने इष्ट समझ कर यत्न किया है। यह विश्व की एकता-रूप उषा का झण्डा सामने आया कि सामने खड़ी (पूर्व के सामने का नाम ही प्रतीची है) प्रत्युत्साहमयी प्रजा अपने-अपने घरों से इस झण्डे का स्वागत करने निकल आई—

प्र मे पन्थाँ देवयानाँ अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः ।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥ (२ य मन्त्र)

हे उषे ! आज तक श्रेष्ठ दिन वे ही कहलाये जब सूर्य से पूर्व तेरा उदय हुआ, क्योंकि तुम्हारे जोड़े को देखकर दुनियां यह पाठ सीखती है कि अपने प्रशंसक की परिचर्या कैसे करनी, उसके पास से कभी अलग न होना और ऐसी पत्नी को पाने के लिये सदा तेज का पुञ्ज बने रहना । सो, गृहस्थों को गृहधर्म का मूर्त्तिमान् उपदेश तुम्हारा जोड़ा है—

तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।
यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ॥ (३ य मन्त्र)

नाना-ज्ञान-परायण सहृदय कवि लोग जो आज से पूर्व न जाने कहाँ-कहाँ इक्के-दुक्के पड़े थे, वे अब इस एकराष्ट्रनिर्माण की भावना से प्रेरित होकर, सब राष्ट्रों में से आकर एक स्थान पर इकट्ठे हुए । तब उन विद्वानों का 'सधमाद' (=हर्षसम्मेलन) हुआ । वे सत्य 'जो सोचना वह सच करके छोड़ना' इस प्रकार के सत्य-सङ्कल्प लोग थे । उन्होंने हर राष्ट्र के विद्वानों के हृदय में छिपी हुई इस ज्योति को तलाश किया और उन्होंने इस एकराष्ट्रनिर्माणार्थ उत्साहमयी उषा को उत्पन्न किया—

त इद् देवानाँ सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यहाँ यह कितना स्पष्ट है कि इन मन्त्रों में वर्णित उषा, स्थूल भौतिक उषा नहीं है ।

उषा के जन्मदाता एक ही लक्ष्य पर इकट्ठे हुए हैं । वे परस्पर मिलकर ज्ञानवृद्धि के लिये यत्न करते हैं । परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध यत्न नहीं करते अर्थात् लड़ते नहीं । वे देवों के दिये हुए व्रतों को नष्ट नहीं होने देते, जिस प्रकार आकाश-मण्डल के देव शक्तिशाली होते हुए भी परस्पर टकराते नहीं, अपने-अपने व्रत का पालन करते हैं, इसी प्रकार वसिष्ठ के सहयोगी भी करते हैं । वे कभी एक दूसरे को कष्ट नहीं पहुँचाते, अपितु सम्पूर्ण वसुओं के साथ सङ्गति करते हैं—

समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते ।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ॥ (५ म मन्त्र)

हे उत्साहभरी उषा ! तू हमें उत्साहित करती है और ये वसिष्ठ लोग प्रतिस्तुति द्वारा तेरा आदर करते हैं जो कि उषा को देखकर तुरन्त जागरूक हो जाते हैं । तू हमारी वाणियों की नेत्री है अर्थात् हम उत्साहवृद्धि के लिये तुझे आदर्श मानकर तेरी जैसी हंसती-खिलती वाणी का प्रयोग करते हैं । तू जोश की पत्नी है । बस, इसी रूप में प्रतिदिन उदित हो । हे सुजाते ! तेरी स्तुति सबसे पहिले हो अथवा तू सबसे पहिले हमें उत्साह देकर जगा—

प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः ।
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

प्रिय और सत्य वाणी को 'सूनृता' वाणी कहते हैं। सो, यह उषा सूनृता वाणी के आराधकों की नेत्री है। जब यह उदित होती है तो संसार भर के वसिष्ठ इसका स्तुतिगान करते हैं कि हमारी चिरप्रतीक्षित उत्साहमयी कविता-रूप उषा प्रकट हो गई। यह हमारे मानवराष्ट्र में चिरस्थायी धन देगी। हे देवो! तुम स्वस्तियों से सदा हमारी रक्षा करो—

एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः।
दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (७ म मन्त्र)

सप्त-सप्ततितम सूक्त

उषा के प्रादुर्भाव का मुख्य चिह्न है 'चरायै'। अर्थात् वह किसी को आलसी बनकर पड़ा नहीं रहने देती (विश्वं···प्रसुवन्ती चरायै)। सारे संसार को आज्ञा देती है कि **चलो पुरुषार्थ करो**। बस, जिस प्रकार एक उत्तम युवती घर भर को जगाकर काम-काज में जोत देती है, यह उषा भी ऐसा करती हुई कितनी भली लगती है! इसी कारण हर मानव के हृदय में अग्नि प्रदीप्त हुआ है। इस उषा ने अन्धकार का नाश करने वाली ज्योति उत्पन्न की है—

उपो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै।
अभूदग्निः समिधे मानुषाणामकर्ज्योतिर्बाधमाना तमांसि॥ (१ म मन्त्र)

विश्व के सामने खड़ी हुई, उदित हुई और चमकदार वस्त्र पहिनी हुई यह उषा हमारी ओर बढ़ी। तेजोमय इसका रंग है। इसकी छवि आँखों को अति प्यारी है। यह गाय और वाणी दोनों प्रकार की गौओं की माता है। इसके आते ही विद्यार्थियों को विद्या और गौओं को चारा मिलता है। यह दिन भर की नेत्री है, जैसे भाव इस समय रहेंगे वैसे ही दिन भर रहेंगे। मानव-राष्ट्र का दिन भी अब अच्छा चढ़ेगा—

विश्वं प्रतीची सप्रथा उदस्थाद् रुशद् वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत्।
हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृग् गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि॥ (२ य मन्त्र)

यह उषा विद्वानों के लिये सुन्दर सौभाग्य-युक्त ज्ञाननेत्र धारण किये हुए श्वेत सुन्दर अश्व के समान सूर्य को लिये चली आ रही है जिससे क्षत्रियों के सामने अश्व का आदर्श उपस्थित हो। अपनी रश्मियों से सुसज्जित उषा दीख गई है। विचित्र इसका ऐश्वर्य है। विश्व के लिये अनुकरणीय बनाकर भगवान् ने इसे भेजा है—

देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता॥ (३ य मन्त्र)

हे उषा! तू अच्छी वस्तुएँ हमारे पास ला। शत्रुओं को अन्धकार के परे दूर-दूर रख। हमारी हर जुताई को, चाहे वह खेत में हो, चाहे विद्या-क्षेत्र में—उसे भय-रहित कर। द्वेष करने

वालों को परे हटा। वसुभण्डार हमारे पास ला। हे उत्साहभरी ! इन दृढ़व्रती मनुष्यों को इनकी आराध्य वस्तु लाकर दे—

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः ।
यावय द्वेष आ भरा वसूनि चोदय राधो गृणते मघोनि ॥ (४ र्थं मन्त्र)

हे उषा ! अपनी श्रेष्ठ ज्ञानमयी पुरुषार्थमयी, किरणों से हमारे बीच चमक। हे उषा देवी ! हमें पुरुषार्थ-युक्त बनाकर दीर्घ आयु दे। हे विश्व-वारे ! (विश्वकल्याण-कारिणी !) हमारे गोधन, अश्वधन, रथधन सब बढ़ें, न कि हम आलसी होकर सब लुटवा दें—

अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्वि भाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः ।
इषं च नो दधती विश्ववारे गोमदश्वावद् रथवच्च राधः ॥ (५ म मन्त्र)

हे उत्साहमयी उषा ! पहिले के ऋतावान् सत्यभक्त कवि विद्वानों ने तुझे जन्म दिया है (७६.४), इसलिये तू सुजाता है। हे देव-पुत्रि ! हे विद्वानों की बेटी ! और अत एव देवलोक की बेटी ! अब वर्त्तमान युग के वसिष्ठ तुझे स्तुतिगान द्वारा बढ़ावा देते हैं। सो, हमारे अन्दर ज्ञानवर्धक महान् धन धारण करवा। हे देवो ! स्वस्तियों द्वारा तुम हमारी सदा रक्षा करो—

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः ।
सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

अष्ट-सप्ततितम सूक्त

अभी तो बहुत बड़ी उषा आने वाली है जबकि एक मानवराष्ट्र बन जायगा। अभी तो बनाने का उत्साह है। उस आने वाली उषा के पहिले झण्डे इस उषा में दीखने लगे हैं। हर ऊँचाई पर इस उषा के व्यञ्जक चिह्न आश्रय पा रहे हैं। हमारी ओर बढ़ते हुए इस विशाल मानवराष्ट्र-रूप ज्योतिष्मान् रथ द्वारा, हे उषा ! तू कोई बढ़िया माल हमारे लिये ला रही है (जिसका वर्णन ८ वें मण्डल में होगा)—

प्रति केतवः प्रथमा अदृश्रन्नूर्ध्वा अस्या अञ्जयो वि श्रयन्ते ।
उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि ॥ (१ म मन्त्र)

इस उषा के आगमन के प्रत्युत्तर में चारों ओर का अग्नि प्रदीप्त होकर चमक रहा है तथा उसका स्तुतिगान हो रहा है। चारों ओर विप्र लोग अपनी बुद्धि के चमत्कार भविष्य-राष्ट्रनिर्माण के विषय में दिखा रहे हैं। यह उषा देवी अपनी ज्योति से दुराचरण-रूप अन्धकारों को परे फटकारती हुई आ रही है—

प्रति षीमग्निर्जरते समिद्धः प्रति विप्रासो मतिभिर्गृणन्तः ।
उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी ॥ (२ य मन्त्र)

जिन उषाओं को सत्यमन्त्र ऋतावान् ने—कवियों ने जन्म दिया था वे ही उषाएँ ज्ञान की ज्योति बखेरती हुई जगमगाती-सी सामने दीख रही हैं। इन्होंने यज्ञ-रूप सूर्य को उत्पन्न किया और उसके लिये अग्नि को उत्पन्न किया और तब अनार्यजुष्ट अन्धकार परे भाग गया—

एता उ त्या प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम्॥ (३ य मन्त्र)

यह ऐश्वर्य भरी देवलोक की बेटी जाग उठी है। जगमग करती हुई इसको सब विश्व के लोग देख रहे हैं। यह उस रथ पर—जिसे विश्व की प्रजा ने अपने स्वावलम्बन के बल पर जोता है और जिसे सच्चे क्षत्रिय* लोग वहन करते हैं—उस रथ पर सुखासीन हो गई है—

अचेति दिवो दुहिता मघोनी विश्वे पश्यन्त्युषसं विभातीम्।
आस्थाद्रथं स्वधया युज्यमानमा यमश्वासः सुयुजो वहन्ति॥ (४ थं मन्त्र)

हे आकाश में उदित होने वाली उषा! हम अति प्रसन्न-मन होकर तेरे सन्देश सुनें और त्वत्सदृश उत्साहमयी उषा का ऐसे ही स्वागत करें, जैसे पशुपक्षी तथा चराचर जगत् के पदार्थ तेरा स्वागत करते हैं। इस स्वागतकर्म में केवल हम वसिष्ठ ही नहीं हैं, अपितु ऐश्वर्य वाले इन्द्र भी हमारे साथ लगे हुए हैं। हे उषाओ! तुम प्रतिदिन उदित होती हुई, इस विश्व को स्नेह में विलीन कर दो। हे विश्व के देवो! तुम स्वस्तियों से सदा हमारी रक्षा करो—

प्रति त्वाद्य सुमनसो बुधन्तास्माकासो मघवानो वयं च।
तिल्विलायध्वमुषसो विभातीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (५ म मन्त्र)

नवसप्ततितम सूक्त

इस उषा के समान, ज्ञानमयी उत्साहमयी उषा ने जनता के मार्ग जो अन्धकार में छिपे पड़े थे—प्रकाशित कर दिये हैं। मनुष्यजाति के पांचों भाग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य) इसने जगा दिये हैं। सुन्दर वीर्यसेचन-समर्थ और ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहस्थ में प्रविष्ट गृहस्थों द्वारा इसने एक नई आभा पाई है। द्यावापृथिवी में ज्ञान का सूर्य छिपे रहस्यों को बोलकर प्रकट कर रहा है—

व्यु१षा आवः पथ्या३ जनानां पञ्च क्षितीर्मानुषीर्बोधयन्ती।
सुसंदृग्भिरुक्षभिर्भानुमश्रेद् वि सूर्यो रोदसी चक्षसावः॥ (१ म मन्त्र)

उषा के झण्डे द्योः के अन्त तक अर्थात् दूर क्षितिज तक गड़े हुए इसके कारनामों की सूचना देते हैं। सेनाओं के समान उषाएँ परस्पर मिलकर यत्न करती हैं अर्थात् हर नई उषा पिछली उषा के कार्य को आगे बढ़ाती है। हे उषा! तेरी किरणें अन्धकार को दूर करती हैं। जहां तक कल की सेना ने विजय किया था उससे आगे आज की उषा-रूप सेना विजय करके संसार को ज्योति

* क्षत्रं वा अश्वः॥ शत० १३.२.२.१७॥

देती है, जिस प्रकार **विधाननिर्माता सविता के रोष-तोष-रूप दो बाहु**—दुष्टों के लिये दण्ड की तथा श्रेष्ठों के लिये आगे बढ़ाने वाले विधानों की व्यवस्था करते हैं—

व्य॑ञ्जते दि॒वो अन्ते॑ष्व॒क्तून् वि॒शो न यु॒क्ता उ॒षसो॑ यतन्ते ।
स ते॒ गाव॒स्तम॒ आ व॑र्तयन्ति॒ ज्योति॑र्यच्छन्ति सवि॒तेव॑ बा॒हू ॥ (२ य मन्त्र)

परन्तु जब तक सारी प्रजा जागृत नहीं होती, तब तक ठीक नियम बनाने में बाधा होती है। यह उत्साहमयी ज्ञानमयी उषा **इन्द्रतमा** बन गई है। इसने प्रजा के हृदयों में सबसे अधिक राज्य जमा लिया है। इसने ठीक आदेश सुनने के लिये (=**सुविताय**) जनता के कानों को तय्यार कर दिया है। इसने हर व्यक्ति के अङ्ग में परिश्रम तथा विश्वकल्याण की भावना के लिये आदर, इतना रसमय बनाकर भर दिया है कि इस **अङ्गिरस्तमा** के प्रताप से **उत्तम कर्म करने वाले को धन मिलता है (कर्महीन को नहीं)**—

अभू॑दु॒षा इन्द्र॑तमा म॒घोन्य॑जीजनत् सुवि॒ताय॒ श्रवां॑सि ।
वि दि॒वो दे॒वी दु॑हि॒ता द॑धात्यङ्गि॑रस्तमा सु॒कृते॒ वसू॑नि ॥ (३ य मन्त्र)

हे उषा ! तेरा यह उपर्युक्त रूप मधुर रूप है जो तू घर-घर ज्ञान का प्रचार करती है और **तिल्विलायन करती है—सबको स्नेह में विलीन कर देती है;** परन्तु जो प्रजा का धन अथवा ज्ञानभण्डार छिपा कर रखते हैं उन ज्ञान अथवा धन के कंजूसों पर अथवा प्रकृति के छिपे रहस्यों के दुर्गों पर तू वृषभनाद करके आक्रमण करती है और न टूटने वाले द्वारों को विगताच्छादन कर देती है, इसलिये हमें भी आराधना का फल दे। जो तू अपने उपासकों के लिये खोद कर लाई है वह रहस्यरूप सारा धन हमें दे। जिससे हम अगले द्वार खोल दें। भाव यह है कि पहिले तू अपने हृदय के द्वार खोलकर हमें उत्साह से भर दे—

ताव॑दुषो॒ राधो॑ अ॒स्मभ्यं॑ रास्व॒ याव॑त् स्तो॒तृभ्यो॒ अर॑दो गृणा॒ना ।
यां त्वा॑ ज॒ज्ञुर्वृ॑ष॒भस्या॒ रवे॑ण॒ वि दृ॒ळ्हस्य॒ दुरो॒ अद्रे॑रौर्णोः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

तुझ में वह शक्ति है कि तुझसे प्रोत्साहित होकर हर देव हमारी कामना पूरी करे। सब कोई हमसे और हम सब से प्रिय तथा सत्यवाणी बोलें। प्रतिदिन उदय होती हुई तू, हमें बांटना सिखा। जिस प्रकार तू अपना मन्दस्मित तथा मधुर प्रकाश लुटाती है, हम भी लुटाएं। हे देवो ! तुम स्वस्तियों के द्वारा हमारी सदा रक्षा करो—

दे॒वंदे॑वं राध॑से चो॒दय॑न्त्यस्म॒द्र्य॑क् सू॒नृता॒ ई॒रय॑न्ती ।
व्यु॒च्छन्ती॑ नः स॒नये॒ धियो॑ धा यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥ (५ म मन्त्र)

अशीतितम सूक्त

इस उत्साहमयी उषा का ठीक प्रत्युत्तर सबसे पहिले वरिष्ठ-मेधावी लोग देते हैं। इस मधुर सन्देश को सबसे पहिले वे ग्रहण करते आये हैं। यह उषा तो धरती के दोनों पृष्ठों को बारी-

बारी से अपने रंग में रंगती है तथा सारे अन्धकार-मय भुवनों को प्रकाश में ले आती है, पर इस सन्देश को सुनते मेधावी ही हैं—

प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् ।
विवर्तयन्तीं रजसी समन्ते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा ॥ (१ म मन्त्र)

इस उत्साहमयी उषा ने सारे मानवराष्ट्र का जीवन नवीन बना दिया है । छिपे हुए अन्धकार को ज्योति से भगा दिया है । यह अनथक युवति, संसार भर की युवतियों के लिये आदर्श बनकर आगे-आगे बढ़ती जाती है । इसी ने सूर्य से संसार का परिचय कराया है । कौन से सूर्य से ? यज्ञ से तथा अग्नि से—

एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि ।
अग्र एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत् सूर्यं यज्ञमग्निम् ॥ (२ य मन्त्र)

एकाशीतितम सूक्त

यह देव-लोक की बेटी उषा हमारी माता बनकर अपने आचरण से हमें इतने उपदेश देती है—

रातदिन महान् कार्य में लगे रहो । यही है दूसरों को मार्ग बताना और अन्धकार दूर करना, ज्योति: का प्रकाश करना और इसमें उत्तम नेतृत्व करना—

प्रत्यु अदर्श्यायत्यु१च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥ (१ म मन्त्र)

हे उषा ! देख तेरा पति सूर्य अपना प्रकाश नक्षत्रों को बांटता है तो तू भी अपनी माधुरी और उल्लास बांट । यह भाग भी तो हमें मिले—

उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत् ।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥ (२ य मन्त्र)

हे उषा ! तू स्पृहणीय रत्न, ज्ञान तथा उल्लास अपने अन्दर लिये हुए है, पर उसे तू बांटती भी खूब है । तू कुछ सिखाती है । प्रभु कृपा करें कि हम कुशाग्र बुद्धि हो कर उस बोध का प्रति बोध तुरन्त कर दिखावें । तू उदित होती हुई बड़े पूजनीय कर्म करती है—

प्रति त्वा दुहितर्दिव उषो जीरा अभुत्स्महि ।
या वहसि पुरु स्पार्हं वनन्वति रत्नं न दाशुषे मयः ॥ (३ य मन्त्र)

तू संसार को सूर्य का प्रकाश देने से पूर्व महती चेतना देती है । हम भाग्यशाली होवें और तेरे दिये हुए इस रत्न के पात्र बनें । तू तो माता के समान हम बच्चों को, स्वामी की पूजा-रूप रत्न दे रही है । हम भी तेरे से यह रत्न पाकर उस प्रभु के भक्त बन जावें—

उच्छन्ती या कृणोषि मंहना महि प्रख्यै देवि स्वर्दृशे ।
तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यह भक्ति-धन पाने के पश्चात् ही हम भौतिक धन के ठीक पात्र बन सकते हैं । नहीं तो यह भौतिक धन मनुष्य को चेतनाशून्य वना देता है, तू हमें चेतना वाला धन दे, चेतनाहर धन नहीं, जिससे दीर्घ काल तक यह सुना जाय कि देखो अमुक को धन मिला था उसने कैसा सदुपयोग किया, कभी मद में अन्धा नहीं हुआ । वह धन धरती के हर मनुष्य को मिले । हे उषा ! तू हमें वह दे जिससे हम उसका उपभोग करें—

तच्चित्रं राध आ भरोषो यद् दीर्घश्रुत्तमम् ।
यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनं तद् रास्व भुनजामहै ॥ (५ म मन्त्र)

तू विद्वानों को अमर यश दे और सच्ची धनवत्ता दे । हमें जीवन दे, अन्न दे और गाय दे । तू हर ऐश्वर्य वाले को ऊँचा उठाने के लिये प्रेरणा देने वाली बन । प्रिय और सत्यवाणी बोलना सबको सिखा । उदित होती-होती विघ्न-बाधाओं को दूर भगा—

श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनं वाजाँ अस्मभ्यं गोमतः ।
चोदयित्री मघोनः सूनृतावत्युषा उच्छदप स्रिधः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

द्व्यशीतितम-चतुरशीतितम सूक्त

अगले ३ सूक्त इन्द्र तथा वरुण के हैं । इनमें भेद क्या है ?—

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा ॥ (८३.९ म मन्त्र क ख)

—**एक बाहिर के शत्रुओं से उत्पादित उपद्रवों को मार गिराता है और दूसरा प्रजा को व्रत-भङ्ग करने से बचाता है,** जिसके भय से प्रजा व्रतानुकूल आचरण करती है । कभी-कभी आर्य-प्रजा भी विघ्न उत्पन्न कर देती है । राष्ट्रहित के इतने प्रस्ताव एक साथ ला खड़ी करती है, कि उनका पूरा करना असम्भव हो जाता है । उस समय उनमें तारतम्य-निरूपण करना तथा उसके अनुसार कालानुक्रम की व्यवस्था करना, इसमें भी शासक को धैर्य तथा बुद्धि की चतुराई का परिचय देना होता है । सो, शत्रु तथा हितैषी दोनों से उत्पन्न किये वृत्रों का इन्द्रवरुण नाश करते हैं—

'दासा च वृत्रा हतमार्याणि च' ॥ (८३.१ म मन्त्र क)

परन्तु इन तीनों सूक्तों का सूक्तशृंखला में जो स्थान है उसके निर्देशक भी तीन शब्द हैं— १. महान्तौ (८२.२), २. महावसू (८२,२) और ३. महे शुल्काय (८२.६) । विश्व के सब राष्ट्रों का एक राष्ट्र बन जाने से वे महान् हो गये हैं, 'वसु' से 'महा वसु' हो गये हैं और उनका शुल्क (Stake) भी महान् हो गया है, इसलिये कहा गया है कि—'**हमें विश्ववार धन लाकर दो**'—

'अस्मे इन्द्रावरुणा विश्ववारं रयिं धत्तं वसुमन्तं पुरुक्षुम्' ॥ (८४.४ र्थ मन्त्र क ख)

पञ्चाशीतितम सूक्त

८५ वें सूक्त में उनकी बुद्धि की प्रशंसा है। वह उषा के समान स्नेहभरी, उत्साहभरी तथा ओजभरी है, इसलिये शरीर के लिये गोघृत के समान कल्याणकारिणी है—

पुनीषे वामरक्षसं मनीषां सोममिन्द्राय वरुणाय जुह्वत् ।
घृतप्रतीकामुषसं न देवीं ता नो यामन्नुरुष्यतामभीके ॥ (१ म मन्त्र)

इस सूक्त के तृतीय मन्त्र में वरुण तथा इन्द्र का भेद और स्पष्ट हो गया है। आपः अर्थात् मानवी प्रजा (शत. ७.३.१.२०) जब स्वयं विघ्ननाश में सहयोग देती है तब वरुण और इन्द्र अपनी सभा में सुप्रतिष्ठित होकर देवता कहलाते हैं। वरुण पांच कृष्टियों के (=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा इतरों के) पांच धन्धों को सम्भालता है। दूसरा इन्द्र, जो अपूर्व विघ्न आ खड़े होते हैं उन्हें नष्ट करता है—

आपश्चिद्धि स्वयशसः सदःसु देवीरिन्द्रं वरुणं देवता धुः ।
कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति ॥ (३ य मन्त्र)

यहाँ आये हुए 'सदःसु' (=सभाओं में) शब्द से स्पष्ट है कि 'आपः' से यहां मानव-प्रजा का ही अभिप्राय है।

षडशीतितम सूक्त

विश्व का एक राष्ट्र बन जाने पर इन्द्र तथा रुद्र का काम तो कम हो जायेगा, किन्तु वरुण का बढ़ जायेगा, क्योंकि अब बाह्य शत्रु तो कोई रहा ही नहीं, इस लिये ८६ वें सूक्त में वसिष्ठ अर्थात् विश्व का एक राष्ट्र बनाने वाला राजनीतिज्ञ कहता है कि मैं तो अब तुझ में लीन हो जाना चाहता हूँ—

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि ॥ (२ य मन्त्र क ख)

हे मनुष्यो! अब बाह्य शत्रु तो कोई रहा नहीं। अब तुम्हारे चार शत्रु हैं— (१) सुरा (२) उससे उत्पन्न मन्यु जो रात-दिन सुरा के चोरी-चोरी फैलाने पर मनन करता रहता है, (३) जुआ जो 'विभीदक' है—सबसे विशिष्ट रूप से भयानक है और (४) इन सब का मूल कारण—'अचित्ति' अर्थात् 'न चेतना', यदि सब मनुष्य इस बात में सचेत रहें कि 'हम तो कुछ नहीं, अरे, हम से बड़ा सदा हमारे उप अर्थात् समीप है अर्थात् मुझसे भी वरुण चतुर है और सब वरुणों से परम वरुण परमात्मा चतुर हैं' तो स्वप्न में भी मनुष्य अनृतमार्ग से युक्त न हो—

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे वरुण ! तुम अपनी कुशलता से यह चेतावनी सबको देते रहे हो कि हर बुद्धिमान् मनुष्य को बुद्धिमत्तर वरुण असली धन—चरित्र-धन की ओर दौड़ाता है—

अचेतयद॒चितो॑ दे॒वो अ॒र्यो गृत्सं॑ रा॒ये क॒वित॑रो जुनाति ॥ (७ म मन्त्र)

सप्ताशीतितम सूक्त

वरुण के गुप्तचर चारों ओर चतुर **प्रशस्य गति** वाले होकर देख रहे हैं। वे सब को ठीक प्रकार से सोचने के लिये मजबूर करते हैं। कैसे हैं वे गुप्तचर ? **ऋतावा:=पूर्ण ज्ञान वाले, कवय:=सोचने तथा बोलने में चतुर, यज्ञधीरा:=सदा लोक-कल्याण के लक्ष्य से चिपटे रहने वाले**—बड़े से बड़े प्रलोभन में भी धीर और **प्रचेतस:=सदा जागरूक** तथा दूसरों को सचेत करने वाले—

परि॒ स्पशो॒ वरु॑णस्य॒ स्मदि॑ष्टा उ॒भे प॑श्यन्ति॒ रोद॑सी सु॒मेके॑ ।
ऋ॒तावा॑नः क॒वयो॑ य॒ज्ञधी॑राः॒ प्रचे॑तसो॒ य इ॒षय॑न्त॒ मन्म॑ ॥ (३ य मन्त्र)

अष्टाशीतितम सूक्त

हे वसिष्ठ ! अब तुम अपनी मति को सदा वरुण के दरबार में पहुँचाओ। हर बात की डुबकी लगाकर खोज करो और डुबकी का परिणाम वरुण के पास भेजो (शुन्ध्युवम्)। वह सहस्रों को सुख पहुँचाने वाला **विश्वसमन्वयमहायज्ञ** स्वप्न न रहकर आज सामने यथार्थ रूप में खड़ा है। यह **वरुण की (=दण्डाध्यक्ष की)** ही कृपा है—

प्र शु॒न्ध्युवं॒ वरु॑णाय॒ प्रेष्ठां॑ म॒तिं व॑सिष्ठ मी॒ळ्हुषे॑ भरस्व ।
य ई॑म॒र्वाञ्चं॒ कर॑ते॒ यज॑त्रं स॒हस्रा॑मघं॒ वृष॑णं बृ॒हन्त॑म् ॥ (१ म मन्त्र)

हे वरुण ! तेरी कृपा से राजनीति की नौका बड़ी से बड़ी तरंगों में झूले का आनन्द देती है। जब मनुष्य लहरों में निर्भय हो तब वह झूले के समान प्यारी लगती है, नहीं तो विपत्ति का पहाड़। हे वरुण ! तूने वसिष्ठ को नाव पर चढ़ाया है—

वसि॑ष्ठं ह॒ वरु॑णो ना॒व्याधा॒दृषिं॑ चकार॒ स्वपा॒ महो॑भिः ॥ (४ र्थ मन्त्र क ख)

नवाशीतितम सूक्त

हे वरुण ! दुष्टता के पाशों में फंसे होने के कारण हमारा सोना भी मिट्टी हो जाता है। जल-धाराओं में तैरता हुआ भी मनुष्य प्यास-प्यास चिल्लाता है। बस, तू हमें पाशों से छुड़ा। हमारे होठ पाशमुक्त हों, तो फिर तो जल ही जल है, फिर प्यास कैसी—

मो षु व॑रुण मृ॒न्मयं॑ गृ॒हं रा॑जन्न॒हं ग॑मम् ॥ (१ म मन्त्र)

अ॒पां मध्ये॑ तस्थि॒वांसं॒ तृष्णा॑विदज्जरि॒तार॑म् ।
मृळा॑ सु॑क्षत्र मृ॒ळय॑ ॥ (४ र्थ मन्त्र)

नवतितम सूक्त

अगले सूक्तों में वायु देवता अर्थात् कोष के अधिष्ठाता का वर्णन है। हे वायो ! कारवाँ के कारवाँ भर के हमारी ओर लिये चला आ (अच्छा)—

वहं वायो नियुतो याह्यच्छां ॥ (१ म मन्त्र ग)

परन्तु यह देखना कि कहीं अशुचि सम्पत्ति न आवे। लाने वाले 'शुचयः' हैं (१ म मन्त्र) और तू 'शुचिपाः' (२ य मन्त्र) है।

वायुदेवता (कोषाध्यक्ष) की दृष्टि में जमीन-आसमान राष्ट्र को धन देने को बने हैं (राये रोदसीमे)। हमारी सब की बुद्धि राष्ट्र के धन के लिये है (राये धिषणा)। इसीलिये वायुदेवता को यहाँ नियत किया है। ला और ला—वायु-वेग से ला। 'नियुत् पर 'नियुत्' (=ट्रेन पर ट्रेन) उस की ओर भागी आ रही हैं और कुछ लोग उसमें से उज्ज्वल 'वसुधिति' (=धन के सन्दूक) बाहर निकालने पर लगे हैं कि राजकोष में पहुँचावें—

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम्।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके ॥ (३ य मन्त्र)

हर निष्कलङ्क उषा उदित होती है और नाना प्रकार की ज्योति का विस्तार करती है। चारों ओर विद्वान् गाय के दूध के समान ज्ञान का भण्डार खोल रहे हैं और उसमें से ज्ञानधाराएं बह रही हैं—

उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

परन्तु यह सब इसीलिये हो सका है कि कोषविभाग के लोग सच्चे मन से राष्ट्र के काम को अपना समझकर इस कोषमय यज्ञ से ज्ञान का भार वहन करते हैं। हे इन्द्रवायू ! तुम्हारे वीरवाह रथ के सामने अन्न के ढेर लगे हैं—

ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति।
इन्द्रवायू वीरवाहं रथं वामीशानयोरभि पृक्षः सचन्ते ॥ (५ म मन्त्र)

इस कोष के बल पर ही युद्ध जीते जाते हैं—

अर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः (६ ष्ठ मन्त्र घ)

एकनवतितम सूक्त

तुम्हारी सैंकड़ों हजारों 'नियुत्' विश्व-कल्याणकारिणी होकर इकट्ठी हो रही हैं। इन उत्तम पदार्थों से भरी ट्रेनों को लेकर हमारे पास आओ—

या वां शुतं नियुतो या सहस्रमिन्द्रवायू विश्ववाराः सचन्ते ।
आभिर्यातं सुविदत्राभिरर्वाक् पातं नरा प्रतिभृतस्य मध्वः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

द्वानवतितम सूक्त

हे वायो ! हमारे कोष में वह अन्न ला, जिससे सबको उत्तम भोजन मिले ।

'नि नो रुयिं सुभोजसं युवस्व' ॥ (३ य मन्त्र)

'तू 'शतिनी' 'सहस्रिणी' नियुत् लेकर आ—

'आ नो नियुद्भिः शुतिनीभिरध्वरं सहस्रिणीभिरुप याहि यज्ञम् ॥ (५ म मन्त्र क ख)

त्रिनवतितम-चतुर्नवतितम सूक्त

अगले दो सूक्त **इन्द्राग्नी** के हैं । **इन्द्र** के साहचर्य से यहाँ **'अग्नि'** पद से **सेनापति** अर्थ लिया जायगा । प्रश्न उठ सकता है कि **'अग्नि'** के साहचर्य से **'इन्द्र'** ब्राह्मण क्यों न लिया जाय तो इसका उत्तर है कि इन्द्र २९ वें सूक्त में ब्राह्मण है ही, परन्तु वह ब्राह्मणत्व अतिदिष्ट है । किं च इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर ९३.१ में **'वृत्रहणौ'** तथा ९२.११ में **'वृत्रहन्तमो'** ये दो विशेषण हैं । सो, **इन्द्रावरुणौ** में राजा और पोलिस विभाग के अध्यक्ष का वर्णन हुआ । पश्चात् **वायु**=कोषाध्यक्ष का वर्णन हुआ । अब **'इन्द्राग्नी'** में **राजा** तथा **दण्डाध्यक्ष** का वर्णन है । ये सब मिलकर वसिष्ठों की सहायता करें—

पञ्चनवतितम सूक्त

'ये सब मिलकर प्रजाकोष को अर्थात् प्रजा की उपभोग्य सामग्री की धारा को अविच्छिन्न बनाये रक्खें' यह सरस्वती के सूक्त में कहा गया है । सरस्वती का वर्णन पढ़िये—वह सब कुछ अपने अन्दर समेटने वाले (**=धायसा**) और मार्ग में आने वाली सब बाधाओं को चूर्ण-चूर्ण करने वाले वेग से (**=क्षोदसा**) सबको आश्रय देने का स्थान (**=धरुणम्**) बनकर लोहमयी नगरी (**आयसी पूः**) के समान आगे बढ़ चली । यह तो एक गली चलती प्रतीत होती है । रास्ते में जो बाधा आती है उसे यह पीसती जाती है । इसके जोड़ की कोई **सिन्धु** नहीं—

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ।
प्रबाबधाना रुथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥ (१ म मन्त्र)

जहाँ माल तय्यार होता है, उस माल के पहाड़ से यह उपभोक्ताओं के बाजार-रूपी समुद्र में पहुँचती है । सारे मार्ग में कहीं अशुचि व्यवहार नहीं होता । यह सारे मार्ग में धन इकट्ठा करती जाती है तथा मर्यादा-पालक सदाचार के नियमों में बंधे हुए मनुष्य को सदा घी-दूध देती है—

एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यतो गिरिभ्य आ समुद्रात् ।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ (२ य मन्त्र)

जिस राष्ट्र में इस प्रकार सरस्वती का अविच्छिन्न प्रवाह चलता है वहाँ उस विभाग के अधिपति 'सरस्वान्' की लोग इस प्रकार प्रशंसा करते हैं—धन्य है वह नर जिसने इस सरस्वती का पतित्व पाया। वह यज्ञ को दूध देने वाली गौओं का वृषभ है। वह ऐश्वर्य वालों को बलवान् सहायक (पुत्र, शिष्य, स्वामिभक्त भृत्य आदि) देता है और उपयोगी पदार्थ ठीक समय पर पहुंचा कर उनके शरीर मंजे हुए बनाता है—

स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो यज्ञियासु ।
स वाजिनं मघवद्भ्यो दधाति वि सातये तन्वं मामृजीत ॥ (३ य मन्त्र)

इस सरस्वती की गङ्गा-यमुना आदि अन्य सखियाँ भी हैं, परन्तु आर्थिक दृष्टि से यह समृद्धतम है* । यह हमारी प्रीतिपूर्वक सेवा करती है। यह बड़ी भाग्यशालिनी है—

उत स्या नः सरस्वती जुषाणोप श्रवत् सुभगा यज्ञे अस्मिन् ।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

जब अन्य सब तेरी स्तुति करें तो तू प्रति स्तोम कर। हर विभाग को उसकी अभीष्ट वस्तु पहुंचा और उनके कार्य की प्रशंसा कर। हम तेरे पास ऐसे आवें, जैसे [कोई आतपतप्त] वृक्ष की छाया में आता है—

इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रति स्तोमं सरस्वति जुषस्व ।
तव शर्मन् प्रियतमे दधाना उप स्थेयाम शरणं न वृक्षम् ॥ (५ म मन्त्र)

हे सरस्वति ! वसिष्ठ का = राजनीतिविशारद का कर्त्तव्य है कि तेरे दोनों द्वार खुले रक्खे। न तो माल के पहाड़ से माल ढोने में बाधा हो और न उपभोक्ताओं तक पहुंचाने में। बस, यही वसिष्ठों का काम है—

अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र क ख)

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सप्तसिन्धु सूक्त में तो सरस्वती को सेना का अंग बताया है और यहाँ आप अन्य वर्णन कर रहे हैं तो हमारा कहना है कि 'राष्ट्रकोष को भरना और सेना के कोष को भरना, ये दोनों काम सरस्वती के हैं, सो, इन दोनों में कोई विरोध नहीं है ॥

षण्णवतितम सूक्त

सरस्वती तथा उसके अधिष्ठाता सरस्वान् की कृपा से हर लहर में हमें मधु मिले, घृत मिले, उत्तम सन्तान मिले और उत्तम अन्न मिले—

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः ।
तेभिर्नोऽविता भव । (५ म मन्त्र)

---

* धर्म की दृष्टि से गङ्गा, नियमपाल की दृष्टि से यमुना और तीव्र वेग की दृष्टि से शुतुद्रि इत्यादि की विस्तृत व्याख्या हमारे 'सप्तसिन्धुसूक्त' निबन्ध में देखिये।

पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः ।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

सप्तनवतितम सूक्त

राष्ट्रों का युद्ध दूर हो । एक राष्ट्र बने । यदि विवाद हों तो निर्णय युद्ध-क्षेत्र में न हो, न्यायालय में हो । इसी तय्यारी में वसिष्ठ लोग लगे हुए हैं । **वसिष्ठ, इन्द्र, मरुत्, अश्विनौ, उषा, मित्रावरुणौ, इन्द्राग्नी और सरस्वती** इन सबके सहयोग का वर्णन हुआ, परन्तु सबसे मूल्यवान् वस्तु की ओर ९६ वें सूक्त के ४ थें मन्त्र के **'पुत्रीयन्तः'** शब्द में निर्देश है । यदि राष्ट्रों का कलह सदा के लिये विदा करना है तो अगली सन्तान का मन, हृदय और चरित्र बदलना होगा, इसलिये ९७ वें सूक्त में **इन्द्र और बृहस्पति** का सहयोग प्रार्थित है । वह उत्तम सन्तान कहां बनेगी ? जहाँ देव-पूजा का **वायुमण्डल हो और प्रथम वय के लोग इकट्ठे हों** । इन्द्र के लिये सर्वश्रेष्ठ सोम का सवन वहाँ होता है । वहाँ ब्रह्मचर्य द्वारा प्रथम वय में आनन्द का प्रवाह बहाया जाता है—

यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च ॥ (१ म मन्त्र)

हे मित्रो ! देव लोगों से हमें तभी रक्षा मिलेगी जब हमारा बृहस्पति तेज होगा—

आ दैव्या वृणीमहेऽवांसि बृहस्पतिर्नो मह आ सखायः ॥ (२ य मन्त्र क ख)

देवों के बताये ज्ञान-भण्डार का राजा ब्रह्मणस्पति है । वह ब्रह्मणस्पति आदर की दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ है । उसको नमस्कार कर—

तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ॥ (३ य मन्त्र)

हे बृहस्पति और इन्द्र ! तुम दोनों का सहयोग हुआ, तो हमने सब कुछ पा लिया । एक दिव्य धन का स्वामी है और एक पार्थिव धन का—

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ॥ (१० म मन्त्र क ख)

अष्टानवतितम सूक्त

हे इन्द्र ! यदि तू चाहता है कि दिशा-दिशा में उत्तम सोमरस-रूप अन्न का प्रचार हो और प्रतिदिन लोग इस रस का पान करें, तो हृदय तथा मन दोनों शक्तियों से गुरुकुलों से घर की ओर प्रस्थान करने वाले स्नातकों की अत्यन्त प्रेमाविष्ट होकर सेवा किया कर—

यद्दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान् ॥ (२ य मन्त्र)

यही तेरे और बृहस्पति के सहयोग का फल है ।

नवनवतितम सूक्त

सब देवता एक ओर और अकेला विष्णु एक ओर है। हे इन्द्र ! सब विभाग धरे रह जायेंगे जब तक कि राष्ट्र का सारा मानवसमाज जागृत न होगा।

हे विष्णो ! = हे सङ्गठित मानव-समाज ! हम तेरा अनुकरण तो क्या, तेरी महिमा का भी पार नहीं पा सकते। तू परे से परे बढ़ता जाता है। अन्त में तेरा ध्यान करते-करते मनुष्य जब परम विष्णु परमात्मा का ध्यान करता है तब तो उसका सिर चकरा जाता है। मनुष्य कह उठता है—'देवलोक और पृथिवी लोक दोनों तेरे हैं। तू दोनों का तत्त्व जानता है—

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से॥ (१ म मन्त्र)

परन्तु न कोई पैदा हुआ और न होगा जो तेरी महिमा के परले सिरे तक पहुँच जाय। तू 'नाक' = (द्यौः) को भी संभाले हुए है और पृथिवी को भी—

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्र ! जब सारा समाज तेरे साथ मिल जाय, तब तुम सैंकड़ों, हजारों असुरों का सामना कर सकते हो—

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥ (५ म मन्त्र)

हे शिपिविष्ट ! हे पर्दानशीन ! दूर से ही मेरी पुकार सुन—

'तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्'॥ (७ म मन्त्र)

विष्णु = मनुष्यसमाज कभी सामने नहीं आता, इसीलिये इसे शिपिविष्ट कहते हैं, परन्तु जब किसी महान् विपत्ति अथवा महान् समारम्भ के लिये जागृति उत्पन्न होती है और यह समाज उठ खड़ा होता है तब आश्चर्य होता है कि कितनी बड़ी शक्ति पर्दे में छिपी थी।

शततम सूक्त

हे विष्णो ! तूने हमें विश्वजन्या मति दी है—

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः॥ (२ य मन्त्र)

एक शततम सूक्त

अब १०१ वें सूक्त में, 'विश्व में न्याय का राज्य हो' यह दिखाना है। न्यायराज्य के लिये जितने अधिक शान्त, समाहित-चित्त तथा परमात्मा की भक्ति में सराबोर लोग होंगे उतना ही अच्छा न्याय कर सकेंगे। क्योंकि बड़े से बड़े विद्वान् तथा संयमी मनुष्य में जहाँ अद्भुत विवेकशक्ति होती

हैं तथा अनथक परिश्रम-शक्ति होती है वहाँ उत्कर्षजन्य अभिमान तथा अभिमानजन्य कटुता का संस्पर्श न्याय के मार्ग में एक अति सूक्ष्म तथा अति भयङ्कर विघ्न है। उसको दूर करने की शक्ति भक्तिरस-जन्य विनीत भावना में ही है। सो, भावी न्यायाधीशों को वसिष्ठ का (=विश्वराजनीति-विशारद मूर्धाभिषिक्त ब्राह्मण का) उपदेश है—

हे मनुष्य! **ओङ्कार-रूप ज्योति से प्रादुर्भूत ऋग्यजुः-साम-रूप तत्त्वनिरूपण, आत्म-सत्त्वोत्कर्षोद्बोधन, रसद्रुतिरूप तीन गद्य-पद्य-गीतात्मक वाणी की तीनों धाराओं को स्वाध्याय, प्रवचन, प्रणिपात, परिप्रश्न-सेवादि द्वारा भलीभांति जान ले**। जिस ऊषस् में से मधुमय दूध बरसता है उस महाधेनु ('तां सवितुः' यजुः १७.७४) का दूध इस वेदचतुष्टयी से ज्योतिर्मय, मधुमय किंवा उष्णतामय होकर निकलता है, परन्तु गुरुमुख से पड़े वे सब ज्ञानबीज तेरे अन्तःकरण में पड़े रहते हैं। गुरु की कृपा का हल चल जाता है तो यह ओषधिगर्भ-बीज सुगमता से अङ्कुरित होते हैं, परन्तु आज तो तेरे सौभाग्य का दिन है। जिस वृषभ की वात्सल्यमयी वर्षा की प्रतीक्षा थी। आज वह स्निग्धश्यामल कान्तिमनोहर मेघ सद्यः तेरे हृदयाकाश में वर्षा करने आया है। आज वह मधुर गम्भीर ध्वनि कर रहा है। तेरे हृदय में पड़े बीज वे बछड़े हैं जिन पर यह बरसेगा और वे अङ्कुरित हो उठेंगे। तेरा हृदय वह गौ है जिस पर वृषभ वर्षा करेगा—

तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद् दुह्रे मधुदोघमूधः।
स वत्सं कृण्वन् गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति॥ (१ म मन्त्र)

हृदय में पड़ा हर उत्तम बीज अङ्कुरित होकर तुझे भी गर्मी देगा और जो तेरी सङ्गति में आयेंगे उन्हें भी गर्मी देगा, इसीलिये सब बीज **'ओष+धि-वर्धक'** कहलाते हैं। हर अन्न गर्मी का खजाना ही तो है, परन्तु इस हृदयगत बीज की वृद्धि प्रभुकृपा का मेघ बरसने से होती है, उसी से मानवप्रजा (**मनुष्या वा आपः** शत० ७. ३. १. २०) की वृद्धि होती है। यह वात, पित्त, कफ तीन धातुओं का घर उसी के द्वारा नियमों में बंधकर खड़ा रहता है और बाल्य, यौवन, जरा इन तीनों क्षेत्रों में अभीष्ट ज्योति मिलती है—

यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे।
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्ट्य१स्मे॥ (२ य मन्त्र)

वह प्रभु भी हमारे साथ खूब आँख-मिचौनी खेलता है। कभी तो, जब हम संशयालु होते हैं तो ओझल हो जाता है और फिर समय-समय पर हमें अपने चमत्कार, अन्तःकरण में तथा जीवन-यात्रा में दिखाता है। ऐसा दीखता है मानो सीधे सामने खड़े होकर आज्ञा दे रहा है। जब चाहे जैसा रूप बनाता है और अपनी इच्छानुसार हमें घड़ता है, परन्तु हृदयभूमि-रूप माता उसका दिया जल ग्रहण करे और उस पिता का पितृत्व चमके, माता का मातृत्व चमके और हमारा व्यक्तित्व-रूप शिशु वृद्धि को प्राप्त हो। यह वर्षा ऋतु का रंग कभी देखने में आता है—

स्तरीरु त्वद् भवति सूत उ त्वद् यथावशं तन्वं चक्र एषः।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः॥ (३ य मन्त्र)

प्रभुनाम का मधुमय कोष तो सदा ही मधुधारा वरसाता रहता है, परन्तु हमारा विवेक-ख्याति-रूप मुख वन्द रहता है। कभी-कभी हम विषयानन्द में डूबे समझते हैं कि मधुवर्षा हो रही है। कभी-कभी प्रकृति भी अत्यन्त मधुवर्षी रूप धारण करती है, परन्तु प्रभु की मधुवर्षा प्रकृति के उद्यान में विकसित है और मैं उस मधुधारा में स्नान करूं। ये तीनों मधुकोष कभी-कभी इकट्ठे होते हैं। वह दिन तव होता है जिस दिन इन समस्त भुवनों का स्वामी कृपालु होता है। उस दिन प्रभु की करुणाधारा वहती है। उस द्यौः से धरती पर रस वरसता है तव द्यौः और धरती सौन्दर्य से देदीप्यमान होती हैं। प्रभु की करुणाधारा और प्रकृति की रसधारा. दोनों से देदीप्यमान होकर, मैं भी देदीप्यमान हो जाता हूँ और मेरी आनन्दाश्रुधारा ऐसी वहती है कि रुकती ही नहीं। ये तीन द्यौः, तीन धाराएँ तथा विश्वभोजन के तीन मधुमय उपसेचनों में से मधुधारा, ये सहस्र-धारा कभी-कभी रंग लाती है और सव में से एक उस 'महान्' (विरप्श) की ध्वनि फूटकर निकलती है—

यस्मि॒न्विश्वा॑नि॒ भुव॑नानि त॒स्थुस्ति॒स्रो द्याव॑स्त्रे॒धा स॒स्रुरापः॑ ।
त्रयः॒ कोशा॑स उप॒सेच॑नासो॒ मध्वः॑ श्चोतन्त्य॒भितो॑ विर॒प्शम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे भोले लोगो ! मैं यहाँ उस मेघ का वर्णन नहीं कर रहा जो हर सावन में वरस लेता है। मैं तो अपने अन्दर विराजमान पर्जन्य का वर्णन कर रहा हूँ। यह वृष्टि मेरे हृदय के अन्दर होती रहे और मेरा हृदय इसे प्रीतिपूर्वक सेवन करता रहे। ऐसी विश्व-कल्याणकारिणी वृष्टि हमारे हृदयों में सदा होती रहे और संसार के देवों की रक्षा करने वाली अन्नों की खेतियाँ सदा हृदय में उत्तम फल देती रहें—

इ॒दं वचः॑ प॒र्जन्या॑य स्व॒राजे॑ हृ॒दो अ॒स्त्वन्त॑रं॒ तज्जु॑जोषत् ।
म॒यो॒भुवो॑ वृ॒ष्टयः॑ सन्त्व॒स्मे सु॑पिप्प॒ला ओष॑धीर्दे॒वगो॑पाः ॥ (५ म मन्त्र)

इन हृदय में रहने वाली शाश्वत दिव्य भावनाओं पर मधुवर्षा करने वाला वादल, यह स्थूल वादल नहीं है। इन हृदय के वीजों में शक्ति डालने वाला वृषभ तो वह परमात्मा है जो सारे स्थावर-जङ्गम जगत् का आत्मा है। मेरे ज्ञान-वीजों का जो ऋतमय कोष है वह इस वर्षा की कृपा से सदा सुरक्षित रहे। हे विश्व के देवो ! हे वसिष्ठो ! तुम सदा स्वस्तियों द्वारा हमारी रक्षा करो—

स रे॑तो॒धा वृ॑ष॒भः शश्व॑तीना॒ं तस्मि॑न्ना॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ।
तन्म॑ ऋ॒तं पा॑तु श॒तशा॑रदाय यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

द्विशततम सूक्त

१०२ वें सूक्त में पर्जन्य से प्रार्थना की गई है—

'इळां॑ नः सं॒यतं॑ करत्' ॥ (३ य मन्त्र)

तू हमारी भोजन आदि सामग्री को संयत कर। यही न्यायालय का उद्देश्य है।

त्रिशततम सूक्त

परमात्मा ने हर पशु-पक्षी को किसी न किसी अद्भुत विद्या का **जन्मसिद्ध ऋषि** बनाया है। यजुर्वेद ३९. ४ में कहा—'**पशूनां रूपम्**'। हे प्रभो ! मुझे शक्ति दीजिये कि मैं इन पशुओं के उस **दिव्य ज्ञानमय रूप** को (**अशीय**) प्राप्त करूं।

मण्डूक नामक जीव को **समाधि** सिद्ध है। वह वर्षों तक प्राणायाम किये धरती में पड़ा जीता रहता है और जहाँ पानी में छोड़ा कि वह जागा और तैरने लगा। वेद में जहाँ अग्नि की वेदि है (१. १६४. ३५), वहाँ सोम के सरोवर हैं (५. २१. ७, ८; ६. १७. १; ८. ७. १०,-७७. ४; ९. ५४. २), अग्नि की ज्वाला है (१. ३६. ३) और सोम की धारा (९. १. १)। सो, इस मण्डल की समाप्ति **सोम-सरोवर** के साथ होनी है। सरोवर को भरने के लिये १०१ वें तथा १०२ वें सूक्त में **दिव्य पर्जन्य** आया। अब इस दिव्य जल से भरे सरोवर में इसे मण्डित करने वाले **मण्डूकों** से कुछ सीखना है। वेद कहते हैं—हे मनुष्यो ! जब कभी तुम वर्षा ऋतु में सरोवर के पास मण्डूकों को बोलते देखो तो उनसे यह सीखना—

देखो, ये मण्डूक वर्षा से पहिले कहीं दीखते नहीं थे। धरती में समाधिस्थ पड़े थे। जैसे ये चुपचाप पड़े रहते हैं ऐसे ही न्यायाधीशों को चुपचाप पड़े रहने की शिक्षा और व्रतचारी ब्राह्मणों को निराहार पर्जन्य-परायण होकर व्रतचर्या और प्रभुभक्ति की शिक्षा मण्डूकों से लेनी चाहिये और जब तक प्रभुकृपा का जल न बरसे चुप रहना चाहिये। ये सरोवर के मण्डूक (Adornment) हैं, तुम्हें न्यायालय के मण्डूक बनना है। उससे पहिले व्रताचरण सीखना है।

देखो, ये मण्डूक व्रतचारी ब्राह्मणों के समान चुपचाप समाधिमग्न थे। पर्जन्य की वर्षा ने इनमें जान डाल दी। अब ये बोलने लगे—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ (१ म मन्त्र)

साधारण कूप आदि के जल से ये नहीं ‹ लते। जिस दिन **दिव्य जल** (आसमानी पानी) बरसा है और सरोवर में सूखी चमड़ी के समान सोये हुए इन तक पहुँचा है तो बछड़ों के लिये रंभाती गौओं के शब्द के समान इन मण्डूकों का **वाग्विलास** भी यहाँ पहुँच गया है—

दिव्या आपो अभि यदेनमायन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥ (२ य मन्त्र)

स्वार्थी मनुष्य इष्ट वस्तु की प्राप्ति पर आपस में लड़ते हैं—झगड़ते हैं, परन्तु प्रभुभक्तों पर जब **प्रभुकृपा बरसती** है तब वह आनन्द उनके अन्दर समाता नहीं, उस दशा का वर्णन अगले मन्त्र में हैं।

ये किस गहरी उत्कण्ठा से वर्षा को चाह रहे थे, कितने प्यासे थे, बरसात आई और वह मेघ बरसा। ये एक दूसरे के प्रेमालिङ्गन में इस प्रकार बंध गये, मानो एक दूसरे को खरल कर रहे

हों, जिस प्रकार पुत्र पिता से चिपटता है इस प्रकार आपस में एक दूसरे की बड़ाई करके उससे चिपट रहे हैं और एक दूसरे के गुण बता रहे हैं—

यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत् तृष्यावतः प्रावृष्यागताया्म् ।
अक्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ॥ (३ य मन्त्र)

ग्रीष्म के पश्चात्-तपस्या के पश्चात् प्रथम जलविसर्ग के समय प्रत्येक एक दूसरे को आलिङ्गन में बांध रहा है । इतना आनन्द दोनों को हुआ है । वर्षा पड़ते ही हर मण्डूक उछलने लगा है । रंग-बिरंगा हरे रंग वाले से बातों में उलझा हुआ है—

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमन्दिषाताम् ।
मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन् पृश्निः संपृङ्क्ते हरितेन वाचम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

सब एक दूसरे की हाँ में हाँ मिला रहे हैं, मानो सब एक दूसरे के शिक्षक तथा शिष्य हों । इनका पोर-पोर आनन्द से पुलकित हो उठा है । हे प्रभुभक्तो ! तुम भी इन मण्डूकों के समान एक दूसरे का गुणगान करो और प्रभुकृपा के जल में स्नान के आनन्दानुभव एक दूसरे को सुनाओ—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥ (५ म मन्त्र)

आवाज अलग, रंग अलग, पर नाम सबका मण्डूक (=सजाने वाले) । किसी की आवाज में वात्सल्य है (=गोमायुः), किसी की आवाज में नम्रता है (=अजमायुः), किसी का रंग पृश्नि (=चमकीला रंग-बिरंगा) है अर्थात् वह बहुशास्त्रज्ञ है और कोई हरा है अर्थात् उसने केवल प्रेमरस का पाठ पढ़ा है । रूप सब के अलग, पर 'भक्ति के द्वारा सभा की शोभा बढ़ाना' यह गुण सबका एक समान और अत एव 'मण्डूक' यह नाम भी समान । ये वाणी को नाना प्रकार के कपड़े पहिनाते हैं, परन्तु माधुरी सब में समान है—

गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम् ।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

कभी-कभी तो इनकी सोमसरोवर में रातभर बैठक होती रहती है । जैसी, संगीतकारों में रात बीतने पर भी रसगोष्ठी में भक्तिरूप सोम-रस का पान होता ही रहता है । बस, मण्डूको ! तुम संवत्सर के उस दिन के चारों ओर चक्कर काटते रहते हो जिस दिन वर्षा अपना रंग जमाती है । बस, भक्त ब्राह्मण भी उस दिन की प्रतीक्षा करते हैं, जब प्रभु-गुणगान करते-करते सारी रात बीत जाय, पर रसप्रवाह बन्द न हो—

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः ।
संवत्सरस्य तदहः परिष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥ (७ म मन्त्र)

यह ठीक है कि **कर्मयोगी अध्वर्यु ब्राह्मण** जब लोककल्याण में लगे हों और श्रम करते-करते उनका पसीना बह निकले तब वे बाहर आते हैं। इसी प्रकार ये मण्डूक भी ग्रीष्म में छिपे पड़े थे, अब बाहर हैं, परन्तु **कर्मयोगी** जिस प्रकार कर्म से पूर्व **स्वाध्याय** करते हैं (**ब्रह्म कृण्वन्तः**) और फिर बोलते हैं तथा कर्म की सफलता पर प्रभु के सामने नम्र होकर मुख खोलते हैं तो विजय और विनय का कैसा मधुर समागम देखने में आता है। आज ग्रीष्म के पश्चात् गान में मग्न ये मण्डूक वही मधुर दृश्य उत्पन्न कर रहे हैं—

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्॥ (८ म मन्त्र)

देवाधिदेव प्रभु ने जिस प्रकार **मधु, माधव; शुक्र, शुचि; नभस्, नभस्य; इष, ऊर्ज; सहस्, सहस्य; तपस्, तपस्य** ये १२ क्रम वाला संवत्सर हर कार्य के लिये नियत किया है उस ऋतु अर्थात् मर्यादा का ये मण्डूक ठीक पालन कर रहे हैं, उसे भङ्ग नहीं होने देते। अब उसी क्रमानुसार **संवत्सर** में (=१२ मासों के पारस्परिक सहयोग में) तपे हुए विश्व के कटाह अथवा डेग में अपनी दाहशक्ति का आनन्द ले रहे हैं। वह क्रम इस प्रकार है—

(१) किसी कार्यकर्त्ता को कार्य में प्रवृत्त करने के लिये उस कार्य के मधुर परिणामों का ज्ञान मधुर-व्यवहारपूर्वक कराना यह **मधु** मास है।

(२) जब कार्यकर्त्ता के हृदय में माधुरी का अनुभव उत्पन्न हो जाय और कर्म में रुचि को जन्म दे तो वह **माधव** मास है।

(३) फिर उस कार्यक्षेत्र में पराक्रमगाथा सुनने से जब रुचि के साथ वीररसमय उत्साह उत्पन्न हो जाय तो वह **शुक्र** मास है।

(४) परन्तु पराक्रम में क्रूरता न आ जाय—साध्य के आवेश में साधनों की पवित्रता का मूल्य न भूले, इसलिये साधनों की शुचिता का उपदेश '**शुचि**' मास है।

(५) अब उस महान् कार्य के किस विशेष अंग में उसकी रुचि है यह जानने के लिये संस्कर्त्ता अपने आपको छिपा ले और उसे स्वयं बरसने दे वह '**नभस्**' मास है।

(६) जब इस स्वतन्त्रता की अवस्था में उसकी स्वाभाविक रुचि जागृत होकर अपना स्वरूप स्पष्ट दिखलावे इसका नाम '**नभस्य**' मास है।

(७) अब उस स्वयं चुने हुए मार्ग के अनुसार उसको शारीरिक तथा मानसिक अन्न देना '**इष्**' मास है।

(८) 'वह अन्न पच भी रहा है वा नहीं' इस बात की परीक्षा '**ऊर्ज्**' मास है।

(९) फिर उसके अनुसार उसकी कार्यक्षमता की परीक्षा '**सहस्**' मास है।

(१०) परीक्षानुसार जीवन के ध्येय की दीक्षा '**सहस्य**' मास है।

(११) दीक्षानुसार तपस्यामय दिनचर्या '**तपस्**' मास है।

(१२) दीक्षानुसार स्वाध्याय 'तपस्य' मास है।

जैसे, ग्रीष्म ऋतु के पश्चात् वर्षा ऋतु है तथा जिस प्रकार सूर्य की गर्मी सम्पूर्ण अशुचिता को दग्ध कर देती है, इसी प्रकार कार्यकर्त्ता के वीर-रस को जगाकर तथा अशुचिता को दूर करके जो विचार को स्वतन्त्रता दी जाती है वह वर्षा ऋतु के समान है। प्रभुभक्त लोग जब तपस्या से अन्तःकरण के मल भस्म करके यह अनुभव करने लगते हैं कि आज मेरा प्रभु प्रसन्न होकर मुझे आदेश दे रहा है कि 'चल, अब तू शुचि है, अब कर्मयोग के लिये अग्रसर हो' उसी दिन दग्ध आत्माओं को वर्षा ऋतु का विश्राम मिलता है—

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते ।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ॥ (९ म मन्त्र)

हमें तो अब सोम-सरोवर में जाना है। चाहे वात्सल्य रस वाला (=गोमायु) हो, चाहे करुण रस वाला विनयमूर्त्ति (=अजमायु) हो, चाहे बहुविद्या-प्रगल्भ (=पृश्नि) हो और चाहे प्रेम-हरियाला हरित हो, हमें तो ये सब ज्ञान का धन देते हैं। इस प्रभुकृपा के मेघ बरसने के समय चारों ओर सहस्रों सवन आरम्भ हो जाते हैं। उसमें ये सोमसदन के मण्डूक हमें नाना प्रकार की वाणी-रूप गौएँ देकर दीर्घायु करते हैं—

गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि ।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ॥ (१० म मन्त्र)

चतुःशततम सूक्त

अब वह सर्वश्रेष्ठ सवन कौनसा है इसका वर्णन १०४ वें सूक्त में करते हैं—

धरती का सवन अन्न है, इसीलिये कहा है—'अन्नं सोमः' (शतपथ), अन्न का सवन वीर्य है, इसीलिये कहा है—'रेतो वै सोमः' (शतपथ), वीर्य का सवन सन्तान है, इसीलिये पुत्र को सुत तथा पुत्री को सुता कहते हैं। सन्तान का सवन स्नातक हैं, इसीलिये कहा—'सोमो वधूयुरभवत्' (१०.८५.९)। स्नातकों का सवन ब्राह्मण है, इसीलिये ब्राह्मण को सोम्य कहते हैं और ब्राह्मणों का सवन न्यायाधीश है, इसलिये कहा 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (यजु. ९.४०।१०.१८)

न्यायाधीश का स्वरूप १०४ वें सूक्त के १२ वें मन्त्र में इस प्रकार दिया है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ (११ श मन्त्र)

—अच्छी प्रकार ज्ञान की तह तक पहुँचे हुए मनुष्य के सामने सत् और असत् दोनों प्रकार के वचन अपना विवाद उपस्थित करते हैं, उनमें से जो सत्य है और यदि दोनों सत्य हैं, तो जो सत्यतर है, सोम उसकी तो रक्षा करता है और असत् को मार गिराता है।

बस, विश्वराष्ट्रनिर्माण के लिये इन्द्रवरुण, मित्रवरुण, इन्द्राग्नि आदि अनेक देवों के जोड़ों की आवश्यकता है, परन्तु विश्वराष्ट्रनिर्माण के लिये सबसे अधिक आवश्यकता **विश्वन्यायालय** की है। शतपथ (१.५.४.६) में लिखा है कि देव और असुर डण्डों और धनुषों से लड़ते थे, परन्तु निर्णय कोई नहीं हो पाता था। अन्त में उन्होंने निर्णय किया कि वाणी द्वारा (=युक्ति-प्रतियुक्ति-पूर्वक) लड़ें। इससे ही निर्णय हो सकेगा। बस, राष्ट्रों के कलह की भी यही बात है। जिस दिन वे न्यायालय में वाणी द्वारा निर्णय करा सकेंगे, उसी दिन कल्याण होगा, इसलिये **विश्वन्यायालय** के साथ इस मण्डल की समाप्ति होती है। अब क्रमशः मन्त्रार्थ सुनिये—

हे इन्द्र तथा सोम! (अकेला सोम केवल निर्णय दे सकता है, इसलिये इन्द्र अर्थात् विश्व-राष्ट्रपति तथा सोम के जोड़े के साथ मण्डल समाप्त होता है) तुम अन्धकार की वृद्धि करने वाले राक्षसों को तपा कर **शुद्ध** कर लो। उनका ऊँचा पद छीनकर इस दण्ड द्वारा उनकी **शुद्धि** कर लो। उनको बुरे वायुमण्डल में से उखाड़ कर **शुद्ध** कर लो। उनका ऊँचा पद छीनकर इस दण्ड द्वारा उन्हें **निर्मल** कर लो। उनके संगठन तोड़कर उन्हें **तार-तार** कर दो। इस प्रकार ठीक कर लो। उन अज्ञानियों को नाना पीड़ा देकर जलाओ, किसी भी प्रकार से न सुधरें तो '**हतम्**'=उन्हें मार डालो। जैसे भी हो इन **पर-भोजियों** को पतला कर दो—

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑॥ (१ म मन्त्र)

हे इन्द्रासोमौ! जो बुराई के षड्यन्त्र रचता है अथवा जो आततायी सचमुच बुरा काम करने आ रहा है उन तक तेरा ताप इस प्रकार पहुँचे, जिस प्रकार अग्नि में पड़ा चरु सबकी नासिका द्वारा इनके प्राणों में समा जाता है अर्थात् तुम उन दुष्टों का सांस लेना कठिन कर दो। ये जो दुष्टता में उतने रंग गये हैं कि '**एक दुष्टता समाप्त हुई तो सोचते हैं कि अब अगली दुष्टता कौनसी करें**' उन '**किमीदिन्**' ब्रह्मद्वेषी घोर दृष्टि वाले और कच्चों को (=अपरिपक्व-बुद्धि मनुष्यों को अथवा कच्चे मांस को) खा जाने वाले दुष्टों के प्रति द्वेषशक्ति को धारण करो—

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॒ग्निवाँ॑ इव।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑॥ (२ य मन्त्र)

हे इन्द्रासोमौ! आप लोग, दुष्टकर्मा मनुष्यों को ऐसे घिरे अन्धकारमय प्रदेश में डाल दो कि उनमें कोई दुष्टतामय कार्य आरम्भ करने की सामर्थ्य ही न रहे और इस अन्धकार में से दुष्ट कर्म के लिये कोई उभर कर न आ सके। तुम्हारे सामने ऐसा मननपूर्वक क्रोध हो तथा तुम्हारा साहस भी ऐसा ही हो—

इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृतो॑ व॒व्रे अ॒न्तर॑नारम्भ॒णे तम॑सि॒ प्र वि॑ध्यतम्।
यथा॒ नातः॒ पुन॒रेक॑श्च॒नोदय॒त् तद्वा॑मस्तु॒ सह॑से मन्यु॒मच्छवः॑॥ (३ य मन्त्र)

हे इन्द्रासोमौ! इन पर देवलोक से वज्र गिराओ अर्थात् ऐसी व्यवस्था करो कि विद्वान्

लोग विद्या के बल से लोकमत को दुष्टता के विरुद्ध पूर्णतया सुसज्जित कर दें। पृथिवी अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में इन्हें घुसने मत दो। जहाँ-जहाँ पर्वत हैं अर्थात् सहस्रों मनुष्य इकट्ठे पर्वों में (Blocks या Barraks में) रहते हैं, उन पर्वतों से इन्हें मारने का वज्र तय्यार करो अर्थात् वहाँ के निवासी लोग जो इनके सब भेद जानते हैं उन्हीं में से इनके विरोधी तय्यार करो जिससे इनकी वृद्धि नष्ट हो जाय—

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् ।
उत्तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ (४ थं मन्त्र)

देवलोक से इन पर ऐसे अग्नितप्त आयुधों का प्रहार करो कि पत्थर भी गर्मी से पिघल जावें अर्थात् विद्वानों द्वारा बुराई के दुष्परिणाम ऐसी सजीव तथा युक्तियुक्त भाषा में इनके सामने रक्खो कि इनका भी मस्तिष्क बुराई को समझ जावे और उन्हें नाना प्रकार के वधदण्ड भी ऐसे दो कि वे चुपचाप भाग जावें। उनके पार्श्व से भी उन्हें मारो अर्थात् उनके पड़ौसी भी उन्हें बुराई न करने दें—

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः ।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ (५ म मन्त्र)

हे इन्द्रासोमो ! तुम्हारे केवल संकल्पमात्र से कुछ न होगा। तुम्हें तो घोड़े की तरह अपनी कमर कसनी होगी। मैं वसिष्ठ (=विश्व का राजनीतिक नेता) तुम्हारे तक अपनी पुकार ही तो पहुँचा सकता हूँ, परन्तु तुम्हें मेधापूर्वक सच्चे नृपति बनकर जानदार काम करना होगा—

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीव जिन्वतम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

अपने कर्त्तव्य को सदा याद रक्खो। इन टेढ़ी चाल वाले राक्षसों को जो हमसे द्रोह करते हैं, याद करते ही तुरन्त पहुँच कर मारो। ऐसा वायु-मडण्ल बना दो कि जो द्रोह से हमें नष्ट करना चाहता है वह दुष्ट अपने मार्ग को सुगम न समझे—

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो नः कदा चिदभिदासति द्रुहा ॥ (७ म मन्त्र)

पवित्र मन से विचरते हुए मुझ प्रजाजन को जो झूठे वचनों से कलङ्कित करता है, वह इस प्रकार दूर हो, जैसे, मुट्ठी में भींचने से जल पिचकारी बनकर निकल जाता है। लोकमत इस परनिन्दा के स्वभाव को भींचकर मार दे, जिससे असत् बातें बनाने वालों का अस्तित्व ही न रहे—

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥ (८ म मन्त्र)

जो संसार का भला चाहने वालों को चालबाजी से बहका देते हैं अर्थात् उनको भड़काकर निर्दोष मनुष्यों की निन्दा करवा देते हैं अथवा स्वयं जान-बूझकर अपने प्रयत्नों से किसी भले आदमी को दूषित करते हैं उन्हें सोम इस प्रकार दण्ड देवे कि वे हिल न सकें अथवा उन्हें निर्ऋति की गोद में अर्थात् जेलखाने में डाल दे। जेलखाने को निर्ऋति इसीलिये कहते हैं कि उसमें वे मनुष्य रक्खे जाते हैं जो निश्चित काल के लिये मनुष्य समाज से निर् (=बाहिर) कर दिये जाते हैं—

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभिः॑ ।
अह॑ये॒ वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑ते॒रु॒पस्थे॑ ॥ (९ म मन्त्र)

जो दुष्ट हमारे भोजन को मिलावट द्वारा निस्सार अथवा रसवान्, किन्तु हानिकारक बनाकर अन्नदूषण करता है और घोड़ों की अथवा गौओं की नसल बिगाड़ता है, ऐसा शत्रु अथवा ठग शक्तिहीनता को प्राप्त हो। उसका शरीर और कुलतन्तु दोनों नष्ट कर दिये जावें—

यो नो॒ रस॒ं दिप्स॑ति पि॒त्वो अ॑ग्ने॒ यो अश्वा॑नां॒ यो गवां॒ यस्त॒नूना॑म् ।
रि॒पुः स्ते॒नः स्ते॑य॒कृद् द॒भ्रमे॑तु॒ नि ष ही॑यतां त॒न्वा॒३ तना॑ च ॥ (१० म मन्त्र)

वह दुष्ट शरीर और कुलतन्तु दोनों से परे रहे। वह साधारण मनुष्य से भी तीन मंजिल नीचे अर्थात् मनुष्य समाज की निकृष्टतम श्रेणी में गिना जाय जो रात-दिन हमें नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचता—

प॒रः सो अ॑स्तु त॒न्वा॒३ तना॑ च ति॒स्रः पृ॑थि॒वीर॒धो अ॑स्तु॒ विश्वाः॑ ।
प्रति॑ शुष्यतु॒ यशो॑ अस्य दे॒वा॒ यो नो॒ दिवा॒ दिप्स॑ति॒ यश्च॒ नक्त॑म् ॥ (११ श मन्त्र)

परन्तु कौन मनुष्य अपराधी है और कौन नहीं, इसका निर्णय पहिले ठीक-ठीक हो जाना आवश्यक है, इसीलिये इस मन्त्र में केवल सोम का नाम है, इन्द्र का नहीं। इन्द्र का एक काम कानून बनवाना है वहाँ भी सोम का होना आवश्यक है। इन्द्र का दूसरा काम उस कानून को प्रयोग में लाना भी है वहाँ भी सोम का होना आवश्यक है, परन्तु **'अपराधी कौन है और कौन नहीं'** यह निश्चय करना केवल सोम का काम है, इसलिये १२ वें मन्त्र में इन्द्र का नाम नहीं रहा।

उत्तम ज्ञान के तत्त्व की तह तक पहुँचे हुए (=न्यायाधीश पद के योग्य) मनुष्य के सामने **'जैसा है और जैसा नहीं है'**, ये दोनों प्रकार के वचन विवाद उपस्थित करते हैं। उनमें से जो सत्य है और यदि दो घटनाओं में सत्यांश हो तो, उनमें से जो **ऋजुतर** है उसकी सोम रक्षा करता है और असत् वाक्य को नष्ट करता है—

सु॒वि॒ज्ञा॒नं चि॑कि॒तुषे॒ जना॑य॒ सच्चास॑च्च॒ वच॑सी पस्पृधाते ।
तयो॒र्यत्स॒त्यं य॑त॒रदृजी॑य॒स्तदित् सोमो॑ऽवति॒ हन्त्यास॑त् ॥ (१२ श मन्त्र)

न तो न्यायाधीश किसी को वर्जित काम करने के लिये प्रेरित करता है और न **'क्षत्रिय किसी निरपराध को भ्रम में पकड़ लें'** यह प्रेरणा ही करता है। उसके सामने जब कोई राक्षस सिद्ध हो जाय

तो उसे मारता है और यदि झूठा आरोप लगावे तो उसे भी मारता है, परन्तु अपराध करने वाला तथा निरपराध पर झूठे आरोप लगाने वाला, ये दोनों उसकी आज्ञा से इन्द्र के बन्धनागार में पड़े रहते हैं—

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ (१३ श मन्त्र)

यदि मैंने असत्य को अपना देवता बनाया है अथवा मैं सच्चे देवों के प्रति निष्फल-निकम्मा व्यवहार करता हूँ तो फिर, हे अग्ने ! हे दण्डाध्यक्ष ! तू हमसे क्या डरता है ? जो भी द्रोहयुक्त वाणी वाले हैं वे जेल में पहुँचें (=हमें भी जेल भेज दे)—

यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने ।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ (१४ श मन्त्र)

मैं यदि चालबाज (=यातुधान) हूँ या किसी पुरुष की आयु को मैंने किसी प्रकार का ताप पहुँचाया है तो मेरी आज मौत हो जाय और यदि मैं चालबाज नहीं हूँ, और कोई दुष्ट मुझ पर झूठा दोष लगाता है तो उसके दश वीर मर जावें। भाव यह है कि—"दूसरे को दुःख देने वाला दण्डनीय है और उसका जीवित रहना हानिकारक है, परन्तु किसी निर्दोष पर झूठा दोष लगाना उससे दश गुना हानिकारक है। एक दोषी भले ही छूट जाय, पर एक निर्दोष को दण्ड न मिले, यही न्यायसभा का मूल सिद्धांत है"—

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥ (१५ श मन्त्र)

यदि मैं चालबाज राक्षस नहीं हूं और कोई मुझे 'यातुधान' कहता है अथवा यदि कोई राक्षस है और धोखे से संसार को 'मैं शुचि हूं' यह कहकर ठगता है तो इन्द्र का कर्त्तव्य है कि उन दोनों को अतिकष्ट देकर मारे। ये दोनों ठग संसार के सब प्राणियों में अधम प्राणी की पदवी पावें—

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥) १६ श मन्त्र)

न्यायालय में दोनों पक्षों की बातों को कूटपीटकर सार निकालने वाले विद्वान् (वकील) लोग 'ग्रावा' हैं। उनका कर्त्तव्य है कि न्याय में स्त्रीपुरुष का भेद न करें। जो दुष्ट स्त्री उलूकी के समान अन्धकार का लाभ उठाकर संसार को ठगती फिरती है वह अनन्त घिरे स्थानों में पहुँचे और उसे सहारा देने वाले राक्षसों को भी 'ग्रावा' लोग अपने प्रश्न-विप्रश्नादि शब्दों के द्वारा ठीक पता लगाकर मारें—

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं१ गूहमाना ।
वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥ (१७ श मन्त्र)

हे विश्व राष्ट्र के सैनिको ! कभी-कभी कोई दुर्दान्त राक्षस अत्यन्त पराक्रमी होकर प्रजा में आतङ्क जमा लेते हैं, उस समय प्रजा में जमे हुए उन राक्षसों को तुम्हें पकड़ना होगा। उन्हें पकड़ो और पीस डालो। किं च, जो रात-रात में पक्षियों की तरह उड़ जाते हैं उन्हें भी पकड़ना तुम्हारा काम है। इसी प्रकार जो चोरी से **विश्वराष्ट्र-निर्माण-महायज्ञ** में विघ्न डालते हैं उन्हें भी सेना की सहायता से पकड़ना होगा—

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वि१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥ (१८ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! तुम सब राष्ट्रों के इन्द्र हो, इसलिये विमानादि द्वारा जो राक्षस भागते हैं उन्हें अपने वैमानिक अधिकार-साधन से वश में करना होगा। जब न्यायधीश किसी कार्य को तीक्ष्णता से करवाना चाहे तो तू इन्द्र उस न्यायनिर्णय को सफल बनाने के लिये अपने 'द्यौः' वाले साधन भी पैने रख। पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे राक्षस जहाँ भी हों उन्हें तू अपने पर्वताकार विशाल व्योमयानों द्वारा मार डाल—

प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि।
प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि जहि रक्षसः पर्वतेन॥ (१९ श मन्त्र)

ये कुत्ते की चाल चलने वाले, दुष्ट लोगों के धनक्रीत दास (Mercenaries) आकाशमार्ग से उड़कर इन्द्र को नीचा दिखाना चाहते हैं, पर वह अदभ्य है। ऐसे पिशुन लोगों के लिये इन्द्र नाना प्रकार के वधोपाय पैने करता रहता है। ये नाना प्रकार के विद्युद्-यन्त्र इन चालबाजों के लिये ही तो तय्यार होते हैं—

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः॥ (२० श मन्त्र)

जो प्रभु की तथा सज्जनों की पूजा में लगे हुए हैं उनकी हवि को नष्ट करने वाले राक्षसों के दल को छिन्न-भिन्न करने वाला ही तो इन्द्र पद पाता आया है। जिस प्रकार तेज कुल्हाड़ा वन को अथवा मिट्टी के बरतनों को प्राप्त होकर तोड़ता हुआ आता है इसी प्रकार इन्द्र आता है—

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम्।
अभीदु शक्रः परशुर्यथावनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः॥ (२१ श मन्त्र)

उलूक के समान अन्धकार में विचरने वाले चोरों और जारों को, भेड़िये के समान धोखेबाज धूर्त्तों को, कुत्ते के समान पराये टुकड़ों के बल पर अत्याचार करने वाले गुण्डों को, चक्रवाक के समान किसी पर आसक्त होकर उसका पीछा न छोड़ने वाले कामातुर मनुष्यों को, बाज अथवा गरुड के समान झपट्टा मारकर पराया माल छीनने वाले डाकुओं को और गिद्ध के समान लोभवश झूठी वसीयत आदि जालों द्वारा मुर्दों का माल खाने वाले जालसाजों को, हे इन्द्र ! तू मार, ऐसा मार कि सिलबट्टे पर उनकी चटनी बना दे—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ (२२ श मन्त्र)

इन राक्षसों का जाल हमें न बांध सके । इन सदा **'अब कौनसा शिकार करें'** इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले (=**किमीदिन्**) लोगों के जोड़े हमसे दूर रहें । ब्रह्मचर्याश्रम में साधारण प्रजा का सन्तानवात्सल्य सहायक हो और हमारे गृहस्थ लोग (=**अन्तरिक्ष**), देवों में कोई चालबाज़ न घुस पावे, इसका ध्यान करें—

मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ (२३ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! चालबाज कोई हो—मर्द हो या औरत हो अर्थात् मर्द के समान स्त्री भी मायाजाल फैलाकर हमारा विशरण कर रही हो तो इन सब चालबाजों की गर्दन कट जावे । वे दुष्ट आज ही मरें—वे कल का सूर्य उदित होता हुआ न देख पावें—

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ (२४ श मन्त्र)

हे इन्द्र ! तू तो पहिरा दे और पकड़ कर ला (=**प्रतिचक्ष्व**) और, हे सोम ! तू विस्तार से **'वह अपराधी है वा नहीं'** इस बात का निर्णय कर (=**विचक्ष्व**), दोनों सदा जागते रहो । राक्षसों पर वध गिरे और चालबाजों पर बिजली (जिसकी तीव्रगति का वे पार न पा सकें)—

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ (२५ श मन्त्र)

इति सप्तमं मण्डलम्

अष्टम मण्डल

सप्तम मण्डल में जिस 'राजा राष्ट्रानाम्' (३४.११) का वर्णन करने के लिये वसिष्ठों ने मिलकर एक महावसिष्ठ को नेता बनाया था, वह पृथिवी भर की समस्त प्रजा का चुना हुआ 'एकराळस्य भुवनस्य' इस ८ म मण्डल के ३७ वें सूक्त के ३ य मन्त्र में प्रकट हुआ है। इसी इन्द्र के निर्माण के लिये सब राष्ट्रों के वसिष्ठ इकट्ठे हुए थे और उन अग्नियों (= अग्रणियों = जननायकों) ने (७.१.४) चुनकर (वरम्) इस वसिष्ठ अग्नि को स्थापित किया (७.१.८), इसलिये ८ म मण्डल के आरम्भ में ही घोषणा की गई है--

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ (१ म मन्त्र)

हे मित्र ! विश्व की एक प्रजा बन गई है। अब उस सारी प्रजा को मिलकर अपना इन्द्र चुनना है, इसलिये अब और कोई बात मत करो। अब अपना समय व्यर्थ नष्ट मत करो। जो विश्व का इन्द्र बनने योग्य है. जिसने परमेन्द्र प्रभु के गुणों को अपनी निरन्तर साधना से अधिक से अधिक मात्रा में अपना लिया है और जो विश्व की प्रजा पर सुख की वर्षा करे, सब मिलकर (= सचा) उसकी ही चर्चा करो. किन्तु उससे पहिले उसे विश्वसेवा के योग्य सम्पूर्ण सामग्री तय्यार करके दो और इस सोम के (= विश्वसेवोपयोगी ऐश्वर्य के) सुते = तय्यार हों जाने पर आवश्यक मार्ग-निर्देशक उपदेष्टव्य वचन (= उक्थ) वारंवार कहो, इसीलिये इस मण्डल के १०३ सूक्तों में से ५० तो सीधे 'इन्द्र' के हैं, ३ 'इन्द्राग्नी' के हैं और १ 'इन्द्रावरुणौ' का है। इस प्रकार ५४ सूक्त अर्थात् आधे से भी अधिक सूक्त इन्द्र से सम्बद्ध हैं।

परन्तु सबसे विचित्र बात जो इस मण्डल में है वह है 'विश्वमानुष' शब्द का इस मण्डल में और केवल इस मण्डल में पाया जाना। सप्तम मण्डल में जो विश्व की एकता वसिष्ठों ने मिलकर स्थापित की उसके कारण 'विश्वमानुष' (Citizon of the world) का अर्थात् उस सार्वभौम चक्रवर्ती प्रजा का जन्म हुआ जिसके अधिकार में सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् का चुनाव करना है। इस विश्व-मानुष का वर्णन इस मण्डल में इस प्रकार है—

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ (४५.४२)

हे इन्द्र ! जिसको [इस पृथ्वी पर] हर विश्वमानुष प्राप्त करे तथा वह इतनी भूरि मात्रा में हो कि उसका सब प्रकार से भरण करता हो वह स्पृहणीय धन हमें दे।

केवल 'विश्वमानुष' ही नहीं—'विश्वजित्. विश्वतःधीः, विश्वतूः, विश्वदेव, विश्वपुषाः,

विश्वप्सुम्, विश्वमनः, विश्वमनसः, विश्वमनुषाम्' और विश्ववार्य इनमें से एक 'विश्वदेवः' को छोड़कर अन्य कोई भी शब्द अष्टम मण्डल के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र नहीं आया। विश्वदेवः शब्द षष्ठ, अष्टम और नवम इन तीन मण्डलों में आया है, इसके विपरीत 'विश्वदोहसम्' केवल षष्ठ मण्डल में—जिसे हम संसार के आर्थिक सहयोग का मण्डल कहते हैं उसमें आया है। वहाँ दोहन है और यहाँ भरण है। 'विश्वदेवः' षष्ठ मण्डल में सूर्य के लिये आया है। अष्टम मण्डल में इन्द्र के लिये जहां विप्र (=मेधावी), धर्मकृत्, विपश्चित् आदि शब्द साथ पड़े हैं (९८.१) वहाँ 'विश्वदेवः' भी (९८.२) में है।

सबसे अधिक ध्यान देने योग्य शब्द हैं—

हे इन्द्र! त्वम्! 'विश्वमनुषां मरुतामियक्षसि' ॥ (४६.१७)

—हे इन्द्र! तू उन सैनिकों का नेता बनकर सञ्चालन करता है जो विश्वमनुष् हैं = विश्व के नागरिक हैं।

फिर इसी सूक्त के २० वें मन्त्र में उसे सम्राट् कहा गया है, किन्तु 'वह सम्राट् बना कैसे'? इसी मन्त्र में (४६.१७ में) कहा है—'यज्ञेभिर्गीर्भिः' सब संगठनों तथा सब लोगों की वाणियों ने उसे सम्पूर्ण विश्व की सेनाओं का नेता बनाया है।

इसीलिये हे इन्द्र! हम सब तुझे तथा तेरे सैनिकों का स्तवन करते हैं और मैं विशेषकर तेरा नमस्कारयुक्त वाणी से गान करता हूँ। तू सारे विश्व पर सुख की वर्षा करता है (=मीढुषे) तथा ऐसी पहुँच वाला है कि हर विश्वमानुष तक पहुँचने में समर्थ है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

महः सु वो अरमिषे स्तवामहे मीळ्हुषे अरंगमाय जग्मये।
यज्ञेभिर्गीर्भिर्विश्वमनुषां मरुतामियक्षसि गाये त्वा नमसा गिरा ॥ (४६.१७)

इस अष्टम मण्डल में 'अश्विनौ' भी 'विश्वपुषा राया' (२६.७) विश्वपोषक सम्पत्ति लेकर आवें ऐसी प्रार्थना की गई है—

मरुतों का 'विश्वमनुषाम्' विशेषण ४६ वें सूक्त में हैं 'विश्वमानुष' को धन मिले यह ४५ वें सूक्त में हैं, इसीलिये ४६ वें सूक्त के ८ वें मन्त्र में इन्द्र 'विश्ववारः' = विश्वंभर की प्रजा को वरण करने वाला अथवा शरण देने वाला (वस् आच्छादने) कहा है। अथवा वह 'विश्वभर' का वरणीय है। क्योंकि (१६.१) में उसे 'सम्राजम् चर्षणीनाम्' प्रजाओं का सम्राट् कहा है. इसीलिये वह 'ज्येष्ठराज' है (३ य मन्त्र) । वह राजा कैसे बनता है इसका उत्तर 'पुरुहूत' शब्द में है, जिसका अर्थ है Called by majority। वह पुरुहूत=(बहुतों द्वारा बुलाया गया) क्यों है? इसका उत्तर १६.७ में है—

इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरुहूतः।
महान् महीभिः शचीभिः ॥

—वह अपनी बड़ी-बड़ी शक्तियों से महान् है। वह ब्राह्मण-गुण वाला भी है, ऋषि भी है और 'पुरु' = सबका पालन करने वाला भी है; इसीलिये वह 'पुरुहूत' है।

उसको इतने ऊँचे पद पर चर्षणयः=सब मनुष्य लाते हैं। किस प्रकार? सो भी सुनिये—

तमर्केभिस्तं सामभिस्तं गायत्रैश्चर्षणयः।
इन्द्रं वर्धन्ति क्षितयः॥ (१६.९)

उस इन्द्र को मनुष्यमात्र बढ़ाते हैं। कैसे?

(१) अर्केभिः=स्तुतियों द्वारा

(२) सामभिः=सङ्गीत द्वारा

(३) गायत्रेभिः=नाना प्रकार की छन्दोमयी कविता द्वारा।

एक और मार्मिक बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि विप्रराज्य का वर्णन केवल इसी मण्डल में है। यहीं इन्द्र का निर्माण होता है। मन्त्र इस प्रकार है—

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ (८.३.४)

यह इन्द्र अपनी सहनशक्ति के कारण ऋषियों द्वारा बनाया गया और जब सहस्रों ऋषियों ने इसके साहस की प्रशंसा करके इसे इन्द्र बनाया तो यह समुद्र की तरह विशाल हो गया। यह ऋषियों द्वारा प्रशंसित होना ही इसकी महिमा है और यह बिलकुल सच्ची है। किं च, विप्रराज्य में—यज्ञ-यज्ञ में इसकी जो महिमा गाई जाती है, मैं बलपूर्वक कहता हूँ कि यही इसका बल है।

चक्रवर्ती प्रजा अर्थात् विश्वमानुष जिसे इन्द्र-पदवी के योग्य समझते हैं उसे कितना प्यार करते हैं इसका वर्णन सुनिये—

हे शतामघ=सैंकड़ों ऐश्वर्यों से विभूषित! हे अद्रिवः=पर्वत के समान अचल! इन्द्र! मुझे कोई कितना भी शुल्क (=धन) दे, मैं तुझे नहीं दे सकता [नहीं बेच सकता]। चाहे वह मुझे हज़ार दे, दस हज़ार दे और उसका भी सौगुना दे—

महे च न त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ (८.१.५)
वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे॥ (८.१.६)

हे इन्द्र! तू मेरे पिता से भी अधिक वस्यान् है और वात्सल्यमय उस भाई से भी अधिक वस्यान् है जिसमें कि मेरी रक्षा का सामर्थ्य नहीं। मेरे दो ही शरण देने वाले हैं—या तो मेरी माता या तू। दोनों मुझे अधिक शरणयुक्त और अधिकतर साधनसम्पन्न बनाते हैं।

उस इन्द्र के उपासक वे सब लोग हैं जो विश्व को एक राज्य के रूप में देखना चाहते हैं उन्हें वेद में 'विश्वमनाः' कहा है। मन्त्र इस प्रकार है—

विश्वानि विश्वमनसो धिया नो वृत्रहन्तम ।
उग्र प्रणेतरधि षू वसो गहि ॥ (८.२४.७)

हे अपनी बुद्धि के बल पर वृत्रनाशकों में श्रेष्ठ ! हे दुष्टों पर उग्र ! हे उग्रों के वसो ! हम विश्वमनाः लोग सब कुछ तुझ पर वारते हैं । इन्हें तू अधिकारपूर्वक भली प्रकार स्वीकार कर ।

हर समय में जिसे इन्द्र बनाते हैं तो ये समझते हैं कि—

'न ह्य१ङ्ग पुरा चन जज्ञे वीरतरस्त्वत्' ॥ (८.२४.१५ क ख)

प्यारे इन्द्र ! तुझसे बड़ा इन्द्र तो पहिले भी कभी नहीं हुआ ।

वह प्रजाओं पर विजय प्राप्त करके अपने गुणों पर मुग्ध सैनिकों को साथ लेकर **'मरुत्वान्'** बनता है—

'अप्सुजिन्मरुत्वान्' ॥ (८.३६.१)

इसीलिये—

एकराळस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः' ॥ (८.३७.३ क ख)

—हे इन्द्र ! तू प्रजा को हर प्रकार की रक्षा देता है, इसलिये इस पृथिवी का **एकराट्** बनकर विराजता है ।

तेरे सन्देशवाहक कभी नहीं थकते, वे अत्यन्त तीव्रगति हैं और वायु के समान सामर्थ्यवान् हैं । उनके द्वारा तू हर मनन की सन्तान तक अर्थात् मनुष्यमात्र तक पहुँचता है जिससे विश्व भर को सच्चे सुख का दर्शन हो जाय—

अजिरासो हरयो ये त आशवो वाता इव प्रसक्षिणः ।
येभिरपत्यं मनुषः परीयसे येभिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥ (८.४९.८)

इस मण्डल में जो विश्व का एक साम्राज्य बनाया गया है तथा विश्व का **एकराट् इन्द्र** बनाया गया है उस यज्ञ की स्तुति ५८ वें सूक्त में देखिये—

ठीक है कि इस **विश्वसाम्राज्य-यज्ञ** का यजमान इन्द्र है, परन्तु इसकी रचना तो सब ऋत्विजों ने की है । जब वसिष्ठ जैसा अनूचान ब्राह्मण इस यज्ञ का ऋत्विज् था (जिसका वर्णन सप्तम मण्डल में कर आये हैं) तो अकेले यजमान की इसमें क्या प्रशंसा है—

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति ।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् कास्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ॥ (८.५८.१)

इस यज्ञ का स्वरूप क्या है ?

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥ (८.५८.२)

पार्थिव अग्नि, विद्युन्मय अग्नि तथा सूर्य-रूप अग्नि ये तीनों एक ही अग्नि के भिन्न-भिन्न रूप हैं। भौतिक अग्नि, जब सूर्य नहीं होता तब रात्रि में भी काम देता है। सो, घर-घर के अग्नि-कुण्ड ने इस इन्द्र-रूप सूर्य को शक्ति प्रदान की है। उस शक्ति के बल पर ही सूर्य अकेला विश्व पर प्रभुत्व करता है और संसार भर की महिलाओं के लिये आदर्शभूत यह उषा भी एक ही है (यद्यपि प्रतिदिन नया रूप धारण करती है)। इन सबने मिलकर ही इस सुन्दर एक विश्वराष्ट्र को बनाया है। किं च, यह अकेला इन्द्र कुछ नहीं है, क्योंकि यह विश्वसाम्राज्य-यज्ञ सबने मिलकर रचाया है और यह यज्ञ एक है।

यह सूक्त मण्डल के लगभग मध्य में नायकमणि के समान विराजमान है।

यह इन्द्र स्वयं नहीं बना है, प्रत्युत इसे बनाया गया हैं—

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः ॥ (८.६१.२)

—यद्यपि वह इन्द्र स्वराट् है—अपने गुणों से देदीप्यमान है, परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रजा तथा नेता ब्राह्मण लोगों की धिषणे' अर्थात् वाणियों ने इसे घड़ा है। 'निष्टतक्षतुः' शब्द कितना स्पष्ट है तथा 'धिषणा' का अर्थ निरुक्त (दै० ८.१) में स्पष्टरूप से वाणी दिया है। 'धिषणे' द्विवचन साधारण प्रजा तथा लोकनायक दोनों की वाणी की ओर निर्देश करता है। भाव यह है कि जो सर्व-प्रिय हो वह इन्द्र पद पाता है। उसका काम क्या है? 'उत्सो हिरण्ययः' (८.६१.६)—वह ज्योतिर्मय अथवा स्वर्णमय फव्वारा है। हमने उसे इस पद पर उसकी उग्र शक्ति के कारण नियुक्त किया है—

'उग्रं युयुज्म' ॥ (८.६१.१२)

इसीलिये उससे कहते हैं—

'यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि' ॥ (८.६१.१३)

—हे इन्द्र! हमें जिधर से भय हो उधर से अभय कर दे। वह इन्द्र—

'महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतः' ॥ (८.६२.१२)

—जो हरामखोर श्रम से भागते हैं उनका महान् वध करने वाला है और परिश्रम से उपयोगी पदार्थ बनाने वाले के लिये नाना प्रकार की ज्योति है।

उसका पिता है—मनुष्यों की मननशक्ति।

'यस्य द्वारा मनुष्पिता देवेषु धिय आनजे' ॥ (८.६३.१)

—मनुष्य जाति के पिता मनन ने मनुष्यों की बुद्धियों और कर्मशक्ति को देवों में लिप्त कर दिया।

इसीलिये हे इन्द्र! —

'त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम्' ॥ (७ ६४.३)

—तू ही परिश्रमपूर्वक सुशिक्षित अथवा अशिक्षित सब प्रकार की जनता का राजा है—

६७ वें सूक्त में आदित्यों से अर्थात् सूर्यतुल्य विद्वानों से कहा है—

यद्वः श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति यच्छर्दिः ।
तेना नो अधि वोचत ॥ (८.६७.६)

हे आदित्यो ! तुम्हारा जो वस्त्र-परिधान और जो छत परिश्रमी और दूसरों के लिये उपयोगी पदार्थ बनाने वालों को मिलती है उसके अधिकारी हम बनें, ऐसा उपदेश हमें दो ।

८.३.४ में कह आये हैं कि इन्द्र की महिमा विप्रराज्य में—हर यज्ञ में गाई जाती है और वह सच्ची है ।

इसीलिये उसे ६९ वें सूक्त में सत्य का पुत्र कहा है ।

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथाविदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ (८.६९.४)

—यह इन्द्र गोपति अर्थात् वाणी का स्वामी है (दास नहीं), इसलिये उसकी अर्चना कर, परन्तु जितना जैसा तू जानता है उतना ही सत्य-सत्य कह । वह सत्य का पुत्र है और सज्जनों का रक्षक है । तू भी सत्य का पुत्र बनकर सज्जन बन, तभी तू उस दरबार में रक्षा पायेगा ।

इन्द्र किसे कहें ? वेद स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर रहा है—

पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं१ सनश्रुतम् ।
इन्द्र इति ब्रवीतन ॥ (८.९२.२)

—जिसे बहुतों ने इन्द्र पद के लिये बुलाया है, बहुतों ने जिसकी यथार्थ स्तुति की है (नहीं तो वह 'असत्यस्य सूनु' हो जायगा), जिसकी जीवनकाल में ही गाथा गाई जाने लगी है और जिसके सद्गुणों की चर्चा लोग नित्य सुनते हैं, उसे इन्द्र कहो ।

इस इन्द्र को 'इन्द्र' बनाने वाले लोकमत के शिल्पी कहते हैं— 'सखाय इन्द्र कारवः' (८.९२.३३) हे इन्द्र ! तेरे गुणों पर मुग्ध तेरे सखा ही तेरे शिल्पी हैं, जिन्होंने तुझे बनाया है ।

उसके स्तुतिगायक को अशुद्ध-अपवित्र बात कभी नहीं कहते, इसीलिये कहा—

'शुद्धं शुद्धेन साम्ना' ॥ (८.९५.७)

इन्द्र का सबसे मुख्य कार्य क्या है ?

दशों इन्द्रियाँ प्रजा को सहस्रों प्रकार के विषयों में फंसाकर पाप की ओर घसीटती हैं। इसके विपरीत ज्ञान की किरणों से जाज्वल्यमान अंशुमती के किनारे ज्ञानोद्दीप्त देव लोग उस काले अज्ञान से लड़ रहे हैं।

अव॑ द्र॒प्सो अं॑शु॒मती॑मतिष्ठदिया॒नः कृ॒ष्णो द॒शभिः॑ स॒हस्रैः॑ ।
आव॒त्तमिन्द्रः॒ शच्या॒ धम॑न्त॒मप॒ स्नेहि॑ती॒र्नृ॒मणा॑ अधत्त ॥ (८.९६.१३)

यह 'द्रप्सः'=फिसलने में चतुर (slippery) तमोमय काला पापलिप्त मन सहस्रों नये-नये ढंग से मनुष्य को अभिभूत करने वाले दश इन्द्रियरूपी सैनिकों के साथ ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष द्वारा लभ्यमान ज्ञानांशुमयी अंशुमती नदी के किनारे खड़ा था और अपनी स्नेहिती अर्थात् सेनाएँ सजाये ज्ञानधारा को कलुषित करना चाहता था तथा क्रोध के मारे धौंकनी की तरह धमाके उठा रहा था। नरमना (लोह-पुरुष) इन्द्र ने अपनी शक्ति से उस पर काबू पा लिया।

इन 'अदेवीः' अर्थात् ज्ञानदीप्तिविरोधी प्रजाओं ने जब-जब 'अंशुमती' (ज्ञानकिरणमयी धारा) पर आक्रमण किया तब-तब उत्तम मस्तिष्क वाले (बृहस्पति) त्यागी विद्वानों की सहायता से, इन मुकावले पर डटी हुई (अभ्याचरन्तीः) अज्ञान की काली सेनाओं को परास्त किया—

वि॒शो अदे॑वीर॒भ्या॒३॒॑ चर॑न्ती॒र्बृह॒स्पति॑ना यु॒जेन्द्रः॑ ससाहे ॥ (८.९६.१५)

हे इन्द्र ! जब-जब अज्ञान ने ज्ञान का मार्ग रोका तो तूने दास (क्षयकारी) विषयासक्त लोगों की अनुगामिनी पाप-सेनाओं को जीता और ज्ञान की स्तम्भित सेनाओं को प्रवाहित किया। इस प्रकार तू मनुष्यों पर (=चर्षणीनां) सुख बरसाने वाला है (=वृषभः)। तू इतना शक्तिशाली (तविषः) है—

त्वं ह॒ त्यद् वृ॑षभ चर्षणी॒नां घ॒नो वृ॒त्राणां॑ तवि॒षो ब॑भूथ ।
त्वं सिन्धूँ॑रसृजस्तस्तभा॒नान् त्वम॒पो अ॑जयो दा॒सप॑त्नीः ॥ (८.९६.१८)

हे प्रजा के लोगो ! जिसे इन्द्र कहा जाता है उसकी परीक्षा कर लो, ठीक ठोक-बजा कर देख लो कि उसके सम्बन्ध में जो कहा जाता है वह सत्य है वा नहीं ? वह सचमुच इन्द्र-पदवी का अधिकारी है वा नहीं ? जब तुम्हें विश्वास हो जाय तो उसका स्तोत्रगान बड़े प्रेम से और पूरे बल से करो (=वाजयन्तः)—

प्र सु स्तोमं॑ भरत वाज॒यन्त॒ इन्द्रा॑य स॒त्यं यदि॑ स॒त्यमस्ति॑ ।
नेन्द्रो॑ अ॒स्तीति॒ नेम॑ उ त्व आह॒ क ईं॑ ददर्श॒ कम॒भि ष्ट॑वाम ॥ (८.१००.३)

जब लोग इस सन्देह में पड़े हों कि किसने देखा ? कौन है ? जिसकी हम स्तुति करें तो इन्द्र का कर्त्तव्य है कि ऐसे 'नेम'=अधकचरे तथा डाँवाडोल मनुष्यों के सामने आवे और उनका ढाढस बँधावे। वह कहे—

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥ (८.१००.४)

—ऐ ढीले पड़ने वाले ! (=जरितः) देख, यह मैं तेरे सामने खड़ा हूँ ! जो मेरे सामने डटते हैं, मैं अपनी महिमा से उन सबको अभिभूत करता हूँ । विद्वानों की ज्ञानधाराएँ जितनी भी दिशाओं में फैलती हैं वे मुझे वृद्धि प्रदान करती हैं । मैं अज्ञान की आड़ में नहीं, किन्तु ज्ञान के प्रकाश में वृद्धि पाता हूँ । मैं विदीर्ण नहीं होता, पर जो मुझ से टक्कर लेते हैं उनको विदीर्ण कर देता हूँ ।

इस प्रकार जहाँ सप्तम मण्डल में विश्व की एकता के लिये वसिष्ठों का-भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के राजनीतिक नेताओं का समागम हुआ और महावसिष्ठ का चुनाव हुआ; वहाँ अष्टम मण्डल में विश्वमानुष ने (४५ वाँ सूक्त) भुवन के एकराट् (३७.३) सम्राट् (४६.२०) इन्द्र की स्थापना की जो कि 'मघोनां ज्येष्ठः' है ५३.१) और इस प्रकार विश्व की एकता का यज्ञ पूरा हुआ (५८ १) ।

सप्तम मण्डल के अन्त में इन्द्र और सोम दो देवताओं की स्तुति का उपक्रम हुआ था । अष्टम मण्डल में इन्द्र का वर्णन हुआ । नवम मण्डल में सोम का वर्णन होगा ।

जब तक पृथिवी बंटी हुई थी 'पृथिवीदासों' की=पार्थिव सीमारेखाओं के गुलामों की चर्चा थी । अब द्यौः की तरह भूमि भी एक हो गई । मानव पृथिवीदास से दिवोदास बना । अब दैवोदास अग्नि के प्रज्वलित करने वाले अपने तप से उपार्जित सोम की धारा बहाने धरती पर आयेंगे, इसलिये अष्टम मण्डल का उपसंहार दैवोदास अग्नि से हो रहा है ।

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्त नो गिरः ॥ (८.१०३.१)

—सब राष्ट्रों के एकतारूप जिस महाव्रत में सबने अपने व्रत मग्न कर दिये थे । उस महायज्ञ का जानने वाला महान् व्रतपति यज्ञवित्तम जननायक प्रत्यक्ष दीख गया । इस संसार भर में श्रेष्ठ ('आर्यस्य') पुरुषों के बढ़ाने वाले अग्नि (=जननायक) की स्तुति के लिये हमारी वाणियाँ दौड़ रही हैं ।

अब तक मानव द्यौः की अग्नि को पृथिवी पर उतारता था । आज मानव का कलह पृथिवी पर समाप्त हो गया । आज यह पार्थिव अग्नि स्वर्ग के शिखर पर जा बैठा है—

प्र दैवोदासो अग्निर्देवाँ अच्छा न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि ॥ (८.१०३.२)

—दिवोदास नेताओं के बल से यह दैवोदास अग्नि, माता-पृथिवी पर चक्कर नहीं काट रहा, उलटा पृथिवी का अग्नि देवों की ओर जाकर सारे मानव-समाज को स्वर्ग के शिखर पर ले गया है ।

हे जननायक (=अग्ने ! जिन सैनिकों की सहायता से रुद्रों ने (=सेनापतियों ने) तुझे इस शिखर तक पहुँचाया, उन विश्वमनुष् मरुतों के साथ (८. ४६. १७) इन्द्र के पास सोमपान के

लिये-अपने शुभ कर्मोपार्जित सम्मान को ग्रहण करने के लिये आ। हमारी श्रद्धा का रसपान कर, हमारे भक्तिरस से उभरते हुए (=सोभरि)* हृदय से निकली स्तुति का सेवन कर और अपने प्रयत्न से स्वर्गलोकत्व को पहुँचा। इस भूमण्डल के मनुष्य मात्र के साथ बैठकर मस्त हो जा—

आग्ने याहि मरुत्सखा रुद्रेभिः सोमपीतये।
सोभर्या उप सुष्टुतिं मादयस्व स्वर्णरे॥ (८.१०३.१४)

यह पृथिवी स्वर्ग बन गई। इस धरती के वासी 'स्व-र्णर'=स्वर्ग-पुरुष बन गये, परन्तु उनका यह स्वर्ग-पुरुषत्व (=स्वर्णरत्व) जिनके बल पर स्थित रह सकता है उन पवमान सोमों की मधुर रसधारा का आस्वादन नवम मण्डल में करें।

इति अष्टमं मण्डलम्

* उद्धरणं उद्धरिः ('सर्वधातुभ्य इन्' उणादि. ४. ११८) तेन सहितः सोभरिः। पृषोदरादित्वात् साधुः।

नवम मण्डल

अब हम नवम मण्डल में प्रवेश करते हैं। सप्तम मण्डल की समाप्ति 'इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ' इन्द्र और सोम इन दो देवताओं के साथ हुई थी। राक्षस तब तक नहीं मर सकते जब तक कि सब राष्ट्रों का एक राजा (७. ३४. ११) नहीं बनता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये महा-वसिष्ठ के नेतृत्व में धरती भर के वसिष्ठ लगे (७.१.४, ७.१.८) वे, सारे विश्व का एक राष्ट्र तथा उस एक राष्ट्र की एक प्रजा = विश्व-मानुष बनाने में प्रवृत्त हुए। इसका वर्णन अष्टम मण्डल में (८. ४५. ४२.) हुआ। इस विश्वमानुष ने अर्थात् विश्वराष्ट्र की प्रजा ने सारे भुवन का एकराट् बनाया (८. ३७. ३)। यही इन्द्र है इसके विषय में अष्टम मण्डल के प्रथम मन्त्र में ही घोषणा की है कि अब वसिष्ठों ने मिलकर धरती का एक राज्य बना दिया। अब इन्द्र बनाओ, दूसरी बात मत करो, नहीं तो अवसर हाथ से चला जायगा—

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणम्.............. ॥ (८.१.१)

अब पृथिवी पर एक राष्ट्र तथा एक राजा बन गया। यह सब सवनों का श्रेष्ठ सवन—इन्द्र-सवन हो गया। इसके पश्चात् इन्द्र निरङ्कुश न हो जाय, इसलिये अब इन्द्र को उपदेश देने वाले सोम की बात करो। सो, इस सोम से नवम मण्डल आरम्भ होता है।

सोम से प्रार्थना है—

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ ९.१.१)

हे सोम! तू अपनी स्वादिष्ठ और सबसे अधिक आनन्दभरी (मदिष्ठ) धारा से हमें पवित्र कर। तेरा सवन इसीलिये हुआ है कि इन्द्र तेरे रस का पान करे।

यह सोम कौन है? वेद स्वयं बताता है कि सोम कौन है?

'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' ॥ (यजुः ९.४०)

ऋग्वेद के इसी मण्डल के प्रमाण लीजिये—

'सहस्रयामा पथिकृद् विचक्षणः' ॥ (९.१०६.५)

—सहस्रों मार्गों में विचरने वाला और दुनिया के लिये राह बनाने वाला विद्वान्।

'त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तमः' ॥ (९.१०७.६) तू उन ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ब्राह्मण है जिनके अङ्ग-अङ्ग में भक्ति-रस व्याप रहा है।

इस नवम मण्डल में इस सोम के चार धाम बताये गये हैं। बस, इसी पर मण्डल के सूक्तों का क्रम आश्रित है। इन चार धामों का वर्णन अन्य किसी मण्डल में नहीं है।

नवम सूक्त (११४.१) में कहा है—

य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत् ।
तमाहुः सुप्रजा इति यस्ते सोमाविधन्मन इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (९,११४.१)

—जो पवमान इन्दु के धामों का अनुक्रमण करता है उसे ही दुनिया कहती है कि यह सपूत है। वह तेरा अनुक्रमण करने वाला, कदम-कदम तेरे पीछे चलने वाला ही तेरे मन को भाता है और उसे ही 'सुप्रजा' कहते हैं। हे सोम ! अब तू और कुछ न कर। तू इन्द्र (परमेश्वर) की ओर नित्य बहता रह (जिससे तुझे देखकर लोग तेरा अनुकरण करना सीखें)।

इन्द्र के धाम कितने हैं ? वेद के ही शब्दों में सुनिये—

ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप् ॥ (९.९६.१८)

यह सोम क्रान्तदर्शी मन वाला है। केवल स्वयं ही ऋषि नहीं है। अपने उपदेश-बल से नये ऋषि बनाने वाला है। संसार को स्वः (=जीवन्मुक्ति का सुख) अथवा मोक्षशास्त्र बांटने वाला है। सहस्रों का नेता है। कवियों के लिये आदर्श है। यह महान् (महिषः) सोम इतने दिन तक तृतीय धाम में रहा है। अब तृतीय धाम अपने योग्य उत्तराधिकारियों को देना चाहता है। जिस प्रकार अनुष्टुप् छन्द गायत्री में एक चरण बढ़ाकर उसका विस्तार करके उसका सच्चा स्तुप् कहलाता है और जिस प्रकार दर्पण सूर्य के प्रकाश को अपनी प्रतिबिम्बग्राहक शक्ति द्वारा अंधेरी से अंधेरी कोठरी तक पहुँचा देता है, इसी प्रकार इस संसार के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में अपनी सच्चिदानन्दमय छवि से देदीप्यमान उस परम विराट् परमेश्वर की दीप्ति को निरन्तर अभ्यास द्वारा पूर्णतया अनुकरण करके यह इस संसार में 'अनुराजति'= दर्पणवत् अनुदीप्त होता है।

अब इसने सब बन्धन तुड़ा लिये, अब यह—

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत् ।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥ (९.९६.१९)

—लोककल्याण के सैनिकों की छावनी में (=चमू में) डेरा डाल कर बैठा है। परिवार, देश और जाति किसी के बन्धन अब इसे रोक नहीं सकते। यह बाज पक्षी के समान सीधा निशाने पर पहुँचता है। केवल पहुँचना चाहता ही नहीं, पहुँचने की पूरी शक्ति भी रखता है और पूरी शक्ति से छापा मारता है (=शकुनः)। आज यह सबका भरण करने वाला है। इसने इन्द्रिय, वाणी, गौ, पशु और धरती आदि सब पर अपने तपोबल, ज्ञानबल और त्याग-बल से आधिपत्य जमा लिया है (=गोविन्दुः), शस्त्रधारी लोग प्रणामनिभृत होकर इसके आगे पीछे फिरते हैं, किन्तु इसका हृदय तो सदा दया से द्रुत रहता है (=द्रप्सः), मानव-प्रजारूप समुद्र की लहरों का सञ्चालन (अच्छी

लहरों का उठाना, उलटी लहरों को छाती की चट्टान पर सहकर पीछे फिरा देना) यही अब इसका काम है (मनुष्या वा आपः शत. ७. ३. १. २०), इसलिये अब यह तुरीय धाम का सेवन करता है (=विवक्ति)।

इस तृतीय तथा तुरीय धाम का सम्पूर्ण ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं वर्णन नहीं। इन चार धामों का इसी मण्डल में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः और स्वः इन चार शब्दों द्वारा वर्णन है। १०. १९०. ३ में (अघमर्षण सूक्त में)

'दिवंच पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' इन शब्दों द्वारा इन चार धामों का वर्णन है।

यजुर्वेद में इनका वर्णन इस प्रकार है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् (यजुः १७.६७)

—मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष पर आरूढ़ हुआ, अन्तरिक्ष से द्यौः पर और द्यौः से ज्योतिर्मय स्वः पर पहुँचा।

इससे पूर्व ६५ वें मन्त्र में कहा है—'क्रमध्वमग्निना नाकम्'—पग-पग आगे बढ़ाते हुए क्रमशः अन्तिम 'नाक' तक पहुँचे।

इसको मनुके 'आश्रमादाश्रमङ्गच्छेत्' इस वाक्य से मिलाइये तो बात बिलकुल स्पष्ट है—

पृथिवी	ब्रह्मचर्याश्रम
अन्तरिक्ष	गृहस्थाश्रम
द्यौः	वानप्रस्थाश्रम
स्वः	संन्यासाश्रम

यह तृतीयधाम से चतुर्थ धाम में प्रवेश का भाव हुआ।* अब मण्डल का क्रम बिलकुल स्पष्ट है।

इस मण्डल का आरम्भ गुरुकुल के आचार्य से होता है। वह अपनी मधुर स्वादिष्ठ मदिष्ठ-विद्योपदेश-धारा से ब्रह्मचारियों का इन्द्र अर्थात् धरती के सर्वसम्मत राजा तथा उससे भी बड़े इन्द्र परमेश्वर तक पहुँचाता है।

इस आचार्य-रूप सोम का वर्णन प्रथम मण्डल के ९१वें सूक्त में भी आया है। वहाँ कहा है—

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्॥ (९१.१)

हे सोम! तू परम मनीषी है। दूसरों की मनीषा के रहस्यों का भी अध्ययन द्वारा लाभ कर चुका है। तू अपने अनुशासन द्वारा हमें प्रदीप्ततम मार्ग पर चलाता है।

---

* ये मन्त्र अथर्व. ४. १४ में भी आये हैं। इस विषय का विशेष विस्तार हमारे "स्वर्ग नामक निबन्ध में देखिये।

तू 'वनस्पति' (९१.६) में है अर्थात् वन में बने हुए गुरुकुल का कुलपति है।

...'त्वं यूने ऋतायते ।
दक्षं दधासि जीवसे' ॥ (९१.७)

—तू ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक युवक को वीर्यरक्षा सिखाता है जिससे वह जाने कि जीना किसे कहते है।

फिर अष्टम मण्डल के ४८ वें सूक्त में कहा है—

...विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि सञ्चरन्ति ॥ (८.४८.१)

—संसार के क्या विद्वान्, क्या साधारण मनुष्य सबके सब उसके सामने मधुर वचन बोलते घूमते हैं।

उसके उपदेश हम शिष्यों ने पान किये हैं।

...ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रामाद् यावयन्त्विन्दवः ॥ (८.४८. ५)

—वे अन्तः-करण को आर्द्र करने वाले उपदेश मुझे चरित्र-भ्रंश से तथा शक्ति-हीनता से बचावें।

तव स्मसि व्रत्याः३ ॥ (८.४८.८)

—हम तेरे व्रती अर्थात् ब्रह्मचारी कहलावें।

इसी गुरुकुल के आचार्य से नवम मण्डल का आरम्भ होता है। यहाँ भी इसे १२वें सूक्त में 'नित्यस्तोत्रो वनस्पतिः' कहा है—नाना शिष्यगण जिसका नित्य स्तुतिगान करते हैं ऐसा तपोवन का पति (९.१२.६)

वह आचार्य स्वयं विद्या का समुद्र है—

'समुद्रो अप्सु मामृजे' ॥ (९.२.५)

उसके वचन मंजे हुए होते है—

'गिरस्त इन्दु ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्यु वः' ॥ (९.२.७)

तृतीय सूक्त

ऋतायुभिः......मृज्यते ॥ (३ य मन्त्र)

ज्ञान-प्राप्ति के अभिलाषी इसकी सेवा करते है

एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो वि गाहते ।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—इसकी विप्रलोग सामने बैठकर स्तुति करते हैं। अपने सेवकों के लिये (ज्ञान के) रत्नों का भण्डार धारण किये हुए हैं।

'दिवं व्यासरत्' ॥ (८ म मन्त्र)

—यह वानप्रस्थाश्रम तक पहुँच गया है।

'एष प्रत्नेन जन्मना······पवित्रे अर्षति ॥ (९ म मन्त्र)

—अपने वीते जीवन के पुराने अनुभव के कारण यह आचार्य के पवित्र पद पर प्रतिष्ठित है।

'पुरुव्रतः' (१० म मन्त्र)—सैंकड़ों व्रतियों का व्रतदाता है।

चतुर्थ सूक्त

त्वं सूर्ये न आ भज······वस्यसस्कृधि ॥ (५ म मन्त्र)

—तू हमें सूर्य-लोक (संन्यासाश्रम) तक पहुँचा, जहाँ कि आदित्य ब्रह्मचारी पहुँचते हैं। हमें वसु से वसुतर (वस्यस्) बनाता जा।

पञ्चम सूक्त

गुरुकुल में हर विद्या के अग्रगण्य विद्वानों को प्रार्थना-पूर्वक इकट्ठा करो।

गुरुकुल का दृश्य

समिद्धो विश्वतस्पतिः पवमानो विराजति।
प्रीणन् वृषा कनिक्रदत् ॥ (१ म मन्त्र)

—इस कुल का निखिलतन्त्र-स्वतन्त्र (=विश्वतस्पतिः) कुलपति इस तपोवन को पवित्र करता हुआ और वृष्टिकारी पर्जन्य के समान मधुर वाणी द्वारा सबको प्रफुल्लित करता हुआ इस तपोवन में विराजमान है।

उदातैर्जिहते बृहद्द्वारो देवीर्हिरण्ययीः।
पवमानेन सुष्टुताः ॥ (५ म मन्त्र)

इस तपोवन के ज्योतिर्मय द्वार जब खुलते हैं तो नाना दिशाओं से आने वाले विद्वानों के आगमनों से (=आतैः) खुलते है और द्वार पर खड़ा कुलपति कह रहा होता है कि 'यह द्वार धन्य है, हम इसका कितना स्तुति-गान करें जहाँ आज एक मूर्धन्य विद्वान् का प्रवेश हो रहा है।'

भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही।
इमं नो यज्ञमा गमन् तिस्रो देवीः सुपेशसः ॥ (८ म मन्त्र)

—विद्वानों की सरस्वती क्षत्रियों की महनीय भारती और वैश्यों की इळा ये तीनों इस पवमान की अर्थात् मेरी पूजनीया हैं। ये सुन्दर वेश-धारिणी देवियाँ इन विद्वानों की कृपा से हमारे यज्ञ में सदा आती रहें।

कुलपति आगे कहता है—

त्वष्टारमग्रजां गोपां पुरोयावानमा हुवे।
इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः ॥ (९ म मन्त्र)

—मैं स्वयं पवमान सोम हूँ और हर विद्या के अध्ययन के लिये पवमानों को ही निमन्त्रण देता हूँ। मैं जिन्हें निमन्त्रण देता हूँ वे स्वयं अपना मौलिक मार्ग घड़ने वाले (=त्वष्टा) और उनमें भी अग्रगण्य (=अग्रजाम्), साथ ही पुराने वाले ज्ञान-निधि वाङ्मय के पालक (=गोपाम्) और सदा आगे ही आगे चलने वाले (=पुरोयावानम्, यह नहीं कि एक नई बात खोजकर सारी आयु उसी का ढोल पीटते रहें) होते हैं। मैं ऐसे ही विद्वानों को सदा इस पवित्र आश्रम में बुलाता हूँ। इस आश्रम का हर आचार्य शिष्यों को वात्सल्य में स्नान कराने वाला (इन्दुः) है, त्यागी है, परमैश्वर्यवान् होते हुए यहाँ आया है (इन्द्रः) और ज्ञान-वर्षा उसके जीवन का लक्ष्य है (=वृषा), किन्तु साथ ही वह अपनी विद्या को लोक-कल्याण की भावना से सदा पवित्र रखता है (=पवमानः) और अपनी प्रजा में नियन्त्रण और व्यवस्था भी खूब रखना जानता है (=प्रजापतिः)।

मैं अपने हर सहयोगी से कहता हूँ—

वनस्पतिं पवमान मध्वा समङ्ग्धि धारया।
सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम् ॥ (१० म मन्त्र)

—हे अपने विद्याक्षेत्र के पवमान! इस वनस्पति को=तपोवन के कुलपति को अर्थात् मुझ को अपनी मधुर धारा से सदा समञ्जन करते रहिये। मैं सहस्रशाखा वाला वनूं, सदा हरा रहूँ, सदा देदीप्यमान रहूँ और सदा सत्यमय रहूँ (सत्येनांशूनुपस्पृशानीति सत्येन सोम परिहणानीति तस्माद्वा अस्यां हिरण्यं बध्नीते (शत. ३.३.२.२)।

यहाँ यदि वनस्पति का अर्थ कुलपति न करें तो पवमान सोम स्वयं वनस्पति है, वह किस वनस्पति पर मधुधारा बरसावे। इन विनियोग-वादियों ने सोम का अर्थ ही नहीं जाना तो ये इस उलझन को किस प्रकार सुलझा सकते हैं?

षष्ठ सूक्त

यह कुलपति तन्तुहीन नहीं है, इसकी स्तुति इस प्रकार गाई जाती है—

अनु द्रप्सास इन्दव आपो न प्रवतासरन्।
पुनाना इन्द्रमाशत ॥ (४ थं मन्त्र)

—इसके पदानुगामी अनेक शिष्य लोकवात्सल्य से द्रवीभूत (द्रप्सासः) संसार को स्नेहरस

में स्नान कराते हुए—जगत् को पवित्र करते हुए विश्वसम्राट् तथा सम्राटों के सम्राट् परमेश्वर तक पहुँच चुके हैं तथा इस प्रकार प्रबल वेग से आनन्दधारा बहाते रहे हैं, जैसे कि प्रपात का जल नीचे की ओर बहता है।

यह पूर्ण जितेन्द्रिय है—

यमत्यमिव वाजिनं मृजन्ति योषणो दश।
वने क्रीळन्तमत्यविम् ॥ (५ म मन्त्र)

—प्रजाओं के अत्यन्त रक्षक (अत्यविम्) जिस सोम को दशों इन्द्रियां इस प्रकार मांजती हैं जैसे, निरन्तर चलने वाले घोड़े को स्नान के द्वारा मांजा जाता है। इस जितेन्द्रियता के बल से यह तपोवन में हंसता-खेलता विचरता है—

आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः।
प्रत्नं नि पाति काव्यम् ॥ (८ म मन्त्र)

—यह सोमयाग-(विद्यादान) रूप यज्ञ का आत्मा है, उत्तम आचार्यों के सवन का परिणाम है (सुतः) और अब नये शिष्यों का सवन कर रहा है। इस प्रकार यह अनादि अनन्त प्रभु के काव्य-वेद की तथा उसके संसार की अध्यापन और उपदेश द्वारा रक्षा करता है॥

तेरी विशेषता यह है कि, हे सोम!—

एवा पुनान इन्द्रयुर्मदं मदिष्ठ वीतये।
गुहा चिद्दधिषे गिरः ॥ (९ म मन्त्र)

—हर विद्या मनुष्यों को हर्ष देती है, परन्तु तू उन विद्याओं के गुहानिहित आध्यात्मिक तत्त्व को भी अपनी वाणी में धारण करता है और शिष्यों को उपदेश करके उन्हें प्रभुभक्त (=इन्द्रयुः) बना देता है, इस प्रकार अपवित्र से अपवित्र विषय की विद्या पवित्र हो जाती है। तू स्वयं भी तो इन्द्रयुः=प्रभुभक्त है।

सप्तम सूक्त

असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः।
विदाना अस्य योजनम् ॥ (१ म मन्त्र)

इस आचार्य से, हर विद्या का भगवान् से सम्बन्ध जोड़ने का रहस्य पाकर इसके सुश्री-सम्पन्न शिष्य ज्ञान के मार्ग से धर्म में मिलाकर सर्जन किये जाते हैं, क्योंकि धर्म-हीन ज्ञान तो न मालूम किस गड्ढे में ले जावे।

भला, यहां देवता तो पवमान है, फिर यह 'इन्दवः' बहुवचनान्त सोम कहाँ से आ टपका? 'पवमान सोम' का अर्थ तपोवनवासी कुलपति किये बिना यह सारा मण्डल ही उपहास का पात्र बन

जाता है, जब कि वस्तुतः उपहास के पात्र हैं सत्य अर्थ को न समझने वाले 'विनियोग' के दास भाष्यकार।

प्र॒युजो॑ वा॒चो अ॑ग्रि॒यो वृषा॑ व॑चक्रद॒द्वने॑ ।
सद्मा॒भि स॒त्यो अ॑ध्व॒रः ॥ (३ य मन्त्र)

—यह शिष्यों को गृहस्थाश्रम के लिये प्रवेशयोग्य बनाता है (सद्माभि), परन्तु इसके लिये यह सत्यमय अहिंसामय विद्वदग्रगण्य विद्वान् वन में रहकर स्वाध्याय में तथा योग-विद्या में लीन होकर सच्चे ब्रह्मचारी बनाने वाले वचन इन्हें सुनाता-सुनाता शिष्यवात्सल्य तथा लोकवात्सल्य से रो भी पड़ता है।

इसीलिये यह वन्द्य है—

'ह॒विर्हु॒विष्षु वन्द्यः॑' ॥ (२ य मन्त्र)

अष्टम सूक्त:

हे आचार्य! यह तेरे द्वारा सुविनीत नवीन सोम अर्थात् ब्रह्मचारी—

ए॒ते सोमा॑ अ॒भि प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम॑मक्षरन् ।
वर्ध॑न्तो अस्य वी॒र्य॑म् ॥ (१ म मन्त्र)

—इन्द्र की (=परमेश्वर की अथवा तदनुवर्ती राजा की) यही इच्छा है कि प्रजा को सदा पवित्र मधुर भक्ति-परिप्लुत ज्ञान की धारा मिलती रहे। बस, ये सोम भी सदा उसी धारा के झरने झरते हैं और इस धरती पर इन्द्र की शक्ति बढ़ाते हुए विचरते हैं॥

पु॒ना॒नः क॒लशे॑षु······हरिः॑ ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—यह मनोहर आचार्य व्यासपीठों पर (=कलशेषु) बैठता है तब बड़ा मनोहर प्रतीत होता है।

हे सोम! उत्तम शिक्षा द्वारा—

म॒घोन॒ आ प॑वस्व नो ज॒हि विश्वा॒ अप॒ द्विषः॑ ।
इन्दो॒ सखा॑य॒मा वि॑श ॥ (७ म मन्त्र)

—तू हम ऐश्वर्य वालों को ऐसा पवित्र बना कि हम ऐश्वर्य के अधिकारी बने रहें। काम, क्रोध, भय, आलस्यादि सब शत्रुओं को मार भगा और इस महान् कार्य के लिये अपने परम सखा परमात्मा की गोद में घुस जा।

वृ॒ष्टिं दि॒वः परि॑ स्रव द्यु॒म्नं पृ॑थि॒व्या अधि॑ ।
सहो॑ नः सोमपृ॒त्सु धाः॑ ॥ (८ म मन्त्र)

—हे सोम ! हम अविद्या, अन्याय, और अभाव से लड़ने वाली त्रिपथगा सेना तय्यार कर रहे हैं। तू वानप्रस्थाश्रम-रूप देवलोक से पृथिवी अर्थात् ब्रह्मचारियों पर उनका ज्ञान-रूप सच्चा धन चारों ओर वरसा, उन्हें इस वर्षा में स्नान करा दे और हमारी इस त्रिविध सेना में, संग्राम में शत्रुप्रहार-सहन का सामर्थ्य उत्पन्न कर दे।

नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम् ।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥ (९ म मन्त्र)

—हे सोम ! हम तेरा भजन करते रहें जिससे हम उत्तम सन्तान तथा अन्न दोनों प्राप्त करें। तुझे मनुष्यों की ठीक-ठीक पहिचान है। तू इन्द्र का प्यारा है। वह तेरे भक्तिरसमय भजनों का रसास्वादन करता है और तू जानता है कि उस परम सुखमय स्वर्लोक तक कैसे पहुँचा जाता है।

नवम सूक्त

'दिवः कविः' ॥ (१ म मन्त्र)

वह विद्यालोक का कवि है।

'जनाय जुष्टः' ॥ (२ य मन्त्र)

मनुष्यमात्र से प्रेम करता है तथा उनकी सेवा करता है।

···महे युवानमा दधुः ।
इन्दुमिन्द्र तव व्रते ॥ (५ म मन्त्र)

—हे इन्द्र ! हर उस युवक को जो आचार्य के पास इन्दु बनने आया, गुरुओं ने उसे तेरे व्रतपालन पर लगाकर व्रती बना दिया।

आचार्य अपने हर शिष्य से कहता है—

नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधया पथः ।
प्रत्नवद् रोचया रुचः ॥ (८ म मन्त्र)

—तुम नित्य नई और उससे भी नई से नई ज्ञानमय सूक्तियों के लिये मार्ग बनाओ और जैसे, तुम्हारे पूर्वजों ने इस मार्ग को रुचिर बनाया है, तुम भी बनाओ।

उपाय क्या है ?—

'सना मेधां सना स्वः' ॥ (९ म मन्त्र)

—प्रजा के हर मनुष्य को मेधा बांटो और इस प्रकार परम सुख तक पहुँचाओ।

दशम सूक्त

यह सोम चतुर शिल्पी है।

'अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

ये शिल्पी सोम लोग बुद्धियों के प्राचीन द्वारों को जिनकी कुञ्जी इनके पास है मनुष्य मात्र के लिये खोलते हैं।

एकादश सूक्त

यह आचार्य स्वयं एक स्नातक है।

बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे ।
सोमाय गाथमर्चत ॥ (४ थं मन्त्र)

—अथर्व० (११,५.२६) में कहा है—'स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते'। अतः यहाँ भी 'बभ्रु' स्नातक का वाचक है।

जिस प्रकार टोकरी ढोने वाला धूल से बभ्रु* हो जाता है, इसी प्रकार स्नातक भी तपस्वी जीवन में भस्म रमाकर बभ्रु हो जाता है, परन्तु वह स्नातक बनकर बहुत शोभा पाता है। सो, इस आचार्य ने भी बरसों शिष्यों की धूल छानी है। वस्तुतः इसका रंग तो ब्रह्मचर्य के बल से गुलाबी है, परन्तु बोझा ढोकर बभ्रु हो गया है। अब यह वानप्रस्थ में पहुँचकर वैसे भी भस्म रमाने लगा है। बस, इस सोम की गीत गा-गा कर पूजा करो।

जो ज्ञान-रस, यह तुम्हें दें उसका स्वयं अपने हाथों से परीक्षण करके उसकी छान-बीन करो और अटूट प्रमाणों से (अद्रिः = न दीर्यते) उसे पुष्ट करो—

हस्तच्युतेभिरद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन ।
मधावा धावता मधु ॥ (५ म मन्त्र)

द्वादश सूक्त

तुम्हारा यह कार्य ऐसा होगा मानो मधु में और मधु मिला दिया ॥

यः सोमः कलशेष्वाँ अन्तः पवित्र आहितः ।
तमिन्दुः परि षस्वजे ॥ (५ म मन्त्र)

—जब किसी कलश (कल = मधुर शब्द जहाँ पर शयन करे) अर्थात् मञ्च पर यह पहुँचता हैं तो वहाँ बैठे अन्य गुणियों से ईर्ष्या करने के स्थान में यह उन्हें आलिङ्गनपाश में बांध लेता है।

'जिन्वन् कोशं मधुश्चुतम्' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

वह मधु झरने वाले कोश को भरने वाला है।

'वनस्पतिः······हिन्वानो मानुषा युगा' ॥ (७ म मन्त्र)

वह तपोवन का स्वामी है तथा मनुष्यों को नये युग की ओर प्रेरणा देता है।

*पुनः-पुनः अतिशयेन वा भारं बिभर्त्तीति बभ्रुः।

इसका साधन क्या है ? 'विप्रस्य धारया' ।। (८ म मन्त्र)—ब्राह्मणोचित विद्याप्रदान की धारा से ।

त्रयोदश सूक्त

इस आश्रम में यह पवमान सोम अर्थात् आचार्य तीन प्रकार के मनुष्यों का सवन कर रहा है । इसका गुणगान करो ।

प्रथम—पर्वमानमवस्यवो विप्रमभि प्र गायत ।
सुष्वाणं देववीतये ।। (२ य मन्त्र)

—हे रक्षा चाहने वालो ! देवों के रसास्वादन के लिये उत्तम मेधावी ब्राह्मण उत्पन्न करने वाले इस विप्र का गुणगान करो ।

दूसरे—पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजसः ।
गृणाना देववीतये ।। (३ य मन्त्र)

इस आश्रम में युद्ध के लिये, सहस्र प्रकार का बल रखने वाले सोम अर्थात् स्नातक इस आश्रम को पवित्र कर रहे हैं और स्वयं पवित्र बन रहे हैं । वे भी देवों के रसास्वादन की सामग्री हैं । इस प्रकार उनकी स्तुति गाई जाती है और वे भी भगवान् का गुणगान सीखते हैं (जिससे वे शक्तिमद से उन्मत्त न हों) ।

तीसरे—उत नो वाजसातये पर्वस्व बृहतीरिषः ।
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ।। (४ र्थ मन्त्र)

—हे गुरुकुल के शिष्यजनवत्सल, स्नेहार्द्र इन्दो, कुलपते ! प्रजा में अन्नविभाग ठीक हो सके, इसलिये अन्न की ढेरियाँ की ढेरियाँ पवित्र करो अर्थात् पवित्र अन्न उत्पन्न करने वाले स्नातक बनाओ और, हे शांत दीप्ति वाले इन्दो ! वह अन्न उत्तम वीर्य का दाता हो ।

इस प्रकार गुरुकुल का कुलपति, गुणग्राहक वायु देवता तथा इन्द्र अर्थात् राजा का अथवा उभयगुण-विशिष्ट परमात्मा का ऋण चुकाता है ।

···अर्षति सहस्रधारः·········।
वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम् ।। (१ म मन्त्र)

—वायु और इन्द्र से ऋण मोक्ष को प्राप्त होता है ।

चतुर्दश सूक्त

इस आचार्य ने अद्भुत शिल्प सीखा है ।

परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः ।
कारं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ।। (१ म मन्त्र)

—'यह मनुष्य-रूप काव्य रचने वाला कवि गुरुकुल का आचार्य रस-सागर की ऊँची से ऊँची लहर पर बैठकर रस की धारा बहाता है। इसका **कार** (=शिल्प) सबका स्पृहणीय है। (**मनुष्य-निर्माण ही इसका कार=शिल्प है**)।

कोई तो **कविता** बनाता है, परन्तु यह तो **कवि** बनाता है; इसलिए

गिरा यदीं सबन्धवः पञ्च व्राता अपस्यवः।
परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम् ॥ (२ य मन्त्र)

—कवि वाणी के सगे भाई, पांचों इन्द्रियों के विषय (उन्हीं के साथ कविता उत्पन्न होती है) व्रत में बद्ध होकर कर्मयोग को बढ़ाने के निमित्त इसे परिष्कृत करते हैं (और विषयासक्तों को—व्रतहीनों को दूषित करते हैं)।

पञ्चदश सूक्त

यह कुलपति केवल कवि ही नहीं बनाता, उत्तम सैनिक भी बनाता है।

एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ (१ म मन्त्र)

इस शूर को देखो, यह तीव्रगामी रथों पर चढ़कर रणक्षेत्र में जाता है और इस मृत्यु में रस अनुभव करता है और समझता है कि आज मैं परमात्मा के ऋण से मुक्त हो रहा हूँ। यह मृत्यु में आनन्द लेने वाली सूक्ष्म बुद्धि इसे आचार्य से ही तो मिली है।

एष पुरू धियायते बृहते देवतातये।
यत्रामृतास आसते ॥ (२ य मन्त्र)

—आचार्य ने इसे यह बुद्धि दी है कि रणक्षेत्र में मरने वाला महान् देवयज्ञ के लिये जाता है जहाँ अमर लोग रहते हैं। इसी बुद्धि से यह भी जा रहा है।

एष हितो विनीयतेऽन्तः शुभ्रावता पथा।
यदीं तुञ्जन्ति भूर्णयः ॥ (३ य मन्त्र)

—यद्यपि आचार्य ने इसे हिंसा सिखाई है, परन्तु उस विनीति में अंदर शुभमार्ग था अर्थात् हिंसा की हिंसा द्वारा रक्षा सिखाई है। कार्य क्रूर है, परन्तु भावना शुभ्र है। इसके भरण-कर्त्ता इसी भावना से इसे सेना के अर्पण कर गये हैं।

एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो वृषा।
नृम्णा दधान ओजसा ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—जब कभी यह अपने यूथ में अथवा युद्धक्षेत्र में पराक्रम दिखाता है तो, उस समय शृङ्ग हिलाते हुए वृषभ के समान शोभा पाता है और अपने ओज से यश बटोरता है।

एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः ।
पतिः सिन्धूनां भवन् ।। (५ म मन्त्र)

—और यह देखो अलमस्त जवान (=वाजी) सेनाओं का पति बनकर आगे-पीछे स्वर्ण-जटित वेष धारण किये हुए सूर्य की उज्ज्वल किरणों के समान सैनिकों से घिरा जा रहा है।

एष वसूनि पिब्दना परुषा ययिवाँ अति ।
अव शादेषु गच्छति ।। (६ ष्ठ मन्त्र)

यह, सब कठोर पीडादायकों को भुजवल से अतिक्रमण करके युद्धक्षेत्र के घोरतम घमासानों में उतर पड़ता है।

एतं मृजन्ति मर्ज्यमुप द्रोणेष्वायवः ।
प्रचक्राणं महीरिषः ।। (७ म मन्त्र)

—इस बड़े पराक्रम से इष्ट लक्ष्यों को पूरा करता देखकर इसे आचार्यों ने इस कार्य के लिये चुना है। जब वे अग्रगामी आचार्य लोग युद्ध-शिक्षा के समय इसे खूब मांजते हैं तब इसकी स्वाभाविक पराक्रमशीलता निखर उठती है। वे इसे ऐसे कठिन स्थलों में डालते हैं जहां द्रोण के समान दौड़ने का मार्ग न हो तथा मनुष्य चारों ओर से घिर जाय, फिर उन कठिन परिस्थितियों से निकल-निकल कर यह मंज जाता है, फिर—

एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सप्त धीतयः ।
स्वायुधं मदिन्तमम् ।। (७ म मन्त्र)

—यह वही तो है जिसे १० क्षिप् तथा ७ धीतियां मांजती हैं और जो उत्तम शस्त्र धारण करके सबसे अधिक प्रसन्न होता है (इतना प्रसन्न अन्य किसी समय नहीं होता जितना शस्त्र-धारण के समय)। ये १० क्षिप् तो हैं १० इन्द्रियां जिन्हें पूर्ण रूप से वश में करके यह जितेन्द्रिय बना है और ७ धीतियाँ हैं—

१. सैनिकों का चरित्रनिर्माण =गङ्गा।
२. अनुशासन =यमुना।
३. सामग्री के सम्बन्ध में सतर्कता =सरस्वती।
४. तीव्रयान =शुतुद्री।
५. शत्रुओं की मार से बचकर सेना-सन्निवेश =असिक्नी।
६. सुरक्षित सेना रखना =मरुद्वृधा।
७. शत्रु पर प्रहार के साधन =वितस्ता।

ये सात कार्य जानकर ही सेनापति बनने योग्य होता है।

हमने इस सारे सूक्त का अनुवाद इसलिये दिया है कि 'सिन्धु' का अर्थ स्पष्ट हो जाय। यहाँ सिन्धु का अर्थ सेना के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

षोडश सूक्त

अगले सूक्त में योगसमाधि द्वारा जितेन्द्रियता-सम्पादन का वर्णन है।

प्र त्वा नमोभिरिन्दव इन्द्रसोमा असृक्षत।
महे भराय कारिणः ॥ (१ म मन्त्र)

हे प्रभो! इस संसार के युद्धों से भी बड़ा एक संग्राम है जो अंदर की पवित्रता का संग्राम है- 'पुनानस्य चेतसा सोमः पवित्रे अर्षति' (४ र्थ मन्त्र)। उस महान् युद्ध के लिये (=भराय) ये अन्तः पवित्रता के शिल्पी (=कारिणः) स्नातक (=सोमाः) तेरी ओर नमस्कार द्वारा तय्यार किये गये हैं।

पुनानो रूपे अव्यये विश्वा अर्षन्नभि श्रियः।
शूरो न गोषु तिष्ठति ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—इस प्रकार अपने अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ जितेन्द्रिय मनुष्य इन इन्द्रियों पर रणशूर के समान विजयी होकर रहता है। चारों ओर सब प्रकार की श्री उसे घेरती है, परन्तु वह एक अव्यय रूप में एकरस रहता है (क्योंकि वह एकरस प्रभु-भजन से एकरस हो गया है)।

सप्तदश सूक्त

प्र निम्नेनेव सिन्धवो घ्नन्तो वृत्राणि भूर्णयः।
सोमा असृग्रमाशवः ॥ (१ म मन्त्र)

—जिस प्रकार नदियाँ तीव्र वेग से नीची भूमि की ओर बहती हैं, इसी प्रकार के प्रबल प्रतापमय प्रवाह से यह कुलपति के सृजे हुए तीव्रगामी स्नातक मनुष्यमात्र के विघ्नों को नष्ट करते हैं।

आ कलशेषु धावति पवित्रे परिषिच्यते।
उक्थैर्यज्ञेषु वर्धते ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—ऐसे स्नातकों का स्रष्टा होने के कारण यह कुलपति सोम सभा-मञ्चों पर (=कलशेषु) अपने उपदेशों से मनुष्यों के अन्तर्मल धोता है, पवित्र पुरुषों में इसका अभिषेक होता है और अपने उन उपदेशों से यह यज्ञों में गौरव पाता है।

सब कहते हैं कि हे आचार्यप्रवर!

मधोर्धारामनु क्षर तीव्रः सधस्थमासदः।
चारुर्ऋताय पीतये ॥ (८ म मन्त्र)

—आपने गुरु से जो मधुधारा प्राप्त की है उसका हम जिज्ञासुओं पर अनुक्षरण कीजिये। इस विद्वानों के मञ्च पर (सधस्थम्=जहाँ बहुत से विद्वान् इकट्ठे बैठते हैं) तीव्र बातें भी कहिये। हाँ, अपने व्याख्यान-कौशल से उन तीव्र बातों को इतनी सुन्दर बना दीजिये कि तीव्र होते हुए भी उस ज्ञान का सब रुचि से पान करें।

अष्टादश सूक्त

हे आचार्य ! जहाँ कहीं भी किसी क्षेत्र में कोई आपका शिष्य मस्ती का परिचय देता है तो सब कह उठते हैं—

……मदेषु सर्वधा असि

—सब मस्तियों में मस्ती भरने वाला तो तू ही है। और आचार्य में मस्ती किस की ? प्रभु की। सो, उसे तो सब कहते ही—

'मदेषु सर्वधा असि'। हैं (प्रत्येक मन्त्र का अन्तिम चरण)

एकोनविंश सूक्त

यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु।
तन्नः पुनान आ भर ॥ (१ म मन्त्र)

—हे सोम ! वाङ्मय-सम्बन्धी दिव्य शक्तियों से सम्बद्ध तथा भौतिक विज्ञान से सम्बद्ध जो भी ज्ञानमय सम्पत्ति तेरे पास है वह सब में प्रदान कर और हमें पवित्र कर।

'भियसमाधेहि शत्रुषु' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—अपने उपदेशों से हमारे आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं में भय बैठा दे।

विंश सूक्त

त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ।
पुनानो वह्ने अद्भुत ॥ (५ म मन्त्र)

—हे सोम ! तू अद्भुत वह्नि है। यह स्थूल अग्नि तो पदार्थों को जलाकर भस्मावशेष कर देता है, परन्तु तू तो खोट को जलाता है, उत्तम पदार्थों को नहीं। तेरा साम्राज्य वाणी के क्षेत्र में है। जैसे, एक उत्तम राजा अपनी प्रजा को योग्यतानुसार पद प्रदान करता है, तू भी वाणी के साम्राज्य में सबको यथास्थान सन्निवेशित कर देता है। यही तेरा उत्तम व्रत है।

एकविंश सूक्त

एते धावन्तीन्दवः सोमा इन्द्राय घृष्वयः।
मत्सरासः स्वर्विदः ॥ (१ म मन्त्र)

—हे आचार्य ! तेरे सिखाये हुए ये आर्द्रशील स्नातक जिज्ञासु बनकर हर पदार्थ को कसौटी पर घिस कर देखते हैं। इन्होंने परम सुख का मार्ग तो आप से सुनकर जान लिया है, परन्तु अब उसका अनुभव प्राप्त करने के लिये 'घृष्वि' बनकर परमात्मा की ओर दौड़े जा रहे हैं।

प्रवृण्वन्तो अभियुजः सुष्वये वरिवोविदः ।
स्वयं स्तोत्रे वयस्कृतः ॥ (२ य मन्त्र)

—इन्हें ज्ञानधन की तलाश है उसे ढूंढने चले हैं, इसलिये बात का मन्थन द्वारा ठीक सवन हो जाय, इस अभिलाषा से अपने सामने टक्कर लेने वाले प्रतिवादियों को (=अभियुजः) ढूंढ-ढूंढ कर उनसे टक्कर लेते हैं और स्वयं अपने आचरण से स्तोता की स्तुति को कभी अल्पायु नहीं होने देते।

एत उ त्ये अवीवशुन् काष्ठां वाजिनो अक्रत ।
सतः प्रासा विषुर्मतिम् ॥ (७ म मन्त्र)

—इनकी एक ही कामना है, किसी न किसी क्षेत्र में अपनी काष्ठा स्वयं अपने बलबूते पर बनावें। ऐसे कार्य करें कि सज्जनों की बुद्धि को जबर्दस्ती अपनी उत्कृष्टता मना सकें अर्थात् उन्हें हठात् यह कहना पड़े कि—'अयमस्मिन् क्षेत्रे परां काष्ठां गतः'।

द्वाविंश सूक्त

एते सोमास आशवो रथा इव प्र वाजिनः ।
सर्गाः सृष्टा अहेषत ॥ (१ म मन्त्र)

—हे आचार्य ! यह तूने क्या प्यारी सृष्टि रची है ! ये तेरे रचे सोम वाजियुक्त रथ के समान आशुगामी हैं। इनकी एक ही ख्याति है। ये जिधर गये वहाँ ही इन्होंने नई प्रेरणा दी (अहेषत)।

एते सृष्टा अमर्त्याः ससृवांसो न शश्रमुः ।
इयक्षन्तः पथो रजः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—हे आचार्य ! ये स्नातक तूने इस प्रकार माँजे हैं कि जिस मार्ग में जाते हैं प्रकाश देते हुए जाते हैं और इस यात्रा में कभी नहीं थकते, इसीलिये अपने गुणों से अमर हो जाते हैं ('व्यावृत्य शरीरेणामृतोऽसद् योऽमृतोसद् विद्यया वा कर्मणा वा' शत० १०.४,३.९)।

ये सोम हैं कौन ?—

'एते पूता विपश्चितः' ॥ (३ य मन्त्र)

—हे आचार्य ! ये तेरे द्वारा पवित्र किये हुए विद्वान् हैं—

त्वं सोम पणिभ्य आ वसु गव्यानि धारयः ।
ततं तन्तुमचिक्रदः ॥ (७ म मन्त्र)

—हे सोम ! हे आचार्य ! तुम में मनुष्यों को सुधारने की ऐसी शक्ति है कि तुम जुआरियों से भी गोहितकारी (गो=वाणी, गाय, धरती, इन्द्रियां) प्राप्त कर लेते हो। तुमने संसार में घोषणा कर दी है। यह ज्ञानतन्तु सदा तना ही रहेगा।

त्रयोविंश सूक्त

सोमा असृग्रमाशवो मधोर्मदस्य धारया ।
अभि विश्वानि काव्या ॥ (१ म मन्त्र)

—हे आचार्य ! ये तुम्हारे सोम (स्नातक) ऐसे तीव्रगामी रचे गये हैं कि हर प्रकार के रस की धारा से अभिषिक्त कर देते हैं।

अस्य पीत्वा मदानामिन्द्रो वृत्राण्यप्रति ।
जघान जघनच्च नु ॥ (७ म मन्त्र)

—हे आचार्य ! तुम्हारे शिष्यों की कविता में इतना ओज है कि इसके रसपान से हर क्षेत्र का इन्द्र अपने क्षेत्र में विघ्नों को सफलतापूर्वक मार डालता है, परन्तु क्या कभी यह मारा भी गया है ? कदापि नहीं।

चतुर्विंश सूक्त

प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः ।
श्रीणाना अप्सु मृञ्जत ॥ (१ म मन्त्र)

—ये आचार्य के बनाये हुए पवमान सोम विश्व को पवित्र करने वाले स्नातक अपनी प्रबल शक्ति से प्रजा में धंस गये। आचार्य कहते हैं—'मेरे प्यारे शिष्यो ! इन प्रजाओं में ऐसे घुसो कि प्रजा परिपक्व हो जाय।' (अप्सु=प्रजाओं में, मनुष्या वा आपः' [शत.])

पवस्व वृत्रहन्तमोक्थेभिरनुमाद्यः ।
शुचिः पावको अद्भुतः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—हे आचार्य ! तुम अद्भुत हो। तुम पावक हो। ये तुम्हारे पावक शिष्य 'अप्सु' प्रवेश करके बुझने के स्थान में उलटा उन 'आपः' को पका देते हैं, परन्तु तुम्हारा पवित्र करने का साधन है—वाणी। अपने वचनों से (=उक्थेभिः) तुम 'आप' को पका देते हो और वृत्र को मारने वालों में श्रेष्ठ कहलाते हो, क्योंकि तुम्हारे पवित्र वचनों से, वृत्र तो बने रहते हैं उनका वृत्रत्व मर जाता है। सो, वे जीते भी मरे और मरे भी जीवित हैं। हो न तुम अद्भुत ! बस, सब तुम्हारी इस अद्भुतता का गान करते हैं। बस, तुम हो ही इस अनुमादन के योग्य।

जब कोई सोम (=आचार्य) अपना यह अद्भुत कौशल दिखाता है तो—

शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतस्य मध्वः ।
देवावीरघशंसहा ॥ (७ म मन्त्र)

—तो उस प्रजापरिपाक करने वाले मधुर शिष्य का (=सुतस्य मध्वः) पवित्र करने वाला (=पावकः) आचार्य शुचि और पावक कहलाता है। वह देवों का सच्चा रक्षक है, क्योंकि वह पापी की कामना को ही मार देता है।

पञ्चविंश सूक्त

पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥ (१ म मन्त्र)

—हे आचार्य ! हे मनोहर (=हरे) ! तुम राष्ट्र के गुणिसंग्रहकर्त्ता (=वायु) तथा सैनिकों के लिये परम हर्ष के कारण हो। तुम सदा इस प्रजा को पवित्र करते रहो। तुमने स्वयं वीर्यरक्षा की है और अपने शिष्यों को यही साधना सिखाते रहो। तुम्हारा यह साधनारस देवों के पीने योग्य है।

पवमान धिया हितो३ऽभि योनिं कनिक्रदत् ।
धर्म्मणा वायुमाविश ॥ (२ य मन्त्र)

—हे पवमान ! सब प्रजा ने मिलकर तुम्हें तुम्हारी प्रज्ञा तथा तुम्हारे कर्मों के बल पर आचार्य के आसन पर आसीन किया है। अब अपने धर्म्म के (=आचार्य-धर्म पालन के) बल पर विश्व में गुणियों की सुगन्ध फैलाने वाले गन्धवाह के हृदय में घुस जाओ।

सं देवैः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः ।
वृत्रहा देववीतमः ॥ (३ य मन्त्र)

—इस अपने आचार्य पद के आसन पर अन्य विद्वानों के साथ आसीन, यह जनता का प्यारा, वृत्र का हन्ता और देवों को रस द्वारा तृप्त करने वालों में श्रेष्ठ कवि क्या शोभा पाता है ? (तस्य देवा विशस्ता इम आसत इति श्रोत्रिया अप्रतिग्राहका उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति। शत० १३.४.३.१४)।

विश्वा रूपाण्याविशन् पुनानो याति हर्यतः ।
यत्रामृतास आसते ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—विश्वविद्यालय में नाना विद्याओं के अध्यापन के समय नाना रूप धारण करता हुआ जनता का प्रेमभाजन (=हर्यतः) यह आचार्य उस पद पर जाता है जहाँ (विद्या तथा कर्म के कारण न कि शरीर से) अमर लोग बैठते हैं ॥

अरुषो जनयन् गिरः सोमः पवत आयुषक् ।
इन्द्रं गच्छन् कविक्रतुः ॥ (५ म मन्त्र)

—कोई वाणी से कविता करता है, परन्तु इस आचार्य के कर्म ही कविता हैं (=कविक्रतुः)। यह ऐसी वाणियाँ उत्पन्न करता है जो रथनाभि में लगे अरों के समान नपी-तुली तथा सन्तुलित हैं। यह तो परमात्मा की ओर जा रहा है और इस संसार को निरन्तर पवित्र कर रहा है।

आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे ।
अर्कस्य योनिमासदम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—ऐ मस्ती देने वालों के शिरोमणे ! इसी प्रकार इस संसार को पवित्र करते रहिये। हे कवे ! यह पवित्र लक्ष्य धारण किये रहिये। यह वह आसन है जिसे पूजनीयता का धाम कहते हैं।

षड्विंश सूक्त

यह आचार्य यों ही तो इस पद पर नहीं पहुँच गया—

(तं विप्रासो अण्व्या धिया अमृक्षन्त ।)

तममृक्षन्त ……विप्रासो अण्व्या धिया ॥ (१ म मन्त्र)

—इसे मेधावियों ने सूक्ष्म बुद्धि से मांजा।

गुरुओं ने इसे 'सहस्रधारमक्षितम्' (२ य मन्त्र)—सहस्र धाराओं का स्रोत बनाया।

'वेधां मेधया' ॥ (३ य मन्त्र)

अपनी मेधा के बल पर नई ज्ञान की दुनिया का विधान बनाया।

सप्तविंश सूक्त

…स्वर्जित् परिषिच्यते ।
पवित्रे दक्षसाधनः ॥ (२ य मन्त्र)

—यह वीर्यसाधना का मार्गदर्शक, यह स्वः को (=परमसुख को जीतने वाला वानप्रस्थ अथवा संन्यासी, आचार्य के पवित्र आसन पर चारों ओर से अभिषिक्त होता है।

एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः ।
सोमो वनेषु विश्ववित् ॥ (३ य मन्त्र)

—यह विश्ववित् विद्वान् है, प्रजा ने बड़े परिश्रम से सवन करके और छानबीन करके इसे निकाला है। (=सुतः) अब सब मनुष्य तपोवन में आचार्य पद पर आसीन करने के लिये इसे विधिपूर्वक ले जाते हैं।

अष्टाविंश सूक्त

एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः ।
अव्यो वारं वि धावति ।। (१ म मन्त्र)

—इसका चुनाव किया गया है। चुनाव करने वाले गुणियों के चुनाव से चुना जाने वाला गौरवान्वित होता है, परन्तु यह विश्ववित् फिर भी अभिमानरहित है, इसलिये यह मनसस्पति = मनन का स्वामी कहलाता है। यह ऐसा विलक्षण है कि इससे 'वार' (=चुनाव) पवित्र हो गया है—गौरवान्वित हो गया है। दुनियाँ कहती है, 'धन्य हैं चुनने वाले'। यह तो चुनाव को प्रक्षालित करता है, इसीलिये इस सर्वतोभद्र बल वाले विद्वान् को सब मनुष्यों ने इस पद पर आसीन किया है।

एष पवित्रे अक्षरत् सोमो देवेभ्यः सुतः ।
विश्वा धामान्याविशन् ।। (२ य मन्त्र)

—इस विश्वविद्यालय में अनेक विद्याओं के अनेक धाम हैं, परन्तु यह तो उन सब धामों में न केवल प्रविष्ट है, किन्तु आविष्ट है—अधिकारी विद्वान् है, इसीलिये इस पवित्र आसन पर छात्र नहीं, अनेक विद्वान् आसीन होकर इसका सवन करते हैं और उनसे सवन किये जाने पर यह अपनी विद्या का मधुर रस बरसाता है। वे प्रश्न पूछ-पूछ कर इसे रगड़ डालते हैं—

'ग्राव्णा तुन्नः' ।। (९.६७.१९)

एष सूर्यमरोचयत् पवमानो विचर्षणिः ।
विश्वा धामानि विश्ववित् ।। (५ म मन्त्र)

—यह सकलशास्त्रद्रष्टा है, विश्ववित् है, इसीलिये इसे सब धामों का अधिष्ठाता बनाया गया है।

एकोनत्रिंश सूक्त

इस पवित्र आसन पर अब तक अनेक विद्वान् बैठते आये हैं।

प्रास्य धारा अक्षरन् वृष्णः सुतस्यौजसा ।
देवाँ अनु प्रभूषतः ।। (१ म मन्त्र)

—उन्हीं विद्वानों का अनुगामी होकर जब यह आचार्य उस पद पर प्रभुत्व पाना चाहता है तो, अनेक विद्वान् पूरे बल से इससे प्रश्न करते हैं, परन्तु उस समय इस की मधुर धाराओं का सहस्रधार झरना झरने लगता है।

तब उस रसपान से तृप्त होकर—

सप्तिं मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा ।
ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ।। (२ य मन्त्र)

—जिस प्रकार अश्वशास्त्र के शिल्पी रथ के थके घोड़े को सहलाते, खरेरा फेरते और स्नान कराते हैं, इसी प्रकार नाना विद्याओं के शिल्पी वाणी से उनकी स्तुति करते हुए धन्य-धन्य कह उठते हैं। वे कहते हैं कि धन्य है इस आचार्य को, जो ज्ञान-भण्डार में नई ज्योति उत्पन्न करके प्रदान कर रहा है।

सुषहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो।
वर्धा समुद्रमुक्थ्यम् ॥ (३ य मन्त्र)

—हे आचार्य! विद्याध्ययन में तो परिश्रम हुआ सो हुआ। शिष्यों की जिज्ञासा के रगड़े पड़कर जब तेरा रस निकलता है तब तो कड़ी थकावट होती है, परन्तु तेरी वात्सल्यमयी ज्ञान धारा वृष्टि से निहाल होकर शिष्य मण्डली धन्य-धन्य कहती है तो, तेरे वे सब परिश्रम सुसह हो जाते हैं। तुझे दो प्रकार के सन्तोष होते हैं। तूने शिष्यों का 'पवन' किया और वह पवन उन तक पहुंच भी गया। नहीं तो वे धन्य-धन्य क्यों कहते। बस, उस थकावट में भी एक रस आता है। हे सब शास्त्रों में प्रभुत्व-पूर्वक बसने वाले आचार्य! (=प्रभूवसो!) इस वाङ्मय के समुद्र को (=उक्थ्यं समुद्रम्) अपने धारावर्षण द्वारा सदा बढ़ाता रह।

२८ वें सूक्त तक आचार्य तथा ब्रह्मचारियों का वर्णन था। वह बहुवचनान्त सोम ब्रह्मचारी भी हो सकते हैं और स्नातक भी। हां, आचार्य के शिष्य दोनों हैं। २८ वें सूक्त तक इन शिष्यों की ख्याति आचार्य के इस पद पर आसीन होने का कारण बनी और इसीलिये 'एष वाजी हितो नृभिः' (२८.१) जनता ने उसे इस पद पर निहित किया। किन्तु २९ वें सूक्त से अब उसे विद्वान् घेरने लगे हैं जिनमें मुख्य स्थान आसन्न-समावर्त्तन स्नातकों का है। उनसे कहते हैं—'गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व जाते-जाते दोहन करलो जो दुहा जाय' सो २८ वें सूक्त से वह नाना विद्याओं के अध्यापकों तथा स्नातकों से घिरा है। यह क्रम ६३ वें सूक्त तक जायगा। ६४ वें सूक्त से ७३ वें सूक्त तक गृहस्थाश्रम-प्रविष्ट सोम का वर्णन है। ७४ वें सूक्त में वह वानप्रस्थ में (=तृतीये रजसि ७४.६) प्रवेश करता हैं। ९३ वें सूक्त तक वानप्रस्थ सोम का वर्णन है। वैसे तो ९१ वें सूक्त में वानप्रस्थ तथा संन्यास का सन्धिकाल है। ९३ वें सूक्त से लेकर (९७ वें में तो स्पष्ट रूप से) तृतीय तथा चतुर्थ धाम का इकट्ठा वर्णन है और तदनन्तर अन्त तक (११४ वें सूक्त तक) संन्यासी का वर्णन है।

२८ वें सूक्त तक शिष्यों की धारा प्रजा को अथवा गुरु की धारा शिष्यों को मिलती थी।

२९ वें सूक्त से विद्वानों की रगड़ आरम्भ हुई है। इस क्रम को समझ लेने से सारे मण्डल का समझना अति सुगम हो जायगा।

त्रिंश सूक्त

२९ वें सूक्त में देवों ने सोम का सवन किया, फिर शिष्यों ने रथ के घोड़े के समान उसकी मालिश की, अब ३० वां सूक्त आरम्भ होता है।

आचार्य, पद पर निहित हुआ (२८ वां सूक्त)। देवों ने घेरा डालकर उसका रस निकाला

अब वह शिष्यों को पवित्र कर रहा हैं, परन्तु उसकी पवित्रता का क्षेत्र है **वाणी**। इसीलिये कहा **'पुनानो वाचमिष्यति'** (१ म मन्त्र) अपने रस द्वारा रस निकालने वालों की वाणी को पवित्र करता हुआ वाणी को सन्मार्ग में प्रेरित करता है। वाणी की पवित्रता कैसी होती है?

'इयर्त्ति वग्नुमिन्द्रियम्' ।। (२ य मन्त्र)—वह परमेश्वर की भक्ति से भरा और इन्द्र की ओर प्रेरणा देने वाला शब्द उच्चारण करता है, परन्तु वह भक्ति आलसी और अकर्मण्य बनाने वाली नहीं। वह स्वयं 'शुष्मी' है (१ म मन्त्र), इसलिये यह उससे प्रार्थना है—

आ नुः शुष्मं नृषाह्यं वीरवन्तं पुरुस्पृहम् ।
पवस्व सोम धारया ।। (३ य मन्त्र)

—हे सोम! हमारे स्पर्धास्पद, शत्रुपक्ष-सहनसमर्थ और वीररस-परिपूर्ण बल को तू अपनी भक्तिरसमयी उपदेश धारा से पवित्र कर।

एकत्रिंश सूक्त

प्र सोमासः स्वाध्य१ः पवमानासो अक्रमुः ।
रयिं कृण्वन्ति चेतनम् ॥ (१ म मन्त्र)

—आचार्य की कृपा से स्वयं अध्ययनशक्ति-सम्पन्न होकर अब नये पवमान सोम (=स्नातक) अपने काम को आगे बढ़ाने लगे हैं। वे संसार को नवीन चेतना देने वाला वाङ्मयरूप धन उत्पन्न करने लगे हैं। (उन्होंने यह प्रक्रम किया है=पग उठाया है)।

स्वायुधस्य ते सतो भुवनस्य पते वयम् ।
इन्दो सखित्वमुश्मसि ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

=हे स्नेहार्द्र भुवनपते! तेरे पास तो हर विद्या के विद्वान् शिष्य हैं। सो, तू सबसे श्रेष्ठ शस्त्रधारी है। हम तेरी मित्रता की नित्य कामना करते हैं।

इस सूक्त में 'अक्रमुः' पद ध्यान देने योग्य है। जिसका अर्थ है—अगले क्रम-प्राप्त स्थान की ओर पग उठाया (क्रमु पादविक्षेपे)।

द्वात्रिंश सूक्त

इसी 'अक्रमुः' पद की ३२ वें सूक्त में फिर आवृत्ति हुई है।

प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनः ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥ (१ म मन्त्र)

—ये सोम, (स्नातक) जिनमें से रस चू रहा है, अब हमारे इन्द्र का यश बढ़ाने के लिये अगले आश्रम-रूप यज्ञ की ओर पग बढ़ाने लगे हैं।

अब तक रस उत्पन्न हो रहा था। अब परिपाक के कारण चूने लगा है। सो, ब्रह्मचारी अब समावर्त्तन संस्कार की ओर आ गये हैं।

यह 'अक्रमुः' पहिले १० वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में आया है। यहाँ ब्रह्मचारी योग्यता-सम्पादन कर अभ्यासार्थ प्रचार कार्य करने लगे हैं, इसलिये यहाँ उन ब्रह्मचारियों का वर्णन है जो इस योग्य समझे गये कि टोलियां बनाकर प्रचारार्थ निकलें।

८ वें सूक्त में उन्होंने व्यासपीठ पर बैठकर 'इन्द्रस्य काममक्षरन्'—इन्द्र के प्यारे रस का झरना बहाया। इससे पहिले बहुवचनान्त सोम ७ वें सूक्त में है। (इन्दवः ७.१)। वहाँ वे 'असृग्रम्'=रचे गये।

९ वें सूक्त में उनमें लोककल्याण का व्रत लिया गया—

महे युवानमा दधुः। इन्दुमिन्द्र तव व्रते ॥ (९.५)

१० वें सूक्त में वे आश्रम के लिये धनसञ्चयार्थ निकल पड़े (=राये अक्रमुः १०.१), क्योंकि वे बुद्धि के द्वार खोलने की योग्यता से सम्पन्न समझे गये (=अप द्वारा मतीनाम् १०.६)

फिर यह 'अक्रमुः' पद २३ वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र में आया है, जहाँ कि वे नवीन रचना के योग्य समझे गये हैं—'अभि विश्वानि काव्या' (१ म मन्त्र), 'पदं नवीयो अक्रमुः (२ य मन्त्र) वे हर प्रकार की मौलिक रचना के योग्य होकर नये-नये विद्यास्थानों में पग रखने लगे।

अब ३१ वें सूक्त में वे स्वयं स्वाध्याय तथा अध्यापन के योग्य होकर राष्ट्र के लिये चेतन धन अर्थात् उत्तम प्रतिभासम्पन्न शिष्य बनाने लगे हैं

रयिं कृण्वन्ति चेतनम् (३१.१)

अब वे चारों ओर अपने इन्द्र का—परमात्मा का अथवा राष्ट्रपति का यश फैलाने के लिये परिपक्व होकर रस चुआने वाले (=मदच्युतः) बनकर अगला पग रखने लगे हैं—

प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनः।
सुता विदथे अक्रमुः ॥ (१ म मन्त्र)

इस नये पग का क्षेत्र कौन-सा है।

'ऋतस्य योनिम् आ' ॥ (४ थं मन्त्र)

—ज्ञान के मन्दिर के चारों ओर अब वे, जिस प्रकार नीरक्षीरविवेकी हंस अपने गण में घुसता है, इसी प्रकार नीरक्षीरविवेकी बनकर विश्व के विद्वानों की मति में घुस गये हैं—

...हंसो यथा गणं विश्वस्यावीविशन्मतिम् ॥ (३ य मन्त्र)

अब उनका गोदान से सत्कार होता है—

'गोभिरज्यते' ॥ (३ य मन्त्र)

यह गोदान से सत्कार समावृत्त स्नातक का होता है, सो, अब समावर्त्तन की ओर पग बढ़ा, इसलिये अब 'अक्रमुः' का प्रयोग हुआ।

वे जहां जाते हैं, लोग इन्हें 'ऋतस्य योनिषु'—'ज्ञान के आसन पर' बैठाकर कहते हैं—

अस्मे धेहि द्युमद् यशो मघवद्भ्यश्च मह्यं च ।
सनिं मेधामुत श्रवः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—हे स्नातकप्रवर ! आप हमारे राष्ट्र के गौरवान्वित लोगों के लिये तथा मेरे लिये (अर्थात् अपने पिता के लिये) देदीप्यमान यश धारण कराइये। आपके पास दो ही तो बांटने योग्य उपहार (सनि) हैं, एक मेधा और दूसरा यश। बस; ये ही हमें दीजिये।

त्रयस्त्रिंश सूक्त

अब अगले सूक्त में तो उनका स्नातक रूप 'बभ्रवः' (३३.२) शब्द से बिलकुल ही स्पष्ट हो गया। स्नातक ही बभ्रु होता है। 'स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः' (अथर्व० ११.५.२६)

ये सोम ऋग्, यजुः, साम—रूप 'तिस्रो वाचः' तीनों प्रकार की गद्य, पद्य, गीतात्मक वाणियों का प्रवचन करते हैं। उस समय उनके मुख से नाना शास्त्रवाणियां धेनुओं के समान रंभाने लगती हैं और तब ये मनोहर विद्वान् स्नातक गद्गद होकर शास्त्रप्रवचन करते-करते स्वयं आनन्द-विह्वल होकर रोने लगते हैं और सबको रुला देते हैं—

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः ।
मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम् । (५ म मन्त्र)

—ये नाना विद्या-रूप ज्ञानमयी ब्राह्मण-प्रसूत माताएं उसके सामने उपस्थित होकर उनका स्तुतिगान करने लगती हैं उन्होंने इस द्यौः के शिशु को—इस नवजात दिव्य बालक नवस्नातक को खूब मांज-मांज कर चमकाया है।

रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
आ पवस्व सहस्रिणः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—हे आचार्य ! तूने विश्वराष्ट्र के कोष में धन के चारों समुद्रों को अर्थात्,

ब्रह्मचर्य = तपःसमुद्र
गृहस्थ = सेवा-समुद्र
वानप्रस्थ = विद्यासमुद्र
संन्यास = भक्तिसमुद्र

इन चारों को भरा है और हर समुद्र में सहस्रों ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। भर दिये हैं। तू इनकी पवित्रता भी सदा बनाये रख।

चतुस्त्रिंश सूक्त

अब वह समाज के संगठन का (=गृहस्थाश्रम का) अङ्ग बनने जा रहा है—

सोमो॑ अर्षति॒ विष्ण॑वे ॥ (२ य मन्त्र)

'सं रू॒पैर॑ज्यते॒ हरि॑ः' ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—वह पहिले ही मनोहर है। अब उसके रूप को निखारने वाले शृङ्गार होने लगे हैं—

···ऋ॒तस्य॑ वि॒ष्टपं॑ दुहते॒ ॥ (५ म मन्त्र)

—वह ज्ञान का सदन है। अब लोग उसका दोहन करने लगे हैं।

पञ्चत्रिंश सूक्त

ब्राह्मण—···'ज्योति॑र्वि॒दासि॑ नः' ॥ (१ म मन्त्र) ब्राह्मण हमारे लिये ज्योति प्राप्त करता है।

इन्दो॑ समु॒द्रमी॑ङ्ख॒य पव॑स्व विश्वमेजय।
रा॒यो ध॒र्त्ता न॒ ओज॑सा ॥ (२ य मन्त्र)

—हे चन्द्र! इस ज्ञान-रूपी धन का तू धर्त्ता है। तू अपनी मधुर वाणी से मानवसमाज-रूपी समुद्र में ज्वार उत्पन्न कर। विश्व को पवित्र कर, एक बार हिलादे। अपनी ओजस्विनी वाणी के प्रताप से हमारे ज्ञानधन का रक्षक बन।

क्षत्रिय—त्वया॑ वी॒रेण॑ वीरवो॒ऽभि ष्या॑म पृतन्य॒तः।
क्षरा॑ णो अ॒भि वार्य॑म् ॥ (३ य मन्त्र)

हे क्षत्रिय-स्नातक! तू ऐसा वीर है जिसकी वीरता संसर्ग से फैलती है। तू हमारे अन्दर ऐसी वीरता भर, ऐसा वरणीय रस बरसा कि उसके प्रताप से हम शत्रुसेनाओं के आक्रमण का सामना कर सकें।

प्र वाज॒मिन्दु॑रिष्यति॒ सिषा॑सन् वाज॒सा ऋषि॑ः।
व्र॒ता वि॑दा॒न आयु॑धा ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—यह वीररसस्नात स्नातक हमारे अन्दर जान डालना चाहता है। यह राजर्षि हमें युद्धविजय की शक्ति दिया चाहता है, इसीलिये यह हमें क्षात्रव्रत भी देता है और शस्त्र भी।

वैश्य— तं गी॒र्भिर्वा॑चमीङ्ख॒यं पु॑ना॒नं वा॑सयामसि।
सोम॒ं जन॑स्य॒ गोप॑तिम् ॥ (५ म मन्त्र)

—यह गोपति (=भूमि तथा गौओं का स्वामी) प्रजा का गोपति है। इस सोम को हम स्तुतिवचनों से बसा देना चाहते हैं। यह अपनी वाणी का भी पति है। लाखों का व्यापार इसकी वाणी के बल पर होता है।

यह सब उस आचार्य की कृपा है—

विश्वो यस्य व्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः।
पुनानस्य प्रभूवसोः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सारा ही व्रतधारी जगत् जिस धर्मस्थापक, प्रभुत्वपूर्वक विश्व में बसने वाले विद्वान् के द्वारा व्रत में दीक्षित होकर अपने-अपने वर्णधर्म को धारण करता है।

षट्त्रिंश सूक्त

ऊपर चारों वर्णों का वर्णन हुआ। अब आश्रमों का लीजिये—

स विश्वा दाशुषे वसु सोमो दिव्यानि पार्थिवा।
पर्वतामान्तरिक्ष्या ॥ (५ म मन्त्र)

—वह सोम (=आचार्य) अपने भक्त के लिये (=दाशुषे) जो दिव्य (=वानप्रस्थगत), पार्थिव (=ब्रह्मचर्यगत) तथा आन्तरिक्ष्य (=गृहस्थाश्रमगत) विद्या, तप तथा सेवा-रूप धन देता है। उन तीनों धनों को वह सदा पवित्र करता रहे।

'दिवस्पृष्ठं······रोहसि' ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे सोम! तू देवलोक की भी पीठ पर अर्थात् उससे परे 'स्वः' तक आरोहण करता है।

सप्तत्रिंश सूक्त

अब ऐसे उत्तम स्नातक उत्पन्न करने वाले आचार्य का स्थान-स्थान पर निमन्त्रणपूर्वक कैसा स्वागत करते हैं? इसका ३७ वें सूक्त से आरम्भ होता है।

स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति।
विघ्नन् रक्षांसि देवयुः ॥ (१ म मन्त्र)

इस आचार्य को प्रजा ने इसी लिये चुना था (=सुतः) कि इसके स्नातक रस बनें और प्रजा रस का पान करे। आज यह सफल आचार्य सच्चा देवभक्त (=देवयुः) कहलाकर बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के राक्षसों का नाश करता हुआ पवित्र आसन पर बैठता है।

स देवः कविनेषितः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

इस देव को आसन पर बैठाकर कवि इसका गुणगान करते हैं।

अष्टात्रिंश सूक्त

एष उ स्य वृषा रथोऽव्यो वारेभिरर्षति ।
गच्छन् वाजं सहस्रिणम् ॥ (१ म मन्त्र)

इसके भक्त प्रिय शिष्य-गण विजययात्रा के समय इसके रथ को घेर लेते हैं और उन शिष्य परिवारों (=वारेभिः) से घिरा हुआ यह सहस्रों के साथ होने वाले संग्राम में पहुँचता है ।

एतं त्यं हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
याभिर्मदाय शुम्भते ॥ (३ य मन्त्र)

कर्मयोग की प्यारी दशों दिशाएँ इसको कीर्त्तिगान द्वारा चमकाती हैं जिन्हें हर्षित करने के लिये यह वीर रथ पर सवार होता है ।

एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।
गच्छञ्जारो न योषितम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यद्यपि यह देवलोकवासी है अर्थात् वानप्रस्थी है—रोचना दिवः पवमानो वि धावति ॥ (३७.३), परन्तु आज मनुष्य-प्रजा अर्थात् साधारण गृहस्थ लोगों में लक्ष्यगामी श्येन के समान बैठा है । इसकी पूजा प्रजा इस प्रेम से करती है, जैसे, नायिका नायक की ।

एकोनचत्वारिंश सूक्त

आशुरर्ष बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना ।
यत्र देवा इति ब्रवन् ॥ (१ म मन्त्र)

परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निषः ।
वृष्टिं दिवः परि स्रव ॥ (२ य मन्त्र)

हे बृहन्मते आचार्य ! अपने इस प्रिय धाम वानप्रस्थाश्रम में इतने दिन तुमने खूब ख्याति कमाई है । जिनका कोई निस्तार नहीं था उन पतितों तक का परिष्कार किया । जनता का अन्न खाकर उस ऋण का भली प्रकार निर्यातन किया । अब तुम शीघ्र उस स्थान पर पहुँचो जहाँ सब विद्वान् मिलकर आपसे कहें कि—'अब तक तुम वानप्रस्थाश्रम में कूपवृत्ति से प्रतिष्ठित होकर अपने पास आने वाले शिष्यों की प्यास बुझाते थे । अब शीघ्र संन्यासी बनकर—पर्जन्य-वृत्ति से स्थान-स्थान पर पहुँचकर ज्ञान की धारा बरसाओ ।'

किं च, सब विद्वान् कहें कि—

सुत एति पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा ।
विचक्षाणो विरोचयन् ॥ (३ य मन्त्र)

यह देखो यह विद्वान् संन्यासी होकर अपने ओज से पहिले से भी अधिक जगमगाहट धारण करता हुआ शास्त्रों की व्याख्या से सारे संसार में ज्ञान की रुचि उत्पन्न करता हुआ आज पवित्र आसन पर आता है।

अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ।
सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

यह है वह आचार्य जो अब वानप्रस्थ से भी ऊपर स्वर्लोक में तीव्र गति से जा रहा है। जब यह बोलता है तो ज्ञान और आनन्द का सागर हिलोरे मारने लगता है।

आ विवासन् परावतो अथो अर्वावतः सुतः।
इन्द्राय सिच्यते मधु ॥ (५ म मन्त्र)

यह सच्चे गुरुओं का योग्य शिष्य (सुतः) दूर वालों और पास वालों को पवित्र करता हुआ आता है। जब बोलता है तो प्रभुभक्ति का मधु श्रोताओं को सींचने लगता है।

समीचीना अनूषत हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः।
योनावृतस्य सीदत ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

चारों ओर सभामण्डप में यही बात सुनाई देती है। हे धर्म प्रेमी श्रोता लोगो! आज अखण्ड-चरित्र शिष्यों से (=अद्रिभिः) घिरे हुए इस आचार्य को सभामण्डप में लारहे हैं। इस ज्ञानमन्दिर में (=ऋतस्य योनौ) सब समीचीन भाव से इसका स्तुतिगान करो और ठीक-ठीक अपने स्थान पर बैठ जाओ।

चत्वारिंश सूक्त

पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ (१ म मन्त्र)

ब्रह्मचर्याश्रम में इन्द्रियविकारों से लड़कर सब शत्रुओं को जीतता हुआ, गृहस्थाश्रम में अकर्मण्य समाजविरोधियों से जूझता हुआ और वानप्रस्थ में फिर ब्रह्मचर्य धारण करता हुआ यह सूक्ष्मदर्शी विद्वान् क्रमशः अपने जीवन को पवित्र करता हुआ इस वानप्रस्थ तथा संन्यास की सन्धि तक पहुँचा है। सब लोग अपने पूर्ण परिश्रम से इस ब्राह्मण की पूजा करते हैं।

द्विबर्हसं उक्थ्यं रयिम् आभर (···आ भर···द्विबर्हसं रयिम्। उक्थ्यम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र) हे सोम! हमें उभय-लोक-कल्याण-कारी उत्तम उपदेश-रूप धन दीजिये।

एकचत्वारिंश सूक्त

वे उपदेश कैसे हैं?

---

* इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। (पाणिनि, अष्टा० २। ३। २१)

प्र ये गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥ (१ म मन्त्र)

—जिस प्रकार सायङ्काल घर लौटती गौएँ तीव्रगति से आती हैं, इसी प्रकार हमें बछड़े जानकर, आचार्य के उपदेश तीव्रगामी होकर (भूर्णयः) आगे बढ़ने का उत्साह भरते हुए (अयासः) बड़े नपे-तुले शब्दों में युक्ति-युक्त क्रमबद्ध होकर आचार्य के मुख से हमारे हृदय में पादक्षेप करते हैं (अक्रमुः) और काली तह को उधेड़ डालते हैं ।

यह काली तह क्या है ?

पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत् ।
कृष्णा तमांसि जङ्घनत् ॥ (९.६६.२४)

—उस पवमान आचार्य ने विशाल जगमगाती ज्ञान-ज्योति को उत्पन्न किया और काले अन्धकार को मार भगाया ।

दृष्टान्त—'अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचम्' ॥ (९.८६.४४)

—यह सोम वानप्रस्थाश्रम में तपद्वारा अपने पिछले मलों से इस प्रकार बाहर आ जाता है। जैसे, साँप केंचुली से, इसीलिये ८.४८.५ में सोम के शिष्यों अथवा उपदेशों के विषय में कहा है—

'ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रात्' ॥

वे पवित्र शिष्य अथवा उपदेश मुझे चरित्रभ्रष्ट होने से बचावें ।

फिर भी ग्रिफिथ इस मन्त्र के अनुवाद में Driving the blackskih far away पर टिप्पणी देते हैं—

'Rakshasas or darkskined Dasyus or hostile aboriginals.' अब इसे धांधली नहीं कहें तो क्या कहें । किसी राष्ट्र की गुलामी जो रंग दिखाये वही थोड़ा है ।

अगले ही मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि, हे सोम !

'साह्वांसो दस्युमव्रतम्' ॥ (२ य मन्त्र)

तेरी कृपासे हम व्रतहीन दस्युओं का सामना कर सकें । यह तो नहीं कहा कि—'दस्युम् गौरवर्णहीनम्' ।

जब सोम व्याख्यान देने बैठता है तो—

शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥ (३ य मन्त्र)

४६

उसका मेघ के समान गम्भीर गर्जन सुनाई देता है तथा उपदेशधारा इस प्रकार झड़ती है मानो सावन की झड़ी लगी हो। बीच-बीच में जब वह कोई चमत्कारी बात कहता है तो बिजली सी कौंध जाती है।

आ पवस्व मही मिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत्।
अश्वावद् वाजवत् सुतः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे स्नेहार्द्र आचार्य ! हमारी इस सन्तान-रूप महान् सम्पत्ति को पवित्र कीजिये। हमें गोमान्, हिरण्यवान्, अश्ववान् और वाजवान् बनाइये, इसीलिये तो आपका सवन किया गया है।

आ पवस्व विचर्षण आ मही रोदसी पृण।
उषाः सूर्यो न रश्मिभिः ॥ (५ म मन्त्र)

हे सूक्ष्मदर्शिन् ! हमारे जमीन-आसमान दोनों को अपने उपदेश से तर कर दें। ऐसा रंग चढ़ा, जैसा, सूर्य उषाकाल में अपनी रश्मियों से चढ़ाता है। चारों ओर नया उत्साह हो। नया जीवन हो।

परि णः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः।
सरा रसेव विष्टपम् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

हे सोम ! हमारे डेरे को (=विष्टपम्) अपनी शरणदायिनी मधुर धारा से इस प्रकार चारों ओर से आवेष्टित कर ले कि चारों ओर रस का समुद्र हो और बीच में हमारा डेरा।

द्वाचत्वारिंश सूक्त

सब कहते हैं—

जनयन् रोचना दिवो जनयन्नप्सु सूर्यम्।
वसानो गा अपो हरिः ॥ (१ म मन्त्र)

यह आचार्य साधारण मनुष्यों में ('मनुष्या वा आपः' शत. ७.३.१.२०) विद्यारूप (=गाः) वस्त्र पहिने हुए वानप्रस्थाश्रम के लिये सबके हृदय में अपने आचरण से रुचि उत्पन्न करता हुआ और प्रजाओं में वीर्य उत्पन्न करता हुआ—

एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि।
धारया पवते सुतः ॥ (२ य मन्त्र)

—जब सुत होता है अर्थात् आग्रहपूर्वक उपदेश देने के लिये प्रार्थित होता है तो यह अपने सम्पूर्ण पुराने मनन से चारों ओर बैठे हुए विद्वानों के लिये ज्ञानधारा द्वारा पवित्रता उत्पन्न करता है।

देखो तो सही—

वाचृधानाय तूर्वये पवन्ते वाजसातये ।
सोमाः सुहस्रपाजसः ॥ (३ य मन्त्र)

इसकी कृपा से जब दुष्टों द्वारा सज्जनों पर आक्रमण होता है तो इसके द्वारा सुशिक्षित सहस्रबल-धारी स्नातक लोग उस बढ़ते हुए भयङ्कर हिंसामय (तूर्वये) सङ्ग्राम के लिये अपना पवित्र जीवन अर्पित करते हुए उस रणक्षेत्र को पवित्र करते हैं।

अभि विश्वानि वार्याऽभि देवाँ ऋतावृधः ।
सोमः पुनानो अर्षति ॥ (५ म मन्त्र)

जहाँ कहीं भी कोई वरणीय समारम्भ हो, जहाँ ज्ञानवृद्धि के लिये विद्वान् इकट्ठे हों, वहीं उस क्षेत्र को पवित्र करता हुआ यह लोक-पावन आचार्य पहुँचता है।

त्रिचत्वारिंश सूक्त

लोग कहते हैं—

......गीर्भिः परिष्कृतः ।
विप्रस्य मेध्यातिथे ॥ (३ य मन्त्र)

धन्य है वह पवित्र भावनाओं और कर्मों का अतिथिवत् आदर करने वाला मेधावी गुरु जिसकी वाणियों से परिष्कृत होकर यह आचार्य सभाओं में जाता है।

पवस्व वाजसातये विप्रस्य गृणतो वृधे ।
सोम रास्व सुवीर्यम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे आचार्य ! हमें युद्ध के लिये अथवा अन्नदान के लिये तथा शास्त्र-प्रवचन करने वाले ब्राह्मण की वृद्धि के लिये पवित्र कर। हमें उत्तम वीर्य प्रदान कर।

चतुश्चत्वारिंश सूक्त

मती जुष्टो धिया हितः सोमो हिन्वे परावति ।
विप्रस्य धारया कविः ॥ (२ य मन्त्र)

रातदिन बुद्धि के क्षेत्र में प्रीतिपूर्वक लगा हुआ कर्मयोग से प्रेरित यह आचार्य, परे से परे अर्थात् दूर से दूर पहुँचता है और यह कवि विद्वान् की धारा से उन्हें पवित्र करता है।

.......'विप्रवीरः सदावृधः' ॥ (५ म मन्त्र)

यह सदा बढ़ाने वाला ब्राह्मण वीर है।

पञ्चत्वारिंश सूक्त

स पवस्व मदाय कं नृचक्षा देववीतये ।
इन्दविन्द्राय पीतये ।। (१ म मन्त्र)

हे आचार्य ! आप नृचक्षाः हैं=मनुष्य की ठीक पहिचान कर सकते हैं । देवों का भोजन है—लोकहितकारी विद्वान् का दिया हुआ रसमय ज्ञान, सो, इन्द्र को अर्थात् राजा को अपने अथवा अन्य आचार्यों के शिष्यों से परिचित कराइये और ऐसे योग्य मनुष्य उसकी सभा तक पहुँचाकर उसकी सभा को पवित्र कीजिये; जिससे सब वहाँ मस्ती में झूमते रहें (मदाय कम्) ।

स नो अर्षाभि दूत्यं१ त्वमिन्द्राय तोशसे ।
देवान्त्सखिभ्य आ वरम् ।। (२ य मन्त्र)

देवों को सदा उत्तम मित्र की आवश्यकता होती है । सो, चारों ओर से चुन-चुन कर देवों तक योग्य मनुष्य पहुँचाइये । हे आचार्य ! हम मानवराष्ट्र के निवासी सदा इन्द्र की सभा में योग्य मनुष्य पहुँचाना चाहते हैं । आप हमारी ओर से यह भेंट (चुने हुए मनुष्य=आ वरम्) इन्द्र तक पहुँचावें । हमारा दूतत्व स्वीकार कीजिये और ऐसे मनुष्य पहुँचाइये कि वह सदा सन्तुष्ट रहे ।

...वाजी धुरं न यामनि ।
इन्दुर्देवेषु पत्यते ।। (४ र्थ मन्त्र)

आपका भेजा हुआ हर स्नातक (=इन्दु) जिस कार्य को सम्भाले उसे ऐसी अच्छी प्रकार निभावे, जैसे, उत्तम घोड़ा रथ में जुता हुआ यात्रा में रथारोही को प्रसन्न करता है ।

षट्चत्वारिंश सूक्त

परिष्कृतास इन्दवो योषेव पित्र्यावती ।
वायुं सोमा असृक्षत ।। (२ य मन्त्र)

एक आध नहीं, आपके द्वारा परिष्कृत सब ही स्नातक ऐसी हवा बहावें कि सर्वत्र उनका सौरभ फैल रहा हो और आप भी यह समझें कि यह मेरा स्नातक विद्या तथा चरित्र से अलङ्कृत पुरुष नहीं, अपितु मानो विद्याव्रतालङ्कृता कन्या पितृकुल से पतिकुल में जा रही है । गुरुकुल की लाज इसके हाथ में है ।

...इन्द्रं वर्धन्ति कर्मभिः ।। (३ य मन्त्र)

ये स्नातक जहाँ जावें, सब कहें कि इन्होंने अपने कर्मों से परमात्मा की भक्ति अथवा राष्ट्रपति का यश बढ़ाया है ।

सप्तचत्वारिंश सूक्त

अया सोमः सुकृत्यया महश्चिदभ्यवर्धत ।
मन्दान उद् वृषायते ॥ (१ म मन्त्र)

हे आचार्य ! सुनो, इस प्रकार के उत्तम स्नातक उत्पन्न करने रूप सुकृत्या से ही आचार्य की महिमा वढ़ती है और वह फूला नहीं समाता । उभर-उभर आता है ।

कृतानीदस्य कर्त्वा चेतन्ते दस्युतर्हणा ।
ऋणा च धृष्णुश्चयते ॥ (२ य मन्त्र)

लोग उसके कृत और कर्त्तव्य दोनों प्रकार के दस्युनाशक कर्मों की सर्वत्र चर्चा करते हैं, परन्तु वह केवल पिछली कमाई पर नहीं जीता, हर वर्ष नये से नये स्नातक उत्पन्न करके जनता पर ऋणों का पहाड़ चिनता जाता है, इसीलिये स्नातकों को ४६.१ में 'पर्वतावृधः' कहा गया है ।

आत् सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा भुवत् ।
उक्थं यदस्य जायते ॥ (३ य मन्त्र)

इस आचार्य का जो उक्थम् अर्थात् वचन उत्पन्न होता है वह दुष्टों के लिये वज्र, और भक्तों के लिये सहस्रों का दाता है ।

अष्टचत्वारिंश सूक्त

तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं···चारुं सुकृत्ययेमहे ॥ (७ म मन्त्र)

हे आचार्य ! महान् देवलोक के (=विद्वत्सभा के) सभामञ्च पर बैठे हुए, हमारे लिये ऐसे योग्य विद्वद्रत्न भेंट करने वाले, सुकृत्यावान् और चारुचरित्रचर्चित आपके सम्मान के लिये हम भी सुकृत्या ही भेंट करते हैं ।

···'शतं पुरो रुरुक्षणिम्' ॥ (२ य मन्त्र)

आपका एक भी स्नातक हमारे अन्दर इतना उत्साह भरता है कि हम सैंकड़ों शत्रु-दुर्गों पर घेरा डालने में समर्थ हो जाते हैं ।

एकोनपञ्चाश सूक्त

६४ वें सूक्त से गृहस्थाश्रम का आरम्भ होगा । गृहस्थाश्रम के दो अंग हैं—स्नातक और स्नातिका , स्नातक का वर्णन किया गया है । अब आचार्य से उत्तम स्नातिका मांगी गई है—

तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् ।
जन्यास उप नो गृहम् ॥ (२ य मन्त्र)

हे आचार्य ! अपनी उस पवित्र ज्ञानधारा का प्रवाह भी बहाइये जिससे नाना शास्त्रपारङ्गत (=गावः) और वीर पुत्रों को जन्म देने में समर्थ (=जन्यासः) कन्याएँ वधू होकर हमारे घरों में आवें।

उत्तम स्नातक भी सोम है। 'एष वा अत्र सोमो भवति यत् सोमक्रयणी' (शत० ३.३.१ ११) सोमयाग में गाय देकर सोम खरीदा जाता है अर्थात् स्नातिका देकर स्नातक खरीदा जाता है। जिस प्रकार स्नातक, लड़कों के गुरुकुल में किये गये सवन का परिणाम है, इसी प्रकार स्नातिका कन्यागुरुकुल के सवन का परिणाम है। इसीलिये स्नातिका का प्रतीक सोमयाग में गाय को रक्खा है, परन्तु है वह भी सोम। गाय के सम्बन्ध में सोम शब्द का प्रयोग अन्य किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इसीलिये कहा कि इस सोमयाग में सोमक्रयण के प्रसंग में सोमक्रयणी गाय भी सोम है।

पञ्चाश सूक्त

हे आचार्य !

उत्ते शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः ।
वाणस्य चोदया पविम् ॥ (१ म मन्त्र)

—तेरे सिखाये हुए ओजस्वी व्याख्याता ही तेरा बल हैं। जब वे बोलने खड़े होते हैं तो मानो समुद्र की विशाल लहरों का गम्भीर नाद उठ रहा हो। तू इस वंशी का चक्र चला।

प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः ।
यदव्य एषि सानवि ॥ (२ य मन्त्र)

—जब तू सबके रक्षणीय अथवा माननीय (=अव्ये) व्याख्यान-मञ्च के शिखर पर पहुँचता है तो यज्ञ की आधारभूत गद्य, पद्य, सङ्गीत (ऋग्यजुः-साम) तीनों प्रकार की वाणियाँ मानव-समाज को ऊँचा उठाती हैं।

एक-पञ्चाश सूक्त

तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यश्नते ।
पवमानस्य मरुतः ॥ (३ य मन्त्र)

—हे रसार्द्र सोम ! तेरा दिया हुआ अन्न मधुर तथा वीररस से परिपूर्ण है, जिसे खाकर सैनिक (=मरुतः) पवित्र होते है।

अभ्यर्ष विचक्षण पवित्रं धारया सुतः ।
अभि वाजमुत श्रवः ॥ (५ म मन्त्र)

—हे विचक्षण ! जब तुझे आग्रहपूर्वक कहें (=पीडन करें) [=सुतः] तब तू अपनी रस-धारा से पवित्र व्याख्यान-पीठ पर जा। वहाँ तू सारे सैनिकों को वीर रस और यश की ओर बढ़ने के लिये प्रेरणा कर।

द्विपञ्चाश सूक्त

तवं प्रत्नेभिरध्वंभिरव्यो वारे परि प्रियः ।
सहस्रधारो यात्तना ॥ (२ य मन्त्र)

—वह तेरा अति प्रिय रस जिसे अपने चुने हुए मार्ग में सबको सुरक्षित रखना है (वारे=वरणीये, अव्यः=रक्षणीयः) प्राचीन मर्यादाओं के मार्ग से होता हुआ, वर्त्तमान युग में सहस्रों धाराओं में विस्तीर्ण होता हुआ प्रवाहित हो ।

त्रिपञ्चाश सूक्त

उत्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः ।
नुदस्व याः परिस्पृधः ॥ (१ म मन्त्र)

हे पर्वत के समान अदीर्ण सेनानायक ! तेरे पराक्रम राक्षसों को नष्ट करते हुए खड़े हैं। तेरे चारों ओर जो तुझ से ईर्ष्या करते हैं उन्हें मार भगा ।

'रुज यस्त्वा पृतन्यति' ॥ (३ य मन्त्र)

जो तुझ पर सेना लेकर आक्रमण करे उसे नष्ट कर दे ।

तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम् ।
इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—उस सेनापति को— (जो आचार्य का योग्य शिष्य है) जो मनोहर है, जिसके अङ्ग-अङ्ग से आनन्द चू रहा है और जो वीररसार्थ जवान है उस सदा मस्त सेनापति को, योग्य जानकर सब लोग नाद करती हुई आक्रमणकारी सेनाओं में भेजते हैं, जिससे इन्द्र की विजय हो ।

चतुःपञ्चाश सूक्त

'अयं सूर्यं इवोपदृक्' ॥ (२ य मन्त्र)

—यह सेनापति सूर्य के समान दीखता है ।

पञ्च-पञ्चाश सूक्त

हे आचार्य ! तेरे सेनापति-शिष्य से सब कहते हैं—

यवंयवं नो अन्धसा पुष्टंपुष्टं परि स्रव ।
सोम विश्वा च सौभगा ॥ (१ म मन्त्र)

—हे वीर सेनापते ! हमारे उपहार किये हुए एक-एक दाने को तू अपनी पाचनशक्ति से पुष्टि-पुष्टि का रूप देकर अपनी रुधिरवाहिनी नाडियों में प्रवाहित कर और सब प्रकार के सौभाग्यों की धारा बहा दे ।

यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य ।
स पवस्व सहस्रजित् ।। (४ र्थ मन्त्र)

—हे सेनापते ! तू अकेला सहस्रों को जीतने का सामर्थ्य रखता है । तू वह है जो शत्रु के सामने पहुँचकर सदा जीतता है कभी जीता नहीं जाता । सो, तू हमें पवित्र कर ।

षट्-पञ्चाश-सूक्त

त्वमिन्द्राय विष्णवे स्वादुरिन्दो परि स्रव ।
नॄन्त्स्तोतॄन् पाह्यंहसः ।। (४ र्थ मन्त्र)

—हे सोम ! तू केवल राजा के लिये नहीं, अपितु सारे मानवराष्ट्र के संगठन के लिये (=विष्णु) है । तू इनके लिये स्वादु होकर प्रवाहित हो और अपने भक्त मनुष्य को पाप से बचा ।

सप्त-पञ्चाश सूक्त

'राजेव सुव्रतः' ।। (३ य मन्त्र)

—वह सोम राजा के समान प्रजाकल्याण का उत्तम व्रत धारण करता है ।

अष्टापञ्चाश सूक्त

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत् स मन्दी धावति ।। (१ म मन्त्र)

—जो मस्त पुरुष (=मन्दी) सवन किये हुए अन्न की धारा को शुद्ध करता है अर्थात् शुद्ध भावना से ग्रहण करता है वह तर जाता है और देने वाला भी वह तर जाता है ।

ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे ।
तरत् स मन्दी धावति ।। (३ य मन्त्र)

—जो 'ध्वस्र' है=आर्थिक दृष्टि से बर्बाद हो गया है अथवा 'पुरुषन्ति' है=रोगादिजन्य शारीरिक दुर्बलता से उसका पुरुषत्व समाप्त हो गया है, ऐसे व्यक्ति से भी लोककल्याण के लिये हम दान ले लेते हैं और उसे सोम के उपदेशानुसार लोक-कल्याण में लगा देते हैं, तो वह मस्त, उस दान देने वाले को शुद्ध कर देता है और तब वह तर जाता है ।

एकोनषष्ट सूक्त

अधिक क्या कहें—

त्वं सोम पवमानो विश्वानि दुरिता तर ।
कविः सीद नि बर्हिषि ।। (३ य मन्त्र)

—हे सोम ! आप हमें पवित्र करते हुए, प्रतिग्रह से ही नहीं सब प्रकार के दुष्कर्मों से (दुष्कर्मों के फल से नहीं) पार उतारिये । आप क्रान्तदर्शी कवि हैं। हमारे सामने इस आसन पर बैठिये।

पवमान स्वर्विदो जायमानोऽभवो महान् ।
इन्दो विश्वाँ अभीदसि ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—हे सोम ! जब प्रजा ने आचार्य-पद के लिए आपका वरण किया था, उस समय आचार्यत्व के जन्म काल में ही आप महान् थे, अब तो आपने अनेक शिष्य बनाये । बहुतेरे संन्यासी भी हो गये। आप भी अब स्वः तक पहुँच गये हैं, सो, अब तो आप सबके सामने अकेले बड़े हैं।

षष्टितम सूक्त

प्र गायत्रेण गायत पवमानं विचर्षणिम् ।
इन्दुं सहस्रचक्षसम् ॥ (१ म मन्त्र)

—हे लोगो ! इस सूक्ष्मदर्शी, लोक-पावन और सहस्रों गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या करने वाले आचार्य की सङ्गीत द्वारा स्तुति गाओ । यह संसार को आर्द्र करने वाला है ।

तं त्वा सहस्रचक्षसमथो सहस्रभर्णसम् ।
अति वारमपाविषुः ॥ (२ य मन्त्र)

—हे आचार्य ! आपने न केवल सहस्रों गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या की है, किन्तु सहस्रों योग्य शिष्यों का भरणपोषण भी किया है। जिन्होंने आपका आचार्य-पद के लिये वरण किया था; उस 'वार' को (=निर्वाचक मण्डल को) आपके ये यशोगान अति पवित्र कर गये ।

अति वारान् पवमानो असिष्यदत् कलशाँ अभि धावति ।
इन्द्रस्य हार्द्याविशन् ॥ (३ य मन्त्र)

—केवल गुरुकुल के आचार्यत्व के लिये ही नहीं, न जाने कितने चुनाव करने वालों ने आप को भिन्न-भिन्न पदों के लिये चुना और उन सब चुनाव करने वालों को (=वारान्) पवित्र करते हुए आप 'कलश' तक (जहाँ निर्वाचित लोग मधुरभाषा में निर्वाचकों का धन्यवाद करते है वहाँ तक) अर्थात् व्याख्यानमञ्चों पर पहुँचे । उस समय आप इन्द्र के (=परमात्मा के अथवा राष्ट्रपति के) हृदय में घुस गये-इन्द्र के प्यारे हो गये ।

इन्द्रस्य सोम राधसे शं पवस्व विचर्षणे ।
प्रजावद् रेत आ भर ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—हे सूक्ष्मदर्शिन् आचार्य ! इन्द्र की आराधना के लिये अब आप संसार में पवित्र शान्ति

४७

स्थापित कर दीजिये (श्मशान की अपवित्र शान्ति नहीं) और वह वीर्य उत्पन्न कीजिये जो चाहे तो ऊर्ध्वगामी होकर ऋतम्भरा पैदा करे चाहे अधोगामी होकर उत्तम सन्तान पैदा करे (व्यर्थ कभी न जावे)।

एकषष्टितम सूक्त

इस सूक्त में बताया गया है कि राष्ट्र के सब ही विभागों को उत्तम स्नातकों की आवश्यकता है, इस लिये सब देव मिलकर कहते हैं—

······ते वयं······।
सखित्वमा वृणीमहे ॥ (४ थं मन्त्र)

७ वें मन्त्र से देवों का वर्णन आरम्भ होता है। सबसे पहिला सख्य आदित्यों से है।

सिन्धु अर्थात् नदियाँ—जिनके तट पर *तपोवन बनते हैं वे तो अपने योगाभ्यासोपयोगी+ मधुर स्वर से आचार्य को लोरियां देती ही हैं, इसीलिये उसे 'सिन्धुमातरम्' कहा है।

फिर इन्द्र,वायु, सूर्य, भग, पूषा, मित्र, वरुण, यजमान (इन्द्राय यज्यवे वरुणाय) और मरुत् आदि सब देव उसके पास स्नातक मांगने जाते हैं। इन्द्र (=राष्ट्रपति) का तो वह 'हृदंसनिः' है ही। १४ वें मन्त्र तक यही प्रसंग है।

हे आचार्य! उक्थ्य समुद्र अर्थात् वाङ्मय के समुद्र को बढ़ा—

···वर्धा समुद्रमुक्थ्यम् ॥ (१५ श मन्त्र)

इन्द्रादि देवों की बात तो क्या, मनुष्यमात्र का हित हो—

···ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ (१६ श मन्त्र)
पवमान रसस्तव दक्षो विराजति द्युमान्।
ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥ (१८ श मन्त्र)

—इस १८ वें मन्त्र में तो स्पष्ट कहा है कि, हे आचार्य! आपका ज्ञान-रस वीर्य-रूप (दक्षः शत० ८. २.१.६) होकर विराजता है। वह देदीप्यमान रस है। वह, वह ज्योति है जिससे सारे विश्व को परमसुख का दर्शन हो जाता है।

इन सब देवों की सहायता के लिये, हे आचार्य—

···'सोमं व्रतेषु जागृहि' ॥ (२४ श मन्त्र)

—आप अपने व्रतियों (ब्रह्मचारियों) के व्रतपालन के विषय में पूर्णरूप से जागरूक रहिये जिससे वे अपने व्रत में सफल हों।

---

* उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥ यजुः २६.१५ ॥
+अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ न्यायदर्शन ४।२।४२ ॥

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ (६१.२५)

—इस प्रकार आप इन्द्र की ओर से ऋणमुक्त हों।

द्वाषष्टितम सूक्त

वह सोम—

'गिरा जातः'······॥ (१५ श मन्त्र)

अपनी अध्यापनप्रगल्भ वाणी से तथा शिष्यों के साथ 'मम व्रते ते हृदयं दधामि' इस प्रतिज्ञा से उत्पन्न हुआ है अर्थात् इस वचनपाश में यज्ञोपवीत द्वारा बंधकर गुरु-शिष्य एक साथ उत्पन्न होते है, इसलिये आचार्य भी 'गिरा जातः' है और स्नातक भी।

तं त्रिपृष्ठे त्रिवन्धुरे रथे युञ्जन्ति यातवे।
ऋषीणां सप्त धीतिभिः ॥ (१७ श मन्त्र)

—राजा, प्रजा तथा परमात्मा ये तीन आचार्य के पृष्ठपोषक हैं। इन तीन के सम्बन्ध में वह शिक्षा देता है तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन के बन्धनों से बंधे हुए जीवन-रथ को वह 'स्वः' तक खेंचकर ले जाता है। पञ्चज्ञानेन्द्रियलब्ध पांच प्रकार का प्रत्यक्ष, छठा अनुमान और सातवाँ शब्द प्रमाण इन ७ ऋषियों की प्रज्ञा से रथ में उसे जोता जाता है।

त्रिषष्टितम सूक्त

अब वह उक्थ्य समुद्र से अगले समुद्र में अर्थात् गृहस्थाश्रम में अपने शिष्यों द्वारा प्रवेश करने लगा है, सो, यहाँ ६३वें सूक्त में स्पष्ट स्नातकों का वर्णन है।

एते असृग्रमाशवोऽति ह्वरांसि बभ्रवः।
सोमा ऋतस्य धारया ॥ (४ र्थं मन्त्र)

—इस आचार्य द्वारा ज्ञान-धारा के साधन से ये बभ्रु सोम (स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते) (अथर्व० ११.५.२६ ॥) अर्थात् स्नातक रचे गये हैं (=असृग्रम्)। ये शास्त्रों पर अधिकार रखते हैं (आशवः) और संसार-सागर के भंवरों से पार होने की शिक्षा पा चुके हैं (=अतिह्वरांसि)।

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः ॥ (५ म मन्त्र)

सुता अनु स्वमा रजोऽभ्यर्षन्ति बभ्रवः।
इन्द्रं गच्छन्त इन्दवः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—हर कार्य को समाप्ति तक पहुँचाये बिना दम न लेने वाले (=अप्तुरः), परमात्मा का राज्य ज्ञानहीन प्रजा में ज्ञानप्रसार द्वारा बढ़ाते हुए, सारे विश्व को आर्य बनाते हुए तथा जिनको

जो देय है उसे न देने वाले दुष्टों का नाश करते हुए और इन्द्र (=परमात्मा तथा तदनुवर्ती राजा) की ओर जाते हुए ये आर्द्र हृदय (=इन्दवः) बभ्रु स्नातक अब आचार्यकुल से निकलकर अपने-अपने देदीप्यमान कार्यक्षेत्र की ओर (=स्वं रजः) प्रस्थान करते हैं (=अर्षन्ति) ॥

चतुःषष्टितम सूक्त

अब आचार्य अपने स्नातक से कहता है—

वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
वृषा धर्म्माणि दधिषे ॥ (१ म मन्त्र)

वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा मदः ।
सत्यं वृषन् वृषेदसि ॥ (२ य मन्त्र)

—हे मेरे प्रिय स्नातक (=सोम) ! तू विद्या से भी देदीप्यमान है और व्रत से भी । तूने जो कुछ ब्रह्मचर्याश्रम में संग्रह किया है अब उसकी वर्षा का व्रत तूने लिया है (वृषा देव वृषव्रतः) और जिस प्रकार बैल मजबूत कन्धों पर गाड़ी धारण करता है, तू भी उसी प्रकार धारणीय वस्तुओं को धारण करता है ।

—हे वृषन् ! तुझमें वृषभ का बल है । अब यह सुखवर्षी गृहस्थाश्रम ही तेरा तपोवन है और यही तेरी मस्ती है । अब इतनी वर्षा करने में तू समर्थ हो गया है, इसलिये हम कहते हैं कि तू सचमुच वृषा ही है ।

प्रजाजन आचार्य की प्रशंसा में कहते हैं—

पवमानस्य विश्ववित् प्र ते सर्गा असृक्षत ।
सूर्यस्येव न रश्मयः ॥ (७ म मन्त्र)

—हे संसार भर को पवित्र करने वाले, विश्वविद्यालय के विश्ववित् आचार्य ! ये तेरे रचे हुए स्नातक सचमुच खूब ठीक रचे गये हैं (प्र + असृक्षत) । तू सूर्य है और ये तेरे स्नातक तेरी किरणों के समान हैं ।

केतुं कृण्वन् दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि ।
समुद्रः सोम पिन्वसे ॥ (८ म मन्त्र)

—हे आचार्य ! इन शिष्यों द्वारा तेरा झण्डा वानप्रस्थाश्रम (=दिवः) से भी परे गड़ गया है अर्थात् तेरे अनेक शिष्य संन्यासी तक हो गये हैं । नाना शिष्यों की कीर्ति द्वारा तू सारे ही रूपों तक पहुँच गया है अर्थात् हर विद्या के क्षेत्र में शिष्यों के रूप में तू ही दीख रहा है । हे सोम ! =हे आचार्य ! आज तो सचमुच तू इन शिष्यों के कारण विद्या का समुद्र कहलाकर शोभायमान हो रहा है ।

मिमाति वह्निरेतशः पदं युजान ऋक्वभिः ।
प्र यत् समुद्र आ हितः ॥ (१९ श मन्त्र)

—हे आचार्य ! गृहस्थाश्रम का बोझ वहन करने में समर्थ तेरा शिष्य (=वह्निः) जो कि शास्त्रों में पारङ्गत है (=एतशः=घोड़े के समान शास्त्राभ्यास में ठीक सधी हुई गति रखता है) वह उन विद्वानों के साथ मिलकर उनके उस पग में अपना पग मिलाने के लिये नाप-तोल कर रहा है जो कि गृहस्थाश्रम-रूप समुद्र* में पग रख चुके हैं। यह ऐसा इसलिये कर रहा है, क्योंकि (=यत्) उन्होंने अपना पग गृहस्थाश्रम-रूप समुद्र में भली प्रकार (=प्र) जमा लिया है। अर्थात् अनुभवी गृहस्थों से मुझे, गृहस्थाश्रम-प्रवेश के लिये क्या-क्या करना चाहिये, यह सीख रहा है।

आचार्य अपने शिष्य को प्रेमपूर्वक कह रहे हैं—

पुनान इन्दवेषां पुरुहूत जनानाम् ।
प्रियः समुद्रमाविश ॥ (२७ श मन्त्र)

—हे इन्दो=हे मेरे चांद ! तुझे सारे जन गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिये बुला रहे हैं। तू इन सबका प्यारा है। अब तू इस समुद्र में प्रवेश कर।

पञ्चषष्टितम सूक्त

हमने ऊपर ६४ वें सूक्त में 'समुद्र' का अर्थ गृहस्थाश्रम-रूप समुद्र किया है और मनु का प्रमाण दिया है। इसका आधार है ६५ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र—

हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारो जामयस्पतिम् ।
महामिन्दुं महीयुवः ॥ (१ म मन्त्र)

—यह स्नातक अब सूर (=अभिसरणीय) हो गया है अर्थात् सूर्य के समान नाना ग्रहों का केन्द्र होने योग्य हो गया है। अब उत्साह वर्धक बहिनें इसे अपनी हरियाली भाभी का पति बनने के लिये बार-बार प्रेरित कर रही हैं तथा जाया बनने योग्य (=जामयः) युवति कन्याएँ इसे अपना पति बनने के लिये प्रेरित कर रही हैं, उनकी दृष्टि में यह महान् इन्दु है। किं च, वे दोनों इसकी महिमा और बढ़ाना चाहती हैं। बहिनें रात दिन मनाती हैं 'इक इस चन्दा से भय्या के साथ एक चांद और आ मिले'।

पवमान रुचारुचा देवो देवेभ्यस्परि ।
विश्वा वसून्याविश ॥ (२ य मन्त्र)

---

* यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥
॥ मनु, ६. ९० ॥

—हे गृहस्थाश्रम को पवित्र करने वाले स्नातक ! तू अब अपनी हर मनोमोहक चेष्टा द्वारा सब प्रकार के विद्वानों से मिल और उनकी सम्पत्ति के कोषागार में घुस जा ।

हर घर में इस भावी दूल्हे को लोग बुलाकर कहते हैं—

आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध ।
इहो ष्विन्दवा गहि ॥ (५ म मन्त्र)

—हे लोकपावन स्नातक ! तू उत्तम वीर्य वाला है । इस सर्वश्रेष्ठ वीर्य-रूप उत्तम शस्त्र से सुसज्जित है । हे इन्दो ! =हे मस्ती में झूमने वाले ! आज हमारे घर में आ । हे चांद ! आज यहाँ बैठ ।

यस्य वर्णं मधुश्चुतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ (८ म मन्त्र)

—अद्रि (=अविदारणीय, अकाट्य) प्रमाणों के आधार पर, ब्राह्मण-क्षत्रियादि जन, इसके मधु-स्यन्दी मनोहर वर्ण को सर्वत्र घोषित करते हैं । वे सब कहते हैं कि अब यह अपने वर्णानुरूप विद्या, बल अथवा धन के प्रवाह को इन्द्र के पान के लिये (=राजा के रसास्वाद के लिये अथवा प्रभु को प्रसन्न करने के लिये) समर्थ हो गया है अर्थात् इसने राजा द्वारा प्रमाणित वर्ण-पदवी प्राप्त करली है ।

'विश्वदर्शतः' ॥ (१३ श मन्त्र)

—यह विश्वभर के लिए दर्शनीय है ।

राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि ।
अन्तरिक्षेण यातवे ॥ (१६ श मन्त्र)

यह अपनी मेधा के कारण मनुष्यमात्र में अपने क्षेत्र का अधिकार पूर्वक राजा कहलाता है । अब यह गृहस्थ-क्षेत्रों में निःशङ्क यात्रा के योग्य है ।

षट्षष्टितम सूक्त

६६ वें सूक्त में २५ वें मन्त्र तक ब्राह्मण गृहस्थ का वर्णन है ।

पवस्व विश्वचर्षणेऽभि विश्वानि काव्या ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ॥ (१ म मन्त्र)

—हे सकल-शास्त्रदर्शिन्! तू सब शास्त्रों को पवित्र कर । तू तो मित्रों तक का वन्दनीय है। (रहस्यवित् मित्र जिसको वन्दनीय समझें वह सचमुच वन्दनीय है) ।

समु त्वा धीभिरस्वरन् हिन्वतीः सप्त जामयः ।
विप्रमाजा विवस्वतः ॥ (८ म मन्त्र)

—पांच प्रत्यक्ष, एक अनुमान और एक शब्द इन सात से बहने वाली और ब्राह्मण को जन्म देने वाली ज्ञान-धाराओं ने राज्यव्यवस्था करने वाले 'विवस्वान्' के दरबार में (जहाँ कौन सबसे आगे निकले यह मुकाबला होता है) अपनी प्रज्ञाओं से एकस्वर होकर तुझे ब्राह्मण कहा है।

अब १६ वें मन्त्र में गृहस्थाश्रम-प्रवेशार्थी क्षत्रिय स्नातक का वर्णन सुनिये—

महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द ओजिष्ठः।
युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ ॥ (१६ श मन्त्र)

हे स्नातक (=सोम)! इन्दो! तू उग्रों अर्थात् क्षत्रियों में ज्येष्ठ है, क्योंकि तू ओजिष्ठ है। तू जब लड़ने जाता है तो सदा जीतकर आता है।

···शूरेभ्यश्चित्छूरतरः ॥ (१७ श मन्त्र)

(शूरतरः) तू शूरों से बढ़कर शूर है। अब वैश्य स्नातक को लीजिये—

···भूरिदाभ्यश्चिन्मंहीयान् ॥ (१७ श मन्त्र)

वह बहुदानियों से भी बढ़कर दानी है।

सप्तषष्टितम सूक्त

अब वह गृहस्थ बन गया—

अयं सोमः कपर्दिने घृतं न पवते मधु।
आ भक्षत् कन्यासु नः ॥ (११ श मन्त्र)

—यह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट स्नातक, जटाजूटधारी भिक्षार्थी ब्रह्मचारी के लिये नाना प्रकार के पदार्थों को पानी की तरह बहा देता है जिससे भिक्षार्थी ब्रह्मचारी द्वार से सन्तुष्ट होकर जावे। इसी प्रकार वह ब्रह्मचारिणी कन्याओं को भी भोजन देता है।

अष्टषष्टितम सूक्त

स्थान-स्थान पर इसे निमन्त्रण मिलते हैं—

अव्यो 'देवहूतिभिः' ॥ (७ म मन्त्र)

···सुषंसदं सोमं मनीषा अभ्यनूषत।
······रयिषाट्··· ॥ (८ म मन्त्र)

—उत्तम सभा में बैठे हुए इसका सब स्तुतिगान करते हैं। निस्सन्देह अब वह धन प्राप्त करता है, किन्तु वह 'रयिषाट्' है, क्योंकि उसे शिक्षा ही 'रयिषाट्' बनने की मिली है (ऋ १.५८.३)

एकोनसप्ततितम सूक्त

···वधूयुः···संयतो मदः ॥ (३ य मन्त्र)

—वह वधूसमेत गृहस्थाश्रमें का आनन्द ले रहा है, किन्तु उसका यह हर्ष संयत है—सुनियन्त्रित है।

अमृक्तेन रुशता वाससा हरिः···परि व्यत ॥ (५ म मन्त्र)

—वह सदा उजले वस्त्र से परिहित है, इसलिये बड़ा मनोहर है। गृहस्थ के सुन्दर वस्त्र हैं।

गृहस्थ पितृयज्ञ में पितरों से कहता है—

···यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥ (८ म मन्त्र)

—हे वानप्रस्थाश्रम में प्रस्थित ! दीर्घायु भोगने वाले वानप्रस्थाश्रम के मूर्धन्य पितरो ! मेरा सोमरस तो तुम हो।

इस सूक्त में सोम का एक विशेषण 'वधूयुः' भी दिया है। यह 'वधूयु' विशेषण सोम के अतिरिक्त वेद में किसी अन्य देवता के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ है।

सप्ततितम सूक्त

अब ७०वें सूक्त में एक स्नातक के आरम्भ से अन्त तक के जीवन की रूपरेखा दिखाई गई है।

त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे सत्यामाशिरं पूर्व्ये व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥ (१ म मन्त्र)

—यह गृहस्थाश्रम-प्रविष्ट सोम यों ही गृहस्थ में प्रविष्ट नहीं हो गया। पूर्वाश्रम में (=पूर्व्ये व्योमनि) सात गौवों ने इसे तीन बार दूध दिया है। 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि-मज्जा-शुक्र' ये ७ गौवें उस आश्रम में इतना दूध देने वाली हो गईं कि प्रातः सवन (=बाल्य), माध्यन्दिन सवन (=यौवन) और सायं सवन (=वृद्धावस्था) इन तीनों में इसे वीर्य-रक्षा-रूप सच्चा आशीर्वाद ऐसा प्राप्त हुआ कि सन्तान के रूप में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों भुवनों को फिर नये उज्ज्वल वस्त्र के समान सुन्दर रूप में उत्पन्न करने में समर्थ हुआ। यह सब इसलिये हुआ कि प्रथमाश्रम में यह 'ऋतैः अवर्धत' अनेक ज्ञानमय शास्त्रों तथा नियमित नपे-तुले व्यवहारों से वृद्धि को प्राप्त हुआ।

स भिक्षमाणो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना वि शश्रथे ।
तेजिष्ठा अपो मंहना परि व्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः ॥ (२ य मन्त्र)

—यह घर से गुरुकुल में गुरु के चरणों में उत्तम अमृत की भिक्षा करता हुआ गया था और वहाँ से ऐसा काव्यमय जीवन बनाकर निकला कि दोनों द्युलोकों का अर्थात् जन्म देने वाले मातापिता का तथा ज्ञान देने वाले आचार्य पिता और विद्या माता का हृदय इस पर मुग्ध होकर द्रवित हो गया और उन्होंने पावस कर इसे जी भर दूध पिलाया। इसने अपनी विद्यादानशक्ति से—तेजिष्ठ

विद्यापरिधान से परिवीत स्नातक* बनाये। अब उसने अपने यश से सभाओं में उचित स्थान प्राप्त कर लिया।

ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना अगृभ्णत ॥ (३ य मन्त्र)

—ब्रह्मचर्याश्रम में पढ़ते समय इसने माता-पिता का नाम उज्ज्वल किया। तदनन्तर स्वयं अध्यापक बनकर विद्यार्थियों का जीवन उज्ज्वल किया। दोनों जन्म सफल हुए। अब वह राजा कहलाया ('सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' यजुः ९.४०)और हर विद्या के मननशील लोगों ने इसे पकड़ लिया। बस, ये इसके विद्यार्थी जीवन के कारनामें तथा अध्यापक जीवन के योग्य शिष्य इसके अमर अदम्य झण्डे बने रहें।

एकसप्ततितम सूक्त

···याति स्वधया दैव्यं जनम्··· ॥ (८ म मन्त्र)

—वह अपने सामर्थ्य से दिव्य पुरुषों में अपनी गणना करवाता है।

'दिव्यः सुपर्णः'······॥ (९ म मन्त्र)

—वह दिव्य पक्षी है।

द्वासप्ततितम सूक्त

···'पुरन्धिवान् मनुषो यज्ञसाधनः' ॥ (४ थं मन्त्र)

—वह यज्ञसिद्धि के लिए साधनसम्पन्न पत्नीवान् मनुष्य है।

'शुचिर्धिया'···॥ (४ थं मन्त्र)

—अपनी प्रज्ञा से पवित्र है।

त्रिसप्ततितम सूक्त

अब यह वानप्रस्थ की तैयारी में प्रभु के गीत गाने में मग्न हो गया है—

स्रक्वे द्रप्सस्य धमतः समस्वरन् ऋतस्य योना समरन्त नाभयः।
त्रीन्त्स मूर्ध्नो असुरश्चक्र आरभे सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ॥ (१ म मन्त्र)

—जब सोम भक्तिरस में मस्त होकर गाने लगा तो इसके दोनों ओष्ठ अथवा नीचे-ऊपर के जबाड़े स्वर से आध्मात हुए और इसके हृदय की भावना के अनुकूल स्वर देने लगे; किन्तु इसकी सब

---

* युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। (ऋ.३.८.४)

विचारमय भावनाओं का केन्द्र ज्ञानमन्दिर था, यह ज्ञानक्षेत्र के ही गीत गाता था। किं च, इस जानदार ने अपने मस्तिष्क से सङ्गीतारम्भ के लिये मन्द्र, मध्य और तार इन तीन सप्तकों को साधन बनाया और सत्य की नौकाएँ पुण्य—समुद्र में नाचती हुई इसको भी भवसागर से पार ले गईं।

सम्यक् सम्यञ्चो महिषा अहेषत सिन्धोरूर्मावधि वेना अवीविपन् ।
मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित् प्रियामिन्द्रस्य तन्वमवीवृधन् ॥ (२ य मन्त्र)

—इस भक्त के योगाभ्यास द्वारा वश में आये हुए महान् प्राण सङ्गीत में सन्तुलित भाव से थिरकते हुए, इसके हृदय में प्रभुस्तुति के गीत उत्पन्न कर रहे थे और उस स्तुतिगान को मानो मधुधारा से उत्पन्न कर रहे थे। वे प्रेमभरे प्राण (=वेनाः) इस भक्त को आनन्द-सिन्धु की लहरों पर नचाने लगे और उस समय वह इस स्थूल शरीर से उठकर उस आध्यात्मिक काया में घुस गया जो परमात्मा की प्यारी है और इन वशीकृत प्राणों के द्वारा वह काया दिनोंदिन बढ़ने लगी।

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम् ।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम् ॥ (३ य मन्त्र)

—इस गृहस्थ ने वानप्रस्थ-प्रवेशार्थ वानप्रस्थ पितरों को निमन्त्रित किया था (६९.८)। अब वे पवित्र साधना के उपदेश देने में समर्थ पितर लोग इसके चारों ओर घेरा डालकर बैठे हैं। वह चिरन्तन पुरुष अर्थात् अनादि अनन्त परम पुरुष इन पितरों का भी पिता इनके व्रत की (हम, वानप्रस्थ के योग्य पुरुषों को प्रोत्साहित करके वानप्रस्थ में लायेंगे इस व्रत की) रक्षा स्वयं करता है।

इनकी उपदेशमय कृपा से अन्तर्यामी प्रभु ने अब गृहस्थाश्रम-रूपी समुद्र को इस वानप्रस्थ के अधिकारी पुरुष की आंखों से तिरोहित कर दिया है (तिर इव वै पितरः। शत० २.६.१.१९) (स्थविराः पितरः। शत० १३.४.३.६)।

गृहस्थाश्रम के स्तम्भों पर बैठे हुए मनुष्य को अन्तरिक्ष से द्युलोक अर्थात् वानप्रस्थ में ले जाना ':विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (कुमारसम्भव ५.५९)इस स्तुति के योग्य वृद्ध जितेन्द्रिय वानप्रस्थों का ही काम है जो 'दिवस्पृष्ठम्' (६९.५) पर पहुँच चुके हों।

सहस्रधारेऽव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—वे अनासक्त (=असश्चतः) हैं, उनकी जिह्वा से मधु बरसता है। उन्होंने वानप्रस्थ के परम सुखमय धाम में इसे पहुँचाने के लिये उस सहस्रधार धाम की महिमा का एक स्वर से अनुभव कराया है। जब से उन्होंने इसकी आत्मशक्ति को प्रबुद्ध कर दिया है तब से इसके अन्तःकरण में ('हृद्यन्तः' ८ म मन्त्र) घुसे हुए अनेक सूक्ष्म चोर, इसे दीखने लगे हैं और अब इसके आत्मनिरीक्षक गुप्तचर सतत जागरूक रहते हैं। वे अनुभव करने लगे हैं कि पग-पग पर नाना प्रकार के विषयानुराग, जाल बिछाने वाले बनकर पाश लिये खड़े हैं, इसलिये वे गुप्तचर अपने ज्ञानमय पाश में उन बहेलियों के जालों को व्यर्थ कर डालते हैं। वे इसके भरण में पूर्णतया समर्थ हैं।

पितुर्मातुरध्या ये समस्वरन् ऋचा शोचन्तः संदहन्तो अव्रतान् ।
इन्द्रद्विष्टामप धमन्ति मायया त्वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि ॥ (५ म मन्त्र)

—वे आध्यामित्क गुप्तचर (स्पशः) श्रद्धा माता तथा परमात्मा पिता से एक स्वर में गाते हुए प्रकट हुए हैं । वे प्रभुस्तुति से देदीप्यमान हैं और व्रतविरोधियों को दग्ध कर देने वाले हैं । वे द्युलोक वानप्रस्थाश्रम से तथा 'भूमनः' (=ब्रह्मचर्याश्रम) से मनुष्यों के अन्तःकरणों में चढ़ी हुई तमोगुणी तह को जिसे परमात्मा नाश के योग्य समझता है, मनुष्य के अन्तःकरण से बलपूर्वक उतार फैंकते हैं (=धमन्ति) ।

प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरुञ्छ्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः ।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—अनादि निधि वेद-रूपी जीवन-मान से ये पवित्र भाव एक स्वर में गाते हुए प्रकट हुए हैं । ये भाव श्लोकों के (प्रभुगुण-कीर्त्तनों के) यन्त्र बन गये हैं अर्थात् उस शक्ति से सञ्चालित होते हैं । रातदिन इसी बात का मनन करते हैं कि आध्यात्मिक शत्रुओं पर विजय पाने के लिये अब कौन-सा समारम्भ किया जाय (=रभसस्य मन्तवः) । सचमुच उनकी आँखें फूट गई हैं और कान बहरे हो गये हैं जो कि इनका कहना नहीं सुनते ऐसे दुष्कृतः (कर्मों के मारे हुए) ज्ञान के बीहड़ मार्ग को पार नहीं कर पाते हैं ।

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः ॥ (७ म मन्त्र)

—इस विस्तृत सहस्र-धार वानप्रस्थ-रूप पवित्र आश्रम में मनीषी विद्वान् अपने शिष्यों की वाणी को पवित्र करते हैं और उनके उपदेश से रुद्र अर्थात् भक्तों के प्राण, उनके सच्चे गुप्तचर बन जाते हैं और पूर्णतया वशीभूत हो जाते हैं । उनके वे प्राण कभी विद्रोह नहीं करते, उलटा उनकी इच्छा की पूर्त्ति करते हैं । सदा उनके आदेश की प्रतीक्षा में भृत्यवत् नम्र होकर खड़े रहते हैं (=स्वञ्चः) । तब उनकी दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है और मनुष्यों को पहिचानने लगती है कि कौन हितैषी है और कौन शत्रु ? (विषयासक्त अज्ञानी तो शत्रुओं को ही मित्र जानते हैं) ।

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे ।
विद्वान्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ॥ (८ म मन्त्र)

—तब उन पितरों के सदुपदेश से मुमुक्षु, ज्ञानभण्डार का रक्षक बन जाता है । वह किसी से दबता नहीं । सदा उत्तम कर्म करता है और अपने अन्तः-करण में 'भूः भुवः स्वः' अथवा उनके भी सार 'ओ३म्' इन तीन पवित्रों को धारण करता है । जिससे वह उत्तम भावनाओं का स्रष्टा (ब्रह्मा), सृष्ट सङ्कल्पों का पालक (विष्णु) तथा दुष्ट भावनाओं का विध्वंसक (रुद्र) बन जाता है ।

तब वह विद्वान् सम्पूर्ण लोकों को अर्थात् ज्ञान, कर्म, उपासना के क्षेत्रों को ठीक-ठीक

देखने लगता है। जो उत्तम कर्म में प्रीतिपूर्वक सेवाभाव से नहीं लगे हुए हैं उन व्रतहीनों को पैनी मार मारकर उठाता है।

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित् तत् समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमव पदात्यप्रभुः॥ (९ म मन्त्र)

—उस अन्तर्यामी की रचना देखिये। उस की कृपा से इन पितरों की जिह्वा के आगे ज्ञान का चरखा चल रहा है और तार पर तार निकल रहे हैं। यह पवित्र यज्ञ चल रहा है। दृढ़निश्चय-पूर्वक आगे बढ़ने वाले धीर पुरुष इस कर्म पर अधिकार जमा लेते हैं और अधीर पुरुष असमर्थ होकर लड़खड़ा जाता है।

चतुः-सप्ततितम सूक्त

अब गृहस्थ पितरों के उपदेश से वह वन में पहुँच गया।

शिशुर्न जातोऽव चक्रदद् वने स्वर्यद् वाज्यरुषः सिषासति।
दिवो रेतसा सचते पयोवृधा तमीमहे सुमती शर्म सप्रथः॥ (१ म मन्त्र)

—एक बार तो वानप्रस्थ में पहुँचकर वह अपने आप को असहाय-सा पाता है। चारों ओर नई दुनियां और नये लोग दिखाई देते हैं। **'गृहस्थ की दुनियां में तो मैं 'पिताजी' 'बाबाजी' न जाने क्या-क्या था और यहाँ तो इन विद्वानों का दूध पीता बच्चा हूँ, वैसा ही निस्सहाय हूँ'** ऐसा वह अनुभव करता है, परन्तु वह निश्चय करके आया है कि मुझे तो **नपे हुए जीवन वाला** (=अरुष =ऋ+उष) मनुष्य बनना है और बलवान् संन्यासी बन कर लोगों को पूर्ण सुख (=स्वः) देना है। बस, मेरा तो यही सङ्कल्प है। तब वानप्रस्थ लोगों के दिये उपदेश से उसे श्रद्धा माता का दूध अधिकाधिक पीने को मिलता है और एक दिन वह इतना शक्तिशाली आचार्य बन जाता है—इतना **ख्यातिसम्पन्न (=सप्रथः)** हो जाता है कि हम सब उसकी शरण में सुमति की भिक्षा करने जाते हैं।

...देवाव्यं मनुषे पिन्वति त्वचम्॥ (५ म मन्त्र)

—अपनी तमोमय त्वचा उतारकर मनुष्य मात्र के लिये देवत्व प्रदान करने वाली **ज्ञानदीप्तिमय त्वचा** को धारण करता है।

...तोकं तनयं च धामहे॥ (५ म मन्त्र)

—इस वानप्रस्थ की कृपा से हमारे पुत्र-पौत्रादिकों की ठीक देख-भाल हो और हम उन्हें उचित स्थान पर रख सकें।

सहस्रधारेऽव ता असश्चतस्तृतीये सन्तु रजसि प्रजावतीः।
चतस्रो नाभो निहिता अवो दिवो हविर्भरन्त्यमृतं घृतश्चुतः। (६ ष्ठ मन्त्र)

—चारों आभारहित अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की विद्याहीन सन्तानें इस अनासक्त विद्वान् के तृतीय देदीप्यमान लोक में अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में शिष्यरूप से प्रविष्ट होकर इसके सहस्र-धारावर्षी विद्या-मेघ के जल में स्नान करके ऐसी बनें कि वे चारों ही इसके अधीन इसके देवलोक से विद्यावृष्टि प्राप्त करके सचमुच सपूती कहलावें, जब ऐसा विद्वान् आचार्य शिष्यों को योग्य बनाता है तो वह आभाहीन (नाभाः) प्रजा आभा-प्रदीप्त होकर कृतज्ञ भाव से आचार्य के लिये घृतादि पदार्थों का अविच्छिन्न प्रवाह लाकर उपस्थित करती है।

पञ्चसप्ततितम सूक्त

···सूर्यस्य···रथम्···अरुहत् ॥ (१ म मन्त्र)

—वह वीर्यरक्षामय ब्रह्मचर्याश्रम के रथ पर चढ़ गया है (सूर्योज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृह्णाति। शत० २.३.१.३३)। ('सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्ते' यजुः २.२७) उपनयन संस्कार।

···त्रिपृष्ठ उषसो विराजति ॥ (३ य मन्त्र)

विद्याभ्यास के लिए उत्साह की उषा—ब्रह्मचर्याश्रम में, गृहस्थ-सुख प्राप्ति की आशा भरी उषा—गृहस्थाश्रम में ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के लिये उत्साहमयी उषा—वानप्रस्थाश्रम में। चतुर्थ संन्यास साक्षात् सूर्यलोक अथवा स्वर्लोक (यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः शत० १. १. २. २१)। सो, वानप्रस्थ में वह उषा के तीसरे पृष्ठ पर विराजता है।

षट्-सप्ततितम सूक्त

धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः ।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुते नदीष्वा ॥ (१ म मन्त्र)

—यह 'दिवः=' वानप्रस्थाश्रम का रक्षक है। इस वानप्रस्थाश्रम में इसे एक रस उत्पन्न करना है, जिसका नाम है—स्नातक। यह स्नातक आचार्य नाम के सोम का रस है। देवों का वीर्य रूप है (दक्षः=वीर्य, शत० ८. २. १. ७)। जब यह आचार्य उत्तम वीर्यवान् स्नातक उत्पन्न करता है तो, सब हर्षमग्न होकर इसका स्तुतिगान करते हैं। इसके द्वारा सृज्यमान स्नातक अपने सत्त्व से सबका मन इस प्रकार हर लेता है जिस प्रकार चतुर अश्वशिक्षक द्वारा सिखाया हुआ अश्व। यह नदियों के तट पर बने तपोवनों में स्वच्छन्द-रूप से पूर्णस्वतन्त्रतापूर्वक (वृथा=जैसे चाहे) अपने शिक्षाबल के चमत्कार दिखाता है।

विश्वस्य राजा पवते स्वर्दृश ऋतस्य धीतिमृषिषाळवीवशत् ।
यः सूर्यस्यासिरेण मृज्यते पिता मतीनामसमष्टकाव्यः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—इस वानप्रस्थाश्रम में यह विद्या के समस्त संसार का राजा अपनी पवित्रता द्वारा अपने चारों ओर के संसार को पवित्र करता है। यह ऋषिषाट् है अर्थात् ऋषि-पदवी के उत्तरदायित्व के

सम्पूर्ण भार को सहन करने में समर्थ है और रातदिन इसे एक ही वस्तु की लगन है—ज्ञानवर्धक कर्म करने की।

यह वीर्य के पापनाशक बल से प्रतिदिन मांजा जा रहा है। नाना प्रकार की मननप्राप्त विद्याओं का इतना बड़ा समुद्र है कि इसकी विद्या के समुद्र का (=काव्य का) कोई भी पार नहीं पा सकता।

सप्तसप्ततितम सूक्त

···वपुषो वपुष्टरः ॥ (१ म मन्त्र)

—यह वानप्रस्थाश्रम में उत्तम बीज बोने के मुख्य स्थान शरीर को तपः-साधना द्वारा 'वपुष्टर' बनाता हुआ स्वयं 'वपुष्टर' होता जाता है।

ते नः पूर्वास उपरास इन्दवो महे वाजाय धन्वन्तु गोमते ।
ईक्षेण्यासो अह्यो३न चारवो ब्रह्मब्रह्म ये जुजुषुर्हविर्हविः ॥ (३ य मन्त्र)

—इस गोमान्=(वाणीभण्डार के स्वामी) विद्वान् आचार्य के पास पूर्वज तथा पश्चात् उत्पन्न होने वाले दोनों स्नातक पहुँचें और विद्यारूप सबसे महान् अन्न देने के लिये पहुँचें।

वे स्नातक (=इन्दवः) दर्शनीय हैं और सदा दूधभरी (=अह्यः=न हीयते पयो यासाम्) गौओं के समान चारु हैं। पूर्वज विद्वान् तो इस पर कृपा करके विद्या का अपूर्व निधि इसके पास निक्षिप्त करने आते हैं और 'उपराः' अर्थात् पीछे उत्पन्न होने वाले विद्या लेने आते हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों से उन्हें प्रीति है और वे उस-उस शास्त्र की सेवा में लगे हैं। उनमें से एक तो हवि देने के लिये आते हैं और दूसरे लेने के लिए।

अष्टसप्ततितम सूक्त

प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यदत्···।
···देवानामुप याति निष्कृतम् ॥ (१ म मन्त्र)

—यह तपोवन का राजा नवीन वाङ्मय उत्पन्न करता हुआ उसके प्रवाह को प्रवाहित करता है और इस प्रकार देवों के ऋण से मुक्त होता है (नवीन विद्वानों की उत्पत्ति ही विद्वानों के ऋण से मुक्त होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है)।

इन्द्राय सोम परि षिच्यसे नृभिर्नृचक्षा ऊर्मिः कविरज्यसे वने ।
पूर्वीर्हि ते स्रुतयः सन्ति यातवे सहस्रमश्वा हरयश्चमूषदः ॥ (२ य मन्त्र)

—हे गुरुकुल के वानप्रस्थ आचार्य ! यहाँ इस तपोवन में सब मनुष्य आपको श्रद्धारस से सींचते हैं। आप मनुष्यों को पहिचानते हैं, इसलिये कौन शिष्य किस विद्या के योग्य है यह ठीक जानते हैं, इसीलिये तपोवन में बैठे हुए भी आपका, नाना देशागत शिष्य, जिनके लिये आप विद्या-

समुद्र की मूर्तिमान् तरंग हैं—नाना प्रकार के द्रव्यों से अभ्यञ्जन करते हैं। आपके तपोवन से नाना विद्यास्रोतों की स्रोतस्विनी नाना दिशाओं में जा रही है और आपके संदेशवाहक, नाना प्रकार की ज्ञानमय सेनाओं के सैनिक स्थान-स्थान पर घुड़सवार सेना के समान फैल रहे हैं।

समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन्।
ता ईं हिन्वन्ति हर्म्यस्य सक्षणिं याचन्ते सुम्नं पवमानमक्षितम्॥ (३ य मन्त्र)

—इस मनीषी के अन्तः-करण में विद्यासमुद्र से प्रादुर्भूत होने वाली नाना धाराएँ आसीन हैं और वे इसके मुख से सामने की ओर निर्झर के समान झरती हैं। घर-घर को विद्यारस से सींचने वाले इस आचार्य को वे अपने प्रवाह द्वारा घर-घर तक पहुँचाती हैं और समस्त प्रजा इस लोक-पावन आचार्य से अक्षीण सुख-वर्षा की याचना करती है।

एकोनाशीत सूक्त

अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः॥ (१ म मन्त्र)

—बिना किसी वाचिक प्रेरणा के स्वतः निष्काम लोककल्याण-भावना वाले स्नातक हमें प्राप्त हों।

अशीतितम सूक्त

…'ऋतेन देवान् हवते दिवस्परि'॥ (१ म मन्त्र)

—यह विद्वान् अपनी विद्या के बल से द्यौः से परे पहुँचे हुए अन्य विद्वानों को अपने पास बुलाता है।

बृहस्पते रवथेना वि दिद्युते॥ (१ म मन्त्र)

—वह बृहस्पति के जय-घोष से अर्थात् यज्ञोपवीतप्राप्ति यहाँ ठीक होगी इस ख्याति से देदीप्यमान है ('बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्', पार. गृ. २. २. १६॥ यज्ञोपवीत-संस्कार)

…'श्रवसे सुमङ्गलः'॥ (३ य मन्त्र)

—जिसके कान में इसकी ख्याति पहुँचे उसी का मंगल होता है (फिर वह अपने बच्चों को इसके पास भेजता है)।

एकाशीतितम सूक्त

प्र सोमस्य पवमानस्योर्मय इन्द्रस्य यन्ति जठरं सुपेशसः।
दध्ना यदीमुन्नीता यशसा गवां दानाय शूरमुदमन्दिषुः सुताः॥ (१ म मन्त्र)

—इस लोक-पावन आचार्य के शिष्य समुद्र की लहरों के समान राजा के शासन-संगठन में प्रवेश करते हैं। उन्हें जो 'विद्यारूप दूध प्राप्त होता है उसे ये अपनी प्रतिभा के स्वादु दधि का

रूप प्रदान करते हैं और इस दधिरूप के कारण ही उन्नति को प्राप्त होकर वे अपने यश से इन्द्र के जठर तक (=राजा के शासन-यन्त्र अथवा परमात्मा की गोद तक) पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचकर उस शूर को अत्यन्त प्रसन्न करते हैं, इसीलिये तो इनका सवन किया गया है।

द्व्यशीतितम सूक्त

जायेव पत्यावधि शेवं मंहसे पज्राया गर्भ शृणुहि ब्रवीमि ते।
अन्तर्वाणीषु प्र चरा सु जीवसेऽनिन्द्यो वृजने सोम जागृहि॥ (४ र्थ मन्त्र)

—हे सोम ! यह शास्त्रवाणी तेरे पास पूजनीय सन्तान लेने आई है। तू अपनी शक्ति से इसमें नवीन शर्म धारण कर और उसे बल दे। सुन ले 'मैं कहता हूं यही तेरा धर्म है।'

यदि तू उत्तम जीवन की धारा अविच्छिन्न रखना चाहता है तो नाना शास्त्रवाणियों में ऐसे प्रविष्ट होकर विचर, जैसे, पति का वीर्य पत्नी के गर्भ में, और, हे सोम ! वर्जनीय पापमय इस संसार की काजल की कोठरी में से अपने इस विद्याव्यसन की कृपा से बेदाग़ निकल आ। तेरी निन्दा कोई न कर सके। सदा इस कर्त्तव्य की ओर जागरूक रह।

क्या यह सब सोम से—वृक्ष से (= लता से) कहा जा सकता है ? नहीं, निश्चय ही यह सोम कोई चेतन श्रोता होना चाहिए।

त्र्यशीतितम सूक्त

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत॥ (१ म मन्त्र)

—हे ब्रह्मणस्पते ! ब्रह्मनिधि (वेद) के रक्षक ! तेरा लोक-पावन यज्ञ चारों ओर फैला हुआ है। तू अपने गात्र-गात्र का स्वामी है, इसीलिये वे वाद्ययन्त्रों के समान तेरे स्वर में गाते हैं (=गात्र) और तू उन्हें चलाता है। इस शरीर को वृन्दावादन (Orchastra) बनाने से उत्पन्न हुए दिव्य आनन्द को वह कच्चा मनुष्य नहीं पा सकता जिसने तप द्वारा काम-साधना नहीं की। जो परिपक्व होकर जीवन-रथ का वहन करते हैं वे ही उस परमानन्द को पाते हैं।

चतुरशीतितम सूक्त

···हिन्वानो वाचमिषिरामुषर्बुधम्॥ (४ र्थ मन्त्र)

—यह उस वाणी को जन्म देता है जो सबकी कामना पूर्ण करती है और जीवन में नई उषा को प्रबुद्ध करती है।

पञ्चाशीतितम सूक्त

···मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनः॥ (१ म मन्त्र)

—दोरङ्गी चाल चलने वाले कपटी तेरा रस न पा सकें ।
('असूयकायानृतवेऽयताय न मा ब्रूयाः ''''''' निरु० २. १. ४)।

स्वादुः पवस्व दिव्याय जन्मने स्वादुरिन्द्राय सुहवीतुनाम्ने ।
स्वादुर्मित्राय वरुणाय वायवे बृहस्पतये मधुमाँ अदाभ्यः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—माता-पिता के गर्भाधान द्वारा हुआ जन्म नगण्य है। शतपथ (३. २. १. ४) में कहा है- 'अस्यातः पुरा जानं भवति इदं ह्याह रक्षांसि योषितमनुसचन्ते। '''''' अद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञाज्जायते, तस्मादपि राजन्यं वा वैश्यं वा ब्रह्मण इत्येव ब्रूयात्'—यज्ञदीक्षा से पहिले जो मनुष्य का जान अर्थात् जन्म होता है वह तो नगण्य-सा है। उस समय तो राक्षस स्त्री को घेरे होते हैं, परन्तु जो वेद से अथवा यज्ञ से जन्म होता है यह प्रत्यक्ष है, इसलिये दीक्षित को चाहे वह क्षत्रिय या वैश्य ही क्यों न हो, ब्राह्मण ही कहे।

किंच मनु ने भी कहा है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा नित्या साऽजरामरा ॥ मनु० २. १४ ॥

—वेदपारङ्गत आचार्य विधिवत् गायत्री द्वारा बालक को जो जन्म देता है वह जन्म नित्य है। वह अजर अमर है॥

यह दिव्य जन्म कैसे होता है ? आचार्य कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ पार. गृ. २. २. १६ ॥

—हे शिष्य ! मेरे व्रत में तेरा हृदय लगा हो। मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त हो। तू एकमना होकर मेरी आज्ञा का प्रीतिपूर्वक सेवन कर, बृहस्पति तुझे मेरी व्रतसेवा के लिये नियुक्त करे।

इसलिये इस मन्त्र में (८५. ६.) कहा—शिष्यों को जन्म देने के लिये स्वादु बनकर लोगों को पवित्र कर। जिससे वे प्रसन्नता-पूर्वक बच्चों को गुरुकुल में भेजें। जिसका नाम पुकारने मात्र से ही आनन्द देता है, उस परमेश्वर के लिये स्वादु बनकर संसार को पवित्र कर। जिससे संसार को प्रभुभजन में रस आने लगे। मित्र, वरुण और गुणग्राहक वायु के लिये स्वादु बन और विद्या के अधिष्ठाता बृहस्पति-रूप परमात्मा के लिये मधुमान् और अदमनीय बन।

दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतो वेना दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम् ।
अप्सु द्रप्सं वावृधानं समुद्र आ सिन्धोरूर्मा मधुमन्तं पवित्र आ ॥ (१० म मन्त्र)

—वानप्रस्थाश्रम के सुखमय दिव्य धाम में मधुमती जिह्वावाले, अनासक्त और गुरु-सेवा करने वाले गुरुभक्त शिष्य (=वेनाः); विद्या से संसार को सींचने वाले और अपनी वाणी के पक्के

(=गिरिष्ठां) अथवा सदा ऊँची भावनाओं के शिखर पर रहने वाले सोम को दुहते हैं। वह अपने द्युतिमय विद्यासार को प्रजाओं में नित्य अनेक प्रकार से वृद्धि को प्राप्त कराता है, मधुमान् है और समुद्र की लहरों तक उसकी मधुवर्षा का पवित्र क्षेत्र विस्तृत है, वहाँ तक वह प्रजाओं के रस को बढ़ाता है।

(अप्सु=प्रजासु, 'मनुष्या वा आपः'—शत० ७. ३. १. २०)

षडशीतितम सूक्त

अब वह संन्यास की ओर बढ़ रहा है। उसका वानप्रस्थकाल समाप्ति के समीप है—

प्र त आशवः पवमान धीजवो मदा अर्षन्ति रघुजा इव त्मना।
दिव्याः सुपर्णा मधुमन्त इन्दवो मदिन्तमासः परि कोशमासते ॥ (१ म मन्त्र)

—हे आचार्य ! समस्त विद्याओं में अव्याहत तीव्र गति वाले और बुद्धि के सहारे दौड़ने वाले तेरे हर्षदायक समाचार सूर्य से उत्पन्न होने वाले किरणों के समान बिना ढिंढोरे के स्वयं ही संसार के कोने-कोने तक पहुँच रहे हैं। किंच, तेरे तैयार किए हुए मस्तों के सिरताज मधु भरे दिव्य पक्षी ये स्नातक अब तैयार होकर तेरे विद्याकोश के चारों ओर बैठे हैं (पहरा दे रहे हैं)।

......'स्वर्वित्' ॥ (३ य मन्त्र)

अब तूने संन्यासाश्रम तथा मोक्ष का तत्त्व जान लिया है।

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परि यन्ति केतवः।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥ (५ म मन्त्र)

—हे विश्वचक्ष (=सकलशास्त्र-सूक्ष्म-तत्त्व-दर्शिन्) ! तू अपने ज्ञानशिल्प से भास्वर है। तू स्वामी है और तेरे प्रभुत्व के द्योतक झण्डे धाम-धाम में लहरा रहे हैं।

—तू अपने धर्मयुक्त आचरणों से समस्त संसार पर अधिकारवान् होकर संसार को पवित्र कर रहा है। तू आज समस्त भुवन पर राज्य कर रहा है।

अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षत्यग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छति।
अग्रे वाजस्य भजते महाधनं स्वायुधः सोतृभिः पूयते वृषा ॥ (१२ श मन्त्र)

—सेनाओं का अथवा नहरों का संचालन करना है; सो, पहिले सोम आगे पहुँचता है (उसको अथवा उसके योग्य शिष्यों की सलाह ली जाती है)। ज्ञानगोष्ठियों में वह पहुँचता है तो वहाँ तो वह है ही वाङ्मय का अग्रगामी।

—प्रजा को उत्तम धन की आवश्यकता है तो वह महाधन अर्थात् सारे मानव-राष्ट्र का धन किस प्रकार सेवित हो, यह सेवा मानव-राष्ट्र को देता है और शस्त्र बनाने के कारखानों में सवनकर्त्ता उसी को छानते हैं कि उत्तम से उत्तम आयुध बनाने का मार्ग बता।

••••••लोककृत् ॥ (२१ श मन्त्र)

—वह नये से नये ज्ञानक्षेत्र तय्यार करता है तथा योग्य लोक-पालों को नियुक्त करता है।

•••विश्वानि कृण्वन्त्सुपथानि यज्यवे ॥ (२६ श मन्त्र)

—संगठन करने वालों के समस्त मार्गों को सुपथ बनाता है।

तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसस्त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि ।
अथेदं विश्वं पवमान ते वशे त्वमिन्दो प्रथमो धामधा असि ॥ (२८ श मन्त्र)

—शतपथ (११. ५. ४. १७) में कहा है—"द्वय्यो ह वा इमाः प्रजाः दैव्यश्चैव मानुष्यश्च, ता वा इमा मानुष्यः प्रजाः प्रजनात् प्रजायन्ते, छन्दांसि वै दैव्यः प्रजास्तानि मुखतो जनयते तत एवञ्जनयते ॥"

—इस संसार में सन्तान दो प्रकार की है, एक दैवी और दूसरी मानुषी। सो 'मानुषी' प्रजा उपस्थेन्द्रिय से उत्पन्न की जाती है। 'दैवी' प्रजा नाम छन्दों का है। यह सन्तान मुख से उत्पन्न की जाती है। बस, उस मुख से ही आचार्य ब्रह्मचारी को उत्पन्न करता है: यही बात यहाँ वेद में कही गई है और यहीं से शतपथकार याज्ञवल्क्य ने ली है।

—हे आचार्य ! तेरे दिव्य वीर्य की अर्थात् मुख से दिये शास्त्र-ज्ञान की रक्षा ये तेरे योग्य शिष्य कर रहे हैं मानो ये उसका पहरा दे रहे हैं ('परिकोशमासते' १ म मंत्र)। इनके बल पर तू सम्पूर्ण भुवन का राजा है। यह सारी प्रजा तेरी है। लोकपावक पवमान तेरे वश में है। कौन किस धाम का अधिकारी है, इस बात का सर्वप्रथम निर्णेता तू है, फिर तेरे निर्णय के आधार पर राजा सबको यथायोग्य स्थान पर नियुक्त करता है।

स सूर्यस्य रश्मिभिः परि व्यत तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे ।
नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुपयाति निष्कृतम् ॥ (३२ श मन्त्र)

—उस आचार्य ने शिष्य को यथाविधि ज्ञान देने के लिये तथा 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनों आश्रमों में वीर्य के बल से वह तेजस्वी बना रहे' इस उद्देश्य से तीन तार के तन्त्र से शिष्य को परिवीत कर दिया। (यह मन्त्र यज्ञोपवीत का मूलमन्त्र है)। वह 'ऋतस्य पतिः' =ज्ञान-भण्डार का स्वामी आचार्य अपने शिष्यों को प्रति दिन नई से नई प्रशंसा का पात्र बनाता हुआ उन शिष्यों की जननियों के ऋण से मुक्त हो जाता है। जब योग्य शिष्यों की प्रशंसा सुनकर माताएँ कहती हैं—'धन्य है आचार्य जिन्होंने हमारे सन्तानों को ऐसी उत्तम शिक्षा दी' उस दिन आचार्य ऋणमुक्त हो जाता है।

•••तव व्रते सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः ॥ (३७ श मन्त्र)

—हे आचार्य ! आपके दिये व्रत पर सारी प्रजा स्थिर रहे।

•••स नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवद् वयं स्याम भुवनेषु जीवसे ॥ (३८ श मन्त्र)

—हे आचार्य ! आप हमें ऐसा पवित्र बनाइये कि हम वसुमान् और हिरण्यवान् होकर भी इस संसार में ऐसे जियें जिसे जीना कहते हैं।

···विश्ववित् ॥ (३९ श मन्त्र)

—वह सम्पूर्ण विद्याओं का जानने वाला है।

···अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीळन्नसरद् वृषा हरिः ॥ (४४ श मन्त्र)

—वह, गृहस्थाश्रम में उत्पन्न मोहादि को वानप्रस्थाश्रम के तप द्वारा पीछे छोड़कर ऐसे आगे निकल जाता है जैसे, साँप केंचुली छोड़कर, किंच, वह संसार-मार्ग में शान से ऐसा मनोहारी बनकर अग्रेसर होता है जैसे, सधा हुआ घोड़ा।

···ज्योतीरथः···॥ (४५ श मन्त्र)

सप्ताशीतितम सूक्त

ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन ।
स चिद् विवेद निहितं यदासामपीच्यं१गुह्यं नाम गोनाम् ॥ (३ य मन्त्र)

—वह आचार्य ऋषि है, मेधावी है और मनुष्यों का अग्रगामी नेता है। वह अपने काव्य से लोक-प्रिय है; परन्तु फिर भी अपनी प्रशंसा सुनकर अधीर नहीं होता, धीर रहता है। हर शब्द-गोचर पदार्थ का एक गुणवाची सार्थक प्रशंसनीय नाम भी है जो कि अज्ञानियों से छिपा रहता है उसे वह आचार्य ही जानता है।

अष्टाशीतितम सूक्त

वायुर्न यो नियुत्वाँ इष्टयामा नासत्येव हव आ शंभविष्ठः ।
विश्ववारो द्रविणोदा इव त्मन् पूषेव धीजवनोऽसि सोम ॥ (३ य मन्त्र)

—हे सोम ! तू गुणिजन-संग्राहक वायु-नामक राज्याधिकारी के समान मानवराष्ट्र की इष्ट वस्तुओं तक पहुँचकर उनका ज्ञान शिष्यों को देता है। तू अश्वियों के समान लोककल्याण-योग्य पदार्थों के संग्रह में समर्थतम है। राष्ट्र का वेतनादि निर्णय करने वाले 'द्रविणोदाः' के समान तू विश्ववार है और करसंग्रहकर्त्ता पूषा के समान तीव्र-बुद्धि है।

अग्निर्न यो वन आ सृज्यमानो वृथा पाजांसि कृणुते नदीषु ॥ (५ म मन्त्र)

—यह दावानल के समान वन में प्रकाश तो करता ही है, परन्तु इसमें विलक्षणता यह है कि यह नदियों में भी स्वच्छन्द गति वाला है। जब कि स्थूल अग्नि की तो जल में सारी शक्ति बुझ जाती है अर्थात् वनों में नदी के तट पर आचार्य का आश्रम होता है।

एकोननवतितम सूक्त

राजा सिन्धूनामवसिष्ट वासं ऋतस्य नावमारुहद् रजिष्ठाम् ।
अप्सु द्रप्सो वावृधे श्येनजूतो दुह ईं पिता दुह ईं पितुर्जाम् ॥ (२ य मन्त्र)

—ज्ञान की नदियाँ जो संसार को डुबो देती हैं अर्थात् जिन समस्याओं के सुलझाने में मनुष्यों की बुद्धि चक्कर खा जाती है, यह उनका राजा बनकर उन्हें वस्त्रों के समान धारण करता है, अर्थात् वे इसकी वस्त्रों के समान रक्षा करती हैं और शोभा बढ़ाती हैं। क्योंकि यह 'ऋत' को=अन्यूनानतिरिक्त नापतोल की देदीप्यमान नाव पर चढ़ा हुआ है। श्येन के समान निशाने पर झपट्टा मारने वाले एकाग्रचेताः तत्त्वान्वेषियों का प्यारा रस यह सोम प्रजाओं में खूब वृद्धि को प्राप्त हो गया है। सम्पूर्ण देवलोक अर्थात् विद्वन्मण्डल इसका दोहन करता है, इस पिता के सपूत का दोहन करता है।

नवतितम सूक्त

अब तपोवन में धनुर्वेद का उपदेश देने वाले वानप्रस्थ राजर्षि का वर्णन करते हैं—

'अभि त्रिपृष्ठम्' ॥ (२ य मन्त्र)

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥ (३ य मन्त्र)

—वह अकेला ही शूर नहीं है, वह 'शूरग्राम' है। उसके सब साथी भी वीर हैं अथवा वह दानवीर, सत्यवीर, रणवीर आदि सब प्रकार का वीर है। वह सहन-शक्ति-सम्पन्न है, विजयी है और धनों का दान करनें वाला है। हे राजर्षि सोम ! तू सबको पवित्र कर। तेरे शस्त्र पैने हैं और अस्त्र शीघ्रकारी हैं। युद्धों में तेरी चोट कोई नहीं सहार करता, पर तू शत्रु-सेनाओं में सबके वार सहार लेता है।

उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आ पवस्वा पुरन्धी ।
अप सिषासन्नुषसः स्व१र्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं वाजान् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—दूर-दूर तक के क्षेत्र जिसके शक्ति-गोचर हैं। जहाँ जाता है सबको अभयदान देता है। हे सोम ! इसी प्रकार तू नेता और नीयमानों के सब जोड़ों को—द्यावापृथिवी के समान सब दम्पतियों को परस्पर मेल से चलना सिखाकर, पवित्र कर। 'द्यौः' से परे 'स्वः' पहुँचाने वाली उत्साहमयी उषाओं को प्रजा तक पहुँचाने का संकल्प लिये, तूने हमारे लिये बुराइयों से युद्धों की घोषणा कर दी है।

एकनवतितम सूक्त

९१ वें सूक्त से वानप्रस्थ तथा संन्यास की सन्धि आरम्भ होती है।

असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमो मनीषी ।
दश स्वसारो अधि सानो अव्येऽजन्ति वह्निं सदनान्यच्छ ॥ (१ म मन्त्र)

—जिस प्रकार रथों की दौड़ में जो सबसे पहिले मंजिल पर पहुँचता है वह प्रथम कहलाता है इसी प्रकार जीवन-पथ की दौड़ में-बुद्धि के क्षेत्र में जो मनीषी प्रथम है और जो न केवल स्वयं बुद्धिमान् है, किन्तु उसके उपदेशों से प्रजा के मन भी उसके वचनों में ओत-प्रोत हो जाते हैं। ऐसा बुद्धि का संचालक यह वक्ता इस वानप्रस्थ में तैयार किया गया है (=असर्जि)। दशों की दशों इन्द्रियाँ इस संन्यासाश्रमभारवहनसमर्थं (=वह्निम्) पुरुष को कमनीय तथा रक्षणीय शिखर तक धकेलती हैं। कहती हैं—'शिखर के विद्वत्सवनों में जा'।

···'वचोवित्'···॥ (३ य मन्त्र)

वह प्रवचनकलामर्मज्ञ है।

स प्रत्नवन्नव्यसे विश्ववार सूक्ताय पथः कृणुहि प्राचः।
ये दुष्षहासो वनुषा बृहन्तस्ताँस्ते अश्याम पुरुकृत् पुरुक्षो ॥ (५ म मन्त्र)

—हे विश्ववार (विश्व के लाडले)! जिस प्रकार आप से पूर्व विद्वान् उत्तम भाषणों के लिये मार्ग अग्रेसर करते आये हैं, इसी प्रकार आप भी नये से नये ज्ञानक्षेत्रों में मार्ग बनाइये। हम आपके उन वाक्प्रहारों को प्राप्त करें जो लोक-शत्रुओं के लिये दुस्सह हैं तथा उनकी ताडना के कारण गौरव पा चुके हैं। हे घोर गर्जन वाले (=पुरुक्षोः)! आप ऐसा ही कीजिये।

एवा पुनानो अपः स्वर्गा अस्मभ्यं तोका तनयानि भूरि।
शं नः क्षेत्रमुरु ज्योतींषि सोम ज्योङ् नः सूर्यं दृशये रिरीहि ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—हे व्याख्याता! इस प्रकार संन्यास तथा मोक्ष की ओर पहुँचने वाली (=स्वर्गाः) मानव-प्रजा ('मनुष्या वा आपः' शत० ७.३.१.२०) को अपने उपदेशामृत से पवित्र करते हुए आप हमारे पुत्र-पौत्रों के लिये विशाल शान्तिमय और ज्योतिर्मय क्षेत्र प्रदान कीजिये। जहाँ हम निरन्तर ज्ञान तथा वीर्यरक्षामय सूर्य का सदा दर्शन करते रहें।

द्विनवतितम सूक्त

इस मण्डल में 'विश्ववारः' यह सम्बोधन केवल ९१ वें सूक्त में ही आया है और 'विश्वदेवः' यह विशेषण इस मण्डल के ९२ वें तथा १०३ वें सूक्त में आया है। इससे स्पष्ट है कि ९१ वें सूक्त से हम 'स्वः' अर्थात् संन्यासाश्रम की ओर बढ़े हैं।

९० वें सूक्त में 'स्वर्गाः उषसः' हैं अर्थात् संन्यास के लिये उत्साह है और ९१ वें सूक्त में 'स्वर्गाः अपः' को संन्यासी सूर्य-दर्शन करा रहा है। अब ९२ वें सूक्त में इस 'विश्वदेव' का वर्णन सुनिये।

प्र सुमेधा गातुविद् विश्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम्।
भुवद् विश्वेषु काव्येषु रन्ताऽनु जनान् यतते पञ्च धीरः ॥ (३ य मन्त्र)

—वह यज्ञमय जीवन के संगीत का ज्ञाता (=गातुविद्), सुमेधा और विश्वभर का देव

सोम प्रतिदिन सभा में आता है और इसे पवित्र करता हुआ आता है। वह सब प्रकार के काव्यों में रमणशील है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा इतरजन इन पांचों प्रकार के मनुष्यों के कल्याण के पीछे कष्ट झेलता है।

त्रिनवतितम सूक्त

…हरिः पर्यद्रवुज्जाः सूर्यस्य ॥ (१ म मन्त्र)

—वह मनोहारी संन्यासी सूर्य की वीर्य-शक्ति के प्रादुर्भाव-स्थान में और दशों दिशाओं में तीव्रगति से घूमता है अर्थात् वह परिव्राजक है।

चतुर्णवतितम सूक्त

…स्वर्विदे भुवनानि प्रथन्त… ॥ (२ य मन्त्र)

—इस स्वर्विद् अर्थात् जीवन्मुक्त संन्यासी के लिये सारा संसार ही विस्तृत क्षेत्र है।

श्रिये जातः श्रिय आ निरियाय श्रियं वयो जरितृभ्यो दधाति ।
श्रियं वसाना अमृतत्वमायन् भवन्ति सत्या समिथा मितद्रौ ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—यहाँ वैश्य संन्यासी का स्वरूप दिखाया गया है।

—मानवमात्र की श्रीवृद्धि के लिये उसका जन्म हुआ है; इसीलिये वह संन्यासी होकर घर से निकल पड़ा है। अपने सत्सङ्गियों को वह श्री और उत्तम आयु धारण कराता है। उसकी शिक्षा से समृद्ध होकर लोग श्री से भी समृद्ध हो गये और तब वे अमर हो गये (श्रीसमृद्ध होकर भी वे मदरहित थे, इस ख्याति ने उन्हें अमर कर दिया) उसकी छत्रछाया में श्री के निमित्त जितने 'समिथ' अर्थात् सहस्रुय सङ्घर्ष होते हैं वे सब सत्य होते हैं।

इस सूक्त में प्रथम दो मन्त्र ब्राह्मण-संन्यासी के, तृतीय क्षत्रिय-संन्यासी का तथा चतुर्थ वैश्य-संन्यासी का है।

…'उरु ज्योतिः कृणुहि' ॥ (५ म मन्त्र)

—तू महान् ज्योति उत्पन्न कर। यह मन्त्र तो संन्यासी मात्र का है।

पञ्चनवतितम सूक्त

…सृज्यमानः सीदन् वनस्य जठरे ॥ (१ म मन्त्र)

—संन्यासाश्रम में प्रवेश से पूर्व जब यह सृज्यमान था—बनाया जा रहा था तब वह वन के पेट में (=तपोवन में) था। वहाँ उसने अपनी वाणी का भली भांति परिष्कार किया और स्वयं स्वाध्याय के बल पर उत्तम बुद्धि उत्पन्न की—

कृणुते निर्णिजं गा अतो मतीर्जनयत स्वधाभिः ॥ (१ म मन्त्र)

हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम् ।
देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे ॥ (२ य मन्त्र)

—अब वह सृज्यमान नहीं रहा । अब वह ज्ञान का मार्ग स्वयं बना रहा है और जिस प्रकार उत्तम मल्लाह नाव खेता है इस प्रकार वाणी की नाव को पार लगा रहा है । जब वह देव प्रवचन करने के लिये आसन पर बैठता है तो देवों के गूढ़ रहस्यों को प्रकाशित करता है ।

षण्णवतितम सूक्त

अब ९६ वें सूक्त में क्षत्रियों के रण-संन्यास का वर्णन है । जब कोई वीर सेनापति सेना के प्रोत्साहन के लिये प्राणों का मोह बिल्कुल छोड़कर अकेला सीधा मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है तो वह भी उस समय संन्यासी का रूप धारण कर लेता है, ऐसे समय सेनापति तथा स्वेच्छापूर्वक लोककल्याणार्थ मृत्यु का आलिङ्गन करने वाला उसका हर सैनिक संन्यासी हो जाता है । विशेषकर उत्साहवर्धक नेता जो सबसे पहिले उदाहरण बनकर आगे बढ़ता है ।

प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥ (१ म मन्त्र)

—'गव्यन्' अर्थात् गौ का कल्याण चाहने वाला (वाणी ब्राह्मण-गौ, धरती क्षात्रगौ, अन्न वैश्यगौ, सेवा शूद्रगौ; इनमें से जिसके साथ शुश्रूषा कर रहा हो) शूर सेनापति बनकर सब रथों से आगे जा रहा है । उसकी सम्पूर्ण सेना इस वीरता पर मुग्ध होकर हर्षनाद करती है । इन्द्र ने= परमात्मा ने अथवा मानव-राष्ट्र के राष्ट्रपति ने युद्ध के लिये आह्वान किया था । वह उत्साहपूर्वक उस पुकार पर स्वेच्छा से उपस्थित हुआ है और इस आकस्मिक समारम्भ (=रभस) की सेना के लिये जो समुचित सैनिक वेश निर्धारित हुआ है उसे धारण कर रहा है ।

समस्य हरिं हरयो मृजन्त्यश्वहयैरनिशितं नमोभिः ।
आ तिष्ठति रथमिन्द्रस्य सखा विद्वाँ एना सुमतिं यात्यच्छ ॥ (२ य मन्त्र)

—उस समय सब लोगों में उस वीर के लिये ऐसी श्रद्धा उमड़ती है कि जिस यान पर वह सवार हो उसको तीव्र घोड़ों से वियुक्त करके लोग उसे नमस्कारपूर्वक खूब सजाते हैं (=हरिं मृजन्ति, अनिशितं अश्वहयैः नमोभिः) यही नहीं, राष्ट्रपति उसे स्वयं अपने रथ पर अपने साथ बैठाता है और उसे अपना सखा कहकर सम्बोधित करता है । परमात्मा के पक्ष में—भगवान् उसे अपने सङ्गति के रथ पर बैठा लेता है ('शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' गीता ६.४१) और तब उस प्रभु के साथ वह प्रेमपूर्वक समीप वास के सुख को प्राप्त होता है, अनुभव करता है । सब कहते हैं—

स नो देव देवताते पवस्व महे सोम प्सरस इन्द्रपानः ।
कृण्वन्नपो वर्षयन् द्यामुतेमामुरोरा नो वरिवस्या पुनानः ॥ (३ य मन्त्र)

—हे सोम (= रणसंन्यासिन्) ! आज महान् प्रीतिभोज हो रहा है । हे देवों के निमित्त

प्राणाहुति करने वाले ! तेरी पवित्रता संसार को पवित्र करे। तेरा यह जीवनमय वीररस ही इन्द्र का प्यारा पान है। इससे पवित्र पेय इन्द्र को क्या मिलेगा ? तूने इस वीरता से वीर मनुष्यों का प्रवाह बहा दिया है, तेरे कारण आकाश तथा पृथिवी दोनों पर सुख की वर्षा हो रही है। तू अपने इस उच्च पद से युक्त होकर हमारे बीच बैठ और हमें पवित्र करता हुआ कृतार्थ कर।

स्थान-स्थान पर उसका अभिनन्दन होता है। कैसे ?

अजीतयेऽहतये पवस्व स्वस्तये सर्वतातये बृहते ।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायस्तदहं वश्मि पवमान सोम ॥ (४ थं मन्त्र)

—तू अपनी पवित्रता प्रवाहित कर। हमें कोई जीत न सके, कोई मार न सके। स्वस्ति हो। महान् लोक-कल्याण हो। प्राणिमात्र का कल्याण हो। सबका कल्याण हो। ऐसा बृहत् कल्याण हो। ये तेरे सब मित्र जो यहाँ तेरे अभिनन्दन के लिये इकट्ठे हुए हैं, उन सब की यही प्रबल कामना है। और मैं जो सबका प्रतिनिधि बनकर बोल रहा हूँ तो मेरी व्यक्तिगत भी यही कामना है।

इस प्रकार असाधारण सोम का वर्णन करके, 'रभसानि वस्त्रा दत्ते' ('वस्त्रा रभसानि दत्ते' ९६.१)—कार्य-विशेष के लिये संन्यासी वेश (जौहर का वेश = केसरिया बाना) धारण करता है। सदा केसरिया बाने में रहने वाले संन्यासी का फिर वर्णन आगे बढ़ाते हैं।

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥ (५ म मन्त्र)

—एक संन्यासी ही संसार में मतियों का जन्मदाता है, क्योंकि उसके उपदेश से ही पृथिवी अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम जन्म लेता है और उसके उपदेश से ही 'द्यौः' अर्थात् वानप्रस्थाश्रम का जन्म होता है।

घर-घर में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व रूप जो अग्नि जलती है उसका भी वही जन्मदाता है। वीर्यरक्षा के लिये। गृहस्थाश्रम में भी [illegible] होने वाले पवित्र [illegible] उत्पन्न करके वीर्यरूप सूर्य का भी वही जन्मदाता है। सच्चे राष्ट्रपति का भी वही जन्मदाता है और नास्तिकों के हृदय में अपने तर्क तथा चरित्र द्वारा परमात्मा की सत्ता का प्रादुर्भाव करता है। इन अर्थों में वह परमात्मा का भी जनिता है*। और अधिक क्या कहें, सारे संगठित राष्ट्र को संगठित करने वाला होने के कारण वह विष्णु संगठित राष्ट्र का भी जनिता है।

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—विद्वानों में चतुर्वेदविद् ब्रह्मा, कवियों में आदर्श (जिसके पदचिह्नों पर दूसरे चलें), फिर

* 'कलौ बौद्धे समायाते मदधीना तव स्थितिः' ॥ उदयनाचार्य।

मेधावियों में भी ऋषि, पशुओं में सबसे महान् मृगराज, पक्षियों में निशाने पर पहुँचने वाला बाज़, वनों में अपनी तप:-साधना से आत्मोन्नति करने वाला सोम उत्तम वचन बोलता हुआ पवित्र व्याख्यान-वेदि पर आता है।

शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन ।
कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ।। (१७ श मन्त्र)

—इस लाडले को सारे प्रजावर्ग इस प्रकार सजाते हैं, जैसे, माता नवजात शिशु को। सैनिक लोग गणबद्ध होकर इसका गौरव बढ़ाते हैं। यह संन्यासी वाणी से भी कवि है और अपने जीवनरूपी काव्य से भी कवि होता हुआ, सबको अतिक्रान्त करता हुआ और प्रभु के स्तुतिगान करता हुआ पवित्र व्याख्यान-पीठ पर आता है।

अगले दो मन्त्रों की व्याख्या पहिले ही कर चुके हैं जहाँ सोम का तृतीय धाम अर्थात् वानप्रस्थाश्रम से तुरीय धाम में प्रवेश का स्पष्ट वर्णन है।

प्रास्य धारा बृहतीरसृग्रन्नक्तो गोभिः कलशाँ आविवेश ।
साम कृण्वन्त्सामन्यो विपश्चित् क्रन्दन्नेत्यभि सख्युर्न जामिम् ।। (२२ श मन्त्र)

—चारों ओर इसकी वाग्धारा संसार को ऊँचा उठाती हुई बह रही हैं। जहाँ-जहाँ व्याख्यान-कलश (Rastrum) पर जाता है तो ऐसे बोलता है मानो वाणी में दूध या मक्खन का अभ्यङ्ग किया हो। क्षत्रियों के साम, दाम, भेद और दण्ड ये चार उपाय हैं, परन्तु इस विद्वान् के पास तो एक ही उपाय है और वह है 'साम'—केवल 'साम'। जब कोई कष्ट में होता है तो यह उसके दु:ख में दु:खी होकर इस प्रकार रोता हुआ उसके पास पहुँचता है, जिस प्रकार कोई अपने मित्र की विपद्ग्रस्त पत्नी के पास।

अपघ्नन्नेषि पवमान शत्रून् प्रियां न जारो अभिगीत इन्दुः ।
सीदन्वनेषु शकुनो न पत्वा सोमः पुनानः कलशेषु सत्ता ।। (२३ श मन्त्र)

—सोम के पास तो एक ही उपाय है—'साम'। यह शत्रुओं से भी लड़ने जाता है तो ऐसे कि मानो नायक अपनी प्रणयकुपिता प्रेयसी को मनाने जा रहा हो, परन्तु विलक्षण बात तो यह है कि वे मान जाते हैं और इसके सामने बैठकर इसके गीत गाते हैं।

यह जब कभी योगसाधना के लिये वनों में चला जाता है तो वहाँ एकाग्रता की शक्ति सञ्चित करके बाज़ की तरह सीधा निशाने पर पहुँचने का अभ्यास कर लेता है और फिर जब व्याख्यानकलश में पहुँचता है तो वहाँ पवित्रता का विस्तार करके अपनी उस शक्ति का परिचय देता है और तब सारी सभा पवित्र हो जाती है।

सप्तनवतितम सूक्त

भद्रा वस्त्रा समन्या३ वसानो महान् कविर्निवचनानि शंसन् ।। (२ य मन्त्र)

—सभायोग्य भद्रवस्त्र धारण किये हुए यह महान् कवि अपने गहराई तक पहुँचने वाले मार्मिक वचन कहता हुआ सभा में प्रशंसित होता है।

वृषा शोणो अभि कनिक्रदद् गा नदयन्नेति पृथिवीमुत द्याम्।
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचेतयन्नर्षति वाचमेमाम्॥ (१३ श मन्त्र)

—शोण वस्त्रधारी संन्यासी ज्ञान-वर्षा करता हुआ और जमीनो-आसमान को गुंजाता हुआ आता है। युद्ध कहीं हो, किसी प्रकार का हो, परन्तु यदि वह अन्याय के विरुद्ध हो तो वहाँ इसका गम्भीर घोष इन्द्र के वज्र-घोष के समान सुनाई देता हे और जिनके हृदय डांवाडोल हों, उनकी कर्त्तव्य-बुद्धि को सचेत करता हुआ यह अपनी वीर-रसमयी वाणी बोलता है।

अश्वो न क्रदो वृषभिर्युजानः सिंहो न भीमो मनसो जवीयान्।
अर्वाचीनैः पथिभिर्ये रजिष्ठा आ पवस्व सौमनसं न इन्दो॥ (२८ श मन्त्र)

—हे वात्सल्य से सबको आर्द्र करने वाले इन्दो! आपकी वाणी में केवल माधुरी ही नहीं, रण-क्षेत्र में प्रतिस्पर्धी घोड़े से लड़ते हुए घोड़े का ओज है। भयङ्कर सिंह-गर्जना के समान गम्भीरता है और मन से भी अधिक तीव्र गति से जहाँ आवश्यकता हो वहाँ पहुँचने की शक्ति है। आप अपने पवित्र उपदेशों से हमारे मन में वह सौमनस्य उत्पन्न करिये कि हम न केवल प्राचीन ज्ञान-भण्डार को प्राप्त हों, किन्तु नवीन से नवीन देदीप्यमान मार्गों से चल सकें।

कनिक्रददनु पन्थामृतस्य शुक्रो वि भास्यमृतस्य धाम।
स इन्द्राय पवसे मत्सरवान् हिन्वानो वाचं मतिभिः कवीनाम्॥ (३२ श यन्त्र)

—तू वारं-वार चिल्ला-चिल्ला कर, रो-रो कर प्रजा को सत्य के मार्ग की ओर ले जाता है, उस समय तू अत्यन्त प्रदीप्त तेज से भासित होकर अमृत धाम लगने लगता है। मुझ सरीखे जीवों का मित्र बनकर हमें परमात्मा की ओर ले जाने के लिये अपनी पवित्रता का विस्तार करता है। अपनी विद्या के बल से कवियों को सन्मति देकर वाणी के प्रवाह को प्रभुभक्ति की ओर मोड़ देता है।

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥ (३४ श मन्त्र)

—यह आगे वहन करने वाला नेता (=प्रवह्निः) अकारोकारमकार अथवा ऋग्यजुःसाम इन तीनों रूपों वाली वाणी को ठीक मार्ग में प्रेरित करता है। यह ज्ञान-प्राप्ति के कर्मों को प्रेरित करता है और ब्राह्मणों की मीमांसा-शक्ति को प्रेरित करता है। गौएँ अपने प्यारे गोपाल को ढूंढती हुई उसके पास पहुँच जाती हैं और सन्देहग्रस्त विचारकों की बुद्धि प्रेम में भरी हुई सोम के पास पहुँच जाती है।

...इन्द्रमाविश बृहता रवेण वर्धया वाचं जनया पुरंधिम्॥ (३६ श मन्त्र)

—तू धूमधाम के साथ राजा के शासन-मन्दिर में घुस जा। वहाँ ठीक वाङ्मय उत्पन्न कर, ठीक आवाज़ सुना और योग्य विदुषी स्त्रियाँ उत्पन्न कर।

...जागृविर्विप्रः ॥ (३७ श मन्त्र)

—यह सोम सदा जागरूक ब्राह्मण है।

एष विश्ववित् पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ (५६ श मन्त्र)

—यह सकलशास्त्र-पारङ्गत (=विश्ववित्) मनीषी सोम सारे भुवन का राजा है, क्योंकि यह सारे भुवन को पवित्र करता है।

अष्टनवतितम सूक्त

स वां यज्ञेषु मानवी इन्दुर्जनिष्ट रोदसी।
देवो देवी गिरिष्ठा अस्रेधन् तं तुविष्वणि ॥ (९ म मन्त्र)

—जहाँ कहीं [अर्थात् सर्वत्र] कौन नेता हो, कौन नीयमान हो—कौन द्यौः हो, कौन पृथिवी हो इस प्रकार के घनघोर सङ्घर्षमय शोर में (=तुविष्वणि) प्रजा सदा इस सोम को ही सताती रही, परन्तु वह सोम अपने सिद्धान्तों पर पर्वत के समान अविचल रूप से दृढ़ रहा (=गिरिष्ठाः) और मानव-जगत् में क्या विद्या का शासन, क्या व्यापार सर्वत्र निष्पक्षपात न्याय करके उसने कौन नेता हो और कौन अनुयायी यह निर्णय किया और मानवी द्यावापृथिवी देवियों का निर्माण किया।

एकोनशततम सूक्त

तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः।
यं गाव आसभिर्दधुः पुरा नूनं च सूरयः ॥ (३ य मन्त्र)

—इस सोम का ज्ञान-रस क्या मस्ती वाला है! इन्द्र तो इसका पान करता ही है। यह इन्द्रपातम है। जिधर देखो, इस मद में इन्द्र की महिमा का गान है। गाय-गाय के मुख में यही रस पहुँच गया है। इससे पहिले के वृद्ध विद्वान् भी इसके गीत गाते हैं, नये तो गाते ही हैं।

तमुक्षमाणमव्यये वारे पुनन्ति धर्णसिम्।
दूतं न पूर्वचित्तय आ शासते मनीषिणः ॥ (५ म मन्त्र)

—उस धर्मधुरन्धर को लोग विद्वानों के उस वरणीय आसन पर बैठाकर उसकी पूजा करते हैं जो विद्वानों का अव्यय स्थान है—जो शाश्वत स्वभावसिद्ध आसन है। वहाँ बैठकर मनीषी लोग आशा करते हैं कि इसकी बात सबसे पूर्व हमको सुनने को मिले। जैसे कि किसी इष्ट जन के पास से आये हुए दूत का दिया शुभ समाचार सबसे पहिले मुझे सुनने को मिले, यह आबालवृद्ध सबकी इच्छा होती है।

...मृज्यते सुकर्मभिः ॥ (७ म मन्त्र)

—उसकी शोभा उसके उत्तम कर्मों से बढ़ाई जाती है ।

····नृभिर्यतो वि नीयसे ॥ (८ म मन्त्र)

—तू पवित्र आसन पर बैठ, क्योंकि विद्वानों के नेताओं ने तुझे विनीत (trained) किया है ।

शततम सूक्त

····शर्धन् तमांसि जिघ्नसे विश्वानि दाशुषो गृहे ॥ (८ म मन्त्र)

—प्रभु के सामने आत्मसमर्पण करने वाले के घर में जाकर जब तू उपदेश करता है तो शब्द-शब्द से अन्धकार का नाश करता है ।

एकशततम सूक्त

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥ (५ म मन्त्र)

—सब विद्वानों ने इकट्ठे होकर कहा कि यह वात्सल्यमय संन्यासी मनुष्यों को इन्द्र तक पहुँचाने के लिये पवित्रता का विस्तार करता है । अपने ओज से आज यह सारे विश्व का ईशान बन गया है, क्योंकि इस वाचस्पति ने अपनी वाणी से सारे मानव राष्ट्र को एक यज्ञ (=मख) बना दिया है । ऐसा यज्ञ जिसे कोई उखाड़ न सके (=म+ख) ।

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—वाणी के क्षेत्र में सहस्रधारा बरसाता है । यह वाङ्मय का आगे बढ़ाने वाला सहस्रधार मेघ है ।

द्विशततम सूक्त

अस्य व्रते सजोषसो विश्वे देवासो अद्रुहः ।
स्पार्हा भवन्ति रन्तयो जुषन्त यत् ॥ (५ म मन्त्र)

—मानव-राष्ट्र को प्रभु का प्यारा (=इन्द्रप्रिय) बनाने का जो इस का व्रत है उसमें क्योंकि सारे विद्वान् परस्पर प्रेम से मिलकर और द्रोहरहित होकर जुट गये, इसलिये वे इतने रमणीय हो गये कि सब वैसा बनने की स्पृहा करने लगे ।

त्रिशततम सूक्त

परिणेता मतीनां विश्वदेवो अदाभ्यः ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—यह विश्वदेव संन्यासी 'सब ओर मतियों का नेता' (Leader of thoughts) के नाम से विख्यात है । इसे कोई दबा नहीं सकता ।

चतुः-शततम सूक्त

लोग कहते हैं—

सखा॑य॒ आ नि षी॑दत पु॒ना॒नाय॒ प्र गा॑यत ।
शिशुं॒ न य॒ज्ञैः परि॑ भूषत श्रि॒ये ॥ (१ म मन्त्र)

—हे मित्रो ! आओ, यह संन्यासी हमें उपदेश से पवित्र कर रहा है। कम से कम इसके गीत तो गाओ और जैसे लाडले बच्चे को सजाते हैं वैसे सजाओ, परन्तु वह आभूषण पहिनाओ जिससे इसकी श्री बढ़े। वह आभूषण क्या है ? इसकी शिक्षा के विस्तार के लिये संगठनों पर संगठन बनाते जाओ।

पञ्च-शततम सूक्त

गोम॑न्न इन्दो॒ अश्व॑वत् सु॒तः सु॑दक्ष धन्व ।
शुचिं॑ ते॒ वर्ण॒मधि॒ गोषु॒ दीधरम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—हे इन्दो ! ऐसा उपदेश कीजिये कि घर-घर में गाय बंधी हो, घोड़े बंधे हों। हे वीर्यवन् ! हमें ऐसी प्रेरणा दीजिये।

मैंने आपके पवित्र वर्ण की इतनी घोषणा की है कि हमारी बस्ती में हर मनुष्य की वाणी पर आपका नाम है।

षट्-शततम सूक्त

प्र ध॑न्वा सोम॒ जागृ॑वि॒रिन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव ।
द्यु॒मन्तं॒ शुष्म॒मा भ॑रा स्व॒र्विद॑म् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

गाय, घोड़े तो हमारे यहाँ बंधे हों, पर हे जागरूक सोम ! तू हमें सोने मत देना—प्रमादशील मत बनने देना। तू हमें आगे धकेलता रह (=प्र धन्व)। जिस परमात्मा की ओर तू बह रहा है, हमें भी उधर ही ले जा। तू हमें देदीप्यमान बल दे कि हम भी 'स्वः' तक पहुँच जावें।

…वि॒श्वद॑र्शतः… ।
प॒थि॒कृद् विच॑क्ष॒णः ॥ (५ म मन्त्र)

—वह सबका दर्शनीय है और मार्गनिर्माता विद्वान् है।

सप्तशततम सूक्त

१०७ वें सूक्त में एक संन्यासी की पूरी जीवनयात्रा दी है। हे सोम ! तू—

'उत्सो॑ दे॒व हि॑र॒ण्ययः॑' ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—ज्योतिर्मय फव्वारा है।

तू पहिले (ब्रह्मचर्याश्रम) में—

···विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—जिसके अङ्ग-अङ्ग में प्रभु-प्रेम का रस तथा वीर्यरक्षा की कान्ति बसी थी, ऐसे अङ्गिर लोगों में तू श्रेष्ठ बना। फिर गृहस्थाश्रम में —

अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः ।
समुद्रं न संवरणान्यग्मन् मन्दी मदाय तोशते ॥ (९ म मन्त्र)

—जहाँ चारों ओर माता, बहिन, पत्नी आदि रूप में स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ थीं ('योषा वा आपः' शत० १.१.१.१८) उस स्त्रीमय अनूप में तू गो-आदि सम्पत्ति से युक्त होकर—दूध पीकर मुख से वाणीरूप गाय का तथा शरीर से इन्द्रिय-रूप गाय का दूध प्रजा के कल्याणार्थ 'अक्षाः'=क्षरित करता रहा।

चारों ओर से उत्तम स्थान की तलाश वाले तेरे ही घर पहुँचते थे और तुझे खूब सताते थे, परन्तु तुझे इसमें आनन्द अनुभव होता था। जिस दिन एक भी अतिथि घर न आवे उस दिन उदासी-सी छा जाती थी। तूने गृहस्थ में सेवा-रस लूटा।

···सदो वनेषु दधिषे ॥ (१० म मन्त्र)

—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके भी तू महात्माओं के सत्सङ्ग की प्राप्ति के लिये वनों में भी अपनी बैठक रखता था।

तरत् समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत् ।
अर्षन् मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥ (१५ श मन्त्र)

—परन्तु तू गृहस्थ-सागर में डूब मरने के लिये तो पैदा नहीं हुआ था। अपनी शरीर-रूपी पवित्र नाव से और पत्नी की सहायता से तू इससे भी बड़े ज्ञान की ओर बढ़ता हुआ इस गृहस्थ-सागर को भी पार कर गया। जो लहर तुझे ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में लाई थी, वही धकेल कर आगे बड़े ज्ञान-समुद्र में ले गई। मित्र (=ब्राह्मण) और वरुण (=कानून) दोनों ही यह धर्म बताते थे कि 'आश्रमादाश्रमं गच्छेत्'* तथा 'ततोऽरण्यं समाश्रयेत्' (मनु० ६.२)।

···राजा देवः समृग्मियः ॥ (१६ श मन्त्र)

अब तू ज्ञानसागर का दिव्यगुणयुक्त राजा बना। तूने विद्वानों से सुना—

सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥ (१७ श मन्त्र)

—कि सहस्रधार संन्यासी बनकर मनुष्य अत्यन्त अव्य=रक्षणीय अथवा अव्यय (=नित्य-

* तुलना करो—'आश्रमादाश्रमं गत्वा' मनु० ६.३४ ॥

सुखमय) धाम पहुँच जाता है। आगे बढ़ने वाले मनुष्य (Progressive) उसी परम पद को मांजते हैं।

यह सुनकर तू—

···सीदन् वनेष्वव्यत ॥ (१८ श मन्त्र)

—वनों में रह कर यह नया वस्त्र बुनता रहा।

तब—

घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुना इव पप्तिम ॥ (२० श मन्त्र)

—फिर जब तू तेज से अत्यन्त तपने लगा और सूर्य के समान तेजस्वी हो गया तो हम भी पक्षियों की तरह उड़ते-उड़ते तेरी ओर आये। तू सूर्य के समान महापक्षी है। अब तू—

मृज्यमानः सुहस्त्य समुद्रे वाचमिन्वसि ॥ (२१ श मन्त्र)

—अब तू तपोबल के द्वारा सागर से मेघ बन गया है, मेघ वाली वाणी बोलने लगा है। तू गरजता भी है और बरसता भी है।

पवस्व वाजसातयेऽभि विश्वानि काव्या ।
त्वं समुद्रं प्रथमो वि धारयो देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥ (१३ श मन्त्र)

—यह समुद्र भी तो यदि आकाश का समुद्र (=मेघ) न बरसे तो एक दिन सूख ही जावे। सो, हे मेघरूप समुद्र ! तू सब काव्यों पर बरस। तूने ही तो इन्हें सबसे प्रथम धारण किया हुआ है। सब देव वृक्षों के समान हैं। तू मेघ के समान इन्हें सदा हरा रखता है और ज्ञान-समुद्र को भरा रखता है।

···जनयञ्ज्योतिर्मन्दना ॥ (२६ श मन्त्र)

—अब तू वह ज्योति पैदा करता हुआ जीवन बिता जो सबकी आंखों को प्रसन्न करने वाली हो।

अष्टशततम सूक्त

···अमृतत्वाय घोषयः ॥ (३ य मन्त्र)

—अब तूने संन्यासाश्रम में इस घोषणा का बीड़ा उठाया है कि 'अमृतत्व क्या है और कैसे मिलता है ?' ('व्यावृत्य शरीरेणामृतोऽसद् यो मृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा' शत० १०.४.३.९)—शरीर से अमर कोई नहीं होता। या तो विद्या से अमर होता है या कर्म-परम्परा से।

वृषा वि जज्ञे जनयन्नमर्त्यः प्रतपञ्ज्योतिषा तमः ।
स सुष्टुतः कविभिर्निर्णिजं दधे त्रिधात्वस्य दंससा ॥ (१२ श मन्त्र)

उस ज्ञान-वर्षी ने अन्धकार को ज्योति से नष्ट किया। कवियों ने उसकी स्तुति की और अजरामर यश-रूपी उजला वस्त्र पहिनाया। जो मन, वचन, कर्म अथवा आत्मिक, मानसिक, शारीरिक इन तीनों प्रकार के सुखों के तारों से बना था और अति सुन्दर था। बस, इस प्रकार वह अमर्त्य हो गया।

नवशततम सूक्त

परि॑ प्र ध॑न्वेन्द्रा॑य सोम स्वा॒दुर्मि॒त्राय॑ पू॒ष्णे भगा॑य ॥ (१ म मन्त्र)

—हे सोम! अब तू संन्यासी है। पूरी शक्ति से 'परि प्र धन्व'=परिव्रज्या (=चारों ओर घूमना) और प्रव्रज्या (संसार के कल्याण के लिये उत्तम ढंग से घूमना) दोनों का आश्रय ले। वह कार्य कर कि तू इन्द्र (=परमैश्वर्यवान्), मित्र (=प्राणी मात्र के हितैषी), पूषा (=प्राणी मात्र से उचित भाग ग्रहण करके देवों को पुष्ट करने वाले) और भग (सबके स्नेहभाजन)—भगवान् का प्रिय बन जा।

पव॑स्व सोम म॒हान्त्स॑मु॒द्रः पि॒ता दे॒वानां॒ विश्वा॒भि धाम॑ ॥ (४र्थ मन्त्र)

—हे सोम! अब तू समुद्रों को क्रमशः पार करता हुआ स्वयं महान् समुद्र बन गया है। तू देवों का भी पिता है, क्योंकि तू विद्वानों का भी मार्ग-दर्शक है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ सब धामों को पवित्र कर।

इन्दु॒रिन्द्रा॑य तोशते॒ नि तो॑शते श्री॒णन्नु॒ग्रो रि॒णन्न॒पः ॥ (५ म मन्त्र)

—कठोर परीक्षा लेने वाले भगवान् की परीक्षा में संन्यासी नाना यातनाएँ आनन्दपूर्वक सहन करता है। इन यातनाओं द्वारा वह अपने आपको परिपक्व करता है और ज्ञानधाराओं के लिये स्वयं कष्ट सहकर मार्ग खोलता है।

दशशततम सूक्त

पर्यू॒ षु प्र ध॑न्व॒ वाज॑सातये॒ परि॑ वृ॒त्राणि॑ स॒क्षणिः॑ ।
द्वि॒षस्त॒रध्या॑ ऋण॒या न॑ ईयसे ॥ (१ म मन्त्र)

—हे संन्यासिन्! तूने मीठा संग्राम छेड़ा है। इस युद्ध के लिये चारों ओर सुन्दर और उत्कृष्ट रीति से टक्कर ले। तुझ में अपने चारों ओर के विघ्नों से लड़ने का सामर्थ्य है। तू हमारे द्वेषियों के आक्रमणों से पार उतरने के लिये उन पर अपनी कृपा का ऋण चढ़ाता है (यही तेरा युद्ध-साधन है—'सामन्यो विपश्चित्' ९.९६.१२)।

अजी॑जनो॒ हि प॑वमान॒ सूर्यं॑ वि॒धारे॒ शक्म॑ना॒ पयः॑ ।
गोजी॑रया॒ रंह॑माणः॒ पुरं॑ध्या ॥ (३ य मन्त्र)

—हे पवमान ! जहाँ जल की धारा भी नहीं थी उस शुष्क प्रदेश में तूने अपनी शक्ति से अन्धकार में सूर्य और निर्जल में जल पैदा कर दिया। इस कार्य में तूने विद्या से प्रेम रखने वाली राष्ट्रहितकारिणी स्त्रियों से खूब सहयोग प्राप्त किया।

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।
सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ (४ थं मन्त्र)

—हे ज्ञान के धारण करने वाले अमर संन्यासिन् ! तू ने मर्त्यों में सुन्दर ज्ञानमय अमृत को उत्पन्न किया। तू अज्ञान के साथ युद्ध में सदा अपना मधुर रसनिष्यन्द रूप लेकर टक्कर लेने के लिये आगे बढ़ता रहा।

अभ्यर्भि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कंचिज्जनपानमक्षितम् ।
शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥ (५ म मन्त्र)

—तू अपने दोनों हाथों में अज्ञानशत्रुघातक शस्त्रों को लेकर युद्ध करता रहा और अपनी कठोर वाणी से मानव-समाज के शत्रुओं का श्रवणमार्ग द्वारा ताडन करता रहा और अन्त में अपने प्रहारों द्वारा उन्हीं कठोर-हृदयों से मनुष्यमात्र के पीने योग्य अक्षय जल-स्रोत का फव्वारा तोड़ निकालने में समर्थ हुआ।

एकादश-शततम सूक्त

अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि ।
तरति स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः ।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥ (१ म मन्त्र)

—इस मधुर मनोहारिणी साममय युद्ध-प्रणाली से शत्रुओं को पवित्र करता हुआ वह शत्रु के आक्रमणों से पार होता है। उसके साथ उसी के समान स्वेच्छा से युद्ध करने वाले स्वयं-सेवक लग जाते हैं। जैसे, सूर्य के साथ सूर्य की किरणें। वह इन सात किरणों के समान सातमुखे स्वरों से युक्त ऋचाओं से सङ्गीत द्वारा शत्रुओं को जीतता है।

त्वं त्यत् पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि ।
स्व आदमे ऋतस्य धीतिभिर्दमे ।
परावतो न साम तद् यत्रा रणन्ति धीतयः ।
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥ (२ य मन्त्र)

—हे संन्यासिन् ! तू कर्म-विमुख जुआरियों तक का धन सन्मार्ग में लगा देता है। वे दुष्ट जो घर में माताओं की सुध तक न लेते थे, उन्हें उनकी माताओं के साथ मिलकर तू ऐसा जीत लेता है कि वे अपने घर में घिर जाते हैं— प्रेमबन्धन में आबद्ध होकर बिलकुल अपने घर में बन्द हो जाते हैं।

ये तेरी कीर्ति-कथाएँ दूर-दूर तक सुनी जाती हैं और दूर से कानों में गूंजती हुई मधुर रागिणी के समान और भी रमणीय होती हैं।

तू इन तीन सप्तकों वाली रागिणियों से एक कीर्ति का थान बुनकर उसे पहिनता है। आहा! क्या शान के साथ तू उसे पहिनता है।

द्वादशशततम सूक्त

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (१ म मन्त्र)

—(अन्यते जीव्यतेऽनेनेति 'आनम्' जीविका-साधनम्) इस संसार में अनेक जीविका-साधन हैं। नाना कर्म हैं। मनुष्यों के भिन्न-भिन्न ध्येय हैं। बढ़ई मरम्मत के योग्य वस्तु की तलाश में है। वैद्य रोने-चिल्लाने वाले की तलाश में है कि उसे ठीक कर दूं। ब्रह्मा सवनकर्त्ता की तलाश में है। जब सब अपने-अपने धन्धे की तलाश में हैं तो, हे संन्यासिन्! तू भी अपने धन्धे में लग और हम सबको लगा। हे इन्दो! अपने मधुर रस की धारा से परमेश्वर की ओर बह निकल।

त्रयोदशशततम सूक्त

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (१ म मन्त्र)

—हे इन्दो! तूने आत्मिक बल सञ्चित किया है, अतः तू कोई बड़ा पराक्रम का काम किया चाहता है तो बस, तू एक काम कर। तू अपना सोम रस वहाँ बहा जहाँ सबसे अधिक हिंसक लोग रहते हों (=शर्यणावति)। वहाँ संसार के दुष्टों का संहर्त्ता इन्द्र तेरी इस करामात को देखे और कहे कि आहा! मेरा भक्त किस सुन्दरता से मेरी ओर बह रहा है। प्रशंसकों के बीच भक्तिरस गान तो सब कर सकते हैं, पर तू हिंसकों के मध्य में बैठकर मस्ती के गाने गा। बस, इस प्रकार इन्द्र की ओर बह निकल।

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (२ य मन्त्र)

—हे सोम! तू चतुर शिल्पी के हाथ पड़ा था। वहाँ से संसार को सुख-वर्षा से सींचने आया है। सुन, किस मसाले से 'आर्जीक' ने तुझे बनाया है—(थोड़ी से थोड़ी सामग्री से, अल्प से अल्प समय में अधिक से अधिक पदार्थ-उत्पन्न करने वाला ऋजु अर्थात् दो बिन्दुओं के बीच में लघिष्ठ सरलरेखा उत्पन्न करने वाला चतुर इञ्जीनियर 'आर्जीक' कहलाता है)।

ऋतवाक (=यथार्थ भाषण), सत्य (=ईमानदारी), श्रद्धा और तप इन मसालों से तेरा सवन अर्थात् निर्माण हुआ है, तू बिकेगा भी तो उस सच्चे परीक्षक की दूकान में। बस, इन्दो! इन्द्र की ओर बह निकल।

पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताऽभरत् ।
तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन् तं सोमे रसमादधुरिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (३ य मन्त्र)

—पहिले गुरु-रूप मेघ की कृपावृष्टि में यह स्नातक बढ़ा, फिर श्रद्धा ने इसका वरण किया।* तब भक्ति-रस के गायकों ने इसे घेर लिया और उसकी मस्ती में पूरा रस भर दिया। बस, हे सोम ! तू इधर-उधर मत देख, सीधा इन्द्र की ओर बह निकल।

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् ।
श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (४ र्थ मन्त्र)

हे संन्यासिन् (=सोम) ! तू नपी-तुली बात बोलता है। ऋत अर्थात् यथार्थ ज्ञान ही तेरा धन है। तू सदा सत्य बोलता है और सदा सत्य आचरण करता है, फिर श्रद्धायुक्त बात बोलता है। हे सोम ! किसी अच्छे गुरु ने तेरा परिष्कार किया है। सो, तू उस ऋत और सत्य के सरोवर इन्द्र की ओर बह निकल।

सत्यमुग्रस्य बृहतः संस्रवन्ति संस्रवाः ।
सं यन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (५ म मन्त्र)

—उस उग्र ज्ञानमय भण्डार के अनेक ज्ञान-स्रोत इधर-उधर फूट निकले हैं। उस रसिया के रस-प्रवाह स्थान-स्थान पर मिट्टी में मिल गये हैं। इन्हें अपनी विद्या के बल से बटोर-बटोर कर और छान-छान कर इकट्ठा कर और फिर, हे रस में सराबोर इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल।

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् ।
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—जहाँ कोई सुनियमबद्ध (=छन्दस्या) वाणी बोलने वाला ब्राह्मण अपनी वाणी के रस से आनन्द उत्पन्न कर रहा हो और स्तुति-गानकर्त्ता उसको धन्य-धन्य कहकर उसकी महिमा गा रहे हों. वहां तू भी पहुँच और उस स्तुतिगान में सम्मिलित हो जा। नीतिकार ने इसीलिये कहा है—

परगुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ नीति-शतक ७९ ॥

बस ! उस रस-प्रवाह में, हे इन्दो ! तू भी इन्द्र की ओर बह निकल।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (७ म मन्त्र)

जहाँ सदा प्रकाश ही प्रकाश है। जिस लोक में नित्य सुख धरा है। उस अमृतमय—अक्षीण

* 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता' शत० १२.७.३.११ ॥

प्रभुभक्तिमय संसार में, हे पवमान ! तू पहुँच चुका है, मुझे भी वहाँ ले चल। (तेरे साथ मिलकर मैं भी बहूँ) हे इन्दो ! उस इन्द्र की ओर बह निकल।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (८ म मन्त्र)

—जहाँ संसार भर के व्यवस्थापक प्रभु का राज्य है, जहाँ द्यौः की—इस देदीप्यमान जगत् की सीमा समाप्त हो जाती है। ये लम्बी-लम्बी सृष्टि-धाराएं जिस समुद्र में चुपचाप विलीन हो जाती हैं वहाँ पहुँचा कर मुझे भी अमर कर दे। हे इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल। तू नदी न सही वहीं रस बहा।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (१० म मन्त्र)

—जहाँ बड़े का डेरा है अर्थात् शरीर का बड़ा जीवात्मा और उसका भी बड़ा परमात्मा ये दोनों जिस समाधिगम्य देश में इकट्ठे होते हैं वहाँ तृप्ति का साधन सदा अन्दर होने से न तृप्ति करने वाला जीव थकता है, क्योंकि यह आनन्द उसे शरीर-साधन के विना स्वयं स्वधा अर्थात् अपने सामर्थ्य से मिलता है और तृप्ति-साधन पर-ब्रह्म के भी अनादि अनन्त होने से नित्यानन्द की प्राप्ति होती है वहाँ पहुँचाकर, हे सोम ! मुझे भी अमर कर दे। हे इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (११ श मन्त्र)

—जहाँ सहज आत्मिक आनन्द और तदुत्पन्न रोमाञ्चाश्रुपातादि मोद सदा विद्यमान है, सब सत्सङ्गी मुदित्त वृत्ति वाले हैं और इकट्ठे बैठकर—वे जितने सत्सङ्गी हों उतनों से गुणित होकर—प्रमुदित होकर बैठते हैं। सब कामनाओं की—नित्यानन्द की कामना है। वह मिलने से जहाँ कामना की कामना भी परिपूर्ण होकर शान्त हो जाती है, उस स्थान पर पहुँचाकर मुझे भी अमर कर दे। हे इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल।

चतुर्दशशततम सूक्त

य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत्।
तमाहुः सुप्रजा इति यस्ते सोमाविधन्मन इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (१म मन्त्र)

—हे इन्दो ! पवमान इन्दु के लिये निश्चित धामों को जिसने ठीक क्रम से पार किया उसको अर्थात् तुझको उत्तम सन्तान कहते हैं और जिस गुरु ने तेरा मन इस पदवी को पाने के योग्य बनाया उसे उत्तम सन्तान वाला कहते हैं। तू और तेरा गुरु दोनों धन्य हैं। हे इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल।

ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधाम्पतिरिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (२ य मन्त्र)

—हे संन्यासिन् ! हे ऋषे ! हे कार्याकार्य के यथार्थ दर्शक कश्यप ! उस संन्यासिराज को—जिसने कि तुझे बनाया है उसे वह स्तुति प्रदान कर जो मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों को दी जाती है। अपनी स्तुतियों से सदा अपनी वाणी को गौरवान्वित करता हुआ उस संन्यासिराज को नमस्कार कर। हे इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल।

सप्त दिशो नाना सूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष न इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (३ य मन्त्र)

—पांच प्रत्यक्ष, एक अनुमान और एक शब्द ये ज्ञान की ७ दिशाएं हैं। इन सबके नाना विद्वान् हैं। पांच इन्द्रिय, मन, बुद्धि ये ७ होता ऋत्विज् बनकर यज्ञ कर रहे हैं। 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्राणि' ये ७ शरीर के मूल धातु-रूप आदित्य हैं। इन सबका यथावत् उपयोग हमें सिखाकर, हे सोम ! हमारी रक्षा कर। हे इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल।

यत्ते राजञ्छृतं हविस्तेन सोमाभि रक्ष नः।
अरातीवा मा नस्तारीन्मो च नः किञ्चनाममदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—हे संन्यासिराज ! हमें अपना परिपक्व स्वानुभूत ज्ञान दे। उसके द्वारा हमारी रक्षा कर। हमें बाह्य और आभ्यन्तर कोई शत्रु परास्त न कर सके। कोई वैभव हमें मदोन्मत्त न कर सके। बस, इन्दो ! इन्द्र की ओर बह निकल (हम भी तेरे पीछे चल रहे हैं)।

॥ इति नवमं मण्डलम् ॥

दशम मण्डल

प्रथम मण्डल में मनुष्य मात्र के अनुकरणार्थ भगवान् ने अपने आपको आदर्शरूप में मनुष्य के सामने रक्खा। "भक्त उस अपने सामने रक्खे हुए (पुरः = सामने, हित = रक्खा हुआ) = पुरोहित = सामने रक्खा हुआ आदर्श)............।"

यहाँ से वेद का आरम्भ हुआ। अब मनुष्य पुष्ट तथा सुशिक्षित (प्रथम मण्डल), सुसमृद्ध (द्वितीय मण्डल), सुरसस्नात (तृतीय मण्डल), सुशासित (चतुर्थ मण्डल), सुरक्षित (पञ्चम मण्डल), विश्वसहयोग-सम्पन्न (षष्ठ मण्डल), विश्वनेता महावसिष्ठ द्वारा सुनीत (सप्तम मण्डल), तथा विश्वमानुष द्वारा स्वयं वृत विश्वराष्ट्रपति के राज्य में बसने वाला बनकर (अष्टम मण्डल), और विश्वविद् आचार्य के तीनों आश्रमों की मर्यादा पालकर चतुर्थाश्रम में प्रविष्ट वैश्वानर संन्यासियों की छत्रछाया में इन्द्रों के इन्द्र परमात्मा की ओर सोम बनकर बह निकला (नवम मण्डल)।

अब मनुष्य पुरोहित घर-घर में जाकर नाना संस्कारों तथा यज्ञ आदि की कल्पना करके वेद की शिक्षा को विश्वव्यापी किस प्रकार बनावे यह दशम मण्डल में सिखाया गया है, इसीलिये यज्ञ-कल्पना का मूल आधार पुरुष-सूक्त इस दशम मण्डल में ही आया है।

यज्ञकल्पना मनुष्य सीखे कहाँ से ? संवत्सर से। यह यज्ञ सृष्टि तथा प्रलय के अनादि प्रवाह में सदा से इसी प्रकार बनता चला आया है और मनुष्यों को यज्ञनाटक (अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त) की कल्पना करने का प्रकार बताता चला आया है।

धाता यथापूर्वमकल्पयत् (१०.१९०.३)

इस संवत्सर-रूप यज्ञ में अभिनयकर्त्ता हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि अत्यन्त विरोधी गुणवाले, किन्तु उस प्रभु के शासन में बद्ध होकर विश्वकल्याण करने वाले 'ऋतु'। यह उनका परस्पर विरोध विश्व का कल्याण इसलिये करता है कि 'सविता' की आज्ञा से उनका समय बिलकुल परिमित है।

यदि वे इस प्रकार मर्यादाबद्ध न हों तो पृथिवी ग्रीष्म से भस्म हो जाय अथवा जाड़े से जम जाय अथवा वर्षा से प्रलय हो जाय, किन्तु अब नियत-परिमाण होने से शरद् से वनस्पतियाँ भोज्य सामग्री संगृहीत करती हैं। वसन्त से धरती खिलती है। ग्रीष्म से खेती पकती है। वर्षा से नये अङ्कुर उगते हैं और शरद् से फिर वही संग्रह आरम्भ हो जाता है। यह एक चक्र है। इसका चाहे जहाँ से आरम्भ करें वहां तक लौटने से संवत्सर पूरा हो जाता है। इस परिमित गति के कारण ही वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतु और इनका सूत्रधार भगवान् ऋत्विज् कहलाता है, इसीलिए शतपथ ब्राह्मण 'संवत्सरो वै यज्ञः' इस वाक्य से भरा पड़ा है। इस वाक्य का बीज पुरुष-सूक्त के ६ ठे मन्त्र में निहित है। मन्त्र इस प्रकार है—

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ (१०.९०.६)

यही वह नाटक हैं जिसके लिए वेद स्वयं कहता है—

'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' ॥ (अथर्व० १०.८.३२)

ऋग्वेद में इस काव्य का रौद्र रसमय रूप दिया गया है—

'देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान' ॥ (ऋ० १०.५५.५)

—देव के रौद्र रसमय काव्य को देखो जो कल जीवित था वह आज मर गया है।

बस, इस संवत्सर-रूप काव्य के अनुकरण पर अग्निहोत्रादि यज्ञों की कल्पना की गई। इन यज्ञों को शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टतः 'काव्य' कहा, महर्षि याज्ञवल्क्य ने किसी अपने से भी प्राचीन ऋषि का प्रमाण देकर लिखा है—'कथमस्य काव्यं कथं सन्ततोऽग्निः' उत्तर में कहा है 'यो जविष्ठो भुवनेषु' ॥ शत. ११.३.१.६ ॥

—प्रश्न—जब विद्वान् प्रवास में होता है उस समय उसके अग्निहोत्र आदि काव्यों का क्या बनेगा ? उत्तर—अग्निहोत्रादि काव्य तो उसके सदा साथ हैं, क्योंकि वे संसार की तीव्रतम वेगवाली सवारी में बैठकर उसके साथ सदा चलते हैं अर्थात् मन में।

बस, इन नाटकों में अभिनेताओं का कार्य करने के लिये अग्नि, जल आदि जड़ देवता तथा प्रणीतापात्र, मृगचर्म आदि पात्र प्रतीक रूप में प्रयोग में आये। पीछे से जब भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र बनाया तब यह अभिनयकार्य मनुष्यों से करवाया गया, परन्तु वे कहलाये 'पात्र' ही, अतएव भरत-नाट्यशास्त्र में लिखा है—यजुर्वेदादभिनयम्' ॥ भरत ना. शा.··········।

इन पात्रों में यज्ञरूप काव्य का रस भरा रहता है।

बस, इस प्रकार के वेद के कल्प नामक अङ्ग का सूत्रपात हुआ। इस कल्पसूत्र का बीज पुरुष-सूक्त में है। यह नाटक अथवा यज्ञ आकाश में सूर्य, चन्द्र आदि देव सदा करते आये हैं। कल्पसूत्रकारों ने इसी के अनुकरण पर यज्ञों की रचना की है। इस कल्पसूत्र की ये क्रियाएँ करने वाला ब्राह्मण मनुष्य-लोक में मनुष्यों के लिये आदर्श है जो कि विश्व-पुरोहित परमात्मा के आदर्श को अपने जीवन में उतार चुका है।

प्रथम मण्डल में, प्रथम मन्त्र में उस विश्व-पुरोहित की स्तुति की गई थी। अब उस विश्व-पुरोहित का अनुगामी मनुष्य-लोक की प्रजा में पुरोहित और होता बना है। यह पुरोहित विप्र-राज्य का राजा है। इस विप्रराज्य का वर्णन ऋग्वेद के 'यज्ञेषु विप्रराज्ये' (८.३.४) इन शब्दों में हुआ है। यही मन्त्र यजुर्वेद में भी ठीक इसी प्रकार आया है (यजुः. ३३.८३)। यही विप्रराज्य का प्रतिनिधि गृहस्थ के घर में बैठा है। यजमान कहता है कि, हे विप्रराज ! आप हमारे पुरोहित हैं। आप हम मनुष्यों को सूर्य, चन्द्रादि देवों से सङ्गत कीजिये।

…'पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान्' ॥ (१०.१.६)

—आप इस प्रकार उन देवों को हमारे बीच बुलाने वाले हैं।

…'विक्षु मानुषीषु होता' ॥ (१०.१.४)

—मनुष्य-प्रजा में देवों का आवाहन करने वाले हैं।

देवों का आवाहन किस प्रकार होता है ?

'आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनु प्र वोढुम्' ॥ (१०.२.३)

—पुरोहित की कृपा से हम सूर्य, चन्द्रादि देवों के मार्ग पर उनका अनुकरण करते हुए चलने वाले बन गये हैं। हम जीवन-यात्रा के रथ को उनके मार्ग पर पूरी तरह तो नही चला सके, परन्तु कुछ अंश तक तो इस रथ को उनके पीछे-पीछे वहन करने में समर्थ हो गये हैं।

परन्तु यह सब हुआ किसकी कृपा से—

अग्निर्विद्वान्त्स यजात् सेदु होता ।
'सो अध्वरान्त ऋतून् कल्पयाति'

—इन देवों के चरित्र को विद्वान् पूर्णतया जानता है, वही हमारा अग्रणी है। वही इन आकाशस्थ देवों से सङ्गतीकरण करके तथा इनकी यथार्थ ज्ञानरूप पूजा करके गुणों का ज्ञान हमें देता है। इस प्रकार आकाश के देवों को हमारे अन्दर बुलाता है, इसीलिये वही होता है और वही अग्निहोत्रादि नाना यज्ञों की कल्पना करता है। वही हमारे जीवन के लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थादि के और दिनचर्या में प्रातः, सायं, मध्याह्न, उत्तराह्ण, रात्रि आदि के नित्यकर्मों के लिये ऋतु अर्थात् नियत समय-विभाग का निर्माण करता है। बस, यही इस दशम मण्डल का विषय है, इसीलिये इसके प्रथम सूक्त में उसे पुरोहित तथा होता कहा है।

द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में उससे प्रार्थना की है—

…'ऋतूँ ऋतुपतेयजेह' ॥

साथ ही कहा है कि आकाश में ये सूर्य, चन्द्रादि जो 'दैव्या ऋत्विजः' देवलोक के ऋत्विज् हैं उनके द्वारा उनके मर्म समझकर 'त्वं होतृणमस्या यजिष्ठः'—तू होताओं में यज्ञवित्तम ऋत्विज् हो गया है।

यहाँ एक बात और भी बहुत मर्म-प्रकाशक है। वह है 'कल्प' (='कृपू' सामर्थ्ये) धातु का प्रयोग—

'कल्प' धातु के निम्नलिखित प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध हैं।

५२

कल्पय	१०.१८.५	कल्पयावहै	१०.८६.२१
कल्पयतु	१०.१८४.१	कल्पस्व	१.१७०.२
कल्पयन्तः	८.५८.१	कल्पेषु	९.९.७
,,	१०.११४.६	अकल्पः	१.१०२.६
कल्पयन्ति	१०.११४.५		
कल्पयस्व	१०.१०.१२	अकल्पयत्	१०.१९० ३
कल्पयाति	१०.२.३	अकल्पयन्	१०.९०.१४
,,	१०.२.४	चाक्लृप्रे	१०.१३.५

इनमें से १.१०२.६, १.१७०.२, ८.५८.१, और ९.९.७ केवल ये चार दशम मण्डल से बाहिर हैं।

अब प्रथम मण्डल को लीजिये—१०२ सूक्त में 'अकल्पः' इन्द्र का विशेषण है अर्थात् वह इन्द्र अपने सामर्थ्य से बलवान् है, दूसरों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता।

१७० वें सूक्त में इन्द्र से कहा गया है 'भ्रातरो मरुतस्तव । तेभिः कल्पस्व साधुया' मरुत् तेरे भाई हैं उनके साथ मिलकर तू हमारी भली प्रकार रक्षा कर। यहाँ इन्द्र का अर्थ राजा है।

'विश्व की एकता' रूप यज्ञ को संसार के ब्राह्मण ऋत्विज् बनकर—

···'बहुधा कल्पयन्तः···वहन्ति' (८.५८.१)

इस प्रकार कहा गया है। सो ८ वें मण्डल में, ३ य सूक्त में विप्रराज्य का वर्णन आ चुका है, परन्तु 'यज्ञ की कल्पना किस प्रकार की जाती है' यह वर्णन—'सो अध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति' (१०.२.३) इस दशम मण्डल में ही है। विवाहादि संस्कारों का तथा अन्य गृह्यकर्मों का वर्णन दशम मण्डल में ही है, अन्यत्र नहीं।

९.९.७ में भी यही कहा है कि सोम आचार्य कल्पों के द्वारा अविद्या अन्धकार का नाश करे, किन्तु उन कल्पों की रचना का प्रकार दशम मण्डल में ही है, यह स्पष्ट हो गया, इसीलिये होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इन चारों ऋत्विजों का क्या-क्या कार्य है यह बताने वाला—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥ (१०.७१.११)

यह मन्त्र दशम मण्डल में ही आया है।

जिन सूर्य, चन्द्रादि देवताओं के यज्ञ के अनुकरण पर (यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत) यज्ञों की कल्पना की गई उनका प्रतिपादक पुरुष-सूक्त इसी मण्डल का ९० वां सूक्त है। इससे ५ सूक्त पूर्व ८५ वें सूक्त में 'सूर्या' के विवाह द्वारा गृहस्थाश्रम का स्वरूप तथा विवाह-संस्कार दिखाया गया है। इसका अर्थ यह है कि ८९ वें सूक्त में, 'सो अध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति' (१०.२.३) इस

कल्पना की व्याख्या की गई है और ९० वें सूक्त से उस सृष्टि-रूप महायज्ञ का वर्णन आरम्भ होता है जिसके अनुकरण पर ये यज्ञ कल्पित किये जाते हैं। फिर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर जाते-जाते १२९ वें सूक्त में सृष्टि से पूर्व की अवस्था तक पहुँचा दिया गया है। यह प्रसिद्ध 'नासदीय' सूक्त है।

इन सारे क्रमों के आधार पर मानव-समाज के निर्माणार्थ राज्य, सभा और राजा आदि की कल्पना है। किं च, उन समाज-शास्त्र के तथा राज्य-व्यवस्था के नियमों को घर-घर पहुँचाने के लिये यज्ञ-कर्मों की रचना विद्वानों द्वारा की जाती है, इसलिये १३० वें सूक्त का प्रथम मन्त्र ही देखिये—

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः ॥

यह ब्रह्माण्ड-रूप जो विश्वतस्तन्तु यज्ञरूप वस्त्र तना हुआ है, इसी के अनुकरण पर विद्वानों ने देवकर्म अर्थात् अग्नि-होत्र आदि कर्मकाण्डों का विशाल थान बुना है।

इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते ॥ (१०.१३०.१)

ये ऋतु-रूप पितर इस ब्रह्माण्ड-रूप ताने को बुन रहे हैं।* यह दिखाते हैं। हम जाते हैं, अब तू बुन। जो हैं उन्हें कहते हैं 'प्रवय'। जो काम कर चुकते हैं उन्हें कहते हैं—'अप वय'। दृष्टान्त 'ऋतु' स्वयं हैं। हर ऋतु अपना काम करके चल देता है और दूसरे को कहता है—'अब तू बुन।'

ये ऋतु छह धारियों वाला संवत्सर-रूप थान बुनते हैं यह बात अथर्व-वेद में भी ('तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्' अ० १०.७.४२) आई है। उन्हीं मयूखों का ऋग्वेद १०.१३०.२ में भी वर्णन है। मन्त्र इस प्रकार है—

पुमाँ एनं तनुत उत् कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥

१४९ वें सूक्त में 'सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्' (१ म मन्त्र) कहा गया है। नाना प्रकार के नियम बनाकर विधान-निर्माता सविता ने पृथिवी को रमणीय बना दिया।

१५० वें सूक्त में विश्व के महावसिष्ठ पुरोहित का वर्णन है। वही सविता का सहायक है—

…'अग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहितः' ॥ (५ म मन्त्र)

यह विश्व-पुरोहित अग्नि को बुलाता है। वह श्रद्धा से ही बुलाई जा सकती है, इसलिये १५२ वें सूक्त में कहा—

शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ (१५२.१)

वही शासक महान् बनता है जो इस प्रकार वसिष्ठ के निर्देश में चलता है। वह इन्द्र अद्भुत

* ऋतवो वै पितरः। ऋतवः पितरः (शत, २.४.२.२४)

शक्तिनाशक होता है। वह कभी मारा नहीं जाता। मारा जाना तो दूर रहा वह कभी परास्त भी नहीं होता।

ऐसे शासक के राज्य में घर-घर में गृहपत्नी इस प्रकार अभिमान करती है—

एकोनषष्टिशततम सूक्त

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद् विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥ (१ म मन्त्र)

—मैं सूर्योदय के पूर्व उठ गई हूँ। सूर्य मेरे सामने उदित हो रहा है। सूर्य क्या उदित हो रहा है, मेरा सौभाग्य उदित हो रहा है। प्रातःकाल आलस्य त्याग कर उठने की महिमा को मैं जानती हूँ, इसीलिये पति के कर्त्तव्यभार को तथा कठोर से कठोर परिस्थियों को सहन करने की शक्ति मुझ में जाज्वल्यमान है।

अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥ (२ य मन्त्र)

मैंने इस कर्मठता का फल भी पाया है। मैं इस घर का झण्डा हूँ। इस घर का सिर मानी जाती हूँ। हर बात में कठोर से कठोर समालोचना मैं कर लेती हूँ और मेरी इस सहनशीलता के कारण ही मेरे निर्धारित कर्त्तव्य-मार्ग को पति भी स्वीकार करके उसके अनुसार आचरण करता है।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥ (३ य मन्त्र)

—मेरे पुत्रों ने भी आलस्य को जीत लिया है, इसलिये वे सर्वत्र शत्रुहन्ता के नाम से विख्यात हैं। मेरी बेटी जहाँ जाती है, सब आदरपूर्वक कहते हैं **'आइये, विराजिये'**, इसलिये उसका नाम विराट् पड़ गया है। मैं अपने पति को इस प्रकार जीतने में समर्थ हुई हूँ। चारों ओर मेरा तथा मेरे पति का उत्तम यश फैला हुआ है।

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥ (४ र्थ मन्त्र)

—प्रातःकाल प्रतिदिन मैं सूर्य को देखकर यही पाठ पढ़ती हूँ कि इस नक्षत्र-लोक के इन्द्र ने परमपिता परमात्मा को अपनी कर्मठता से प्रसन्न करके यह तेजस्विता का वरदान पाया है। बस, जो हवि यह प्रतिदिन उस प्रभु को देता है वही स्वकर्मपरायणता-रूप हवि मैं भी उस प्रभु के अर्पण करती हूँ, इसलिये मैं भी अपने समाज में शत्रुरहित हो गई हूँ।

हे देवो! कर्मयोग का यह प्रभाव है—

असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव ॥ (५ म मन्त्र)

—देखो कर्मयोग का प्रभाव। मैं बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार की गिरावट से बची हुई हूँ। इतना ही नहीं, उनको मार भगाती हूँ। फिर, इसके लिये मुझे उनसे टक्कर नहीं लेनी पड़ती। वे मेरे प्रताप से अभिभूत होकर भाग जाते हैं, इसीलिये मेरा नाम 'संजया' और 'जयन्ती' पड़ गया है। मैंने सब दुष्ट स्त्रियों का तेज वैसे ही छीन लिया है, जिस प्रकार चञ्चल मनुष्य का धन छिन जाता है। कारण यह है कि मैं तो कर्त्तव्य-मार्ग में स्थिर हूँ और वे जहाँ-तहाँ निन्दा-चुगली करती भटकती हैं'

समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥ (६ ष्ठ मन्त्र)

—मैं शची पौलोमी हूँ अर्थात् सदा पुलकित लोमों से पहिचाने जाने वाली, सदा प्रफुल्लित आशावादिनी महाशक्ति हूँ। जो दुष्ट स्त्रियाँ मुझे गिराने आती हैं—नाना प्रकार के प्रलोभनों से मुझे पतनमार्ग की ओर ले जाना चाहती हैं। मुझे देखकर इतनी अभिभूत हो जाती हैं कि उनकी, दुष्ट प्रस्ताव करने की हिम्मत ही नहीं होती। इसके दो कारण हैं। मैं सदा प्रयत्नशील रहती हूँ कि यह वीर अर्थात् मेरा पति जो मेरे हृदय में सदा विराजता है, मैं भी इसके हृदय में विराजूं। किं च, मैं कभी सौभाग्यमदगर्विता होकर जनता को चिढ़ाती नहीं। उलटा उनके भी हृदय में विराजने के लिये ऐसी तत्परता से सेवा करती हूँ कि सदा इनके (=पतिदेव के) हृदय में भी विराजूं, जनता के हृदय में भी।

इसी प्रकार १६६ वें सूक्त में उद्योगशील पुरुष का वर्णन है।

१७२ वें सूक्त में, ऐसे उत्तम राजा को प्रजा किस प्रकार आशीर्वाद देती है यह दिखाया है।

१८१ वें सूक्त में इस प्रकार के राजा को उसके राजनीतिज्ञ पुरोहित किस प्रकार सन्मार्ग दिखाते हैं और वह शिक्षा कहाँ से प्राप्त करते हैं यह बताया है।

१८२ वें सूक्त में राजमन्त्री का वर्णन है।

१८३ वें सूक्त में राजा एक सद्गृहस्थ के रूप में—यजमान के रूप में उपस्थित होता है और 'होता' उसे तथा उसकी पत्नी को आशीर्वाद देता है और अपने लिये परमात्मा से आशीर्वाद मांगता है। इन तीनों में उत्तम सन्तान मांगी गई है। पहिले उत्तम राजा का वर्णन है, इसलिये समाप्ति उसके उत्तराधिकारी पर ही होनी चाहिये।

१८४ वें सूक्त में वह प्रसिद्ध मन्त्र है जिसका गृह्य सूत्रकारों ने गर्भाधान संस्कार में विनियोग किया है। और जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि विष्णु अर्थात् मानव-समाज जिस गर्भ को बुलावे उसके लिये पहिले स्थान बना ले। यह नहीं कि धड़ाधड़ अनियन्त्रित अतिथि धरती पर पड़ते रहें—

'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' ॥ (१ म मन्त्र)

फिर १८९ वें सूक्त में कल्पसूत्र के आधार-भूत देवलोक अर्थात् सृष्टि में से सनातन माता-पिता द्यौ और पृथिवी संसार भर के आदर्श यजमान के रूप में उपस्थित होते हैं। जिस वेद का आरम्भ पुरोहित अग्नि से हुआ उसकी समाप्ति के पूर्व यजमान और यजमान पत्नी क्यों न आवें।

१९० वाँ सूक्त प्रसिद्ध अघमर्षण सूक्त है, जिसमें कहा गया है कि धरती के कल्पसूत्रकार सदा से इस सृष्टि में से यज्ञ-कल्पना करते आये और करते रहेंगे। यह प्रवाह अनादि-अनन्त है—

'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' ॥ (३ य मन्त्र)

अब १९१ वें सूक्त में अर्थात् अन्तिम सूक्त में 'अग्नि' अर्थात् **पुरोहित** से कहा गया है कि गृहस्थाश्रम का रूप तो हमने दिखा दिया। अब बालकों के मस्तिष्क-निर्माण से लेकर सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य तक के संगठन की विद्या घर-घर में पहुँचाने के लिये दर्शपौर्णमासादि यज्ञों की कल्पना करो, जिसके द्वारा—

'सं गच्छध्वं सं वदध्वम्' ॥

तुम्हारी चाल एक सी हो, बात एक सी हो।

यह 'संगच्छध्वं' की आज्ञा ही यजुर्वेद का मूल है। जहाँ ऋग्वेद की समाप्ति होती है वहाँ 'यजुः' अर्थात् संगठन का वेद आरम्भ होता है, **यह वेद-समन्वय है।**

॥ इति दशमं मण्डलम् ॥

इस प्रकार हमने ऋग्वेद के दशों मण्डलों का तथा तदन्तर्गत सूक्तों का **मणिसूत्र** संक्षेप से दिखा दिया। इससे पाश्चात्त्य लोगों की यह कल्पना कि **" ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों का निर्माण भिन्न-भिन्न कालों में हुआ"** भूमिसात् हो गई। साथ ही आने वाले भाष्यकारों के लिये दिग्दर्शन हो गया।

इस समय ७० वर्ष की आयु मौद्गल्य की हो गई है। शतपथभाष्य का कार्य पूरा करना है। वह पूरा हो गया और जीवन शेष रहा तो चारों वेदों का भाष्य लिखेंगे, नहीं तो यह कार्य शिष्य-परम्परा में कोई पूरा करेगा।

धन्यवाद है उस योगिराज दयानन्द को जिसकी कृपा से मुझे इस **मणिसूत्र** का दर्शन हुआ। अब इस ग्रन्थ को इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं—

बार-बार नर-जीवन पाऊँ, बार-बार बलिदान चढ़ाऊँ।

ऋण तो भी मुझ से ऋषि तेरा जावे नहीं चुकाया॥

परिशिष्ट (१)

अनुसूत्रकम्

अर्थात् 'अनुगमन' सूत्र के सम्बन्ध में कुछ :

[१]

अनुगमन की प्रतिपत्ति : सृष्टि-व्यवस्था में

इन अनुक्रमणियों में एक प्रतीक अंकित है—'अनु, अनुकरण द्वारा': जिसका इंगितार्थ प्रतीत यह होता है कि पशु जगत् ही में नहीं, हम मनुष्यों के जीवन में भी, अनुकरण का महत्त्व कुछ कम नहीं होता। 'अनुकरण' जैसे, जीवन-प्रक्रिया का अविभाज्य अंग हो, मूलमंत्र हो, लक्षण हो। कुछ ही पृष्ठ बाद, पुनः सामने आता है—'द्युम्नैः दिन-दिन के परिश्रम से': अर्थात्—पशु यदि मनुष्य की, और मनुष्य देवों की, रोज-रोज (बिला-नागा) नक़ल न करता रहे तो यह गाड़ी, जिन्दगी की, दो कदम आगे न चलने पाये [अग्रे-न]। सम्भवतः इसी कारण, वैदिक प्रार्थनाओं की टेक प्रायः कुछ इस प्रकार की सुन भी पड़ती है : 'स्वस्ति पन्थाम् अनुचरेम, इन्द्र त्वा शूर अनुचरेम (८.६१ ५); ते ह इमे मनुष्या अनु देवान् यतन्ते'।

हैवान इन्सान की नक्ल करता है, और इन्सान फरिश्ते की; और ये फरिश्ते—वे किसकी नक्ल करते हैं ?—इसका उत्तर भी वेद में है: 'प्रशिषं यस्य देवाः; द्यौरिव भूम्ना—पृथिवी वरिम्णा'। वैसे, ऊपर-ऊपर से पहली नजर में, देवयज्ञ के इस उपक्रम में दीखता भी यही है कि (१) भूमा [विकास, विस्तार] द्यु में स्वधर्मणा-सिद्ध है, स्वतः-प्रमाण है; जब कि (२) पृथिवी को (हम पार्थिवों को) उसका अनुदिन वरण करना पड़ता है—निरंतर अभ्यास द्वारा हमें उसे स्व-गत करना पड़ता है, अन्तः-स्थ करना पड़ता है, किन्तु 'यस्य प्रशिषं देवा उपासते' का अर्थ खुद ब खुद इतना साफ है कि इस सारी सृष्टि-व्यवस्था का सूत्रधार कोई अधिदेव है; उसी के साथ फिर, प्रसंगात्, यह धारणा भी वैदिक ऋषियों की इस पदावली से असंदिग्धरूप में विस्पष्ट हो आती है कि 'उपासना' की मूल भावना आज्ञाकारिता/अनु कारिता की (प्रशिषम्-उपासन की) ही थी। ईशोपनिषद् के 'क्रतो स्मर' का स्व-धर्म, 'कृति-परता' नहीं 'अनुकृति-परता' है।

'मणिसूत्र' का सारा भवन इसी 'अनुकरण' की भित्ति पर खड़ा है: अग्नि हम मनुष्यों का पुरो-हित है, आदर्श है—जिसकी दैवी व्यवस्था को जीवन में उतार कर ही हम धरती पर स्वर्ग ला सकते हैं। दसों मण्डलों के आवर्ती प्रतीक पद, जीवन-विकास के ये अनुक्रम-बद्ध दशावतारी से पड़ाव—पुष्टिवर्धन, रयिवित्, कविक्रतु, प्रचेताः, गणपति, पवमान—सब उसी अग्नि के विशेषण मात्र हैं। अर्थात् मणिसूत्र के अन्तर्-दृक् आनिषत्ता की 'अण्वी धी' [तत्त्वाभिनिवेशिनी बुद्धि] से प्रेरणा पाते हुए हम, अब, कह सकते हैं कि मौद्गल्य की प्रस्तुत मणिसूत्री-स्थापना के अनुसार ऋग्वेद का उपदेश-सार (एक शब्द में) है—अ[१]-ग्निः[२] अग्नि[१] का अ[२]नुगमन्।

बुद्धदेवीय 'अनुगमन' दृष्टि में वह दयानन्दीय अनादित्रयी, जैसे, एक नया रूप लेकर उपस्थित है: देवाधिदेवात् (१) प्रकृति देवेषु (२) ततो (वा समकालं वा) अस्मासु जीवेषु (३)।

(२)

अनुगमन की साक्षी स्वयं मणिसूत्रकार में :

और यह निष्कर्ष बुद्धदेव विद्यालंकार के आजीवन वेदाध्ययन, वेद-प्रचार का निचोड़ है जिसे हमने इतनी सुगमता के साथ यहाँ उपस्थित कर दिया। ऋषि दयानन्द का दैवयोग यदि न होता तो आचार्य सालग्राम का पट्ट शिष्य एक रस-सिद्ध कवि होकर कुछ अन्यथा ख्याति भर प्राप्त कर जाता। बस, दीक्षांत के समय यदि पिता रामचन्द्र मौद्गल्य ने गुरुकुलोत्सव पर दो वाक्य निराशा-मिश्रित रोष के कुल के अधिकारियों को फटकार में न सुनाये होते, तो कवियों के प्रियतम रस 'शृंगार' से विमुख होकर हमारे अभिनव कालिदास की तीसरी आँख यजुर्वेद के ऋषिभाष्य में आये दो पदों 'उत्तमः पराक्रम-रसः' से और आगे कैसे खुल पाती ?; एक और ही रस-दृष्टि—'**वात्सल्य** के व्याघात से **वीर** की उत्पत्ति होती है, और वीर रस के व्याघात से पुनः **भक्ति** की निष्पत्ति होती है [शृंगार तो मात्र एक रसाभास है]। रस तीन ही हैं और एक ही अलंकार—**परिकर** : वेद में पर्याय नहीं होते—सार्थक विशेषण होते हैं (संज्ञाएं नहीं)।

अब उसे अनुभव होता गया कि वेद तथा दयानन्द की ऋषिदृष्टि के अतिरिक्त सारा काव्य-साहित्य एक निम्न कोटि की हेय, अ-काव्य वस्तु है। ऋषि ने कभी कहीं संकेत छोड़ा था कि वेद के तत्त्वार्थ तक पहुँचने के लिए याज्ञवल्क्य का शतपथ एक अनुपेक्ष्य कुंजी है, झट, मौद्गल्य ने एक वर्ष का एकांत ग्रहण कर लिया और पाया १—कि अरे! **सोम** कोई बूटी नहीं, गुरुकुल से निकला 'स्नात, बभ्रु, पिंगल, शोभा की सजीव मूर्ति नवस्नातक है; २—कि **मरुतः** घुट्टी में मारण/मरण पी मदहोश हो रहे' वीर सेनानी हैं; ३—कि शतपथ की अपनी कुंजी-'**शतपथ में एकपथ**'—यदि 'तानि इमानि कपालानि मस्तिष्के-एवं पिष्टानि'; महावाक्य है तो ४—याज्ञवल्क्य/दयानन्द का उपदेश-सार-वाक्य भी इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था का पुनरुद्धार किए बगैर राष्ट्र का, विश्व का, मानव का उद्धार असम्भव है (परिणामतः, मौद्गल्य ने (१९३६ में) 'आर्यों के घर' की एक विस्तृत योजना भी बनाई ५—कि **अथर्व (प्रथम काण्ड)** की ओर एक संकेत-सा मिला तो अनुभव हुआ : क्यों न, सृष्टि-व्यवस्था का नाभि **गृहस्थ-आश्रम** को मान, वर्णाश्रम-व्यवस्था का कार्यान्वयन शुरु कर दिया जाय ? और ६—कि इन सबसे बढ़कर **शर्यणावत** (मण्डल ९) में ऋषि सोम का धर्मसाक्षात् मेरा बाबा निरन्तर बढ़ते संघर्षों में से 'बलं दधान आत्मनि' जयी, बलवत्तर स्वर्णतर होकर, जैसे, वर्णाश्रमी-व्यवस्था का आदि-पुरुष बनकर निखरता इधर कुरुक्षेत्र की ओर बढ़ा चला आ रहा है। [जब कि ७—यास्कीय 'तदेतन् नर-राष्ट्रमिव' का योजना-बीज हमारे इस गुरुकुल के नवस्नातक के हृदय में चुप-चाप पड़ा कहीं विद्यार्थी काल से ही अपने लिए धातु रसायन संचित करता आ रहा था] ! और ८—कि **स्वर्** को अभिमुख पथ **स्वर्-ग तीन है—स्वः** अर्थात् संन्यास आश्रम [मण्डल ९: का हृदय-स्पन्दन]। उनका गन्तव्य है = परिणाम निकला: [क] युग की पुकार वेद के प्रति आज परम्परागत आधिभौतिक + आधिदैविक + आध्यात्मिक अभिनिवेश के लिए उद्युक्त न होकर, किसी 'अधिराष्ट्र' दृष्टिकोण के लिए उन्मुख, उपयुक्ततर प्रतीत होती है; और कि [ख] हमारा राष्ट्र-गीत 'आ ब्रह्मन्' होना चाहिये। बुद्धदेव जिस पुरोहित को (अनुकार्य आदर्श को) समर्पित था वह था अजेय योगी दयानन्द......।

.......ऊपर हमने साठ साल की एक विलक्षरण प्रतिभा तथा अनवरत साधना को एक ही पृष्ठ में संक्षिप्त कर देने की धृष्टता की है, परन्तु अग्नि-होत्र में यज्ञशेष को जल में संचित करने के लिए (१९१८ में) अपेक्षित प्रमाण को ढूंढ निकालने में जिस मनीषी ने १४ वर्ष लगा दिये [देवयज्ञ, १९३२] और फिर, उसी यज्ञ के उद्गीथ में ही, तीस वर्ष पश्चात् [१९६२ में] अकस्मात् सम्पूर्ण वर्ण-व्यवस्था के मूल को ही जैसे "द्यौरिव भूम्ना, पृथिवी वरिम्णा" की द्विगुणी उपमा में पा लिया : मणिसूत्र के क्रांतदर्शी कवि के अनुसूत्र को न भाँप पाना—और भाँप कर, पुन उसी उल्लास के साथ रसिकविदों के सम्मुख उपहृत न कर देना—शायद इससे भी अधिक अक्षम्य होता।

[३]

अनुगमन की आत्मकथा :

'मण्डलान्मण्डलम्' अग्नि की तीर्थयात्रा में

ऐसा था एक-एक पद के पीछे सम्भृत बुद्धदेव विद्यालंकार का अध्यवसाय स्वाध्याय, प्रातिभ समर्पण-रूप पृषदाज्य। अनुक्रमणी का संचयन, सम्पादन करते हुए हम भी बड़ी आसानी के साथ विशिष्ट पदों, उद्धृत पद्यों, पद्यांशों, सूक्तों के संकेत [भी] यहाँ प्रस्तुत कर सकते थे; किन्तु वैसा करना ऋग्वेद की अनुक्रमणी अधिक होता, बुद्धदेव—समर्पण की अनुक्रमणी कम। सो, उस प्रलोभन से वचते हुए, हम पुनः बुद्धदेवीय अनुकरण का मूल अनुसूत्र हाथ में लेते हैं और देखते हैं कि देवयान पर [मण्डल-१ में] निकल चले हमारे तीर्थयात्री [अग्नि] की स्थिति अब [मण्डल ९, १० में] क्या है—

अग्नि की वह परिणति—वहन से विहान की ओर अग्रसर होते हुए, सौम्य में अवसित है, पवमान है; साथ ही—उसके विशेषणों में अब इन्द्र के गुण निरन्तर वढ़ते जा रहे हैं। उधर इन्द्र स्वयं आकुल है—कब मैं वरुण में विलीन होकर धन्य होता हूँ ? बहुत थक गया ! इन्द्राग्नी, दोनों का जैसे ब्राह्म संस्कार हो चुका हो—अग्नि/इन्द्र को अब ब्रह्मन् वीर कहकर सम्वोधित किये जाने लगा है। सोम, इन्द्र नहीं, एक एव अदाम्य विश्वदेव रह गया है। अग्निहोत्र की जिस साक्षी से मौद्गल्य ने द्यु से पृथ्वी पर वर्णव्यवस्था के अनु वहन का मूल संकेत पाया था, उसका अभिप्राय अब प्रतीत होता है : जैसे, हृदय में प्रज्वलित होने वाली संकल्पाग्नि, कहीं वाहर से आहित न होकर अन्तस् से प्रतिबुद्ध हुई थी, हुआ करती है—प्रतिजागृहि द्यु का स्व-धर्म यदि भू अभिमुख भूमा में है, तो पृथ्वी का (स्वधर्म) स्वर्-अभिमुख वरिमा [स्वरिमा] में ! द्यावा-पृथिवी का प्रवेश 'नेता नीयमान' के प्राकृतिक अविभाज्य युगल के रूप में हुआ था—द्यु=नेता (अनुकार्य) और पृथ्वी= नीयमान (अनुकर्ता); किन्तु अब स्थिति वदल चुकी है : 'देवो अनुयतते जनान् (९. ९२. ३)। 'विश्वे देवाः' वहुत पिछड़ चुके हैं, और हमारा विश्वमानव परिव्राट् आज 'देवत्रा-देव'=विश्वदेव बन चुका है—एक ही कदम उसके लिए अब वाकी रह गया है और वह है—सविता की आदि मूल= मूलभूत सर्वव्यवस्था में निमित्त मात्र हो जाना। और अब जब 'इळा देवेभिर्मनुष्यैः' पृथिवी का पृथ्वी-पुत्रों ने स्वयं कायाकल्प कर ही डाला है, सारी व्यवस्था, प्रतीत होता है, मानो अपनी पुरानी देवानुकूलता से वेदानुकूलता में परिणत हो चुकी है ! अनुव्रतः में आज के, मण्डल-१० के सौन्दर्य में, अर्थ है—गृहिणी की गृह-व्यवस्था का अनुगमन। व्रत व्रती के हृदय से प्रति-बुद्ध होकर, एक ही साथ उसके मुख को एक अद्भुत किन्तु स्वाभाविक कान्ति (वर्ण) दे गया है और

उसे देवों का स्नेह-भाजन [हयंत यमेष वृणुते, ब्रह्मवर्म ममान्तरम् आवृणोति-इव] भी बना गया है।

ऋग्वेद का आरम्भ पुरोहित अग्नि की स्थिति के साथ हुआ था; उसका अन्त स्वयं अग्नि के मुखर होने के साथ हो रहा है : 'तुम्हारे घरों में' मन, वचन, कर्म की यह सम्-व्यवस्था (एक-रूपता) वैसी ही बनी रहे जैसी 'देवानां' उस 'प्रथमे युगे' थी ! बस, तुम्हारी यह 'श्रेष्ठतमाय-कर्मणे' यज्ञ में व्यापृति नित्य (अध्वर) बनी रहे।

यह यदि स्पष्ट ऋक्=यजुष् का स्वाभाविक संगतिसूत्र है, तो : यही यज्ञदृष्टि, परस्तात्, यज्ञरूप यजुष् की परिसमाप्ति पर=सामरूप उद्गीथ/उत्सव में भी उतनी ही स्वाभाविक होगी, और अन्त में, उसी स्वाभाविकता के साथ, यज्ञशेष प्रसाद लेते हुए, अथर्वन् के छन्दांसि के साथ तीर्थस्थान से 'अथ-अर्वाक्' घरों को वापसी की संगति/'मणिसूत्र' ने हमारे हाथ यही अनुसूत्र टिकाए हैं जो हमें वेद की, एवं वेद के सम्पूर्ण तन्त्रावाप के तत्-ज्ञ/वि-ज्ञ बुद्धदेव की सतत-अनुसूत्रता के समानरूप से द्योतक प्रतीत हुए हैं।

[४]

अनुगमन शेष' : कुछ उपयोगिता हमारे लिए भी।

किन्तु जीवन-सूत्र के रूप में अनुकरण की इस मूल वृत्ति की उपयोगिता अभी शान्त हुई प्रतीत नहीं होती। वह तो, जैसे, एक जीवन-मन्त्र अपि वा जीवन-दृष्टि बनी एक संजीवनी हो। हमारे लिए, बस, एक अन्तिम प्रश्न अब शेष रह जाता है—हम किस का अनुगमन करें ? पुराणी दभीति [दबे-दबे रहने की प्रवृति] जब खुद ब खुद इध्मभृति [पराये दुःख को मोल ले-लेने की 'बुरी आदत'] में परिकल्पित होती-होती स्वधा ही बन गई—अनुशासन की जब आवश्यकता ही नहीं रह गई [अपना शंसन ही जब शासन बनने लगा] कर्मयोगिता से तो अब मुक्ति मिल नहीं सकती; और कर्त्तव्य-शेष का यह बोध जो थोड़ा-बहुत मणिसूत्र के इन अनुसूत्रों के अवबोध से हमें आज मिल रहा है, मुक्ति-पद के लिए हमारे रहे-सहे व्यामोह को भी ध्वस्त कर देता है।

गुरुवर की विरासत हमें उसी रूप में मिली है जिस रूप में उन्हें किसी दैवी क्षण में प्रतिभासित हुआ था कि वसिष्ठ उर्वसी की मानस सन्तान है। मणिसूत्रकार की ही एक मानस पुत्री [वनस्थली विद्यापीठ की वेदोपाध्याय डा० कुसुमलता आर्य वेदाचार्य] ने, पिता की वैदिक दृष्टि में वैज्ञानिकता की पूरकता देते हुए, ये अनुसूत्र समुपस्थित किये हैं कि सूत्रकार के अन्तर्मन के कुछ-एक सूत्रक वेद के अनुसन्धित्सुओं के लिए कितने उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, जिसका एक पूर्ण निदर्शन 'पुरुष-सूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन' में अनुवीत हो भी चुका है। अनुसूत्रों की यह परम्परा ऋण-मुक्ति का साधन नहीं, अब तो जैसे, शब्द की तह में पहुँचने वाली मणिसूत्री निवचनी-दृष्टि के अनुसार तो और भी गहरे उतरने उछलने में ही, प्रत्युत, जीवन की सार्थकता अधिक प्रतीत होने लगी है और पुत्री का अर्थ भी तो होता है ना अभिपूर्त्ति-वेद-परम्परा में वैज्ञानिक दृष्टि की अभिपूर्त्ति। और ये अभिपूर्त्तियाँ-जिनके सूत्र इन 'अनुसूत्राणि' में पृष्ठ-पृष्ठ पर आकुल हैं—हम सभी यथाशक्ति, यथाबुद्धि कुछ-न-कुछ कर ही सकते हैं। इसी उद्देश्य से, अनुक्रमणियों की परम्परागत पद्धति को प्रायः छोड़ते हुए, यह सम्पादन हाथ में लिया भी गया था : जो भी कोई सूत्र जिस किसी को भी जहाँ कहीं से, अनुकूल पड़े उसी सिरे से वह अपनी गवेषणा शुरू कर दे। सं-हिता के अनु-संधान में अवरोध नहीं आना चाहिये। हम एक बार फिर क्षमा माँग लें, ये अनुसूत्र मणिसूत्रकार की अन्तर्यात्रा को अभिलक्ष्य करके हैं, ऋग्वेद के प्रतीकों को अभिलक्ष्य करके नहीं।

सूत्रमात्रकम्

मण्डलान्मण्डलं गच्छेत्

मण्डल	प्रतिपाद्य	प्रतिपादक पद	प्रतिपत्ति	देवता
१	स्वास्थ्य-शिक्षा	पुष्टिवर्धन—ज्योतिष्मती इष्	स्व-ग्रास्त्य	त्वष्टा
२	ग्रर्थ-सम्पादन	रयिवित्	स्व-रयि	वासव
३	रस-लाभ	कविक्रतु	स्व-म्न	कवि
४	गृहमन्त्रालय	वरुण का प्रचेतस्	सौ-मनस्य	वरुण के पाश
५	परराष्ट्र-सम्बन्ध	इन्द्र की बाहू	सौ-रक्ष्य	रुद्र के मरुतः
६	World Economy	वसुतम वसिष्ठ	साम्-ग्रर्थ्य	वसुमती
७	World Polity	एकराड् महेन्द्र	साम्-राज्य	इन्द्र
८	World Citizenship	विश्वमानुष	साम्-मनस्य	पाञ्चजन्य
९	Ambassadors of Goodwill	विश्वदेव सोम	सो-म	पुरुषोत्तम
१०	First Principles	व्यवस्थासूत्राणि	सो-इता	सांस्कृतिक साम्यावस्था

* इस दशों मण्डलों को पुनः ५-५ के दो द्विकों में देखा जा सकता है: राष्ट्र एवं परराष्ट्र अथवा तन्त्र (१-५) एवं ग्रावाप (६-१०) रूप में।

** दोनों द्विमात्रकों-१-३ तथा ६-८- के त्रिक, धर्म (शरीरमाद्यं खलु धर्म—साधनम्)-ग्रर्थ-काम के द्योतक हैं। तो ४-५ तथा ९-१० के द्विक मोक्ष के।

*** प्रथम भाग के वरुण+इन्द्र (४-५) यदि बुद्धिबल+बाहुबल के प्रतीक होते हुए ब्रह्म-क्षत्र युगल के द्योतक हैं, तो उसी प्रकार भाग के ९-१० भी : सोम ग्रस्माकं ब्राह्मणानां राजा हैं, तथा सविता सम्पूर्ण व्यवस्था-वितान को ग्रपनी बाहुग्रों में समेटे हैं।

**** मणिसूत्रकार-द्वारा गृहीत देवता मण्डल-मण्डल के: यत् सत्यम्, ग्रग्नि के नामान्तर तो हैं ही, साथ ही ग्रग्नि के उत्तरोत्तर 'विकास' के द्योतक भी हैं, जिनका ग्राधुनिक परिभाषान्तर हमने ग्रन्थ-के ग्राशय को सुगम बनाने के लिए कर छोड़ा है।

परिशिष्ट (२)

ग्रन्थान्तर्गत शब्द-सूची

—देदीप्यमान [दीदिवस्]

—पतित-पावन [पावक]

—सहिष्णु+सहायक [सहस्य]

—द्यावापृथिवी आपाति—२५,

अदब्धव्रत २२०; प्रमति २२०; वसिष्ठ २२०; ईळ्य [+अतिथि १८; cb. विश्व-अतिथि ४८], अदृप्त-क्रतु, यज्ञस्य अरुष: केतु: १८०; अग्रेणी: देवेषु ३८६,

अग्रे-णी [पांचजन्य] : सिन्धूनां ३८६, अपांनपात्-२०, नेता चर्षणीनाम् १९, पुरुणीथ २४२, २४५; वाच: ३८६; गोषु ३८६; वाजस्य ३८६, ऊर्जोनपात् २६; महाधनं भजते ३८६, धनञ्जय १४६,

वैश्वानर [१८]>सम्राट्>परिव्राट् १४१,

रथी-ऋतस्य [चन्द्र-रथ] १८,

वीर: कर्मण्य: १८, सुरेतसा श्रवसा १८, वर्चो-धा २५,

ब्राह्मण किन्तु दारुण-कर्म ७६—सम्राट्+असुर+पुरंदर २३९,

(१) अग्नय: चतस्रो विश:>वसव:>वस्यस:>वसिष्ठ: १३६-१३७,

(२) महासेनास: [अग्नय:] २२३—अंगिरस: [अंग-अंग जिनके वीर-रस अभि-व्याप्त है] ९४-९५,

रुषद्दशे ददृशे नक्तया चित् ['शिव की तीसरी आँख'] ५६, सु-यमन ११६, दम्-पति ११५, सहस्-य ११५, यविष्ठ २३४,

आयुधा मिमानम् ११३; दस्युहन्ता [हन्तम् १४६] ११३; सहस्-पुत्र ११३, सहोवृध २१,

अभिमाति सहोदधे २१; अंगिरस: [जीवट वाले वीर] ४०,८०; परि-भू: ११३; विघ्न को कुचल देने वाला ११३, अतिद्विषो मर्षन् २१, द्वेषांसि प्रमुमुग्धि ४६, प्रति प्रतीर् दहताद् अराती: २३,-क्षत्र-धर ११६; बृहद् केतु ११३; सदा जागरूक १२४, प्रचेता: ४५, अग्नि जागार १२४; सतो वचसो गोपा: ११३; नृ-तम ४१, वीर-रस की आग फूक देने वाला कवि ४१,

त्वया वाजं वाजयन्तो जयेम ११३, एधि पृत्सु नो वृधे ११५, अश्वमेधे सुदत्नि ११६.

अग्नि का अस्त्र वि-पन्य, सत्य-यजन १४७;

दण्डाध्यक्ष ५७,५८,११०, दण्डाधिकारी १४६, वीरता का विग्रहवान् रूप ११०,

अग्नि/इन्द्र

a. सहस: सूनु, सभावान्/सासहि ४८, सहस्य २३४; जुहुर २३४, गृत्स २३४; असुरहन २४७,

b. कृष्ण पवि २४३; नृ-तम:, शचीभि: २४०, वासव २४०; अनानत [cf.]

न पराजिग्ये २४०, पृतन्यु २४०; दमयत् २४०, नहुष २४०, यविष्ठ २३४/यह्व २४०; उषधक् वनानि [वनस्पति] १८१,

B. अग्नि-वरुण

प्रचेता+मन्युयुक्त ४५; हृदयगति के प्रतिरूप अनवरत कर्मरति १३६; अग्नि/वरुण का तिहरा आभूषण—अरेपाः (तनूः)+शुचि (मुख)+हिरण्य (भाल ५५;

जन-नायक १३८;

पुरुणीथ २४५, अग्रणी ३२४, वात्सल्य+वीर का अद्भुत समन्वय २०; अग्नयो अग्निभ्यो वरम् २३५—अग्निभ्यो वरं निःसृताः [सुजाताः नराः] २२१—सुवीरासः+शोशुचन्तः+द्युमन्तः—ते यदा महावसिष्ठं वरीतुं समासते २२१, लोक-नायक का धामः अन्तः [हृदय]-समुद्र १०४, पुरुणीथः दीद्यत् [क्षणभङ्गुर में निरन्तर भास्वर], अविद्युत् [चमक], हरि [संदेशहर], शोशुचान [लोक-व्यवहारार्थ] २४५,

सुमहान् [महावसिष्ठ], सुजन्मा [द्वि जाता] २४३, तीन अग्नि : बृहस्पति [विप्रराट्], अग्नि [पुरोहित] सोम [आचार्य] २,

तुरीय अग्नि : प्रजाः [सार्वभौम]=विश्वेषां अमृतानां उपस्थे जातः,

—दिविस्पृष्टः,पृथिव्यां धायि, सिन्धूनां नेता, स्त्रियानां वृषभः, स मानुषीभिरभि-विशो विभांति २३७,

—उपसद्य मीळ्वान्, नेदिष्ठ, आप्य २४८, कवि २७,

—धर्म [यज्ञ] का रुचिकर उद्बोधक [कवि=उशान] १९, [अग्निर् हि अमृतो धर्माणि दुवस्यति] १९,

कवि का यज्ञ-प्रसाद : हव्या देवेषु द्रविणं सुकृत्सु २४३,

पदवीः कवीनां [मित्रः सिन्धूनां, उत पर्वतानां] १९,

कृष्टीनां पतिः रयीणां रथ्यः उषसां वैश्वानरः अह्नां केतुः २३८,

शिवो अतिथिः—उषसां चित्रभानु, अपां प्र-सु-वो भर्गः—सुसंदृशा भानुना यो विभाति २८८,

उज्ज्वल प्रेरणा-स्रोत—दविद्युत, दीदिवत्, शोशुचान २४५; वृषा, शुचि, हरि २४५; आभाति, धियो हिनोति, अजीगः उषसो जनयति २४५,

कवि, गृहपति, युवा, अस्मयु २४८,

—उषा का भिखारी ४३,

अग्नि का रूपान्तर

—अग्ने वितरां विभाहि नः १३६; दहन [मण्डल ५]>विहान [मण्डल ६] १३६—रयि वः=चन्द्र १४०, तमोहन ५, [ज्योतिष्कृत, ज्योतिरथ ३]—अनु

अर्वत्/त	वाहन १९६; अर्वा—'इन्द्रः अश्वो-न' ९५, calculating डग १६३,
अर्वाग्	रथं ते वि/धवन्त उग्र १६८; अर्वाचीन-'अथ अर्वाक्'; अब कुछ अपनी सुध भी (ततो द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्) ९९,
अलातृण	'अल्ला' वेली [अन्धविश्वासी] २७,२९,
अव क्रामन्तः	प्रपदैर् अमित्रान् [अश्वाः] २१६,
अव-त	कोश
अव-त्<स्-सार	Cream of a nation's defence—रणबल की सात स्थिति-स्थापक'<सूर्य की सात रश्मियां' १२४,
अवद्य	नज़र न लग जाय ! ६८,
अव-नि	रक्षा-साधन; अवनीः—क्षितयः (पुष्पिणीः, प्र-सुवः) [cf.' वन्दे-मातरम्']१२,
अवमीत्	गुह्य को उगल दिया ! १०६-१०७,
अ-वर्त्ति/वर्त्या	फिरे दिन; अ-भाव, दुर्भिक्ष, आपत्काल ['बुभुक्षितः किं न किरोति पापम् ?'] ६९-७० >
>अववृत्रन्त	जब इन्सान की खोपड़ी दगा दे जाती है (मनुष्य असुर बनने लगे) [तब दोनों इन्द्र की ही शरण पहुँचते हैं: इन्द्रयन्ते !] ८१,
अवष्टम्भ	आयुर्वेद में शरीर की सात परतें: रस-मांस-असृक् आदि,
अवस्	अवसे : 'हमें दैव भावनाओं से भर दो [Enthuseus]' ३५८ > अविता (और) १६७ > अवस्-सार १२४,
अ-वसिता	अ-गेह [संन्यासी] ८४,
अ-वाताः	हवा में न उड़ जाने वाली २०६,
अवातिरत्	ज्योतिषाऽग्निस् तमांसि १४२,
अ-विदीधयु	अक्षीयमाण-द्युति ९६,
अ-वि-वेन	निष्काम कर्मी ८१, ८४,
अ-वीरता	दमे/वने—दुर्वाससि, अ-मतौ, क्षुधि-वस्तु-स्थिति की 'उपेक्षा' करते रहने की वृत्ति [बासीपन] २२७,
अवृणात्	अपिहितेन खानि ८८,
अव्य	a. अवि-अ : आवरण/अभिमान-रहित ३५२; अव्-य-अभिलाषा-पूरक १९९; पूजास्पद कलश [मंच] ३६६, b. अव्य : विद्वानों का अव्यय स्थान ३९६; नित्य सुखमय 'कोष' ४००,
अ-शस्तीः	बदनामियां, scandals; दुष्ट योजनाएं २०७,

अशिश्न [थत्] < √ श्नथ् [चुरादि लुङ्] cf. अचिक्रत्, अक्रन्-२५८,
अश्मानं चिद् ये विभिदुर् वचोभिः ६०,
अश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् १११,

अश्रीरं चित् कृणुथ सुप्रतीकम् १६४,

अश्रेत् साक्षात् श्री-रूप में प्रतिमूर्त हो गया ! [वाणी वाणी बभूव ह] २४७,

अश्व < अश्नुते > कब्जा करने वाला : अश्व, क्षत्र (+२७१), सेनाध्यक्ष-जितेन्द्रिय १७७ > अश्वमेध की मूल भावना 'मधु' (cf मधुवृधा, १३ १०. ७५) २४०-अश्वायन्तः 'विजय-गीत गाते हुए' २६२,

अश्विना/नासत्या a [=सप्ती] first aid men १३२- अप्रतिहत, मनोजव, शत ऊति-२९२- अप्रतिहत-प्रवेश, विश्ववार-गति, घृतवर्तनि; श्रिया तन्वा शुभाना; न असत्या, शचीवसु, कोषाध्यक्ष, पांचजन्य के अभिरक्षक २९३-२९४+भुजन्ता, च्वाना, भुरण्यु, दशस्यन्ता, पुरुरूपा [ऋतुधा], राजाना [मित्रावरुणा] इव, चित्रराति २०१-इषां वोढारौ, नि पर्वतस्य मूर्ध्नि सदन्तौ समुद्रे अव विद्धम् ऊहथुः; अभि ब्रह्माणि चक्षथे ऋषीणाम् २९३-२९४-रुद्रौ सौभाग्य-देवते : हिरण्य-वर्तनी, सिन्धु-वाहसा, वाजिनी-वसू, माध्वी १३०-ज्योतिष्मती : तमस्तिरो अस्मे इषं रासाथाम् ४, उषा के प्रेमी सखा २९३-२९४-अश्विना के प्रसंग : अनिमन्त्रित [विपत्ति] में ६.६२, निमन्त्रित सम्पत्ति में ६.६३ : पुरुभुजा, नृतू/नरा, प्र-मायिना, पुरु-दंससा २०२,

b. अश्विना के अश्व/रथ : अवृकासः [रथा इव], स्व-शवस (निःस्वार्थ), सुक्षिति-क्षितः २९५,

c. अश्विना के प्रसंग—४ ४२-४५ : अश्विना>इन्द्र-वायू (४६)>वायु (४७-४८)>इन्द्र-बृहस्पति (४९-५०) १०२,

d (१) यातायात+समाचार के वाहक [Communications Ministers] : युयुजाना युवाना नरा २००,

d. (२) परमास्त्र [Testament] के प्रचारक २९४-२९५,

e. रक्षक+रक्षणीय [cf रोदसी] ४२,

असक्रा असंक्राम्य [दिष्ण] धेनु, अन्न २०२,

असत् न उग्रो अविता तनू-पाः ६२,

असतो वक्तारः 'ये पाक-शंसा विहरन्ते': लोक-प्रवादी जन ३२०,

असत्या इदं पदम् अजानता गभीरम् ५३,

असम अतुलनीय १६८

असश्चत अनासक्त/निष्काम २०९.—वानप्रस्थ : तर गये [तुरीय, पितरः (तिर-इव,

ठीक, किन्तु युद्ध-पराङ्मुखता कदापि नहीं (६. १. ११) २२६,

अह्नां नेत्री श्वेतं नयन्ती २९९,

अहि — a. अहिर्-इव भोगैः परि एति बाहुम् २१८,

— अहिर् न जूर्णाम् अपसर्पति त्वचम् ३६१,

b. अहिं वज्रेण आ विवेषीः ७६,

अहिं=वृकं=रक्षांसि अस्मद् युवयन् २७७,

c. अहिर्-बुध्न्यः (१) पर्वत-अद्रिर् अर्कैः १८३; (२) गुरु-चरणों में आबद्ध/प्रतिबुद्ध ब्रह्म/क्षत्र-चारी [धर्म-सैनिक] १८३,

b./B. आ/परि-शयान [अहि] : अकर्मण्यता-रूप [अजगर]-अह्ये ददातु : अजगर के मुंह में झोंक दे !

>अहिमायाः [अ-सुप्वि>असु-र में काया-कल्पित] दिव्य पुरुष ! १८५,

अह्याः — <अ-हीः 'न हीयते पय आसाम्' = गावः [चारवः] ३८२,

आकाय्य — बटोरा गया, काया-हितकर ९०,

आ क्षोदो महि वृतं नदीनाम् १४८,

आंगिरस — भक्ति [अंगिरस्] का पुत्र-पुतला २१२,

आ-घृणि — 'किन्तु झूठी दया से ग्रस्त भी नहीं १८८,

आंगूष — अनाहत [गीत/नाद],

आचार्य — [आचार्यः कस्मात् [९.३९.१-२],

१. अर्पः दृष्टि देता हुआ-दृष्टि;

२. परिष्कृवन् अनिष्कृतम् संस्कार,

३. जनाय यातयन् इषः [आनुण्य-अन्नादि];

४. दिवो दृष्टि परिस्रव-पर्जन्यवृत्तिक धूनि का प्रसाद ३५८],

आचार्य का आश्रम

a नदी-तट पर शान्ति सरसाती एक 'दीपशिखा' ! [९.८८.५] ३८८,

b गिरिष्ठाम्; उक्षणम्; वावृधानं, समुद्रम्; मधुमन्तम् ३८५,

आचार्यो ब्राह्मणः सोम-गोपाः १८५,

ओजस्विता की एकमूर्ति—

त्विषि दधानः, विचक्षणः, विरेचयन् ३५९,

[आचार्यपादाः]

नवनिधयः, दक्षपितरः, अनागसः, सुज्योतिषः, सूर्याः, द्विजन्मानः,

ऋतसापः, सत्याः, स्वर्वन्तः, यजताः, अग्निजिह्वाः १८३,

आचार्य का दोहन ९.३०,

समित्	बर्हि	तिस्रो देव्यः
तनूनपात्	द्वार	त्वष्टा
नराशंसे	उषासानक्ता	वनस्पति

इल दैव्यौ होतारौ स्वाहाकृति,

आप्रीचक्रम्=आप्रम् २२६,

आम अतप्त-तनूः ३८४,

आमा सद्यः—प्रसूता, 'कच्ची उमर २८,

आमासु पूर्षु [कच्चे दुर्गों में] १३,

अमिन् शैतान ३१८,

आमूः हत्यारा,

आमेन्यस्य [रजसः] १२७,

आयु a i n देवहितं यद् आयुः—शतमिद् नु शरदः २,

ii.m प्रगतिशील मनुष्य १९४; mlf सेना १२७; भक्त १४५;

आचार्याः [आयवः ३४५],

b. आयुषक् जीवन द्वारा प्रमाणित ३५१,

आरात् पूषन् असि श्रुतः १९०,

आरे गो-हा नृ-हा वधो वो अस्तु २८७,

आरे तं शंसं कृणुहि विनित्सोः २५५,

आरे बाधेतां निर्ऋतिं पराचैः २१३,

आर्जीक a 'बाल कलाकार'; कुम्भकार; अबोध कवि,

b. Ass's Theorem; Shortest Route; Simplicity, Innocence ४०३,

आर्जुनेय निष्कपट मां का गरीब+निडर लेकिन, सच्चा बेटा [सत्यकाम जाबाल] ८५,

आर्त्नी धनुष्कोट्यां [विस्फुरन्ती अमित्रान्] २१५,

आर्थिक सहयोग a. आर्थिक सहयोग का संकेत : महो राये १३८; आर्थिक सहयोग का क्षेत्र—वाज, श्रवः, इष्, रयि; १४८

b आर्थिक सहयोग की युक्ति : सूक्त ५३-५८ : पूषा-भूख आदि विपदाएँ एक-देशीय नहीं; मानवता एक है, परन्तु राजनीतिक एकता से पूर्व—एक विश्व-पोलिस, एक विश्वसेना, एक विश्वन्यायालय, एक विश्वविधान, एक विश्वमति अपरिहेय १८६,

c. आर्थिक सहयोग से भी बढ़कर वचन-बद्धता-वाग्दान २३६,

आर्दन् धन्वानि ६३,

आर्य a. [अपना शत्रु नहीं, दास नहीं] अपना स्वामी, मित्र; ३२, ज्योतिरग्र २६७, अबोध भोले-भाले जन ९३; सुकृष्ट [मनुष्य] १४९

इळाया आस्पदम् [cf. 'इळस्पदे समिध्यसे'] यज्ञभूमि; कृषिभूमि २५,

इलां नः संयतां धरत् ३१८ : कृपया—

i. वाणी पर काबू रखें [मौन रहें];

ii. मेघ कुछ देर गरजना बन्द कर दें;

iii. देव-जन भूकम्प न आने दें !

इळां न संयतां करत् ३१३,

इदं वपुर् निवचनम् १२६,

इध्मभृत् =समित्-पाणि=व्रत्य> व्रती=ब्रह्मचारी

परोपकारी=भर-त> भारत

इन्दु/इन्दवः

सोम

मद, मस्ती [इन्दो : 'ऐ मस्ती में झूमने वाले !']

रस; रस की धारा [एं]

इन्द्र =पति/स्वामी [<इनः' 'इनश्च दिनस्य; cf इन्दु गृहपति—

दमूनाः,

गिरां पतिः [गिरीणाम्],

विश्व-आयुः; वयो-धाः,

वृषभ ३०;

यज्ञपति=यजमान [=स्त्री],

इन्द्र आयाहि प्रथमो यज्ञियानाम्,

धृत-व्रत,

धन-दाः,

सोम-वृद्धः,

पुरु-क्षु १५२;

करति,

एति,

वष्टि, जुजुषे,

लोकान् रेजते,

चतुरश्रि वृषधिमस्यति १००;

वसुपति [वासव] ६४, म-घ-वा ['माया-रहित ऐश्वर्य वाला' ३१],
धनानां-संजित् ३१ सनिता ६४,
दाता ६४, १५७; सुदान १६९,
भूरि-दाः गो-धन १००,
सुम्न-दाः ३७,
मघवा दक्षिणा/मघोनी ११,
सु-अभिष्टि; सुम्न १५४,
भोज वासव वृषा ११,
—'इन्द्र मैं तुम्हारा [वरण=प्रेम का] ऋण-चित् हूँ !' ७८,
वयो-धाः=जनि-दाः ६६,
'इन्द्र, मैं तुम्हारे [वरण=प्रेम] ऋण के नीचे दबा हूँ !' ७८,
दयसे,
दुदोहिथ,
'शेवधिं निदधिषे'/निधि-पाः ।,
ईशिषे १२;,
धरणि-धर,
दिवो-जन,
सुरूपकृत्नु [३],
उक्थ/उक्थ्य १२,

यशसस्पति

पुरु-हूत/गूर्त/शस्त १६७,
इन्द्र त्वा दातमिद् यशः ३७,
मघवा मन्युमत्तम ९२,
सत्यमन्यु रायो-विभक्ता+वस्यः—सम्भक्ता ६५,
वृषा १२३, वृषमन् ७७, वावृषाण ७३,
पुरु-वीर नृ-तम ३१,
सासहे ३३०, सत्वा सहस्वान् सत्य-सत्वा [१६५] सह्य/सहिष्ठ[१४९, १९०],
असह्य १७५,
तुविजात १४९, तुवि-नृम्ण १६५, तवसंस्कृतानि २३९, तवसस्तवीयान् १४९,

ततुरि १५६, तुरस्य तुरः १४९, श्वा [३१]/श्वघ्नी ७२,

प्रत्यग्र-भीष्म १७६,

पर्वतेष्ठाः,

पुरु-रूप [कृष्णा जाः असेधत्] १७६,

सत्यः—पुरु-माय * इन्द्रस्य [प्रति] माया [९२],

मतिभिः शविष्ठः,

नक्षद्-दाम १५६;

इन्द्र-इषिता अभ्यवर्तन्त दस्यून् ११८,

इन्द्रो अहिं शयथे जघान १४७,

इन्द्र वा वृषाण ७३,

वृत्राणि हन्ति ३०५,

वल-भिद् २८,

सप्त शारदीः पुरो वर्धन १५४,

हरिवस् [उद्धर्ता],

उग्र अभिष्टिकृत् तुर्वणि,

स्वधावान् ७२, अजुर्य १४८, अदमायु १४९,

सासहि ३५, अभिमाति-साह्य ३५, सहोदाः १४८, दधृष्वान् ७६,

वज्रपाणि सत्ययोनि ७७,

लोक-कल्याण की प्रतिमूर्ति ७१,

निर्बल का बल [एक मात्र गो-पति; वत्स ३७] २८,

अ-वाचो हन्ता ८४,

पाद-गृह्य मार्ळीक ६९,

शवसस्पति ३७+यशसस्पति

इन्द्र का आयुध : वज्र *[अन्न+प्रणाम]=नमस् ७४,

वज्र : गोभिर्*/आवृतम् इन्द्रस्व वज्रम् [ओजसा+सहसा+ओज्मना],

इन्द्र के अश्वः अजिर-आशु-हरि ३२७,

रेजद् भूमिर् भियसा स्वस्य मन्योः १०४,

सेनाओं पर अनुशासन ७७, 'वीररस पायी' १७५,

न कश्चन सहत आहवेषु १७५,

काव्य के सही टीकाकारों की खोज,

>[राजा का व्यक्तित्व १२०]—

अभिगम्य रूप [भोज ११],

अधृष्य रूप १२०, इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि २०३,

सूर्य+उषा ६२. १२०,

विश्वपति—

विश्ववार: 'चर्षणीनां पुरुहूत: (elected) सम्राट्' एक-राट् भुवनस्य' ३२५,

इन्द्रस्य कर्त्ता : प्रजा-प्रतिनिधि-मण्डल,

—प्रजापति [जनिता] ६३,

'इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते': ३०.१२,

—उषा-सी सुन्दरी, किन्तु दु:शील,

युवती अप्सरा की हत्या ३०.८ (९२);

दस्युओं/पणियों से परावृक्त अन्न का ब्राह्मणों में आ-भजन ९२,

इन्द्र के राज्य में [अब]—

ऋतमय [आर्य] जीवन : ऋतस्य धरुणानि ७९-८०-यज्ञियता,

[अर्थ-] शुचिता, वीरों का सधमाद, विद्वत्-सम्मेलन, अपांसि [कर्मठतम योजनाएं]/ऋतानि अन्यायोपार्जित धन का आवर्तन तथा उचित विनियोग (४,२३.१); ८०-

निष्विध: [त्याग-मूर्ति] 'विश:'+व्यापार में वचनबन्ध (४.२४.९), ८२;

सुष्वि [उपयुक्त श्रमिक] ८०,८१;

ब्राह्मणों की भक्ति-प्रवणता ८०-८१,

सोम-सुतों से इन्द्र की याचना ८२—

आत्मा नहीं बिकती (४.२४.९) ८२;

कोई दास नहीं ['स-दासा:' की दानशीलता ८२, लोकद्रोही को पश्चात्ताप ८२,

दूध की नदियाँ [इष:]—

जितेन्द्रियता, नित्य अग्निहोत्र+सोमसवन, काव्य-प्रेम, अभयवृत्ति ८३,

चर्षणि-प्रा: 'एकराट्'—उशना: (प्राणिवत्सल), ऋतयुक् (ज्ञानयोग में अभिरति), धुजनि (समाधि-वृत्ति/स्थितप्रज्ञता); कोई युद्ध/कलह नहीं (वयोभिर् अयोधयत् : शास्त्रार्थ) १६६,

लोक-द्रोही के पश्चात्ताप के समान्तर

स्वयं सम्राट् में भी कायाकल्प [एक झटका ८५]: दभीति> इध्मभृति १५६-वज्र/उग्रता/घोरता के वे दिन अब लद गये २५७: 'वृचीवन्तो देववाताय शिक्षन्' १६२+विविचे महित्वम्' दुर्गेषु पथिकृत् [विदानः] १५६—

शंबर की अव-हत्या दिवोदास की प्रणव-दान, अतिथि-वि की शंसा, कुत्स को (धन ही नहीं) शुष्ण; केवल अ-भर्म [बे-पेंद] का शिरश्छेद १५७-१५८,
इन्द्र का ब्राह्म-संस्कार : इन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः २६१,

अधि उक्थार्का ऋषीणां स्तुतय इन्द्रः पस्पृधे ? १६७,

संस्कार में दुर्भावनाओं का दाह; भक्त-गृह में एकान्तवास; संवरेषु वह्निः ७५,
—विरप्शिन्/द्योतन १५३, ब्रह्मवाहस १७३—

गो-पति की इन्द्रिय-जय ९४-अरंगम, अ-विद्वान् अ-पश्चादध्वन् १७१,

संस्कार के अनन्तर : अस्नातक यदु, तुर्वश की पुनर्दीक्षा,> भवसंतरण ९२-९३,
—अपना 'समान-गोपति स्व' ९२-पुरुवार पांचजन्य ७४,
अनृतु-पाः+शचीवान्+ऋतावा ४०,

इन्द्र का दीक्षांत : 'उपश्वासय पृथिवीम् विश्वासां-गृहपतिर् विशाम् ।' १७८,

इन्द्र के अमित्र—:असुर-मित्र, रेवत्-पणि, अ-सुष्वि, अ-पक्ति ८४+चुमुरि [मोह], धुनि [काम], पिप्रु [लोभ], शंबर [आलस्य], शुष्ण [क्रूरता] १५०+वृत्र, वल, अलातृण,
इन्द्र के मित्र/प्रिय—सुकृत् [देवकाम ८३],
सोमी+'इन्द्रे मनायु सुप्रावीः,'+केवलेन्द्र+अवसितासः ८४,

विश्वपती-१ इन्द्राग्नी

सह्, सह; सहुरि, सहस्तम, सहसा, वाजयन्ता; इरज्यन्ता, सत्पती, इषां रयीणां दातारौ,

यमौ-भ्रातरौ twin cotts (युयुजानौ); उक्थ-वाहसा, हवनश्रुताः—'शासन-नायक+जन-नायक' सोमौ [१९५] १९३,

न मर्यतः १९५-शासन+शस्त्र* १३४, ३०८ : 'वृत्रहणौ+अपराजितौ+वाजसातमौ'+कविच्छदौ-२२-राजा+विप्रमण्डली २२,

इन्द्र के साहचर्य से अग्नि दण्डाध्यक्ष/सेनापति [वृत्रहन्तमौ] ३०८ ,

[विश्वपति-२ इन्द्रासोमा

मण्डल ८+मण्डल ९ [३३१! : दुष्कृते मा सुगं भूत् ३१९-तरुत्रं श्रुत्यं रराथे शुष्म सं विव्यथुः २११,

राजा+आचार्य : प्रथमानि चक्रथुः-युवं सूर्यं+स्वर् विविदथुः तमांसि विद अहितम्, उपद्यां स्कभथुः, पृथिवीमप्रथतम्, अहिं हथः, समुद्रा अभिपप्रथुः,

आमासु पक्वं निदधतुः २१०,

रक्षहणौ : वर्ण-व्यवस्था का अध्यक्ष [राजा, मण्डल ८]+आश्रम-व्यवस्था का अध्यक्ष [आचार्य, मण्डल ९] ३३३,

[विश्वपती-३ : इन्द्रावरुण (७.८२-८४) ३०४,

वृषणा २०७; महान्तौ* महावसू २०८ [×विश्ववार+वसुमत्+पुरुक्षु]; +स्वगूर्त मानव नर-नारी २०७,

आपश्चित् तौ सदसि देवताऽधुः ३०७,

इन्द्र/वरुण में अन्तर: भुजबल [बहिर्युद्ध] vs बुद्धिबल [अन्तर्युद्ध) २०७-योगायोगः a i वाह्य/आभ्यन्तर राष्ट्रनीति, ii अभिरक्षा/सुरक्षा, iii वृत्र/व्रत-व्यवस्था, b iv योग-पूर्ण-व्यवस्था में २८०,

[विश्वपती-४ : इन्द्राविष्णू

विष्णुना सचानः [अदित्सन्तं दापयति] १५३: अरिष्टैर् धत्तम्, यज्ञं जुषेथाम्, द्रविणं जुषेथाम्, पथिभिः पारयन्ता, मतीनां जरितारा, सोमधाना कलशा २०८,

राजा+प्रजा ३६८,

[विश्वपती-५ : इन्द्रावायू

इन्द्र+वायु का वीर+वाह रथ ३११, शंबर के ९९ दुर्गों के अप्रति वीर ३११,

[विश्वपती-६ : इन्द्रापर्वता ३९,

[विश्वपती-७ : इन्द्रापूषणा १९०,

गोपति =ग्वाला—cf गो/गोपति

a—अश्व (हरी)—प्रेम से गो-प्रेम <सरमा ? /उषा ? उषा के स्पर्श से गोधूलि-बोध, गो-प्रतिबोध, अन्तः-शोध, लोक-सेवार्पण **क्षेत्र-क्षेत्र के गो/गोपाल/गोदान १६३-१६४,**

—जीवन का एकावलम्ब-मधुवृध (१०.७५),

दुग्धामृत >विनयशीलता+सोम १७०-१७२,

a—आश्रमों में गोपालन, क्रांति-प्रतिबोधन साथ-साथ १७५-१७८,

b—पृथ्वी माता १७८-१७९; पृथ्वी+पूषा १८६-श्रवो+वाजम्, इषम्+ऊर्जम् वहन्ती मघोनी २०३-२०५,

अदिति २७५-२७७, स्त्रीजाति २७०-२७४,

c—सरस्वती (लोक-वाणी ब्राह्मण की गौ) १९६-२००,

d—द्यावापृथिवी : गावौ ३०२-३०८,

e—उषा 'मेरी गवालिन' २९७-३०२,

f—cf कृष्ण/कृषक/गोपियां-'इन्द्र का गोवर्धन-गिरि=शंबर'

\+ \+ \+

गो-पति का काव्यस्पर्श

A

\+ \+ \+

वृत्रहव्येषु+दुर्भिक्षादि [अर्वत्ति] पु : 'वृक्षस्य प्र वया इव', 'वृषा युजा',

अ-पति : इन्द्र की अन्त्येष्टि [वरुण में लय]—

उत स्वया तन्वा संवदे तत् : कदा नु अन्तर् वरुणो भुवानि (७. ८६. २) ३०५,

इन्द्र >सूर्य>वेन (४. ५८. ४) के 'क्रम' की युक्ति १०९– इन्द्र >ब्राह्मण [ब्रह्म-भूयस्त्व को आप्त] २२३; >वह्नि २९, ['इदं ज्योतिर् अमृतं मर्त्येषु १४३],

—सोमेन्द्र=शान्त-ज्योतिः=संन्यासी ४०३,

इन्द्र का स्वरूपावस्थान—

जीव / परमात्मा-सांनिध्य ३० :

<विश्व-सेनानी [त्वं विश्वेषु····] २५९>गोपाल+वसुपति+भूपति= गो-पति—'उरु लोकम-कृणोत् !' २५६ : उर्वरकता+दानशीलता+ [उदारता २५५]+ब्राह्म संस्कार [हृदय-विस्तार, क्षमा २५५]+विश्व-हव्यत>['जनिरिव पतिरेकः समानः' २५५], सु-प्रणीति २५७-२५८,

—सं / विभजन, स्वावलम्बन (शेष) २५५. अनुत्तम जन [मनुष्यता की पराकाष्ठा]—सौदाक्षिण्य २६१, स्वर्-दृश् २६२,

ब्रह्मणस्पतिः (अन्तः स्थिति) 'लीये पर-ब्रह्मणि' [पुनर्जन्म),

'इन्द्र साधारणस् त्वम् ९९—कस्मै देवाय ? (८.१००.३) ९९—इच्छामि मनसा हृदा न इन्द्रम् १६४—इन्द्रस्य अवद्यं दिधिषन्त आपः ६८—इन्द्र युक्स् [ते भक्ताः] इन्द्रम् अभ्यचाकषन् ३३९, इन्द्र वस्वः सत्यः सम्राट् [*वासवः !] ७५; प्रेमरस २६०, *सत्यराधः, वरिवस् ८०-८१,

परतस्पति : 'इन्द्र-अवतरण की प्रतीक्षा : दिवः—पृथिव्याः—समुद्रात्—पुरीषात्—ऋतस्य....सवनात्' ७४,

'इन्द्र नकिर ददृश इन्द्रियं ते' १६० : जितेन्द्रिय ! १६४—न त्वावान् अन्यो अस्ति [साकं सूर्यं जनयन्, द्याम्, उषासम् !] १६५ : ओ अर्वन्, ओ चित्र[तम], ओ अङ्गिरस्, ओ सूर्य, [आत्मा जगतस्तस्थुषश्च] ९५'

परात्परस्पति

इन्द्र-पद : 'जहाँ हर कोई गो-पति हो, उषर्बुध् हो±' १६२, जितेन्द्रिय/जितेन्द्र हो ! १६४, हरिवस् हो ८२, [पूर्व-इन्द्र स्थित (जन्मजात उग्रता, कामुकता) आदि से ऊपर उठ चुका : स्वधा-वान् [आत्म-विश्वासी] अपस्वान् [कर्मयोगी, बे-चैन (शूशुवान्)],

सदायुवा+सदागति, वृत्र-घ्न, दानवीर, असह्य [युद्धषाट्] नहीं, सत्राषाट्-'विश्व-अमित्र' भावना का [वैदिक] हिंसक [चेतक के समान] परापेक्षिता से विमुक्त २५३—गो-पति > गो-तम > गिर्-वन् [कवि] ९८, किन्तु अब भी [रुस्तम] : 'अस्तीनः सत्त्वा, गवेषणः, धृष्णुः, कर्मप्रवाहमय २५३, [क्योंकि] अ-शिश्न-देव = जितेन्द्र ! ६६, विदथ्य+साह्वान् तरुत्र' ७४, वधस्+भोज+प्र-यज्यु १५६ = 'एक आध्यात्मिक कायामात्र' शेष ३७८, —'स जनास इन्द्रः' : 'गव्यन्तः+अश्वन्तः+जनीयन्त' ६६, भक्तों का सचमुच भगवान् ! ७ : इन्द्रस्य हार्दि आविशन् [हम भी इन्द्र के प्यारे हो जाएँ] ! ३६९,

ओषधीनां राजा,

चन्द्रमा,

आचार्य* के हृदय का चाँद [शिष्य*/पुत्र*] ३७३,

*'इन्दुर् अमुष्णाय अशिवस्य मायाः' १७२,

**पूर्वास [इन्दवो] ब्रह्म-ब्रह्म जुजुषुः [आददुः]; उत्तरास [इन्दवो] हविर्-हविर् जुजुषुः [ददुः] (९.७७.३) ३८२/-आर्द्र/रसिक-हृदय ३७१,

[इन्दवः] सप्तरश्मयः—३८६,

आशवः,

धजिवः,

मदाः/मदिन्तमासः,

रघु-जा इव (त्मनः),

दिव्याः,

सुपर्णाः [दीक्षिताः स्नातकाः],

मधुमन्तः [कोशमासते],

आर्द्र/रसिक-हृदय ३७१,

गो-इन्दु : इन्द्र-जित्-तप+ज्ञान+बल की बदौलत इन्द्र-तर > द्रप्स=

(सहृदय)=आर्द्र [३७१], १२३ >इन्द्र-तम=मघवत्तम : गोविन्द/गोपति/गोपाल,

इन्द्र

इन्द्र आयाहि प्रथमो यज्ञियानाम् १७०,

इन्द्र आयाहि सुविताथ महेन: १७०,

इमम् अतिथिम् [उषर्बुधम्] विश्वासां विशां पतिम् १४५,

इमा [नि]/ब्रह्माणि जिन्वतम् ३१९,

इयम् इन्द्रं जोहुवती मनीषा २५४,

इयं मति: 'कक्ष्या-अश्वा-इव ३१९,

इष् जीर-दानु=पुष्टि-वर्धन;

ज्योतिष्मती ३

[>इष:] सहस्रिणी:; विश्वभोजस् १७८,

सहस्रं-भर [विश्वं-भर=अग्नि] ९,

[=इन्दु/इन्दव:] ३६२,

गौ,

हिरण्य,

अश्व,

वाज [<सोम, रस],

—उषा:+'सूर्यात्रि' !

हरि: [मनोहारिणी],

[>इषिर=इष्-इर् २००] पुष्टियुक्त मनोजव [तेजोमूर्त्ति]

[इष् > इळा<] इष्-धि/धा १००,

इषु

ऋजीता (६. ७५. ११) २१७,

विषाक्त=रेता: [ब्रह्म-शंसिता शरव्या]; पर्जन्य-रेता: २१८,

> इषु-धि तूणीर; अस्म-*भण्डार (Garrison ammunition store) २१५,

*'इषुर्=अस्त्रम्' इति 'निगमेषु शब्दानां लिंग-सामर्थ्याद् अर्थभेद' इति निरुक् [२१५],

इह इस जननायक के पद पर २२२,

ईक्षेण्यासः अनिमिषन्तः ३८२,

ईटन [Eton, cf आश्रम] वृत्रहनों का; पुरं-दरों का; शत्रुं-जयों का; पृत्सु-साहों का, अमित्र हतियों का; अर्कों का; आपः का; स्वः का २१२,

ईर्मा — आगे धकेलने वाला [भगवान्] ८७,

ईषमाणाः [मृगाः] — चौंक कर झपटने वाले 'हिंस्र-पशु' १०९,

उक्थ — ब्रह्म, ब्राह्मण,, उपदेश-'उक्थे-उक्थे नीथे-नीथे' in preccpt as well as practice २५५,
=उक्थ्य-समुद्र, वाङ्मय २७०,

उख — तन्दूर ७१,

उक्षन् ३८५ — =उक्षमाण [इन्द्र]=इळस्पति=भू-पति १२३

उत् — उत् अव नः २७९; उत् ईरते [वाचः], उत् नीयमाना देवाः ३६६,
उत् उक्षतं स्वर्-यं पर्वतेभ्यः [रत्नानि, Moses' fire, प्रेरणा] ३२२ -उत् ते वयश् चित् वसतेर् अपप्तन् २०३-उत् पूषणं युवामहे उत् इन्द्रं महि स्वस्तये २९१—उत् यच्छतम् [>यज्ञः प्र एतु, ऊर्ध्वा देव-यूनि शोचींषि, समनसो घृताचीः]२८१--b, उद्गऽ-इव कोशं वसुना नि-ऋष्टम् ७३–उत् गोत्राणि ससृजे दंसनावान् [विद्यागोत्रों (अथ वंशः) की उदात्त परिपाटी] ३६—c-उत्तमरस*

उत्तमरस — उत्तमः 'पराक्रम'—रसः [दयानन्द] : शृंगार के रसाभास>वात्सल्य>वीर>वीर-शान्त>शान्त [व्यास] (मौद्गल्य २०४,

उत्साह+विश्रान्ति की मनोहारी उपमाएं : उषा+सन्ध्या [इस छोटे विक्षुब्ध हृदय में] ३३,

उत द्वि-बर्हा अमिनः सहोभिः, [सहयोग का पाठ पढ़ाकर दोनों का मेल करा दिया] १५२,

उत प्र गाय गण आ निषद्य १७०

उत स्वया तन्वा संवदे तत्-कदा नु अन्तर् वरुणे भुवानि ३०५,

उप — उप-देशक [क्रान्तदर्शी=क्रांति के दूत] ३६४—उप-पर्चनम् [सम्पर्क>स्तुति] १६४-उप-[श] ब्दैः [प्रश्नों की झड़ी लगाते हुए, गर्गी ३२१]—उप-ब्रह्मा [४.५८ २]: उप-निषद्य/उप-नीय स्नातक [गौरा जिन]: 'आज अपनी पुरानी कृष्णाजिन उतार कर श्वेत परिधान में समावृत्त हो रहा है>ब्रह्मोपम (दण्डाध्यक्ष) १०७—उप ब्रह्माणि शृणव इमा नः । २५८—उप-शग्मम् २१६-उप-श्वासय पृथिवीम् १७८-उप-शिश्रियाण [पूंछ की तरह, छाया की तरह] २८७-उप-श्रोत म ईवतो वचांसि २५४—उपह्वरे गिरीणाम् ३७०; उपाऽक्षरा सहस्रिणीः (सम्भावनाएं) २४९—उपेन्द्र : इन्द्र का अनुवर्ती [राजा] १६४-उपो अदृश्रन् तमसस् चित् अक्ता : २९२,

उभ/उभय — उभा दातारा इषाम्, रयीणाम् १९६—उभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ३२१, 'उभयस्य जन्तोः'=सेनयोरुभयोर्मध्ये २४३>उभयान् अमित्रान् : दासा वृत्राणि, आर्या [वृत्राणि] च १६६—उभयानि हव्या : राष्ट्र-प्रेम और विश्व-प्रेम की [हवियाँ] २३०—उभयानि [आन्तर एवं बाह्य (बाधाएं)]१५२—उभयासः [राष्ट्र-राष्ट्र के प्रतिनिधि/वासी] २२९, उभयतो-भद्रा रातिः [शुक्र+यजत] १९१-उभेव/उभेवः एकमति से 'वृत' २६१,

उमेव/उभेव — एकमति से स्वीकृत [प्रस्ताव, नेता] २६१,

उरु — व्यूढोरस्क [कालिदास का दिलीप] २१६-उरोर् वरीयो [लोक*] वरुणस्ते कृणोतु २१९ [*स्वर्वत्, ज्योतिर्मय; अभय, स्वस्ति १७५]—उरु-गायः 'महिश्रवः' (उद्रेक, कीर्तन, संगीथ) २०४—*उरुर् ज्योतिर् जनयन् आर्याय २३८+; उरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर् भूत् १५२; उरुं नो लोकम् अनुनेषि १७५; उरोर्; वरीयोर् वरुणस् ते कृणोतु २१९>—उर्वशी ±̲ उर्वी ±̲ उर्वी,

[1]उर्वशी/[2]उर्वी/[3]उर्वी — १. माध्यमिका वाक्=तरुणी [लोकमति], विधान-सभा [सविता]; नदी=सेना-निर्मात्री [यूथस्य—माता]='आपो वै मानुषीः प्रजाः' ५०,१२२,
२. उर्वी गव्यूतिम् अभयं कृधी नः १००,

३. उर्वी : इन्द्र+वरुण, द्यावा+पृथिवी २०७,

उलूकी तन्वम् अपगूहमाना द्रुहा ३२१;

उश् — उशनः—प्रतीक्षा में आकुल 'मण्डूक' ३१५—उशन् : इन्द्र : 'उत हृदा उत मनसा जुषाणः' ३१०>इन्द्रियानुगामी, प्राणिवत्सल, आशिक [कक्षीवान्] १६९=* औशिजः [कक्षीवान्] किसी महान् उद्देश्य के लिए बड़ी से बड़ी बाजी लगा देने वाला, १९९ <'उशन्तमुशान; लोकप्रिय कान्ति-कवि १९ *<उशिज् : शिल्पी, कर्मयोगी>प्रेम-योगी ६०,

** उपधक वनानि-वनों/वनस्थों को शरद् की भांति अपर्ण=दग्धकल्मष करता हुआ [वायु/अग्नि] २४१,

उषस् — उषर्-बुधः—उषा के साथ जग-उठने वाले [उषा की नींद से जगाने वाले ?] (पक्षी) २९८—उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताऽप देवी १००—उषो ददृक्षे पुनर्यतीव २९८; उषो रुरुचे युवतिर् न योषा २९९> उषाः, उस्त्रिया=

उषा [१]

प्रत्यदर्शि ३०३, सूर्यस्य व्युषि ३०३+पूर्वी १६९,

उस्त्रिया ईरयन्ती २९७, स-प्रथा उदस्थात् २९९, स्वर्-दृशे प्रख्यै ३०३, ज्योतिषां श्रेष्ठं ज्योतिः४, विश्वं भुवनमाविश्चकार २९७,

—उत् उस्रिया: सृजते सूर्यः ३०३, [स्वर्-गा उषासः ३८९],

ज्योतिर्मयी देवानां चक्षुः २९७, देवयानी २९८, प्रतित्वाऽद्य सुमनसोऽबुधन्त ३०१,

प्रथमा सु जाता १३२, २९८, दर्शता सूनरी ३-३/सूनृता १३२,

हिरण्यवर्णा २९९+सुदृशीक-संदृक् २९९: विश्वमनु प्रभूता २९९,

शुक्रमश्वैत् २९९, दिवो-दुहिता, विश्ववारा १३२, चन्द्ररथा २०८, चित्र/अरुष-अश्ववती २९६—२९७, स्वधया युज्यमानं रथम् युयुजो अश्वास १३२, उषा+अश्विना,

दिन हो गया ! अह्नां नेत्री २९९,

गवां माता, गवां नेत्री[1] २९८, अश्वावती+गोमती+वीरवती[2] २८०,

[1]गवामर्णम् (गोधूलि) ३०७,

[2]प्रसुवन्ती चरायै २९९, (सु-अपसः ऋत मवस्रन् ५०], क्षितीर् अजीग· २०४, यतन्ते ३०२, ईरयन्ती ४३, पञ्चक्षितीर् युयुजाना २९६, पथ्या अजीगः, गव्यमर्णम्=गोधूलि ३०७, सुभगा वहन्ती २९, ४३, २८०,

यज्ञभूमी अजीजनत् सूर्यं यज्ञम् अग्निम् ३०१, धृतप्रतीका ३०८, समिधे मानुषाणाम् २९९,

प्रति त्वाऽद्य सुमनसोऽबुधन्त ३०१, मनीषां पुनीषे ३०५ सत्या [अनुव्रतिनी ४२] +यजता+महती २९७,

अथक् धर्माणि ९२, व्रतानां जननी, उषसस्ते चित्रा भानवो दैव्यानि व्रतानि जनयन्तः विश्रस्यु २९६,

उषा का यज्ञ-प्रसाद :—गावः, अश्वाः, वीराः; पुरुयोजः, रत्नानि २९७, चित्रामघा+मघोनीराय ईशे वसूनाम् २९७; स्रिधः अप अच्छत्, मघोनः प्र अच्छत् २८०,

उषा की आप्ति (७.७६.४) २९८

[उषसा (२)] उषा+संध्या : उत्साह+विश्राम की संधि, विपाट्-शुतुद्री, उषसा [मरुषा] मनीकम् : उत्साह के पुतले १३१, उषा का उत्साह, प्रजा का प्रत्युत्साह २९८, उषा के मिस से स्त्रीजाति [उषासः] की स्थिति २०४,

उष [ा] सः (३)] पूर्वीः १६६, ऋतम् अवस्रन् ५०, यतन्ते ३०२,

प्रभात-वन्दन सूनरी/सूनृता ३०३,

गृणाना जरयन्ती २९७, श्रवांसि अजीजनत् ३०२,

उषः-सूक्तानि, भग-सूक्तम्,

पंर खरा उतरा] >ऋषि]: 'पुनः-पुनर् मातरा नव्यसीकः 'नेता चर्षणीनाम्,' लोकप्रिय [उशन्तमुशानः] १६,

-यज्ञ [कर्म >धर्मः धर्माणि अमृतो दुवस्यति-धर्म का 'रोचन'/ 'मधुमान्' उद्बोधक/प्रवक्ता १९ >कवि+अध्वर्यु : ब्रह्म+क्षत्र ३४ कवि-परम्परा का प्रवर्तक 'कविः कविम् इनक्षसि प्रयुज्यो'१८०,

—कविकर्मः विपाट् भी, शुतुद्री भी [चट्टान भी, सहृदयता भी]२८ >वाङ्मय-समुद्र ३२-दुरित-निवारण (२४), युद्ध-विजय उत्साहवर्धन, धर्म की प्रथम चिनगारी [दिव्यं शर्ध आ वह] २३,

—कविताः खं/खं प्रथम जनती गातु २९; कविभिः पवित्रैः शुक्रेभिर् अंगैः १६, १७; कवीनां प्रथमा गिरः [अनवद्याः, इन्दवः - इन्द्राय अनु (द) त्ताः] ३०-कविः सीद नि बर्हिषि ३६८,

—कविक्रतु : 'जिसका जीवन ही एक कविता है' ३५१, 'कथनी+करनी तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः' २६, कवि 'रूप से, वाणी से, जीवन से' ३९४=ऋतस्य दीदिवम्' २६, कवि ही नहीं, क्रतु भी : 'सु-रणो न निमिषति' २७,

—कवि की युगल सन्तान : एक लड़की [कविता], एक लड़का [यश]: 'प्रजापति के सम्बन्धों में प्रवाद'—कवि के कुलतन्तु [यश]—विस्तार के लिए राजा का कर्त्तव्य जिससे विश्व में मूक-'बलिदान' [यज्ञ] भावना की सतत वृद्धि हो २८-२९—कविच्छदौ [सच्चे गुण-ग्राहक]: इन्द्राग्नी २२,

—वि कवि >कवितर : 'इन्द्र की अपेक्षा वरुण' का पक्षपात, 'अचितो अचेतयत्' ३०६> कवितम 'हर चीज़ में काव्य'-दृष्टि २४३> दण्डाध्यक्ष को अभिप्रेरणा, दण्डाध्यक्ष में कवि-हृदय १.५; कवि और दण्डाध्यक्ष में भेद भीः १०५, १०६, १०७, 'सामृतैः पाणिभिर् घ्नन्ति न विषोक्षितैः' १०५,

—इस प्रकार, कविता/कवि-कर्म : 'हृदय-परिवर्तन : सत्य का स्वयं, क्रमशः, स्वीकार १०५ : पदवी कवीनाम्,

कश्यप यथार्थ दर्शक : सत्यार्थ-प्रकाशक : साक्षात्कर्ता/कारक ४०५,

कस्त इन्द्र त्वा वसुम् अमर्त्यो दधर्षति २६१,

का ते अस्ति अरंकृतिः [सूक्तैः] २५९,

का ते निषत्तिः किं मु नो ममत्सि ७५,

कामा वसूयन्तो अग्मन् ६१,

कामेन घृतं तमसं सु-अंचम् १९२,

कामेन=स्वेच्छया

कारु शिल्प, कमाल; तन्त्री [लोक-प्रेम की]> परिष्कृण्वन्ति ३४४,

गव्य 	१. ऊर्व=गो धूलि ३०७,

२. गोरक्षा के लिए लड़ा गया युद्ध १११ > सुरक्षणीय ३६६,

गावः 	a. भूर्णयः त्वेषाः अयासः [गौएं, वाणियाँ, किरणें] ३६१

b. वाचः [गावः] पृथिवी-नामधेयानि, इन्द्रियाणि [त्रिधातवः १६७] ३४९ > वेदवाक्-चतुष्टयी १००,

c. ब्राह्मण की गौ : वाणी

क्षत्रिय की गौ : भूमि

वैश्य की गौ : अन्न

शूद्र की गौ : सेवा

d. नाना शास्त्र-पारंगत ३६५ > गावौ : ज्ञान+भक्ति १६१-१६२,

e. गो-सदृश शान्तिप्रिय प्रजा [गावः] ६५,

f. गावो न स्वेम् ओको अच्छा १६०—गवां दानाय शूरम् उत् अमन्दिषुः सुताः ३८३—गवामिव स्रुतयः संचरणीः १५७,

—गवां नेत्री : 'गोधूली की देवी' [उषा/संध्या] २९८,

—गवां माता २९९,

गविष्टिषु 	गोमेधेषु १६३; युद्धेषु १२९,

गव्यूति 	गोचर, क्षेत्र ३८९; क्षेत्र-क्षेत्र की जुताई १००,

गा[य]त्र 	तन-तन्त्री ३८४,

गाधेय 	अगाध (समुद्र) का गाहन करने वाला (विश्वामित्र) : दुखियों के लिए भी वैतरणियों को सु-पारा=गाधा करने को आकुल=आक्रोशन=कौशिक ३१,

गा[य]त्र 	गात्र,

गार्हपत्य भावना और विश्व की युवाशक्ति [भरताः] २२५,

गिरा/गीः/गुरु 	a. —वाङ्मय; वाङ्मय की प्रतीक कला १६,

b: —जीवन में पवित्रता=सरसता लाने वाली सरस्वती की 'विश्वरूपाः' सात-वाणियाँ १६,

—गिरः 'हरितः, वावशानाः, धुनयः, घृताचीः' ३२८,

दिव्य वानप्रस्थ का

++अन्ताराम रमते-राम संन्यासी/शूद्र/स्त्री का++३५८,

त्रयो धर्मास उषस सचन्ते २६७,

त्रिः — तीन सवन [दिन में], जीवन में सवन १ बाल्य जाग्रत्
सवन २ यौवन स्वप्न
सवन ३ वार्धक सुषुप्ति } अवस्थाएँ

त्रि-अम्बक — त्र्यम्बक

त्रिक — एक त्रिक [गंगा नि-रेक धर्म द्यावः
यमुना उद्-रेक अर्थ कोशासः
सरस्वती प्रोद्-रेक काम आपः] अवियुक्त का ३१३,

त्रि-तः — a. त्रिधा बद्धो वृषभः [प्रभेदस रोरुवत] vs अ-त्रि १३४,
b. त्रितेषु दिवि रोचनेषु १७२; त्रितेषु विन्दत् अमृते निगूढम् १७२,

त्रि-धातु — त्रि-वर्ग (a)
त्रिधातु शरण चित्र (b)
b. त्रिधातु-शरण : प्राकृतिक स्थिति [साम्यावस्था] ३१२,

४००	आत्मिक मन सत्यं मानसिक वचन यशः शारीरिक कर्म श्री	द्यु १७२ वसवः अन्तरिक्ष पृथिवी	देव सम्बन्ध-सूत्र मनुष्य	२३८

त्रि-पुर [दाह] — 'अम+अहः+दुर्मति' [का दहन] ५६,

त्रि-पृष्ठ उषसो विराजति ३८१,

त्रि-वर्ग — त्रि-धातु : क्षय>स्थान>वृद्धि १२६,

त्रि-वर्तु — 'तीन पड़ावों'/ति-राहे की ज्योति ३१२,

त्रिवृत — वज्र १७७,

त्रि-वेणी — सरस्वती ब्रह्मपूजिता
भारती क्षत्रपूजिता
इळा विश्-पूजिता

त्र्यम्बक — वीर को तीसरा [अमरता का : 'स्वर्गद्वारमपावृतम्] जन्म देने वाला-
मृत्युञ्जय मंत्र : क्षत्रिय का स्वधर्म : एकमनः-स्थिति २८८,

त्वक् — तमो गुण की : cf त्वष्टा ३७९,

त्वम् इन्दो प्रथमो धाम-धा* असि : द्विजन्म-प्रदाता ३८७,

+घृत/समुद्र+मधु का व्यामिश्रण रूपक ११०,

c. दण्डाध्यक्ष का [क्षेत्र]: 'विश्वं भुवनम् [सर्व-क्षेत्रेषु भारत]—' हृदय की भांति सारी आयु अ-श्रम 'एक ही कार्य' > आश्रम-व्यवस्था : व्यक्ति> विश्वमानुष > परिव्राट् १११ +'शुना+सीर' का सहयोग [क्षेत्र-विभाग] १०४,

d. दण्डाध्यक्ष का कार्यालय : हृदय का रूपक-कवि-हृदय १०६; कवि और दण्डाध्यक्ष में भेद १०३, १०५ सामान्य [योग्यता]—सत्यासत्य [पापियों का असत्य]—विवेक ५३,

e. दण्डाध्यक्ष की योग्यता : (क) स्थविर. अनाधृष्य, तुम्र, स्वयं-गातु, वृषभ/महिष (व्यक्तित्व)—'दूसरा इन्द्र' ६९; (ख) उमंग, संकल्प, वीरव्रत, टेढे मार्ग अपनाने वाला दुःसाहसी [वायदेव; अदिति का अकाल-पुरुष] पुत्र : अद्भुत-प्रधान-सु-अपस् तम 'बहूनि मे अकृता कर्त्वानि; अ-प्रतिमानता ६७,

f. (a) दण्डाध्यक्ष की उपमा-१ : दान्त ४.६.८) ५४; उपमा-२: कवि-श्यामलोहिताक्ष दण्ड+१०५ 'मधुमान् ऊर्मि-अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य (शुचिः) संदक्-श्चोतन्ति धारा मधुनो+घृतस्य-घृतस्य-योनौ/मधूनां-सवथे-ऋतुं पुनानः कविभिः पवित्रैः १०५,

(b) दण्डाध्यक्ष की अनुपमा : सामृतैः पाणिभिर् घ्नन्ति १०५,

g. दण्डाध्यक्ष का विधान : दण्ड-विधान,*

दण्ड-विधान — १७, दक्षसे b आजौ,

A. २ तपतं रक्षः; उब्जतम्, नि-अर्पतम्—तपोवृधः; परावृणीतम् अ-चितः; नि-ओषतं, हतं, नुदेथां, नि-शिशीतम् (अग्निः)—[खं-ब्रह्म पुनातु सर्वत्र' की अष्टपदी] ३१८, : दक्षसे/अत्रिणे,

B. ३ ब्रह्म द्विषे, क्रव्यादे, घोर चक्षसे किमिदमिने ३१८: 'अभि अघाय अघ-शंसाय

दधिक्रावा — विजित प्रदेश को सुव्यवस्था में लाने वाला [Military Governor] २८०; दधिक्रावा प्रथमो वाजी अर्वा> प्रज्ञा का प्रथम अश्व २८१,

दनु — विपयासक्ति> दानव,

दभीति — १. दबदबा, दम्भ, दब्बूपना १५५,
२. जीवन-शक्ति को दबाने वाली (जरा) ९३,

दभ्रेभिश्चित् शशीयासं हंसि : 'तू है कि चिड़ियों से बाज भिड़ा देता है !'

दम्/दम — दमे आस नित्यः [स्वरूपावस्थित] १२४-आत्मानुशासन में स्थिरमति, स्थिरप्रज्ञ १३,
दमूना :-गृहपति 'द्वारे आया अतिथि २१०, घर-घर का प्यारा इन्द्र+ दम्पती (अनुशासक+पालन-कर्ता); अग्नि-दमे-दमे सप्तरत्ना दधाना २१३,

—देवानां गुह्यानि आविष्कृणोति ३९२,

b—देवा:=अपने-अपने क्षेत्र के इन्द्र ११८>अनुव्रता मर्ता: १४६ 'ये मनुं चक्रुर् उपरं दसाय १५५>सैन्यसमूहों के विद्वान् नेतागण [११+५: cf सैन्य-षोडशी] १२५<दुनियां के ईमानदार लोग २७२ : सु-व्रतास:, सुक्षत्रास:, सुम्नयन्त: १८०,

c. देवानां सधमाद:— i ऋतावान:, कवय:, पूर्व्यास: पितर:, सत्यमन्त्रा: २९८ : 'संजानतेन यतन्ते मिथस् ते, न मिनन्ति व्रतानि यादमाना:, ii समाने ऊर्वे संगतास:; उषर्-बुध: '२९८<देवकाम-नर्यः इन्द्रस्य सख्यं जुजोष' (him the gods love) ८३,

d. स देव-ता (प्रत्यक्ष,मूर्त देव) 'यं सूरिर्>अर्थी पृच्छमान एति २२८< देवता-ति : देव-तन्त्र, दैवी व्यवस्थाकारण [पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की योजना : 'सांच को आंच क्या' के प्रत्यक्ष-प्रमाणीकरण में [देवतातौ]२७७; इस दैवीकरण [-देव-] यज्ञ में २०७; संग्राम—'मा नो देवतता मृधस् क:' २८१,

e. देव-पुत्र : सविता [सब मानवी व्यवस्थाओं/कल्पसूत्रों का मूल १०३> देवमण्डली : विश्वविधान-परिषद्/संसद् २९५>देव-यान १०३, सविता का, उषा पथ : 'ब्रह्मण : पथि' २९८; देवयानी-देवयान की पथिक (उषा/ सरमा) २९८,

f. 'देवत्रा पू: स्याम' : हम दिव्यता से भर जायें / २८४>देव-यु: देव-भक्त, देवों के अनुगामी ३५९>विद्वत्सेवी १६३,

g. देव-वीति : अन्तर्मुखिता की वृत्ति १२३, ३४३;
देव-हिति : 'द्वादशस्य देवहितिं जुगुपु: [व्रत/सत्य का पालन]' ३१७; देव-हूति—देव-समागम, विद्वत्समागम [rally/call] २०४—दैवीकरण का [विश्वमानुष को] आमंत्रण २१२, ३७५; क्रान्ति की पुकार-भक्ति की [ऋच्यमाना] लहर १६९

h. देवाव्ये मनुषे पिन्वन्ति त्वचम् ३८०,

देवो मर्त्यस्य सख्यं जुजोष [मनुष्यता का लक्षण ?] ७८/देवो मर्त्यस्य सुधितं रराण: ४९,

देवं-देवम् आ यजत प्रचेतसम् ४५,

देवेषु पत्यते 'जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा : महा-इन्द्र+का चुनाव' President of the general Assambly दैव्येन जनेन : दिव्य जन्म देकर, दूसरा (दैवी) जन्म लेकर २८४,

देहा परिग्रही २४०,

दो अपराधी दो दण्ड रक्षसे वधः, यातुमते अशनिः ३२३

दो जन्म इन्द्र के भी [प्राप्तं ब्रह्मणेन संस्कारम् सत्यार्थप्रकाश ६],

दो-राहा — ऋजु/वृजिन ४७,

द्यु — द्याम् अनेन रेजयत् प्रभूम ७६ : द्यावा-दो-दो द्यु [cf मातरा : द्यावा पृथिवी, माता+आचार्य, आचार्य+विद्या] ३७६—*द्यावा-पृथिवी : पूर्व-जे पितरा 'महि वां वरूथम्' २८४; द्यु-क्ष : वरुण २७४—द्युभिः (दिन-दिन के श्रम से) ६; द्यु-म्न-सामग्री-संभार-१९९, द्युम्ना in a flash ! १५०, द्युम्न-हूति-क्षत्र/वैश्य यज्ञ [good show <'दमक, लक्ष्मी'] १६०. **द्योतनं इन्द्र १५३—***द्यौः, वानप्रस्थ/आचार्य/गुरु का आश्रम/कुल ३३५, नेता,

*द्यावा-पृथिवी महि वां वरूथम् २८४ (६-७०) घृतवती (स्नेह-युक्त)+सुकृते +शुचिव्रते, असश्चन्ती, पयस्वती, भूरिधारे "भुवनस्य राजन्ती' २०९, घृतेन अभिवृते ऊर्जं पिन्वताम्-घृतीश्रया 'मातरौ'-घृत-पृचा 'विश्वविदा'-घृत-वृधा 'सुदंससा'-होतृ-वर्ये 'संरराणे' -पुरो-हिते विश्वशम्भुवा'-मधु-श्चुता 'समिन्वताम्-मधु-दुघे 'रोदसी'-मधुनो 'मिमिक्षताम्' २०९,

**द्योतन [इन्द्र]-तमसो ज्योतिर् गमयत् : पुरु-कुत्साय शिक्षन्' [सधारक] —इन्द्र के कृपा-पात्र : दशमाय (इन्द्रिय-परायण], वेत-सु (spineless) दशोणी (हताश), तूतुजि (प्रतिशोध-भरे), तुग्र (चिड़चिड़े) इभ (मन्दबुद्धि): [एक शब्द में आर्तो (गीता)] १५३-५४,

*** द्यौः माता, आचार्य : कुल, आश्रम—विद्वन्मण्डली [रोदसी] २७४; नेता (मार्गदर्शक) ६२,

द्रप्स — फिसलने में चतुर ३३०,

द्रविण — 'in circulation' ७३,२४४,

द्रुह्वन् — ब्रह्म-द्विष् [अक्ल का दुश्मन] १५६-'द्रुह्वणे दीपयो अंतरिक्ष [हृदय-मन्दिर में] १५६ >द्रोघवाचः 'यदि वाऽहम् अनृतदेव आसम्' ३२१,

द्राणेषु — कठिन स्थलों में अग्नि-परीक्षाओं में blind alleys में ३४५,

द्वादशी — अग्नि-यज्ञ के १२/१६ विशेषण २२९ : द्वाद-शांग 'वारहदरी': आप्री : समित् से स्वाहाकृत तक २२९,

द्वि-आविनः — [cf द्वि-वर्हाः] दो-रंगी चाल वाले ३८४,

द्वि-वर्हस् — a आश्रम-सन्धि ३६१ : 'जन्म और दीक्षा के गुरु' २१२,
b कलहायमान 'दोनों दल' <बृह उद्यमने १५१ : दोनों को मान्य (a) २४३,

द्विष्/द्वेषस् — a द्विषो युयोतु यूयुविः १२७,
>द्विषस् तरध्या ऋणया न ईयसे : शत्रु-ऋण : दुश्मनों को भी तारता हुआ-

जैसे उनका तेरे पर कोई ऋण हो [ग़ालिब] ! ४०१,
b द्वेषः—तमांसि १३२ : द्वेषो युतम् आविवासन्ति धीभिः ५६,

द्वे — यम्या
स-बन्धू : सब्रह्मचारिणा,
—उषा + संध्या, द्यावा + पृथिवी, दिवा + रात्रि-यम + यमी,

धत्ते धान्यम् पत्यते वसव्यैः १४४,

धनुः शत्रोर् अप काम कृणोति २१४,

धनुर्वेदाचार्य का आश्रम ३८९,

धनुष्/धन्वन् — गतिवर्धक कोई भी अस्त्र, पदार्थ २१४,
धन्वन् — मरुभूमि भी २१४,
धरुण — व्रत; columns ३७८,
धरुणं प्रबाधमाना आयसी पूः bull-dozer [विन [ा] शनः ?] ३०८,
धर्मणा — [आचार्य-] कर्म का यथावत् पालन करते हुए ३५०,
धर्मणि-रमन्-भक्ति-भीने धर्म-प्रतिपादक ३६,
धर्मभिः—आचरण द्वारा
धात्रीः — अमृक्तम् ओमानं धात १८४,
धामन् — a धामन् ते विश्वं श्रितम् अंतः समुद्रे १०४,
धाम = व्रत = अनुशासन = वर्ण ५३,
b दण्डाध्यक्ष का क्षेत्र : मात्र 'अपामनीके/समिथे' नहीं, हृदि समुद्रे, आ 'खं ब्रह्म' ! १११,
c धामानि [आश्रमों] का अनुक्रम : ठीक क्रम से पार कर लेना,
धाम्ने : स्वक्षत्राय, स्वयशसे, महे [क्षत्र-],
धारया — १. मस्ती में, 'ज्ञान की धारा' में,
२. धारया कवि 'लहर की देन' ३६३,
धावति — प्रक्षालित करता है ३५२; शुद्ध भावना से ग्रहण करता है ३६८,
धासि — <अमृतस्य धासिम् ११४,
धी/धीर् — १. अण्वी इष्णन्ती अनुसंधानशील, निर्बाधा-अन्तः प्रवेशिनी बुद्धि ३४४,
२. धियः नव्यरयि, नव्यविभूति, नव्यवचस्या १५५,
३. धियं-जिन्वसः २६४-धियं-जिन्वो भुवने विश्व अर्पितः १९२—
धियं धात् : गौर करे १८१-धियं-धियं सीषधाति प्र पूषा १८१,
४. धिया-'सच्चे दिल से :' धिया ते स्याम रथ्याः स-दासाः (६२), ७३, १८१;

पर्व-ताः — १. शिव-सरीखे तपोमूर्ति/कपर्दी संन्यासी २७४,
२. पर्व = छावनी ३९ > पर्वतों की शृंखलाएं, व्यूह. पर्वाणि > ३. गन्ने की पोरियां; hanging gardens; व्यवस्था की पर्तें; > ४ सेनाओं के क्रमबद्ध संनिवेश [अ्रु वक्षेमासः] ४१ > सेनापति ३६,

√पव् — पवते—पवन : वायु ३८१ > 'ऋतम्': धनधान्य पानी की तरह वहा देता है ! ३७५,
>पवमानः अप-घ्नन् २९४ > प्रवाह (प्रौढ़ता): अग्नि-शिखा—अपराजय (सकल्प) + अभ्याक्रम + विजय की त्रिवेणी ३६८ > पवित्रम् चलनी, वेदी + वाज-श्रवस् (३६६) + (देवों का असुरों) से संग्राम १११ > पवित्र-वन्तः = पवितारः > पितरः [तिर इव !] ३७८,
—पवित्रता (हृदय की) भक्ति-रस (का संस्पर्श): 'धर्मणिग्मन्' ३५,

पशुरक्षी — वृष्णिपाल, गोपाल, पशुपति १८२

पाज — बल २३३, ३६३—पाजांसि कृणुते : चमत्कार दिखाता है ३८१,

पांचजन्य — इन्द्र ७४-धन २९४-(पंचायत का एकमत से चुना) सरपंच ११९,

पाद-गृह्य — पूज्यपाद ६९,

पाप — १ अर्वाति-जन्य + २ ऐश्वर्य-जन्य ७४,

पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् २८९,

पार्थव — > पृथु : प्रभुभक्ति का-अपने हृदय का-विस्तार करने वाला १६२,

पार्थिव — ब्रह्मचारी का विद्या-धन, cf 'तीन धाम' ३५८,

पावक — अग्नि : शोधक—अघ का नहीं, अघ के शंस का (विचार का) ३४९,

पाशद्युम्न — २६४,

पास-तः — [cf आसात्] निकट रहें २७४,

पाहि मित्रम् अवद्यात् ५३,

√पिठ् — अधिचयन [क्रिया] > पिठ-र : आवा > पिठर-पाक : भट्टी > पिठि-नस् तपोमय [आनन्दी] जीव-'रजि' पदवी का अधिकारी [विप्रराज, सोम]—ic पिठीनस् > पिठिनस् > पिठ् १५८,

पितरः(२) — a 'पितुर् मातुर् अधि आ ये समस्वरन्': आचार्याः ३७९,
—ब्राह्मणासः, सोम्यासः ऋतावृधः, २१७-वानप्रस्थाः १८५ > पितृ/मातृ-तुल्य बुजुर्गवार ३७६,
b सेना के पदाति (६.७५.९): विप्रसेना—स्वादु-संषदः, वयोधाः, कृच्छ्रे-श्रिताः, शक्तिवन्तः, गभीराः, चित्र-सेनाः, इषु-बलाः, अ-मृध्राः, सतो-वीराः, उरवः, व्रात-साहाः २१६,

१. राजा—प्रतिवरं ते मघोनी दुहीयत्; राजा का धर्म—मा अति धक् भगो न: ८,

२. मघवाना—इन्द्र+सोम b. ३. मघवान: भाग्यशाली जन १४४,

४. मघवद्-भ्य:—यजमानेभ्य: २९५, c. मघोनी = दक्षिणा ८९,

B. मघवा ब्रह्म बिभ्रत् एति ७६—मघोन: स्म वृत्रहत्येषु २६१, मघोनां ज्येष्ठो मघवद् इन्द्र: ३३१,

मज्मना — गहरे उतर कर १५०,

मणिसूत्र [क] — <सु-२ (४०७)

मणिसूत्र [ख] — 'ऋग्वेद* मण्डल-मणिसूत्र' : 'मण्डलात् मण्डलं गच्छेत्'—दशों-मण्डलों का क्रमिक प्रतिपाद्य-विकास :,

मण्डल-१ का प्रतिपाद्य : अन्नं धेहि इषं धेहि १ : तन-मन की स्वस्थता+विद्या ५,

मण्डल-२ का प्रतिपाद्य : आर्थिक वैभव की आप्ति : मण्डल-१ की शिक्षा-दीक्षा का परीक्षावसर (जीवन-संघर्ष में)-'सुयमस्य राय: पति:' ७,

मण्डल-३ का प्रतिपाद्य : मण्डल-२ की 'वीरता' पर पवित्रता का अंकुश-आर्थिक विभुता पर चांद : कला स्पर्श [वीरता का तिलक] : क्रान्त-दृष्टि [नव निर्माण की प्रेरणा] १६,

मण्डल-४ का प्रतिपाद्य : मण्डल-३ के उपसंहार में [४४], मण्डल-४ की भूमिका [आशंसित देवता] प्रचेता वरुण : पोलीस विभाग : अन्तर्-व्यवस्था शान्त उन्नतिशील जीवन,

मण्डल-५ का पतिपाद्य : बाह्य आक्रमणों से अभिरक्षा के लिए सेना की आवश्यकता १२२-सेना-व्यवस्था के सूत्र, घटक-तत्त्व ११२,११३-मण्डल का आद्यन्त : 'मरुत:' से ! १३४; मण्डल १-५ का एक दृष्टि प्रतिपाद्य : रयिषाट्> रयिवित्> साहित्योदय>पाशाध्यज्ञ >सेनाध्यक्ष ११५,

मण्डल २-५ की क्रमिक—संगति : अर्थयोग (२) >कलायोग> (३) राष्ट्र की सुचारु अन्तर्व्यवस्था (४) >मरुत: द्वारा बाह्य भय से मुक्ति>परस्पर सहिष्णुता की सद्बुद्धि (५) : अग्नि का दहन>विहान स्वभाव-परिवर्तन १३५-१३६,

यन्तु निस्वरम्	'इनकी बोलती बन्द कर दो' ३१९,
यम; यम-यमी	
यवं यवं > पुष्ट पुष्टं > धियं धियं [९.५५.१] ३६७,	
यव्यावती	'हरीयूपिया' के तट पर बसी एक नगरी' : बारहों महीने हरो, २५-५० की आयु १६०,
यस्य पुरुमायस्य महित्वं मह्ना अति रिरिचे १५५.	
यह्व	महान् [संन्देशवाहक] ११०,
याति स्वधया दैव्यं जनम् : अपना स्थान बना लिया ३७७,	
यातु	यातु-जू : चालबाज ५२,
	यातु-धान : फरेबी ३२१,
यादमानाः	उत्सुकता से भरी [सिन्धवः] १५२-२९८,
याम	दायित्व ३६४,
	यामेषु : यात्रापथों पर १०९,
यासि दूतं सूर्यस्य कामेन १९२,	
याहि प्र-पथिन् अवसोपमद्रिक १६५,	
यां त्वा जज्ञुर् वृषभस्यारवेण ३०२,	
युक्तग्रावा जायते देवकामः १९,	
युग-पुरुष	हिन्वानो मानुषा युगा : क्रान्ति के केन्द्र-गुरुकुल; संन्यासाश्रम monistaries, [चन्डीवन; काली मन्दिर]; आहवीय [चिनगारी] ३४२,
युगल देवता	इन्द्र+वरुण, मित्र+वरुण,
युद्ध	एक यज्ञ है; असुरों [पणियों] के विरुद्ध युद्ध एक पवित्र यज्ञ है । १११,
	युद्धनीतियाँ : दस्युनीति । शिखण्डी 'चाल' ११८,
युवति	a. १. युवतयः [मित्र वरुण की सहायक]—अवाताः, स—भृतयः, विश्वजिन्वाः, पृणन्ति, पयो भरन्ते २०६,
	२. युवति-शक्ति [विश्व की] : धृताभी, वसूयु:, हविष्मती, अ-रमति [अ-भ्रान्त], तपोभिरदहो जरूथम् २२५,
	b. युवत्यौ : निन्दा+स्तुति; रात्रिश्री+दिनश्री १८०,
युवस्व	यजस्व ३०८; जरा यौवन की कान्ति छिटक १४०,
युवं महानि प्रथमानि चक्रथु. २११,	
युवं सूर्यं विविदथुर् युवं स्वः २११,	

b. रथ वाहन : युद्ध यज्ञ का हवि २१६,

रथ्या रथों की कतार ३०८,

रदा पूषेव नः सनिम् १९८,

रन्धय गढ़ दे २५९,

रभस समारम्भ ३९२,

रभसस्य मन्तवः—अभियान की सोच में ३७९,

रै' see रयि a. i. संयद् वीर, बृहत्, क्षु-मत्, वाज-पुष्टि, द्रविणस्यु [प्रवाही], पुरुस्पृह, वीरवत् ९,

ii. वसु, पुरुश्चन्द्र, भूयस्, प्रजावत्, सु-अपत्य, शग्धिन् ९/

b. भोज [न] शुष्क/मधुमत्, वाजान्, अपांसि, ऊती, [वर्षा], कृधि वस्यसो नः ११,

विश्व-भोजसम्, विश्वायुपोषसम्, जीवसे १९४,

[=राति] गो अग्रा; अश्व पेशसम् ८,

सहस्रिणो रथासः सुमतिं चिकिद्धि नः ११,

श्रेष्ठानि द्रविणानि, दक्षस्य चित्ति, सुभगत्व, रयीणां पोष, वाचः स्वाद्मान, अह्नां सुदिनस्य १०,

रथ्य चर्षणिप्रः, पुरवीर, मह ऋतस्य गोपा, क्षय (क्षिति) १८३,

सुयमो रै ६,

रयि पर नियन्त्रण : ब्रह्मणस्पति का, बृहस्पती [अर्वता+ब्रह्मणा] का, सुयमस्य शयः पतिः ७,

c. रयि के जनक : सोमापूषणा जननी रयीणाम् १०,

रयिवित् ३७५,

d. रयिषाट्—धन [मद] सहन समर्थ—प्रवाह में विरुद्ध, अडिग, बढने वाला

रशना नियन्त्रण-रज्जु (११३)=रास [=रश्मि] ११२,

रस उत्पत्ति [९.१-३२] का क्रम—जन्म, इन्द्रस्य काममक्षरन्, व्रत, राये, नवीयः पदम्, जीवन-संघर्ष ३५५,

रसा a. i. रस का समुद्र

ii. कायाकल्पित धरती-रसा>सरा ! ३६२,

b. वीर-रस-संवर्धिनी [सेना] २२२,

रंगस्थली 'विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः' ४१,

राजनीति का नैपुण्य : (i) आन्तरिक अर्थनीति (ii)-परराष्ट्र से परस्पर सम्बन्ध २२०,

रजन्ती मानव मात्र को स-व्रत करने वाले [द्यावा-पृथिवी] २०९,

राजर्षि का धनुर्वेद-आश्रम [९.९०] ३८९,

रिप : [यज्ञ में] घुसपैठिये [राक्षस]—रिपो वा दधिरे देवे अध्वरे ३२२,

रिपुः स्तेनः स्तेयकृत् दभ्रमेतु ३२०,

रिपो वा दधिर देवे अध्वरे ३२२,

रिभ् रिभीहि : सुवीरम्, रयिम्, श्रवः २०४,
रिभ्यते उद्गीयते २९९,

रिरिक्वांसम् तन्वः कृण्वतत्राम् : राष्ट्र के खातिर बलिदानी वीर [राजा+प्रजा दोनों] ८१.

रिशादसौ हिंसा के विनाशक [मित्रावरुणौ] १२९,

रुक्म आभूषण ५५; स्वर्ण-पदक २८७,

रुद्र a. भुवनस्य पिता, बृहत्, ऋष्व, अजर, सुषुम्न १८२,
इन्द्र [६.२७.७] १६४,
b, सेनापति [मीळ्ह्वान=इन्द्र ?] १२१,
सु-इषु, सुधन्वा; असुरों से देव ? देव/असुर ? १२३,
शान्ति-काल में—अनमीव, स्वपि-वात [६.३६.] २८२;
पातु अंहसः १२८,
B. मित्र+वरुण : अश्विनौ १३०,
c, रुद्रासः [मरुताम्=शूरभटानाम् (सायण)],
१. 'आदित्याः, वसवः, रुद्राः'=मरुतः ११२,
२. [वानप्रस्थानामेषाम्] भक्तों के प्राण : इषिरासः, अद्रुहः, स्पशः, सु-अंचः [नम्र=किमपरं कृणोमि] सु-हसः, नृ-चक्षसः ३७९,

रुरुक्षी चढाई बोल देने वाला ३६५,

रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव १७६,

रेजद् भूमिर् भियसा स्वस्य मन्योः ६३.१०४,

रेणु-कपाटः दिन-दहाड़े-आंखों में धूल झोंकने वाला १६३,

रेतः [cf रै] जीवन-धन की दोनों धाराएं : शं [ऊर्ध्वगामी], प्रजावते [अधोगामी] ३६९,

रेभ कवि, गायक, गो-तुल्य, बछड़ा ३९३; रोता हुआ [क्रन्दन् एति ९.९६.२२] २९४,

रोग तनूषु वृद्धम् एनः २१३,

रोचन धर्म [यज्ञ] का मनोहारी उद्बोधक [कवि] १९,

रोदसी [cf द्यावापृथिवी]

१. देव-पुत्रे, प्रत्ने+यह्वी मातरा, ऋतस्य मातरा [ज्ञान-क्षेत्र के रोदसी :

स नो रक्षत् दुरिताद् अवद्यात् २४७,

संतान — [कैसी हो]—वीर, कर्मण्य, सादन्य, विदथ्य, सभेय, पितृश्रवण ५,

संदृक् — आभा १०५.

स/परोऽस्तु तन्वा—Exile him, ostracise him, boycott him ! ३२०,

स पर्षद् विश्वा अति दुरिता २४,

सप्त — आदित्याः ४०६, ऋत्विजः ४०६, जाययः=धातवः ३७४ दिशः ५०६, धातवः =धीतयः ७१=सिन्धवः (सेना की) ३४५, धेनवः (रस, असृङ् आदि), पुरः (असुरों की) १५४, रत्नानि=धीतयः (प्रत्यक्षादि) २१३, वध्रयः (रस्सियां) १३२, वाणी : (व्याहृतियां, स्वर) १७, विप्रा (प्रथम ऋषि) ४९+धीतय ५६+विस्रुह='ज्ञान की कोटियां' १४१, सिन्धवः १. नदियां, सेनायें व्याहृतियां २. 'चरित्र-निर्माण की' ७१, स्वसारः=सिन्धवः (सेना की) १९९; होतारः ४०६,

सप्तक — [१] ४०२:

पद	छन्द	स्वर	रश्मि
इषे	गायत्री	षड्ज	भूर्
ऊर्जे	ककुभ	ऋषभ	भुवः
रायस्पोषाय	अनुष्टुभ्	गान्धार	स्वः
मयोभवाय	बृहती	मध्यम	महः
प्रजाभ्यः	पंक्ति	पञ्चम	जनः
ऋतुभ्यः	त्रिष्टु प्	धैवत	तपः
सखे	जगती	निषाद	सत्यम्

[२] ४०६ :

७ दिशः	७ होता[ऋत्विज]	७ आदित्य
		रस
कर्मेन्द्रियां २	ज्ञानेन्द्रियां २	असृक्
३	३	मांस
४	४	मेद
५	५	अस्थि
६ अनुमान	६ मन	मज्जा
७ शब्द	७ बुद्धि	शुक्र

सप्तसिन्धवः [चरित्र-निर्माण की]—गंगा [चरित्र-निर्माण], यमुना [नियमित जीवन], सरस्वती [उद्योग-शीलता], शुतुद्री [तीव्रगति (यान, यान-नियन्त्रण)], परुष्णी [सुव्यवस्थित बस्तियां], असिक्नी [आत्मरक्षा साधना] मरुद्वृधा [जनगणना-नियोजन] ७१,

सप्त-धातु की उपमा [सप्त-कारु] : रस (प्राथमिक सूचना [F. R.]), असृङ् (वरुण द्वारा परीक्षित), मांस (न्यायाधीश द्वारा परीक्षित

समित् से स्वाहाकृत तक द्वादशी/षोडशी २२९,

समित्	=	गुणग्राहकता
नन्नपात्	=	श्रम का आदर
नराशंसे	=	समव्यवहार
इळ	=	कर्म में बुद्धि का योग
बर्हि	=	उत्पादन की संभाल
द्वार	=	यातायात-व्यवस्था
उषासानक्ता	=	श्रम-विराम चक्र
दैव्यौ-होतारौ	=	उत्पादक-उपभोक्ता-संयोग
तिस्रो देव्यः	=	उत्पादन-उपयोग-परिवहन
त्वष्टा	=	वैयक्तिक जीवन
वनस्पति	=	कुल-पति
स्वाहाकृति	=	सन्तोष-वृत्ति

सरितः ज्ञान-तन्तु १०९,

समिथ सहभूय, संघर्ष ३९१,

समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा : पहली चिनगारी (अग्नि, कवि) २३,

समिन्वताम् सनिं, वाजं, रयिम् अस्मे समिन्वताम् २०९,

समुदामुपस्थे मदमाते रण-बाँकुरों के जमघट में २१४,

समुद्र रत्नाकर ३५७,

a. रायो धर्ता : हे रत्नाकर तू हमें—

१. ईंखय (जगा दे), २. पवस्व+साधन की पवित्रता ३. एजय > क्रान्ति दृष्टि प्रदान कर। ३५७,

b. १. चार समुद्र : ३५६,

तप	ब्रह्मचर्य	समुद्र १	मन्थन १
सेवा	गृहस्थ	समुद्र २	मन्थन २
विद्या	वानप्रस्थ	समुद्र ३	मन्थन ३
भक्ति	संन्यास	समुद्र ४	मन्थन ४

२. समुद्राणि पप्रथुः पुरूणि २११,

c. १. समुद्र गृहस्थाश्रम का [मनु ६.९०. ऋ. ९.६५.१] ३७३,

२. समुद्र : हृदय [-समुद्र] १०६,

समुद्राद् ऊर्मिर् मधुमान् उदारत् १०६,

समृति समर ६१,

—अधर्म 'संग्रह' का नाश
—विषमताओं का निराकरण
—धीनाम् अवित्री

सरस्वत् [B सरस्वान् [ऊर्मिवान्?] ३०९,
१. सरस्वती-विभाग का कर्मचारी/अधिपति
सातये तन्वं वि मा मृजीत
[Clearlinese Department] ?
i नर्यो योषणासु,
ii शिशुर् [वृषभो] यज्ञियासु,
iii वाजी मघवद्भ्यः—मधुमत्+घृतश्चुत् पपिवान् स्तनः—अन्न+
प्राण का स्रोत (७.९६.६) ३०९,
२. सरस्वती की सखियां : नद्यः [गंगा-यमुनादि सात] सरस्वती के द्वार :
'ऋतस्य' ३०९,

स रश्मिभिस् ततनः—चंदोवा २३०,
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व (वर्षोत्सव) ३१५,

सवन सवन तीन का : सहस्राक्ष (विप्र), सहस्रपाजस् (बली) बृहतीरिषः [सहस्र-
दानी] का सवन/परिष्कार ३४३,
सवनानि : सोम-सोम के [विविध'उत्पादन'] ३४,

सवालाख एक : ११८,

सविता a. सविता के दर्शन : विराट्, अनुशासक १३२,
a२. 'देवपुत्र': श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे, निवेशयन् प्रसुवन् अक्तुभिर्
जगत्, वि यो रत्ना भजति दाशुषे १०३,
a/f विश्ववार, विश्वजन्य, ज्योतिरश्रेत, देवानां चक्षुः २९७,
b. सविता यात्रा-पथ पर [रथस्यति १२८]—ऋतस्य प्रभृतौ, हिरण्य-
पाणिः २७६,
b१. दमूना, यजत, मन्द्रजिह्व, सुवति वाम् २१०,
b२ निवेशयन् च प्रसुवन् च भूम, अपस्याम् अनुदात्, मर्तभोजनं रासते,
सुपाणि, हिरण्यपाणि, ज्योतिर् सत्यमय पाणि,सुजिह्व,पूर्णगभस्ति २८२,
—राष्ट्र-विधायक, विधिमन्त्री १८३;
b२ सवितुः सवीमनि २१०,
—विधायक; विधानसभा ४४, सम्पद्-वितरण का अन्तिम—अधिकार :
विधानसभा १०,
सविता के दो बाहू :रोष=क्षत्र, तोष=ब्रह्म ३०१,
—ज्योति, नियमन द्वारा [दण्ड द्वारा नहीं] हाँकने वाला : 'वि यो रत्ना
पुरुवसुर् दधाति' [भाग] २७६.

इन्द्र=[शासन के] ३३३,
वेद=[विद्या के] ३३३,
परमेन्द्र १

सहस्रभृष्टिम् [उशना वधं यमत्] ११९, ११२,

सहस्र-साव १. परिवत्सरीण [अतिरात्र] ब्रह्म/सोम ३१७,
२. > सोम [७.१०४] ३१७.

सहस्र-धार [युद्ध/यज्ञ] ४०,

सहावा — मानुषीणां कृष्टीनां[of human failings] एकः [अद्वितीयः] सहावा—इन्द्र [cf सहस्] १४८-१४९,

सहिष्णुता — [इन्द्र की] सह्यु=सहिष्ठ केवल ६.१८ में ! १९१,

सहुरि — सहस्री [अर्वा] २८८,

संकाः — [पृतनाः] ललकारती हुई, vociforous rosonant २१५,

संगीत का मूल—ऋक्> यजु के अवस्थान्तरण में ! ७

संन्यास — a. वृषा,जज्ञे,जनयन्, तमो ज्योतिषा प्रतपन्, दंससा निर्णिजे दधे ४००,

b. संन्यासोन्मुख [९.८६] ३८६,

c. संन्यासी : यस् ते सोमाऽविधन्मनः सु-प्रजा (मानस—सन्तान), ऋषि, कश्यप ४०५,
दिशांपति, मीळ्ह्वान्, त्र्यम्बकः सत्येन+श्रद्धया+तपसा-सुत ! आपवस्व ४०३,
संन्यासी का 'अद्भुत[जमदग्नि]प्रयाण ९.१११,१-२, सनिष्यदत्, श्रवसा ततर्दिथ, शर्याभिर् भरमाणः विश्वा द्वेषांसि पुनानः, स्मयुविभिस्तरति, ऋक्वाभीरूपा परियाति ४०२,
महासमुद्र, तोशते, नितोशते, श्रीणाति, रिणाति, सक्षणि [समर्थ], ऋणचित् [वृत्ति]: द्विपस्तरध्या गोत्रीरया पुरंध्या [सह] रहमाणः [गवालिनों का सहयोग] ४०१,

संन्यासी की पूरी जीवन-यात्रा[९.१०७] ३९९,
ब्रह्मचर्याश्रम में अंगिरस्तमो विप्रः
गृहस्थाश्रम में दुग्धाभिर् अक्षाः
वान-प्रस्थाश्रम में सदो वनेषु दधिषे,
संन्यासाश्रम में सहस्रधारो अत्यव्ययम्,
उत्सो देवो हिरण्ययः [९.१०७.४]

संन्यासी की अग्नि-परीक्षा [९.११३.१] शर्यणावति ! [चण्डीवन में (जोधपुर में)] ४०३, संन्यासी ४०४,

पर्जन्य-वृद्ध : महिष		पर्जन्य के रूप (वर्ण) का
सूर्या [श्रद्धा] के द्वारा भरण	ब्रह्मचर्य	ब्राह्मण
गन्धर्वों के द्वारा प्रतिग्रहण	गृहस्थ	क्षत्रिय
विद्याधरों के द्वारा रसाधान	वानप्रस्थ	वैश्य
धाता के द्वारा परिष्कार	संन्यास	शूद्र

(a) वर्ण-वर्ण के संन्यासी
(b) संन्यासी मात्र [९.९४.५] ३९१,

नदी-तट ३७०,

१ b. ज्ञान-नदियाँ ३८९,

२. सेनाएं, कवियों के प्रताप से वृद्ध-'वीर' सेनानी, सेनाएं,

<३. व्यापारियों के यातायात-साधन ३५,

सीक्षन्तः सेक्तुमिच्छन्तः दण्डयन्तः) २४५,

सीर 'संवत्सरस्य प्रजितस्य रसः cf शुना (i) सीर (ii) १०४, ३०१, ४०७,

सु- दुघा १३, पदी (शुतुद्री) २९, प्रजाः (मानस सन्तति) ४०५, प्रभात (७.४१) २७७, भू ६३, मति ३११, ३८०, मनसः ३०१, महान् २४३, मीळ्ह्मन् ३८०, रण २७, राज्य ५४, वीर २२९, वृक्ति २६१, व्यवस्था २७०, सर्वा २५५, हवीत ३८५,

सु. २ ४०७—यहां से वेद का आरंभ हुआ था। अब मनुष्य सुपुष्ट तथा सुशिक्षित (प्रथम मण्डल), सु-समृद्ध (द्वितीय मण्डल), सु-रस-स्नात (तृतीय मण्डल), सु-शासित (चतुर्थ मण्डल), सु-रक्षित (पञ्चम मण्डल), (विश्वसहयोग-) सु-सम्पन्न (षष्ठ मण्डल), विश्वनेता महावसिष्ठ द्वारा सु-नीत (सप्तम मण्डल), तथा विश्वमानुष द्वारा स्वयं-वृत विश्वराष्ट्रपति के राज्य का सु-वसु बनकर (अष्टम मण्डल), और विश्ववित् आचार्य के तीनों आश्रमों की मर्यादा पाल कर चतुर्थाश्रम में प्रविष्ट संन्यासियों की छत्र-छाया में इन्द्र की ओर सु-सोम बन कर वह निकला (नवममण्डल)। [-अनन्तर सविता के नित्य प्रसवों में निमित्त पूरा, अब वह विश्व को दैवी जीवन के सु-व्यवस्थासूत्राणि (दशम मण्डल) देने में तत्पर है]। मणिसूत्र,

सु-अभिष्ट सुम्नः—विश्व-प्रेमी १५४,

सु-कर्मा सुमेधा जनों ने धर्म-प्रतिष्ठापन द्वारा मनस्विता से, चुटकी में ही धरती को स्वर्ग बना दिया ३६,

सु-कृत mastar crafts man २४३, सुकृतो ररक्ष ५३;

सुकृतौ [भद्रौ] पाणी :सत्य लेन सत्यदेव नमस्कार ७५,

सुकृत्याओं की भेंट ३६५,

सुख के दो रूप : शुन + सीर १०४,

सुजाताः आभिजात्य २२१,

सुजातासः—सु-संस्कृत = द्विज [अरबी भाषा में] २२७, परिचरन्ति वीराः धीराः [६.१.१५] २२७,

सुदक्ष शान्ति-दूत [अन्तर् इत्],

सु-दानु स्व-वान्, ऋता-वान्, दास्वान्, रयिं वसत, प्र यो भनक्ति वनुषाम् अ-शस्ती: २०७,

सु-दास <कु-दास : स्वर् <भूर् २६४,

सुजातासः परि च वीराः [६.१.१५] २२७,

सुत सुतः सोमो असुताद् वसीयाम् श्रेयान् १७०,
सुतात् सोमात् इन्द्रो वसिष्ठान् अवृणीत २६४,

सुख के दो रूप : शुन(+)+सीर १०४,

सुधारक [इन्द्र] के काया-कल्प : (a) 'द्रुह्वगे←दीपयो←अन्तरिक्षा':
(i) दास> आर्य←(कर्मठ)
(ii) वृत्र> नाहुष←(नियम-वद्ध)
१५४ (b) (i) कामातुर> कृषक,
(ii) तुर्वश> पारग,
(iii) यदु> शूर,
(c) पुरु-तम कायाकल्प १५६,
(i) दभीति> इध्मभृति,
'रिरिचे महिलम्'
यो मनु चक्र उपरंदसाय,
दुर्गेषु पथिकृत् विदाना १५६,

सुन्वन्तं इत् सखायं कृणुते ह इन्द्र ८१,

सु-=द्वि- Doubly so; cf सु-महान्, जात, वर्हाः, मित्र २४३,

सु-दुघा अस्य धेनुः १३,

सु-पदी इन्द्र की शुतुद्री [अभिव्यञ्जक=प्रतिरूपक कर्मठता (संध्या)] २९,

सुपर्णो [दिव उत्तरास आदाय] हव्यं भरत् मनवे देव-जुष्टम् ८६,

सु-प्रजा मानव-संतति ४०५,

सु-प्रभात [७.४१] विश्व-मानुष की नई उषा २७७,

सु-भू उत्तमभूमि : ऋषि-भूमि, तपोभूमि ६३,

सु-मति विश्व-जन्या ४२: अ-प्रभुता ३११,
> सुमती सुमत्या ३८०,

सु-मनस देवाः ३०१,

सु-महान् वसिष्ठतम २४३,

सुमीळ्ह अच्छी नस्ल,

b. २. मानव-जीवन में उसका यथासम्भव अनुकरण, अनुगमन, अनुवर्तन : अनुभव >

३. अभिनय : यज्ञ-क्रिया—ऋक् > यजुष् >

४. 'मणिसूत्र' का आदि संकेत (शर्यणावति सोमम्] ४०८,

c. > १. सृष्टि की यज्ञ-कल्पना (कल्पसूत्रों का मूल) ४१०,

> २. नाटकीय दृष्टिकोण : देवस्य [सवितु:] काव्यम् (१०.५५.५: शतपथ १३.३.१.६) ४०८,

सेना/सैन्य/- a, सेनाएं—पुरंधी: + वस्वी:, [न:] पत्नी : १२२,

b. > सेनापति* [अग्नि] : १ 'सिंह न क्रुद्धम् अभित: परिष्ठु:— क्यों आफत मोल ले बैठे ?' + २. माता-इव [अधृष्य + अभि-गम्य] ११५,

c. *सेनापति का सचिवालय—

i इन्द्र-ज्येष्ठा मरुद्गणा:, अश्विना, मित्रावरुणा देवास:/विश्वदेवा: ;

ii विश:, इन्द्राग्नी, राजा खुद [as the supreme commander],

**सेनापति के गुण । विशेषण—सु-क्षत्र, सत्-पति, पांच-जन्य, 'प्र अर्य: सक्षि जनान्' वज्र-हस्त, महा-वध; उशना:; अ- सुन्वताम् [अनुत्पादक तत्त्वों का] अ-मित्र, त्वेष ११९ + + विशाल अध्ययन, सूक्ष्म बुद्धि, महामहिम महिष [व्यूढोरस्क] व्यक्तित्व + + + प्रतिमास ३० सेनापतियों को प्रशिक्षित करने की क्षमता; सर्व-सेन ११७; सैंकड़ों से अकेला भिड़ जाय [इन्द्राद् अभयन्त देवा:] सं-क्रामक 'धेहि ओजो जनेषु' ११८ + + + + साधिष्ठ क्रतु: वृत्रहन्तम + मीळ्ह्वान् १२० + + + + + १६ उप सेनापतियों पर तथा सहस्रिणी [सेना] पर हावी १२५,१२६,

d. कितवों, रिपुओं [rapics], झूठों पर, सेना में प्रवेश पर, टोक १३४,

सोम

I

BD/S

तदेतन्नर-राष्ट्रमिव

ब्रह्म = ब्राह्मी [बूटी] ८६—

मधुवर्षी [वृषा] १८,२०७- प्रभुसाक्षात्कार-जन्य आनन्द [मय कोष] > साहित्यरूपी सोम [काव्य रस] > स्थितप्रज्ञ ब्राह्मी-स्थिति = ब्रह्म = ब्राह्मण,

प्रजापति—

रयि का उत्पादक : विश् + रयि का पोषक : क्षत्र १०,

[cf चाणक्य-अर्थ: = पृथिवी,तस्या अधिगमने पालने च उपजीव्यं यत् शास्त्रम्....],

> राष्ट्र-कोष १४८,

न्यायाधीश [वानप्रस्थ ?] ३१८,

अस्त्रविद्या का सवनकर्ता (आचार्य) २१७: 'ज्योतिषा वि-तमो वनर्थं; रजिष्ठम् अनु नेषि पन्थाम्'—प्र+णेता : वीरकर्मण्यं 'जोषं' दधाति [आचार्यः/शूद्रः] ५ >श्रम का फल : सु-षु-त २५७—धी-जीवन, ऋषी, विप्र, ऋभु, धीर, उशनाः, 'गवां गुह्यं नाम [पयः/धृत ? जावाल?], विश्ववार ३३८,

II

वर्णिनाम्

एक सवन, एक यज्ञ—

सोम का सवन ७.९७: दिवो यज्ञे ['वृहस्पति के संगम/तीर्थ पर'= पृथिव्या [आ] निषदने [आ निषत्तु—राचार्यस्य आश्रमे] यत्र 'गमन् मदाय प्रथमं वयश्च ३१०—

कुलपति का आश्रम

उपनयन/उपनिषद्—

सोम का रथ : त्रि-पृष्ठ = त्रि-पृष्ठपोषक : माता+पिता+आचार्य/राजा+प्रजा परमेश्वर, त्रि—बन्धु [तीन धागे, गुण/दोष, उपवीत, आश्रम; सप्त-धीति/ धातु [५ प्रत्यक्ष+अनुमान+शब्द] ३७१,

सोम का कृपा-रूप (इन्दु): **रुद्र>सोम** ८७>विद्यादान-रूप सोम-याग में [cf 'वैदिक शिक्षा-मनो; परिशिष्ट]—

'त्रि-तन्तुं तन्त्रं तन्वानः [परिवेति]'=**उपनयन** ३८७,

अविद्या (रेचन)>विद्या (कुम्भक) द्वारा श्री-पूर्ति [संस्कार]>अमृतमश्नुते] स्वर्-वृत्ति [जीवन्मुक्ति) ३९१,

गर्भे-अन्तः—

'विश्वपतिर् भुवनस्य राजति'—सु-आयुध/स्व-आयुध, अग्रेणी :>कर्ता [कुरुते] दिव्यं-रेतः 'गर्भे-अन्तः'—

धाम=आश्रम=पद ३८६ : व्रत-प्रतिष्ठा (वसुमत् जीवसे) २८७, हिरण्यवत्/ ज्योतिरथ ३८७ : वर्ण-व्यवस्था : विश्व- दर्शत [नक्षत्रवत् पुरो=हित (pole Star)>पथिकृत् (परिव्राजक), विचक्षण (अभिचाकशन्-जागृवि)+स्वादुः प्रियः [सर्वेभ्योऽपि चतुर्भ्यः 'प्रियं मा कृणु देवेषु*:' **मित्राय+इन्द्राय+पूष्णे+ भगाय** ४०१,

स-रस-वती—

सुमेधाः, गातुवित्तम>'विश्वेदेवाः' काव्येषु-रन्ता 'जनान् अनु यतते ३९०> 'प्रथमो मनीषी'— पुरु-कृत्, पुरु-क्षु, पुनानः [अविद्याया विद्यामुप] ३९० : हिन्वानो वाचम्, कवीनां-मतिम्, कविन्तमः=अग्नि-तमः=प्र-वह्निः ३९५> प्रेरयति ऋतस्य- धीतिम्=ब्राह्मणो-मनीषाम्·····*प्र-णेता परिणेता-*मतीनाम् [*'अस्य व्रते देवासो अद्रुहः] ३९७,

प्रातरिन्द्रम्'

(a) उद्-बोधक : क्रान्ति का पुतला—जनस्य गोपतिः>व्रतपति का आयुधागार ३५७ >गिरा—जात [संकल्प-सुत : उपनीत : द्विर्-जात] ३७१—'व्रतेषु जागृहि ! '३७१ >स्नातक [समावर्ती],

(b) >मेध्य-अतिथि [मत्या-जुष्टः+धिया-हितः] > धारया 'विप्र-वीर ३६३, नृ-चक्षा ! ३६४ >क्रान्तिदूत,

(c) श्रेष्ठ सवन (तृतीय): न्यायाधीश (वानप्रस्थ में)>सत्यासत्ये वचसी पस्पृधाते : 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' [Sole arbiter] ३१७,

'फिर चण्डी को for revival !'

कुलमाता के पुनः दर्शन—ऋषिमनाः, सहस्रनीथः, कवीनां पदवीः (श्रद्धानन्द) कुलपति-कीर्तन) ३३४—इन्द्राय- इन्दुः (सूर्याय-चन्द्रः), मह्-इषः, मनसस्पति ३५२/वनस्पति ३३६* ग्राम श्रद्धानन्द का-आश्रम प्रचिकेतो मनीषा 'पथदीप'—मधुमक्खियों का छत्तम्—चरित्र धन का विस्रस/विस्रामात् अभिरक्षक [जागृवि अन्तः—कवच]—'तव स्मसि व्रत्याः' उद्गीथों का वातावरण-व्रतियों की परिक्रमाओं, परिव्रज्याओं का प्रत्याकर्षण-बिन्दु-ऋषिः-पवित्रे =हृदये अर्षति—वाणी का मार्जन, पवित्रता की झाँकी, स्पर्श, कायाकल्प, हृदय का उदात्तीकरण-विश्वतस्पति ३३७,

वापसी और युग-कृत्य [तैयारी]

आचार्य के कीर्ति-आलोक की छाया में : त्वष्टा (मौलिक विचारक, अग्र-जाः [इन त्वष्टाओं में भी अग्रणी], गोपाः (वचन के धनी, परम्पराओं के कस्येन्द्रियन), पुरोयावा मातृहृदय (इन्द्र)+पितृहृदय (मधु)+आचार्य-हृदय (संविद्), विनयेन्द्र, धर्ममेघ (वृषा), सदागति+शोधक (पवमान), इन्द्र-यु ='इन्द्रं पुनानः']इन्द्र=राजा पर अभिवाञ्छित अंकुश] (इन्द्र, चन्द्रमा, वसिष्ठ/वशिष्ठ), प्रजापति=गृहपति=व्यवस्थापक, हरित (सदाबहार), हिरण्यय (साक्षात् भव्यता की मूर्ति) द्रोण [धनुर्+आयुर् वेदाचार्य]++ अत्यवि (ब्रह्म-निष्ठ) वेदगृह (मौनी), निरन्तरित सवनों का सुष्वाण जीवन् ! ३३९

कुरुक्षेत्र में

जैसे एक यज्ञभूमि में—सत्य+अहिंसा के 'गुच्चूपानी' में, तीर्थ में, 'अपघ्नन् द्विषः' [का भावना-लोक]-द्युम्न-वृष्टि ३४०> 'जिन्वन् कोशम्'+'हिन्वानो मानुषायुगा'+ऊर्मावधिश्रितः— कविः>'उग्रं शर्म महिश्रव : ३४२> शिल्पी (कारुः), आर्य, युवा [बभ्रु] कवि-व्रात्य का 'नवीयसे सूक्ताय साधया पयः' नव निर्माण ३४१> परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम्-अण्वी धी : [एष धिया अयते, अन्तः--शुभ्रावता पथा वि-नीयते, 'नृम्णा दधान ओजसा'—[सोम]

उक्थ्यो ज्योतिः—समुद्रं जजान ३५३ : 'वाग्वधिनी' गो-चर ३४७,

(b) > गुरु की ही प्रतिध्वनि से पूत = पावक = प[ा]वमान-विपश्चितः काव्यधारा : 'वृत्रहन्तम + ग्रद्भुत-पावक-ग्रघ-शंस के 'हरण' के दश साधन ३४८,

(c) कसौटी पर (धृष्वयः)—ग्रार्द्रशील (मत्सरासः) को कोई शिकवा नहीं-नित्य स्वर-विद् मुद्रा/स्थायिभाव ३४७,

(d) 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' नृचक्षा के ग्रश्व, ऊर्मि के हरी, कवि के चमूषद् ३४०: सोमो दाधार दशयन्त्रम् उत्सम् (शीतल प्रेम-फुहार)—विराजमनु राजति (history repeating itself'): विराज्> ग्रनुराज्, स्तुभ> ग्रनु-ष्टुभ्, बिम्ब > प्रतिबिम्ब, कृति> प्रतिकृति : सूर्य> चन्द्र, पति> पत्नी> द्यु> पृथिवी ३३४ : यह विचक्षण पथिकृत् 'सोम' ही हमारा भावी अंगिरस्-तम 'ब्राह्मणानां-राजा' है ! ३३३,

विप्रराज का ग्रभिषेक

ब्रह्मभूय> ब्राह्मसंस्कार-सम्पन्न 'राजा' की सौम्य ब्राह्मी-स्थिति : 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' ३३३,

क्षात्र धर्म

(a) 'सोमो राजा' का ब्राह्मसंकार : रुद्र> सोम—राजा-इव धावति = पुनीते (३६८) ४०६-'इन्द्र का पान' सोम, ग्रर्थात् 'कामातारु का इतिहास-बोध ३९२> मस्ती शरावोर वाजी = मत्सर = 'यौवन' धन- विश्व-दर्शत, सु-ग्रायुधः ३७४> सिन्धूनां पति से सेनापति की बृहतीरिष का सवन/पवन/वरा] हन-मनीषी विश्वजित् विश्वस्य भुवनस्य राजा': 'यं किल देवी/मानवी रोदसी उभे (राजानं) वनिष्टम् + गावः सूरयः ग्रासभिर् जनिष्ट>

(b) सु-कर्मा, सहस्रधार ३९६ : शत्रु [भाव] ग्रपघ्नन्, सामन्-यः पवमानः ३९४-पर्वतावृत इन्द्रियो रसः = वाग्वज्रः ३६५,

[बुद्धि> भुव>]वाग्-बल : 'इदं ब्राह्मम्'

(a) **रुद्र> सोम** : सु-शेवो मृळतं नः, 'वृत्रहतं वि/सू 'चिम्' 'ग्रोषधीभिर् बाधेताम् निर्-ऋतम्' तिग्मायुध + तिग्महेति> पाशमोचकौ गोपायतम् २१३,

(b) **सोम + रुद्र** : गुणसम्भूति प्राणविद्या + दोष-निवारक जीवन-संघर्ष/सर्जरी २१२, २७८—'सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण शिक्षा-विज्ञान' (परिशिष्ट): रत्न-धा २१२ [सोम-रुद्र विवृहत वि/षू-चिम् २१३,

(c) > न्यायाधीश : 'ग्रावीत् सत्, हन्ति सत्' ३१७> विश्वन्यायालय (३१४) ग्रौर मण्डल की समाप्ति + सोम + इन्द्र : निर्णय + दण्ड [ग्रर्थात् विवेचना बुद्धि-दान, हृदय-परिवर्तन [किन्तु पात्यो दण्डोऽपि ग्रपरिहार्ये !) ३१८,

वैश्यधर्म

विजयोत्सव : जैसे शिशु' जज्ञानं हर्यतं तं शुम्भन्ति मरुतो गणेन, काव्येन बृहतीः

धारा : ३८४-इन्द्र [अर्थात् क्षत्रिय/गृहस्थ की सेवा में समुपस्थिति : इन्द्रस्य काममक्षरन् वर्धन्त अस्य वीर्यम् ! ३३९-२४० तीन इन्द्रः सोमस्य मदे चकार [जनिता[३९३; सोमसुत : प्रजाएं, विचर्षणि+सहस्रचक्षा+सहस्रपर्णा नवजात वैश्यवर्ण की देखरेख में ! ८२,

शोचिः/शुक्रं/फलम्

इळा+सरस्वती+मही का एकाभिमुखी 'संगम':जहाँ त्रि-वर्णी त्रिवेणी एक धार हो जाती है : वह प्र-यागराज (विष्णु-पदी) शूद्र धर्म ३३७-'मा फलेपु कदाचन'+'त्वदीयं वस्तु', 'इदं न मम'+'इदमग्नये की स्वतः सिद्धि का तीर्थ ८४-उपेक्षितवर्ग 'स्त्री+शूद्र+संन्यास का मुक्तहस्त यज्ञशेप-वितरण १७१:—'परमरस': सोमासः—खून-पसीने की गाढी कमाई से तैयार किये सवन का भी प्राभृतीकरण ९९, ['बूढ़े चिरंजी' का निदर्शन]-अपने ही श्रम से इस पद पर पहुँचा, किन्तु निरहं, आज भी यथापूर्व नित्याभियुक्त ! १५२ >सवनों का विस्तार : तुरीयाभिमुखी-खुद में ही सोम-सुत भी सोम जनक भी : साम कृण्वन्+सामन्-य सोमक ! सोमकः*! वह बीज-बीज का, विसृष्टि का, अणीयस्तम आदि-बीज [सोम-क]—उपमाओं में : ब्रह्मा देवानाम्'+ 'पदवीः कवीनाम्'+ऋषिर् वि—प्राणाम्+'महिषो मृगाणाम्'+'श्येनो गृध्राणाम्'+स्वधितिर् वनानाम्' सोमः 'पवित्रे अर्षति/अत्येति ३९३-मद में (मत्सर) किन्तु होश अब भी मुकम्मिल—'सर्व-धा' !; आज तक गूंगा रहा, अब गुनगुनाने लगा [पवित्रम् अति-एति 'रेभन्'] ! ३९३ (पुरुष-सूक्त, १०-९० की प्रथम ५ ऋचाओं में)

III

व्रतिनाम् [आश्रमाणाम्]

सोम-याग

दीक्षान्त के उपरान्त समावर्तित वृषा का सोमक्रयणी (गोदान) द्वारा घर-वापसी पर अभ्यागम (शतपथ ३.३.१.१.)—पवमान 'अन्धस्' के लिए भिक्षा-पात्र और पद- यात्रा ३६६—वधू-यु>वीरुधां [लिवुजां १०.१०] यतिः ४०५-'उपस्नातक>गृहस्थ>वानप्रस्थ>संन्यस्त का चित्र; मानो, स्रोतस्विता एक उद्बल [प्रभूवसु] स्रोत हो, कोई 'वसूनां-प्रभव' हो !, किन्तु अभी तो आचार्यगर्भ से निष्प्रवाणि-होने के कारण कुछ-ग्राम ही ! ५८ × × × × × × तृतीय धाम से तुरीय में प्रवेश (९९.६.१८.१९) ३९४' तृतीयं धाम अनु राजति, तुरीयं विवक्ति सोमं यन्ति मतयो वावशानाः [नई शिष्य-परम्परा का एक अनुवंश स्थापित/प्रवर्तित] ३९५-ये नये व्रती हमारे नये कुलपति के [गर्भेऽपि सन्तः 'प्र-वृण्वन्तः, सु-ष्वये वरिवो-विदः, काष्ठां=व्रतम् अक्रत ! सृष्टाः सर्गा इव [सरस्वतीव] ससृंवांसो* न शश्रमुः>मधु-सुतः (३५०)=

दो !' १०९:' स्वधाम् आयुधैर् अनुयच्छमाना:' २८७—स्वधया पवित्रा: २८३ अर्थात् अचक्रा ['निन्यानवे के फेर से मुक्त] ८६: पुनः स्वरूपावस्थित !

(b) स्वधिति—वनों में तपः—साधना से आत्मशुन्धन। आत्मोन्नति करने वाले 'वन-ज्योत्स्ना' रूप आचार्य : आ-निपत्ता ३९३,

स्व-पूर् — आत्मसन्तोष> परस्पर-अभिपूर्ति २८५ 'सुवीरा, सहन्ती, नृम्णं पुष्यन्ती' पृथ्वी २८५,

स्वप्नश् चन इत् अनृतस्य प्रयोता ३०५,

स्वयं-गातु — अन्यनिरपेक्ष-[प्र] गति ६९,

स्व-युग्वन् — स्वयं-सेवक ४०२,

स्व-राज्यम् — 'स्वयशस्तरां श्रियम् १३३,

स्व-सर — अपना-अपना कर्तव्य ४३> स्व-सारः कर्तव्य-बुद्धप्रजाए ५४,

स्वस्ति — सदाचार ९६,

स्वं-नपातम् — कवि की लाडली [कविता] १५४,

स्व-रजः — वभ्रूणाम् : गृहस्थ का क्षितिज-धाम> गोधूलि ३७१,

स्वादु — अदाभ्य+मधु : मित्राय+वरुणाय+वायवे+वृहस्पतये ३८५ : संसद् में माधुर्य के स्रोत [स्वादु-संषदः[२१६,

स्वाध्यः — स्वाध्याय-सम्पन्न ३५४,

स्वाय-धर्मणे — सम्पूर्ण सृष्टि को, सृष्टि की प्रसव वेला में [प्रसव], एक पदी उपदेश : **'स्व धर्मम् आचर'** (गीता) १०३: और फिर वर्णाश्रम धर्म इसके अतिरिक्त और क्या है ?

स्वा-ऽयुध — स्वाध्याय ही का आयुध हाथ में लिए, अब गुरु पर भी अनाश्रित, आत्मबल> साधक कर्मयोगी ३५४,

स्वे आ दमे सु दुघा १३,

स्वः/स्वर् : स्वर्ग> स्वर्य—

१. स्वास्थ्य २११,
२. स्वास्थ्य-प्राप्ति की आकुलता : एक [परम] मनः-स्थिति [रजि] <मोह-विजय १२८,
३. संन्यास+मोक्ष की क्षितिज-रेखा : शं +ज्योतिः ज्योक् ३९०: जीवन् मुक्ति का सुख ३३४ [स्वर्-ग]

B. तीन स्वर्-ग पथ> एक मंजिल स्वः [अ/निर्-वर्ण्य] संन्यासी+आदित्य ब्रह्मचारी का एक ही परम पद : तुरीय/अदिति-३३५; आदित्याभिमुख स्वर्-न=स्वर्ण : सूर्य के समान [सूर्याचन्द्रमसाविव] ! २७३,

—स्वर्-दृश् : ऋत ३८१,
—स्वर-नरत्व> सोम : आदित्य> अदिति : क्षत्रिय का ब्राह्म संस्कार (मण्डल ९ का प्रतिपाद्य ३३२,

C. स्वर्-नरे = महेन्द्रराज्ये—जहां :

a. १. तीन स्वर्-विद् : स्वर्ग आश्रमी हों ३४१,
२. धरती पर स्वर्ग उतर आया हो, या फिर—देवों की उच्छृङ्खलता पर भी मनुजेन्द्र ने अंकुश लगा दिया हो—अर्थात्—देवों की मानवी-करण भूमि पर ! ३३२,

b. स्वर्-मीळ्हे = युद्ध ६१, परम सुख देने वाले स्वर्-ये ६३,

c. स्वर-विद् : 'संन्यास + मोक्ष' के तत्त्वविद्-आप्त, परमहंस ३८६,३९६,

d. स्वर्-विद् द्युम्नं गवाम् : गोधुलि की भव्यता, स्वर्-विद् नाभिः (रोम-रोम तथा-स्पन्दित है १६९,

हत-वृष्णी : हत-सेनापति [सेनाएं] ६३,

हता रक्षांसि पुरु दंससा स्युः २०३,

हतासो वां पितरो देव-शत्रवः १९३,

[हर] भद्रता का स्रोत १६४,

हरि [हर्यत] मनोहर, रुचिर ३५०; 'वसातो गा अपो [हरिः] 'चेहरे की आव" की झलक देता हुआ ३६३,

(b) हरिवस् : पहुँचाने वाला; हरी 'इन्द्र के अश्व' + समाचार, यातायात के आ-हर्ता अश्विना ५७-५८; उषा सन्ध्या की मनोहारिता [एक झलक' ३३]

हर्यत मन-मोहन, प्रेम-भाजन ३५०,

हवि-स् १. [अन्तिम[पुकार ४०६,

२. हवि का 'रथं तपोवनं यज' १७७,
हविर्-हविष्णु-जब-जब वेदारम्भ आता है ३४०;
हवीमनि अग्नि, होत्र में २८७,

३. 'हविष्मन्तो १. वसूयवः—२' पर-दुःख पर जान देने वाले १ बलिदानी २ [कुशिकासः] २५,

४> हव्य,

हव्य [आ] हुति> १ कृति भी, आलोचना भी १५५ : 'हव्यं मतिं च [अग्नये सु भूतम्] २३४; २. 'हव्या देवेषु द्रविणं सुकृत्सु' २४३,

हस्त-घ्न दस्ताना

हिन्वान उषतीर् अजीगः

हिरण्य — सत्य+ज्योतिर्मय 'पूर्ण-गभस्ति' २८२> १. हिरण्य-जिह्व [सविता] 'सुविताय नव्यसे' २१०= [हिरण्मय] पुरुष ४००> २. हिरण्मयी/हिरण्ययी अ-म्रिति : सोने की [संजीवनी!] चिड़िया २७६,

हृत्/द-अय — १. a. हृत्> समाचार-हृत; क्षत्त-हरों का संगम-स्थान (काफ़ी हाउस) ५७,
b. हृदय : दण्डाध्यक्ष की हृदय [वाम-देव] से उपमा—अन्तर्यामी सहृदयता १०३; दण्डाध्यक्ष की योग्यता १०४,
c. अश्वाः=वह्नयः—'आ त्वा वहन्तु हरयो वहिष्ठाः' १७०,
१. हृदय की आत्मकथा : शब्द-ब्रह्म १०७; हृदय की उपमा-'अन्तः-समुद्रे' (४.५८.११) १०४> हृदय-भूमि [रूपिणी 'माता'] ३१२ : 'हृदि श्री पवित्र आ दधे' ३७९; हृदे सनि—चहेता ५७,

होता — ऋत्विय [आनुषक्] ३७,

होत्रा+ — rally ४९> n. होत्रा ब्रह्माणि : ब्रह्म समुदय ३१९,

परिशिष्ट (३)

अवतरणिका

आर्य शब्द की व्याख्या में सिन्धु नदी का भी नाम आया है। मैक्समूलर-सम्प्रदाय का कहना है कि आर्य लोग सिन्धु नदी पार करके भारत में आए, इससे पता लगता है कि वे किसी ऐसे स्थान से आए थे, जहाँ से आते समय सिन्धु नदी सबसे पहिले पड़ती थी, इसलिये मैक्समूलर-सम्प्रदाय का अनुमान है कि वे मध्य एशिया से भारत की ओर आए। इसमें प्रमाण के तौर पर वे ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७५ वें सूक्त को उपस्थित करते हैं। इस सूक्त में ९ मंत्र हैं। हमें सबसे प्रथम यह देखना है कि क्या सचमुच इस सूक्त में नदियों का वर्णन है (१)।

दूसरी बात जो हमें देखनी है वह यह है कि, यदि इसमें नदियों का वर्णन नहीं तो किसका है (२)।

सो, सबसे प्रथम हम इस बात की परीक्षा करते हैं कि इस सूक्त में नदियों का वर्णन है भी या नहीं; सबसे पहले हम सिन्धु को ही लेते हैं।

पाश्चात्त्यों का कहना है कि इसमें सब से पहिले सिन्धु का वर्णन है, इसलिये आर्य सिन्धु पार से आए। यदि उनका यह कथन ठीक है, तो सिन्धु के पश्चात् जेहलम, फिर चिनाब, फिर व्यास, फिर सरस्वती, फिर यमुना, फिर गङ्गा का वर्णन होना चाहिये, परन्तु है इससे ठीक उलट।

इस सूक्त का ५ वाँ मंत्र इस प्रकार आरम्भ होता है :—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णि आ।

इस मंत्र का ग्रिफ़िथ-कृत अनुवाद इस प्रकार है :—

Favour ye this my land, O Ganga, Yamuna, O Sutudri, Parushni, and Saraswati ;

With Asikni, Vitasta, O marudwridha, O Arjikiya With Sushoma hear my call.

इस अनुवाद में प्रथम आपत्ति तो यह है कि ग्रिफ़िथ ने सरस्वती के स्थान में शुतुद्रि करके सरस्वती को सबसे पीछे डाल दिया है। इस स्थान-परिवर्त्तन का अनुवादक को कोई अधिकार नहीं।

दूसरी बात यह है कि यह उलटा क्रम कैसे? क्या सिन्धु पार करते ही आर्यों ने एक लम्बी

छलाङ्ग मारी और गङ्गा के तट पर आ गए, और वहां से यमुना, सरस्वती, सतलुज, व्यास इस प्रकार चले, यह उलटी गङ्गा कैसे बही ! फिर जिसे सिन्धु नदी कहा जाता है उसका वर्णन सुनियेः—

इसका वर्णन ८ वें मन्त्र में है। मन्त्र इस प्रकार है :—

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावती उताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥

इस मन्त्र में ४ विशेषण ऐसे हैं जो किसी प्रकार भी किसी नदी के नहीं हो सकते।

वे विशेषण हैं :—

(१) स्वश्वा
(२) सुरथा
(३) सुवासाः
(४) सुकृता

स्वश्वा का अर्थ है जिसमें सु+अश्व अर्थात् अच्छे घोड़े हों। सुरथा का अर्थ है जिसमें उत्तम रथ हों।

सुवासाः का अर्थ है जिसने उत्तम वस्त्र धारण किये हों।

सुकृत का अर्थ है जिसे किसी शिल्पी ने बड़ी चतुराई से रचा हो।

इनमें प्रथम तीन विशेषण यदि किसी प्रकार खेंच-खांच कर नदी में लगा भी दिये जावें तो चौथा विशेषण तो नदी में किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं हो सकता, हां, नहर में तो लग भी सकता है, किन्तु वहां भी खेंच-तान कर।

फिर भी यदि यह भारत के भूगोल का वर्णन है तो चौथे मन्त्र का अर्थ कैसे सङ्गत होगा ? जिन नदियों को यहां सम्बोधन किया है वे सिन्धु की ओर ऐसे दौड़ी आ रही हैं जैसे दूध भरी गाय अपने बछड़ों की ओर रम्भाती हुई दौड़ती है। मन्त्र इस प्रकार है :—

अभि त्वा सिन्धो शिशुमित् न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः ।

इस पंक्ति का ग्रिफिथ द्वारा किया हुआ अनुवाद इस प्रकार है :—

Like mothers to their calves Like milch-kine with their milk, So, Sindhu, unto thee, the roaring rivers.

अब बताइये कि यह कौन-सा भूगोल है ? गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सतलुज, व्यास, गोमती, ऋमु सबकी सब सिन्धु की ओर कहाँ जाती हैं ?

फिर एक बात और ध्यान देने योग्य है, इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'सप्त-सप्त त्रेधा' यह शब्द आए है इनका अर्थ ग्रिफिथ ने triply, seven and seven, इस प्रकार किया है। इस प्रकार यह तीन बार सात अर्थात् इक्कीस हुए।

इनमें से **मरुद्वृधा** के विषय में तो ग्रिफ़िथ ने स्पष्ट लिख दिया है **"Not identified"** अर्थात् यह नहीं पहिचानी गई; परन्तु जो पहिचानी गई हैं वे क्या खाक पहिचानी गई हैं ? गोमती लखनऊ के पास बहती है, कुर्रम काबुल के पास ? योरोपियन विद्वान् क्रुमु को कुर्रम बताते है, कुभा को काबुल नदी । अब इस सूक्त में छठे मन्त्र में कुभा, क्रुमु और गोमती इकट्ठी पड़ी हैं । कुभा और क्रुमु तो काबुल में और गोमती लखनऊ में । यह गोमती इन विद्वानों के गले में लोहे के कण्टक के समान अटकती है तब इसे निगलने के लिये इन्होंने एक नया उपाय निकाला है । वह यह कि यह गोमती गोमल है । क्यों जी, जब गङ्गा हरिद्वार वाली गङ्गा है, यमुना मथुरा वाली यमुना है तो गोमती लखनऊ वाली गोमती क्यों नहीं ? फिर कुभा में काबुल वाला ल और गोमती में गोमल वाला ल कहां से आ गया, यह भाषा-विज्ञान का कौन-सा नियम है ? सच पूछो तो गवर्गण्ड का राज्य है । गवर्गण्ड के राज्य में एक मनुष्य को फाँसी की आज्ञा हुई । जब देखा गया तो फाँसी का फन्दा उसके गले में पूरा नहीं आता था । गवर्गण्ड महाराज का आदेश हुआ कि जिसके गले में पूरा उतरे उसे फाँसी चढ़ा दो । यही हाल इन योरोपियन विद्वानों का है : (१) इस सूक्त में भूगोल का वर्णन है; और (२) आर्य लोग मध्य एशिया से आए, यह दो बात तो निश्चित हैं, परन्तु गोमती शब्द से यह बात सिद्ध नहीं होगी तो जिस गोमल शब्द से सिद्ध होती है उसी को वेद-मन्त्र में धर दो, परन्तु योरोपियन विद्वानों का फ़ैसला नहीं टल सकता । इसी बल-बूते पर सात समुद्र पार के लोग हमें वेद पढ़ाने आते हैं ।

प्रतिपक्षी लोग, जब उन्हें कोई और सहारा नहीं मिलता तो दो शब्दों को पकड़ते हैं । एक तो सूक्त के ऊपर लिखा हुआ है **'देवताः नद्यः'** ।

दूसरे प्रथम मन्त्र में **'आपः'** यह सम्बोधन पड़ा है सो इन दो शब्दों पर विचार करने के पश्चात् ही हम आगे बढ़ सकेंगे ।

पहिले 'नद्यः' इस शब्द को लीजिये ।

नदियों को नदी क्यों कहते हैं ? क्योंकि वह नाद करती हुई जाती हैं ।

इन्हें वाहिनी क्यों कहते हैं ? क्योंकि वे प्रबल वेग से बहती हैं ।

बस जो नाद करती हुई बहती हो, वे नदियाँ हैं : जैसे शरीर में नाड़ियें, और राष्ट्र में सेनायें । शरीर की नाड़ियों को गङ्गा यमुना आदि शब्दों से कहा जाता है । इसका प्रमाण हठयोग के ग्रन्थों में मिलता है । यहाँ हम 'शिवस्वरोदय' (३६४) का केवल एक श्लोक उद्धृत करते हैं:—

इडा गङ्गेति विज्ञेया, पिङ्गला यमुना नदी ।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादिसमस्तथा ॥

इसका विशेष विस्तार श्री पं० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार कृत निरुक्त भाष्य के पृष्ठ ५८८ पर है । (किन्तु वह भी वस्तुतः अपूर्ण है । इस सूक्त का नाड़ीपरक भाष्य एक विद्वान् के पूरे परिश्रम की प्रतीक्षा कर रहा है ।]

नदीपरक भाष्य भी हो सकता है, किन्तु फिर वहाँ नदी शब्द का अर्थ नहर करना पड़ेगा, क्योंकि सुकृता यह विशेषण साधारण अकृत्रिम नदियों में नहीं होता, फिर उसमें स्वश्वा सुरथा आदि विशेषण भी लक्षणावृत्ति से सङ्गत होंगे, मुख्य-वृत्त्या नहीं। अब दूसरा सन्देहजनक शब्द 'आपः' है; इसके विषय में हम १०म मण्डल ६६ सूक्त का ८ वां मन्त्र उद्धृत करते हैं। जिसमें **'धृतव्रताः क्षत्रियाः वृत्रतूर्ये अपः असृजन्'** यह स्पष्ट उल्लेख है अर्थात् व्रतधारी क्षत्रियों ने वृत्र के नाश लिये अपः की रचना की। शतपथ में वृत्र का अर्थ पाप (शत० ९, १, ७, ४) तथा आपः का स्पष्ट अर्थ मनुष्य (७, ३, १, २०) (यजु० १२, १२०) दिया है। सो अर्थ इस प्रकार हुआ कि धृत-व्रत क्षत्रियों ने (वृत्रतूर्ये) पाप के संहार के लिये मनुष्यों को रचा। अब यह मनुष्य किस प्रकार के हैं यह इस सूक्त की ही अन्तः-साक्षी से सिद्ध करते हैं अर्थात् **'आजौ'** से स्पष्ट है कि युद्ध का प्रसङ्ग होने के कारण यहाँ सिन्धु आदि शब्द सेनावाचक लेने पड़ेंगे।

अब यहां दूसरी सप्तमी **'विवस्वतः सदने'** है। विवस्वान् का अर्थ शतपथ १३, ४, ३, ३ में स्पष्ट है। विवस्वान् राज्य के प्रबन्ध-विभाग का अधिष्ठाता है जिसे आजकल Civil Administration कहते हैं।

अब एक शब्द का अर्थ विचारना और शेष रह गया। वह शब्द है कारु, कारु शिल्पी को कहते हैं। यह शब्द कृवापा० (उणादि १. १.) से बना है। कारु का अर्थ है कारीगर, इसका अर्थ अनुवादक ग्रिफ़िथ आदि Singer करते हैं। ठीक है गायक भी एक शिल्पी है, परन्तु **यहाँ प्रकरण तो युद्ध का है।** जिसका विशेषण सुकृता है, सो स्पष्ट है कि यहाँ कारु सेना का निर्माण करने वाला शिल्पी हुआ, सो वर्तमान युग की भाषा में यों कहा जायगा कि सेना का निर्माता प्रतिरक्षा-मन्त्री महामन्त्री सदन में इस प्रकार अपनी कारगुजारी सुनाते हुए अपनी २१ अंग-युक्त सेना की महिमा का वर्णन करता है। इस भूमिका के पश्चात् मन्त्रों का अक्षरार्थ सुनिये—

सूक्त : मन्त्रार्थ

पहिला मन्त्र इस प्रकार है :—

प्र सु वं आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।
प्र सप्त-सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा॥

इस सूक्त के ९ मन्त्र शरीर में नाड़ियों का, राष्ट्र में सेनाओं का तथा भूगोल में नहरों का वर्णन करते हैं। जिनमें से आजौ इस प्रकरणवाची सप्तमी के बल पर सबसे मुख्य अर्थ सेना है।

a (१—४) सो, हे (आपः) राष्ट्र की रक्षार्थ राष्ट्र में व्याप्त हो जाने वाली सेनाओं! (वः) तुम्हारे (उत्तमम्) उत्तम (महिमानम्) गौरव को (कारुः) सेना-निर्माण-कर्त्ता युद्धशिल्पी राजपुरुष (विवस्वतः) राज्य के बसाने वाले राजा के (सदने) कार्य-भवन में (सु प्रवोचाति) उत्तम प्रकार से सूचनार्थ निवेदन करता है: इस सैन्य व्यूह में (सप्त-सप्त) सात-सात (हि) ही (त्रेधा) तीन प्रकार (चक्रमुः) सदा क्रमबद्ध रूप से चलते आए हैं। इन (सृत्वरीणाम्) क्रमबद्ध चलने वाली

सेनाओं, नाड़ियों अथवा नहरों में (सिन्धुः) (१) सेना का अग्रगामी भाग, (२) प्राण के अन्दर खींचे हुए श्वास से प्रेरित रुधिर का धक्का, (३) अथवा जल का नहरों के शीर्ष स्थान में छूटने वाला प्रथम अग्रगामी प्रवाह (प्रसृत्वरीणाम्) प्रवल वेग से युद्ध-क्षेत्र में वहने वाली सेनाओं में से अथवा सेचन-क्षेत्र में बहने वाली नहरों में से अथवा देह में बहने वाली नदियों में से (ओजसा) अपने वेग के कारण (अति) सर्वश्रेष्ठ है। १।

प्र ते॑ऽरदद् वरु॑णो यात॑वे प॒थः यद् वाजा॑न् अ॒भ्यद्र॑व॒स् त्वम् ।
भूम्या॒ अधि॑ प्र॒वता॑ यासि॒ सानु॑ना यद् एषा॒म् अग्रं॒ जग॑ता॒म् इर॒ज्यसि॑ ॥

(हे सिन्धो) सेना के अग्रभाग, प्राण-प्रेरित रुधिर-प्रवाह अथवा सञ्चयजन्य जलप्रवाह, (यत्) जब (त्वम्) तू (वाजान्) युद्धों, भिन्न-भिन्न प्रकार के बलों अथवा भिन्न प्रकार के अन्नोत्पादक क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले अन्नों को (अभि) लक्ष्य में रखकर (अभ्यद्रवः) दौड़ पड़ता है तब (ते) तेरे (यातवे) आगे बढ़ने के लिये (वरुणः) कण्टक-शोधनकर्त्ता पुलिस-विभाग का अध्यक्ष अथवा जल का प्रवाह-नियन्त्रक, अथवा देह में नाड़ी-प्रवाह-नियन्त्रक सुषुम्ण दण्ड (पथः) मार्गों को (अरदद्) अपने बल से खोदकर तैयार करता है। (त्वम्) तू (यत्) जब (आसाम्) इन (जगताम्) प्रवल गति करने वालों के (अग्रम्) अग्रभाग में (इरज्यसि) आगे बढ़ता है तब (प्रवता) झुकते हुए (सानुना) शिखरों से (याति) आगे चलता है। अर्थात् ऊंचे शिखर तेरे सामने सिर झुका देते हैं (इत्थम्-भूत-लक्षणे [तृतीया]) २।

दि॒वि स्व॒नो य॑तते॒ भूम्यो॒पर्य॑न॒न्तं शुष्म॑म् उदि॑यर्ति भा॒नुना॑ ।
अ॒भ्रादि॑व॒ प्र स्त॑नयन्ति वृ॒ष्टयः॑ सिन्धु॒र् यद् एति॑ वृष॒भो न रोरु॑वत् ॥

(यत्) जब (सिन्धुः) यह अग्रगामिनी सेना का अग्रभाग (वृषभ) बैल (न) के समान (रोरुवत्) युद्ध-नाद करता हुआ (एति) आता है तो (भूम्या) भूमि से टकरा कर उठता हुआ (स्वनः) शब्द (दिवि) द्यौः में (उपरि) ऊपर (यतते) द्युलोक से टकराता है और (भानुना) अपने शस्त्रास्त्र, वेषभूषादि की चकाचौंध से (अनन्तम्) अनन्त (शुष्मम्) बलको (उदियर्ति) उद्दीप्त करता है और उस समय इसकी शस्त्रास्त्र-वृष्टियें (अभ्रात्) मेघ से (स्तनयन्ति) वरसती हैं (इव) मानो। ३।

अ॒भि त्वा॑ सिन्धो॒ शिशु॒मिद् न मा॒तरो॑ वा॒श्रा अ॑र्षन्ति॒ पय॑सेव धे॒नवः॑ ।
राजे॑व॒ युध्वा॑ नयसि॒ त्वमित् सि॒चौ यद् आ॑सा॒म् अग्रं॑ प्र॒वता॑म् इन॑क्षसि ॥

(हे सिन्धो) सेना के अग्रभाग। (वाश्राः) प्रेमपूर्वक रम्भाती हुई पृष्ठगामिनी सेनाएँ (त्वा) तेरी (अभि) ओर (मातरः) माताएँ (शिशुम्) बच्चे की ओर (इत् न) जैसे कि (अर्षन्ति) भागती आती हैं और (धेनवः) गौवें (पयसा) अपने स्तनों में भरे दूध के साथ (इव) जिस प्रकार वछड़े की ओर दौड़ती हैं, उस प्रकार दौड़ती हैं।

(यत्) जब (त्वं) तू (आसाम्) इन (प्रवताम्) युद्ध-क्षेत्र की ओर झुकती हुई सेनाओं के (अग्रम्) अग्रभाग को (इनक्षसि) पहुँचकर संभालता है तब तू (सिचौ) दोनों पार्श्वों को (युध्वा)

युद्ध में आगे बढ़ने वाले (राजा) राजा के (इव) समान (नयसि) नेतृत्व करता हुआ आगे बढ़ता हैं। अर्थात् सेना का अग्रभाग अपने पार्श्वरक्षकों को साथ लेकर आगे बढ़ता है। ४।

इन चार मन्त्रों में वृषभ तथा राजा की पुल्लिंग उपमा से 'सिन्धु' पुल्लिंग दीखता है, परन्तु ७ वें मन्त्र और आगे के मन्त्रों में ऋजीती, स्वश्वा:, सुरथा आदि विशेषणों से 'सिन्धु' स्त्रीलिंग दीखती है। इससे ग्रिफिथ उलझन में पड़ गया है; वह लिखता है :—

"In preceding stanzas Sindhu appears to be a river God, but in this and following verses the epithets are feminine."

बात यह है कि प्रथम चार मन्त्रों में सिन्धु अर्थात् अग्रगामिनी सेना के "अग्रभाग' का वर्णन है। तथा ७ वें मन्त्र से आगे ' "अग्रगामिनी सेना" का वर्णन है। यह मर्म न समझने के कारण ग्रिफिथ उलझन में पड़ गया है, फिर उसके हिसाब से तो २२ नदी हो जानी चाहियें। यही उलझन का कारण है; और सिन्धु स्त्री-लिंग अग्रगामिनी सेना का केवल अग्रभाग है यह इसका समाधान है।

b (५-९)—सेना का निर्माण करने वाला शिल्पी सैन्यव्यूह की प्रशंसा करता हुआ, सेना के हर अङ्ग से कहता है :—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णि आ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया ऽर्जिकीये भृणुहि आ सुषोमया ॥

हे (गङ्गे) सेना के न्याय-रक्षास्वरूप उद्देश्य की ओर गमन करने वाली चरित्ररक्षिणी सेना की शाखा!

हे (यमुने) सेना में नियम तथा व्यवस्था का निर्माण तथा रक्षा करने वाली शाखा!

हे (सरस्वति) सेना में जल आदि आवश्यक सामग्री पहुंचाने वाली सैन्य शाखा!

हे (शुतुद्रि) सामग्री-सम्भरणार्थ तीव्र यानों से सुसज्जित यन्त्र-उपकरणमयी सेना!

—तुम (परुष्ण्यां) अपने निवासभूत प्रकाश से दीप्त पर्वों में बसी हुई सैन्य-निवेश नगरी के साथ (मे) मेरे (स्तोमं) स्तुतिगान को (सचतं) सदा उपार्जन करती रहो तथा (असिक्न्या) शत्रु के प्रहारों को सैन्य-संनिवेश तक पहुंचने से रोकने वाली सेना के साथ; तथा; हे (मरुद्वृधे) जहाँ सैनिकों की कमी पड़े वहां अपनी सहायता पहुंचा कर तुरन्त बढ़ावा देने वाली सुरक्षित सेना! तुम (वितस्तया) असिक्नी द्वारा परिपालित होने के कारण शत्रु पर निःशङ्क प्रहार करके शत्रु-दल को क्षीण करने वाली वितस्ता के साथ; तथा हे (आर्जिकीये) सेना के हर टेढ़े कार्य को सरल-सीधा बनाने वाले 'ऋजीक' [अर्थात् इन्जीनियरों से युक्त सेना! (सुषोमया) सेना को कब किधर से किधर किस प्रकार जाना है इसका तुरन्त निर्णय करने में समर्थ संचालक मण्डली के साथ (मे) मेरे (स्तोमं) प्रशंसायुक्त स्तुतिगान को (आशृणुहि) सदा सुनो। ५।

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥

और हे (सिन्धो) अग्रगामिनी सेना ! तू और (यातवे) आगे बढ़ने के लिये (प्रथमम्) सबसे पूर्व (तृष्टामया) रोग-निवारक सेना के साथ, और (सुसर्त्वा) आगे बढ़ने के लिये सुरक्षिततम भाग कौन-सा है यह बताने वाली गुप्तचर मण्डली के साथ, तथा (रसया) सैनिकों में सङ्गीत-साहित्यादि द्वारा वीर रस भरने वाली सेना के साथ; तथा (त्या) उस सेना के साथ जो (श्वेत्या) अपनी स्वच्छता और चमक-दमक के कारण श्वेत्या कहलाती है, तथा (कुभया) प्रहार, रोग, शोकादि हर विपत्ति के आने पर उसका उपाय करने में समर्थ सेना के साथ; (गोमतीम्) सेना को हर प्रकार के गोरस से तृप्त करने वाली सेना की टुकड़ी को तथा (क्रुमुम्) सेना के हर सैनिक को उसका ठीक-ठीक कार्यक्रम बताने वाली सेना के साथ लेकर—मेरे (स्तोमं आशृणु) स्तोत्र को सुन । यह सब वह सेना है जिनके साथ तू (मेहत्न्वा) शस्त्रास्त्र बरसाने वाली अग्रपंक्ति के साथ (सरथम्) रथ से रथ मिलाकर (ईयसे) आगे बढ़ती है । ६ ।

ऋजीती एनी रुशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि ।
अदब्धा सिन्धुरपसाम् अपस्तमा अश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता ॥

इस (सिन्धुः) अग्रगामिनी सेना का मैं क्या वर्णन करूँ, यह (ऋजीती) अपने ऋजीकों की चातुरी से टेढ़े-से-टेढ़े सङ्कटों में सीधा मार्ग निकाल लेने वाली है; यह (एनी) अति निर्मल है, (रुशती) जाज्वल्यमान है; तथा (महित्वा) अपनी महिमा से (ज्रयांसि) अपने गमन के मार्गों में (रजांसि) दीप्ति (भरते) पहुँचाकर उनका भरण करती है । अर्थात् जिधर निकल जाती है, उधर, इसकी महिमा का गान होता है तथा इसके चारों ओर का प्रदेश नई आभा से चमक उठता है । यह (अदब्धा) किसी से न दबने वाली [दम्भरहित] है; और (अपसाम्) अपने उद्देश्य तक पहुँचने वालों में (अपस्तमा) सबसे अधिक शक्ति तथा धैर्य वाली है; जा तो रही है लड़ने, परन्तु (अश्वा न) घोड़ी के समान (चित्रा) सजी हुई है, (वपुसी) नववधू के (इव) समान (दर्शता) दर्शनीय है । ७ ।

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावती उताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥

यह [सिन्धुः] अग्रगामिनी सेना, (स्वश्वा) उत्तम वाहनों से युक्त है, इसलिए सु-अश्वा है; (सुरथा) इसमें नाना प्रकार के रथ हैं, इसलिए सुरथा है; (सुवासाः) इसके हर सैनिक के सुन्दर वस्त्र हैं, इसलिए सुवासा है; (हिरण्ययी) खूब चमकीले आभरणों तथा आयुधों से सुसज्जित है, इसलिये हिरण्ययी है; (सुकृता) इसे नाना युद्ध-विशारदों ने निर्माण किया है, इसलिये सुकृता है; (वाजिनीवती) सब प्रकार के अन्न तथा शक्ति-साधनों से सम्पन्न है, इसलिये वाजिनीवती है; फिर—जब युद्ध-विद्या-निपुण इसे प्रच्छादन-साधनों से शत्रु के प्रहारों की पहुँच से अगम्य बना देते हैं तो यह ऊर्णावती बन जाती है, इसीलिये इसे 'ऊर्णावती' बनाने वाली ऊर्णावती नामक सेना भी इसके साथ है ।

[परन्तु विजय प्राप्ति तक ही इसका यह रूप रहता है; उस समय तक ही यह 'मेहत्नू' शस्त्रास्त्र वरसाने वाली होती है] परन्तु (उत) दूसरे समय, अर्थात् विजय प्राप्त कर लेने पर, यह (सुभगा) सौभाग्यशालिनी, (सीलमावती) फसल काट कर घर लाने वाली (युवतिः) कृषक-कन्या के समान (मधुवृधम्) मधुवर्षी रूप को (अधिवस्ते) धारण कर लेती है । ८ ।

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषद् अस्मिन् आजौ ।
महान् हि अस्य महिमा पनस्यते अदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥

जब-जब शत्रुओं ने राष्ट्र पर आक्रमण किया, तब-तब (सिन्धुः) सिन्धु ने (सुखम्) सुखदायक (अश्विनम्) तीव्र वाहन-युक्त (रथम्) रथ को (युयुजे) जोता; और (तेन) उस रथ से (अस्मिन्) इस उपस्थित (आजौ) युद्ध में (वाजम्) अन्न तथा पराक्रम को (सनिषद्) पहुँचाया । (अस्य) इस (अदब्धस्य) अदम्य (विरप्शिनः) विशाल (स्वयशसः) स्वयं अपने बल से यश उपार्जन करने वाले रथ की (महान्) बड़ी (महिमा) महिमा (पनस्यते) हर घर-घर में गाई जाती है । ९ ।

प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः ॥

जलवाची शब्दों में **सिन्धु पुंल्लिग नाम समुद्र** का है । यह अर्थ लें तो और भी कठिनता पड़ेगी, इसलिये ग्रिफिथ को चाहिये था कि वह **'आजौ'** [इस सप्तमी) का सहारा लेकर सारे सूक्त को सेना और युद्ध में लगाता । फिर अनुकूल अर्थ समझ में आ जाता । वृत्रासुर तीन स्थानों में प्रवाह को रोकता है—शरीर में रुधिर-प्रवाह को, आकाश में सूर्यरश्मि-प्रवाह को, तथा राष्ट्र में सैन्य-प्रवाह को, चौथा स्थान राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति में जल-प्रवाह को । उस पक्ष में सेनाओं का स्थान नहरें लेंगी, और सिन्धु नाम उस प्रथम जल-प्रवाह का होगा जिसे आगे बढ़ाने के लिये नहरें खोदी जाती हैं [वह भी राष्ट्र में दुर्भिक्ष नामक वृत्रासुर के साथ युद्ध है] । यह जल-प्रवाह को रोक रहा है; राजा इससे लड़कर वही कार्य कर रहा है जो आकाश में सूर्य मेघ से लड़कर करता है । शरीर में जब तक रुधिर का प्रवाह जारी है उसमें कोई रुकावट नहीं, तब तक जरा-मृत्यु का भय नहीं [वहां शरीर का नीले गन्दे रुधिर की नाड़ियों से युद्ध है] । **हर स्थान में सेनापति का काम नीले को लाल करना है**; आकाश में सूर्य अन्धकार तथा मेघ दोनों से लड़ता है और आकाश को लाल कर देता है (१); शरीर में प्राण-रूप रुद्र नीले रुधिर को लाल कर देता है (२) राष्ट्र में नीली तलवार शत्रु-शोणित-प्रवाह से धरती को लाल कर देती है, (३); और नहरें अन्धकारावृत धरती को परिपक्व खेतों की लाली से तथा घर-घर में जलने वाले चूल्हों की लाली से लाल कर देती हैं, (४); **इसीलिए रुद्र का नाम नील-लोहित है** । [पर यह सब तो मार्ग-दर्शनमात्र है । कभी अवकाश मिलने पर सूर्य, मेघ, नहर, दारिद्र्य, प्राण तथा गन्दा रुधिर इन अर्थों पर भी प्रकाश डालेंगे ।] परन्तु आज तो सीधे सेनापरक अर्थ दिखाने हैं, क्योंकि 'आजौ' यह सप्तमी 'युद्ध' इस मुख्यार्थ को डिण्डिम-घोषपूर्वक दिखा रही है । सो, सिन्धु शब्द की व्युत्पत्ति, नामार्थ तथा सबसे पहिले सिन्धु का वर्णन क्यों हुआ [इन दो प्रश्नों का समाधान करके, अब गङ्गा की ओर आगे बढ़ते हैं ।]

सप्तक—१

(१) गङ्गा शब्द का पहिले व्याकरण द्वारा अर्थ देखना चाहिये। वह इस प्रकार है कि "गमम् गन्तव्यं स्थानम् गच्छतीति गङ्गा" जो गम् की ओर, **मंजिले मक़सूद** की ओर, (ultimate objective) की ओर, जाती है—वह गङ्गा है।

युद्ध का अन्तिम लक्ष्य न्याय की रक्षा है; सो सेना का वह भाग जो हर सैनिक में न्याय-रक्षा की भावना भरता है तथा उन्हें अपना चरित्र सदा उदात्त बनाए रखने की प्रेरणा देता रहता है उसका नाम गंगा है। [यदि यह भाग वर्त्तमान सेनाओं में नहीं है तो होना चाहिये।] पुराणों में जो **विष्णु** के चरणों में से निकल कर रुद्र के सिर पर पहुँचने वाली सकलपापहारिणी गङ्गा का वर्णन है वह इसी तत्त्व का प्रतीक रूप है।]

यहाँ इस तत्त्व का खोल देना अप्रासाङ्गिक न होगा। **गङ्गा विष्णु के चरणों में से निकलती है और रुद्र उसे सिर पर ग्रहण करता है,** इसलिए वह सकलपापहारिणी है। इस तत्त्व को समझने के लिये पहिले विष्णु और उसके पीछे रुद्र के स्वरूप को समझना होगा।

विष्णु नाम सङ्गठन अथवा राष्ट्र का है—

गंगा > विष्णु

विष्णु के विषय में वेद में लिखा है :

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ॥

अथर्व० ३। २७। ५॥

अर्थात्—**ध्रुवा दिक्** का अधिपति विष्णु है। यह रङ्ग-विरङ्गी ग्रीवाओं वाला वनस्पति जगत् उसका अंग-रक्षक है। और यह सब वृक्ष उसके बाण हैं।

इस ध्रुवा दिक् का तत्त्व ऊर्ध्वा दिक् के साथ मिलाने से पता लगता है। इसलिये ध्रुवा का तत्त्व जानने के लिये ऊर्ध्वा का तत्त्व जानना आवश्यक है। ऊर्ध्वा का तत्त्व इस प्रकार है—

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ॥

अथर्व० ३। २७। ६॥

अर्थ—(ऊर्ध्वा) उन्नत होने की (दिक्) दिशा है। (बृहस्पतिः) बड़े-बड़ों से भी बड़ा भगवान् (अधिपतिः) अधिपति है। (श्वित्रः) जो कि श्वेत, शुभ्र ज्योतिर्मय है, (रक्षिता) वह रक्षक है। (वर्षम्) वर्षा तथा सुखवर्षी पुरुष (इषवः) इस उद्देश्य में इच्छापूर्ति करने वाले बाणरूप सहायक हैं।

मैं नीचे से ऊपर चढ़ता हूँ। यहां के दृश्य निराले हैं। यहां रंग-बिरंगे रंग नहीं रहे। यहां एक ['श्वित्रः', अर्थात् श्वेत] रंग हो गया है। सातों रंग अन्त को यहीं तो इकट्ठे होते हैं। जो 'बृहस्पति' है उसका यही लक्षण है—'यत्र विश्वम्भवत्येक-नीडम्'—'जिसमें सब परस्पर विरोधिनी

शक्तियाँ एक हो जाती हैं।' हे प्रभो ! बड़ा बनाने के लिये; ऊँचा उठाने के लिये, मैं समन्वय करना सीखूँ। सात रंगों को मिलाकर एक रंग बनाना सीखूँ। इस दिशा के तत्त्व खोलने वाले वर्षा के बिन्दु हैं। वह तप के सहारे ऊँचे चढ़े हैं। तपस्विराज सूर्य के संग से तपकर ऊँचे चढ़ गये, पर यह ऊँचा चढ़ना उन्हें भाया नहीं। उन्होंने कहा—बड़ा तो वह है जो छोटों के लिये अपने आपको मिट्टी में मिला देता है। वह वर्षा की नन्हीं बूंद बनकर बरस पड़े। फिर क्या था, वानस्पत्य जगत् ने भी आज्ञापालन में कोई कसर उठा न रक्खी। अनन्त ग्रीवाओं से मिलकर, मूक किन्तु हृदय जकड़ लेने वाली भाषा में, खूब गला फाड़-फाड़ कर गाया। जबतक मुरझा न गये, गाते गये। ऊर्ध्वा और ध्रुवा इस प्रकार साथ-साथ चलती हैं।

+ + + +

अब हमने देख लिया कि बृहस्पति नाम सर्वोच्च लोगों का है। उन ऊर्ध्वा दिशा के अधिपति लोगों के शासन में चलने से ध्रुवता अर्थात् स्थिरता आती है। यही भाव ध्रुवा दिक् के वर्णन में दिया गया है। इसका विस्तार इस प्रकार है :—

हमारे हृदय में तरंगे उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। सद्-भावनायें आती हैं और, आचरण का रूप पाने से पहिले ही, विदा हो जाती हैं। हे भगवन् ! इन भावनाओं को स्थिर कैसे करें ?

भगवान् कहते हैं—परस्पर एक दूसरे की सहायता करो। जिस भावना को स्थिर करना चाहते हो उस भावना के रसिक, इकट्ठे होकर, एक को बड़ा बनालो जिसमें वह भावना प्रबल हो, फिर उसके शासन में चलो। देखो, भावना कसी ध्रुव होती है। इसी का नाम है—**'ध्रुवा दिक्'**।

इसी ध्रुवता की दिशा में 'विष्णु' अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें संयोग की अवस्था में रखने वाला प्रभु इस दिशा का 'अधिपति' है। देखो उसकी सृष्टि में क्या लीला हो रही है। वह वर्षा करता है। मानो उसकी आज्ञा होती है—गाओ ! बस फिर क्या था ?—लाल, पीले, नीले, हरे, नारंगी, बैंगनी फूल सभी तो तत्काल सिर उठाकर खड़े हो जाते हैं। फिर वर्षा होती है, हरियावल में फूल गल जाते हैं। शरीर सबके हरे हैं पर ग्रीवायें 'कल्माष' हैं—रंग-बिरंगी, और वह 'ग्रीवा' का काम कर रही है। ग्रीवा का काम है—बोलना (उणादि १. १५४.)। वह सब बोल रही हैं। क्या बोल रही हैं ?—सब रंग-बिरंगी ग्रीवाओं से एक ही मूक-शब्द निकल रहा है—'देखो उसने हमें हँस-हँस कर सब का चित्त प्रसन्न करने को कहा है। हम सब रंगों का भेद भुला कर उसकी आज्ञा मान रही हैं, हमारा शासन-कर्ता ओ३म् है। उसने हमें पृथ्वी की छाती फाड़ कर उलटी ओर अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर चलने की आज्ञा दी। हम वैसा ही करती हैं, इसलिये हमारा नाम 'वीरुध्' है। ऊपर से नीचे गिरना अति सरल है—अनायास साध्य है; किन्तु हमें अति कठिन आज्ञा हुई है। उतरना सरल है, चढ़ना कठिन है, परन्तु हम उस आज्ञा के पालन में भी तत्पर हैं। तुम अपनी भावनाओं को दृढ़ करना चाहते हो, रंग-रूप का भेद भुला कर बड़ों के शासन में चलो, कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करो, नीचे से ऊपर चढ़ो—"यही ध्रुवता का मार्ग है।"

इस प्रकार हमने देख लिया कि ऊर्ध्वा नाम वड़प्पन का और ध्रुवा नाम स्थिरता का है। ध्रुवा के अधिपति विष्णु हैं। अर्थात् किसी भी विषय के पूर्ण तत्त्व को पाने से मनुष्य उस विषय का बृहस्पति कहलाता है और उस विषय में सफलता पाने की कामना करने वाले यदि उसके शासन में चलें और परस्पर भेद-भाव भुलादें तो, यह संगठन ही उन्हें भी एक दिन बृहस्पति बना देगा, और, जब तक वे बृहस्पति न हों उन की रक्षा करेगा, उनके संकल्प चिरस्थायी होंगे, और उन्हें फल तक पहुंचाने वाले होंगे। इसीलिये संगठन को ध्रुवा दिक् का अधिपति कहा गया है। यह संगठन ही विष्णु है, इसीलिये शतपथ ब्राह्मण में सैकड़ों स्थलों पर कहा है—**यज्ञो वै विष्णुः**, अर्थात् संगठन का नाम ही विष्णु है।

'विष्णु' मूर्ति

जिन लोगों ने मन्दिर में विष्णु की मूर्ति बनाई है, वे भी इसी सङ्गठन की ही पूजा चलाना चाहते थे। इस मूर्ति का मर्म्म इस प्रकार है :—

यहाँ विष्णु-शक्ति के विषय में कुछ मनोरंजक बातों का उल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। यज्ञ का अर्थ है सङ्गतीकरण। 'यज्ञ' और 'विष्णु' शब्द शतपथ ब्राह्मण में पर्यायवाची रूप से आये हैं, इसलिये विष्णु का अर्थ है व्यापक होकर सङ्गतीकरण करने की शक्ति। इस **'सङ्गठनशक्ति'** को ही पुराणों में भी 'विष्णु' के नाम से कहा गया, परन्तु उस मूल को न समझ कर पुराणकारों ने गपोड़ों से तथा अश्लील कथाओं से 'विष्णु' को ऐसा लाद दिया है कि ऋषि दयानन्द का 'विषसंपृक्तान्न' शब्द इनके लिए पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है!

पुराण का विष्णु—शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी है। मर्म्म की बात यह है कि यहाँ अलङ्कार से सङ्गठन का स्वरूप दिखाया गया हैं। वह सङ्गठन संसार में सफल होता है—जिसके पास (१)—'शङ्ख' अर्थात् अपनी आवाज़ को संसार में अधिक से अधिक मनुष्यों तक पहुँचाने के के साधन समाचार-पत्र, व्याख्यान-दाता, उपदेशक आदि अधिक हों। दूसरे (२)—जिसके पास 'चक्र' अर्थात् बैलगाड़ी, रेलगाड़ी, मोटर, व्योमयानादि चक्र अधिक हों। तीसरे (३)—'गदा' अर्थात् शत्रुओं के ताड़न का दण्ड अर्थात् युद्ध-सामग्री अधिक हो। चौथे (४)—'पद्म' अर्थात् लक्ष्मी का निवास-स्थान, फलतः कोष अधिक हो। इन चार के बल पर संगठन चलता है। साथ ही वह संगठन **'लक्ष्मीपति'** हो अर्थात् धनवानों को दबाकर रखता हो। लक्ष्मी **क्षीर-सागर** में निवास करती है। आज तो क्षीर-सागर के स्थान पर रुधिर-सागर, सुरा-सागर, चाय-सागर, काफी-सागर का राज्य हैं, लक्ष्मी कहाँ रहे? विष्णु **शेषशायी** हैं। किसी भी संगठन के आय और व्यय की तुलना कर लो, जिसमें कुछ शेष रहे वही संगठन जीता रहता है। हमारा शरीर एक छोटा-सा विष्णु है; मुख इसका शङ्ख है, भुजायें गदा हैं, रुधिर का चक्र इसमें चक्र है, और उदर में कोष का संचय होता है—अतः वह पद्म है, किन्तु जब इसमें शक्ति की आय से व्यय अधिक हो जाय उसी क्षण मृत्यु हो जाती

है। विजिगीषा (Ambition) **गरुड़ है**—उसी पर चढ़कर सङ्गठन विजय-यात्रा के लिये निकलता हैं; किन्तु विजय-यात्रा के लिए निकलते ही शेष (Surplus) खाली होने लगता है, इसलिए—**त्रैलोक्य-नाथ वही है** जिसके राज्य में वह **दोनों वैरी सर्प और गरुड़, शेष और विजिगीषा,** surplus और ambition बैर छोड़कर प्रेम-पूर्वक रहें—शेष को सर्प इसलिये कहा, क्योंकि वह रेंग-रेंगकर बड़े यत्न से संचित होता है।

विष्णु के द्वारपालों का नाम **जय-विजय** है। इसका भाव यह है कि राष्ट्र में समय-समय पर—क्या विद्या, क्या व्यायाम, क्या शिल्प—सब क्षेत्रों में स्पर्धायुक्त सम्मेलन होने चाहियें। चाहे वे दङ्गलों में हों, चाहे क्रीड़ा क्षेत्र में, चाहे रंग भूमि में, चाहे परीक्षा-शालाओं में—इन सब में जय प्राप्त करें, वही राष्ट्र में अग्रसर होने योग्य हैं। दूसरी ओर—राष्ट्र के आक्रमण-कार्यों पर जो विजय प्राप्त करें, वही राष्ट्र में बड़े पदों पर जाने योग्य हैं। परस्पर स्पर्धा में सफलता का का नाम जय है। शत्रु के आक्रमण में उसको परास्त करने का नाम विजय है। जिस राष्ट्र के भवन में प्रवेश करने के लिये द्वार पर ही यह पूछा जाय कि तुमने क्या जय किया है या कहाँ विजय पाई है, वहाँ सदा सुख है, किन्तु जहां द्वारपाल का स्थान सिफ़ारिश, रिश्वत या कुलीनता को मिल जाय, वहां सर्वनाश न हो तो और क्या हो? पुराणों में जो यह कथा आती है कि रावण, शिशुपाल आदि जब मरे, उनका तेज भगवान् विष्णु में समा गया; इसका भाव यह है कि संसार में दुष्ट से दुष्ट लोगों ने जब कुछ देर के लिये विजय पाई, वह सङ्गठन द्वारा ही पाई और जितने अंश तक उन्होंने स्वार्थ-त्याग, आज्ञा-परायणता आदि संगठन के नियमों का पालन किया, उतने अंश तक वे विष्णु का ही अंश थे और यदि किसी राष्ट्र के लोगों ने शत्रुओं के भी गुणों से लाभ उठाना सीख लिया, उनके शत्रुओं का तेज भी उनके राष्ट्र—शरीर में समा जाता है। यही **असुरों का तेज विष्णु में समाने का भाव है।**

सेना तथा सेनापति का ही संक्षिप्तरूप **दीपक** है: जिस प्रकार दीपक में तेल तथा लौ दोनों आवश्यक हैं, इसी प्रकार राष्ट्र में सेना और सेनापति दोनों आवश्यक हैं। सेनापति बिना सेना ज्वाला-रहित दीपक है; तथा तेल-रहित बत्ती—सेना-रहित सेनापति है। दीपक का ही दूसरा रूप शिवलिङ्ग है।

सो वस्तुतः सारी **रुद्रमूर्त्ति सेनापति की मूर्ति है।**

सो राष्ट्रपति [रूप शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारी विष्णु] के चरणों से निकली हुई आज्ञारूपी गङ्गा को रुद्र [अर्थात् सेनापति] अपने सिर पर लेता है। तब वह सकलपापहारिणी हो जाती है, क्योंकि सेनापति जितने कर्म करता है वह सब पाप के अतिरिक्त कुछ नहीं। यदि उनमें से एक भी कार्य वह व्यक्तिगत रूप से करे तो कठोर, कठोरतर और कठोरतम दण्ड का भागी है, परन्तु क्योंकि वह विष्णु चरणोद्गता [राष्ट्राज्ञा-रूप] गङ्गा को शिरोधार्य करके वह कर्म करता है, सो हर कर्म के लिये पारितोषिक का भागी होता है।

यही रुद्र के शिर पर स्थान रखने वाली पौराणिक गङ्गा है।

गंगा > रुद्र

रुद्र की सारी मूर्ति सेनापति की मूर्ति है। यजुर्वेद के १६वें अध्याय में रुद्र को स्पष्टतः सेनापति कहा है। (यजु० १६, १७) रुद्र के सिर पर विष्णुपदी राष्ट्रपति की आज्ञारूप गङ्गा पड़ती है जिसे शिरोधार्य करके पवित्र-चरित्रमय होकर वह युद्ध में अग्रसर होता है। उस समय उसके यह साधारण नेत्र तो थोड़ा ही कार्य कर सकते हैं; वस्तुतः, उसके ललाट में विद्यमान **मन्युरूप तृतीय लोचन** कार्य करता है (नमस्ते रुद्रमन्यवे १६-१) [**मन्यु** क्रोध से भिन्न है, क्रोध तो विवेकहीन होता है, मन्यु मननपूर्वक किधर से किधर को बढ़कर किस प्रकार शत्रु का नाश करना चाहिये इसके ठीक-ठीक विवेक द्वारा निर्धारित मार्ग से चलने वाला **ठण्डा क्रोध है**]। इसी को रुद्र का **तृतीय लोचन** कहते हैं। इसी के साथ **चन्द्रकला है।** **चन्द्र**—वैदिक साहित्य में—दया, पृथिवी अर्थात् माता-पिता के बीच आह्लादजनक शिशु का नाम है। शिशु निरपराधता तथा मुग्धता का प्रतीक है। **रुद्र का तृतीय लोचन प्रलयङ्कर है, परन्तु शिशुओं के समान निरपराध।** लोग ठीक उसके नीचे खेलते रहते हैं, इसीलिये चन्द्रकला **तृतीय** लोचन के साथ है। रुद्र के गले में **मुण्डमाला** रूप आभूषण हैं अर्थात् किसी सेनापति की प्रशसा यही है कि उसने इतने युद्ध जीते अर्थात् इतने शत्रु मारे, यही मुण्डमाला उसका कण्ठभूषण है। **उसी के साथ सर्प है अपसर्प संस्कृत भाषा में गुप्तचर को कहते हैं।** ऐसे ही **शत्रु** पक्ष में विष फैलाने वाले गुप्तचर लोग सेनापति के गले में हार बने रहते हैं, परन्तु डसते हैं शत्रु को। हाथ में उसके **त्रिशूल है :** अर्थात् वह जल, स्थल और नभ तीनों में शत्रु पर शूल-प्रहार करता है; और उसके त्रिशूल का निचला भाग धरती में गड़ा रहता है, अर्थात्—वह भूगर्भ-विलीन शत्रुओं को खोज-खोजकर मारता है।

भागीरथी

यह जो **भागीरथी** गङ्गा का नाम गङ्गा रखा गया है, वह भी "गन्तव्यं स्थानम् गच्छति" इस भाव को लेकर ही रक्खा गया है। सगर राजा के ऋजीकों ने (इन्जीनियरों ने) सूचना दी कि हिमालय से एक नदी निकाली जा सकती है, जिससे सारा भूमि-भाग हरा-भरा हो जायगा [किन्तु वहां एक ज्वालामुखी के फूटने का भय है] राजा ने कहा—यह सङ्कट मैं स्वयम् अपने ऊपर लूंगा। कोई है जो मृत्यु-भय को जीत कर मेरे साथ चलने को तैयार हो ? ६० सहस्र कोशल राज्य के वीर इस महान् वलिदान के लिए तैयार हुए, वे गए, और ज्वालामुखी **फूटा** और ६० सहस्र के ६० सहस्र राजा समेत वहाँ नष्ट हो गए, इसीलिए वे राजा सगर के वेटे कहलाए। सगर के पुत्र की हिम्मत न हुई कि इस महान् समारम्भ को फिर हाथ में ले, किन्तु सगर के पुत्र भगीरथ ही से यह न देखा गया। उसने अपने सेना-विभाग से अपील की। सेनापति ने कहा कि हम तो प्रतीक्षा में ही थे, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; वस—वह नदी हिमालय से धरती पर आ गई। भगीरथ के पितरों की इच्छा पूरी हुई। अव प्रश्न हुआ कि इसका नाम क्या रक्खा जाय तो मनु के इस उपदेशानुसार कि—

सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्
वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे।

सगर के गन्तव्य स्थान पर भगीरथ द्वारा पहुंचाए जाने के कारण इसका नाम भागीरथी गङ्गा हुआ। एक समय बाल्यकाल में लक्ष्मण-झूले पर खड़े हुए गङ्गा के बिल्कुल सीधे किनारों को देखकर यह भाव मन में उठा कि यह किनारे तो काटकर बनाए गए हैं। उन दिनों, ब्रह्मचारी जो गुरुकुल में हमारे साथ छोटी कक्षाओं में पढ़ता था, उसके पिताजी से मैंने यह बात कही (क्योंकि वे उन दिनों हरिद्वार में नहर के मुख्य अधिकारी लगे हुए थे) उन्होंने मेरी बात की पुष्टि की और कहा कि मैंने भी इसी सीधे किनारे से प्रभावित होकर बहुत दूर ऊपर से लक्ष्मण-झूले तक जलयात्रा की और सर्वत्र किनारा ऐसा ही पाया। फिर भारत के जलनियन्त्रण-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् श्री हरवंशलाल उप्पल ने भी इसी बात की पुष्टि की। सो, भागीरथी गङ्गा का नाम भी "गमम् गन्तव्यं स्थानं गच्छतीति गङ्गा" इसी लिये हुआ है। **इन साठ सहस्र स्वयं-सेवकों के बलिदान के कारण ही गङ्गा की इतनी पूजा है।** नैपोलियन ने अपने जीवन-काल में जो अद्‌भुत विजय पाई उसका कारण भी यही था कि वह अपने सैनिकों को पूर्ण रूप से विश्वास दिला देता था कि हम न्याय-रक्षा के लिये जा रहे हैं। यह आदर्शवाद की गंगा ही उसकी सेना का मुख्य अङ्ग था।

शिवाजी की सेना के विषय में जदुनाथ सरकार अपनी पुस्तक Aurngzed (संक्षिप्त) में पृष्ठ २३७ पर लिखते हैं।

No woman, female slave or dancing girl was to be allowed to accompany the army. A soldier keeping any of theses was to be beheaded. No woman or child was to be iaken captive, but men only. Brahmons were not to be molested, nor taken as hostage for ransom, On return home the booty of every soldier was to be handed over to the state.

किसी स्त्री को, चाहे वह बांदी हो चाहे नर्त्तकी हो, सेना के साथ ले जाने की आज्ञा नहीं थी.। यदि कोई सैनिक ऐसा करे, तो उसके लिये शिरश्छेद का दण्ड था। शत्रु के दल में से किसी स्त्री या बच्चे को बन्दी बनाना वर्जित था, केवल पुरुष बन्दी बनाए जा सकते थे। ब्राह्मणों को किसी प्रकार छेड़ना, अथवा निष्क्रय के लिये बन्दी बनाना वर्जित था। युद्ध-क्षेत्र से लौटने पर लूट का सारा धन प्रत्येक सैनिक के लिये सरकारी कोष में जमा कर देना आवश्यक था।

आगे चलकर पृष्ठ २३९ पर जदुनाथ सरकार लिखते हैं :—

Shivaji's private life was marked by a high standard af morality. He was a devoted son, a loving father and an attractive husband. Intenably religious from his very boyhood, by-instinct and training alike. he remained througout life abstemious, free from vice and respectful to holy men (the iiberality of his faith is proved by his impartial respect for the holy men of all sects; Muslims as much as Hindus and toleration of all creeds) His chivalry to women was a wonder in that age and has extorted the admiration of hostile critics like Khafi Khan.

शिवाजी का निजी जीवन ऊँचे चरित्र, ऊँचे सदाचार की छाप से अङ्कित था। वह एक भक्तियुक्त पुत्र, वत्सल पिता तथा सहृदय पति थे। बालकपन से उनकी वृत्ति परम धार्मिक थी, फिर उनका स्वभाव भी ऐसा था और शिक्षा भी उन्हें ऐसी मिली थी कि जीवन भर वह संयतात्मा रहे, हर दुर्व्यसन से असम्पृक्त थे तथा साधुसन्तों का सदा आदर करते थे। उनकी धर्म-भावना की उदारता का पता, उनकी सन्तों के प्रति निरपेक्ष भाव पूर्ण श्रद्धा से लगता है, चाहे वे सन्त हिन्दू हों या मुसलमान, उनका व्यवहार सभी सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता का था। उनका स्त्री-जाति के प्रति सौजन्य तो उस युग में एक आश्चर्य का विषय था और इस सौजन्य ने तो ख़ाफ़ी ख़ाँ सरीखे द्वेष भरे समालोचक की लेखनी तक से जैसे जबरदस्ती प्रशंसा निकलवा ली। इस प्रकार हमें यह पता लगा कि—

(१) सेना को ऊंचे चरित्र की शिक्षा मिलनी चाहिये।

(२) हर सैनिक में न्याय-रक्षा तथा अन्याय-नाश की प्रबल भावना कूट-कूटकर भरी होनी चाहिये।

(३) उसे शत्रु पर आक्रमण करते समय पूरा विश्वास होना चाहिये कि वह अन्याय का नाश करने जा रहा है।

(४) उसे ज्ञान होना चाहिये कि वह व्यक्तिगत द्वेष के कारण लड़ने नहीं जा रहा, अपितु विष्णु के चरणों से निकली गङ्गा को सिर पर धारण कर रहा है अर्थात् राष्ट्र की आज्ञा से शत्रु का विध्वंस करने जा रहा है।

इन चार अङ्गों को पूर्ण करने वाले सेना के भाग का नाम गङ्गा है।

इस गङ्गा के बल से अनघढ़ से अनघढ़, अशिक्षित से अशिक्षित, शस्त्रहीन से शस्त्रहीन लोग भी युद्ध में विजय के लिए निकल पड़ते हैं। भारत में वर्त्तमान युग में स्वराज्य-प्राप्ति के लिये जो युद्ध हुआ वह तो हुआ ही इस गङ्गा के बल पर था। इसलिए वेद कहता है कि **हर सैन्य-संगठन में एक भाग सैनिकों का चरित्रबल तथा आदर्श प्रेम की उन्नति के लिए होना चाहिए। सैन्य-संगठन में** यह सबसे मुख्य भाग है। **इसीलिए, सिन्धु के पश्चात् सर्वप्रथम इसका वर्णन है।**

भूगोल-वादी बतायें कि सिन्धु के पश्चात् सबसे पहले गंगा का नाम कैसे आया? वे लोग लाख सिर पटकें, परन्तु यह प्रश्न लोहकण्टक के समान उनके गले में अटका ही रहेगा।

(२)

अब गंगा के पश्चात् यमुना का स्थान है। यमुना शब्द में वही धातु है जिससे यम-नियम शब्द बने हैं। सो, **आदर्शवाद के पश्चात् सेना में दूसरा स्थान नियन्त्रण** का है जिसे अंग्रेजी भाषा में **Discipline** कहते हैं। सो, सेना में व्यवस्था रखने वाले सेनांग का नाम यमुना है।

(३)

अब तीसरा स्थान सरस्वती का है। निरुक्त के अनुसार 'सरः' नाम जल का है। अर्थात् सेना का वह भाग जो सेना को जल आदि सामग्री पहुँचाता है। जल तो आवश्यक पदार्थों का उपलक्षण

मात्र है, इसका निर्णय करने वाला वेद में सरस्वती के लिए दिया हुआ 'आयसी पूः' यह विशेषण (ऋ० ७. ९५. १) है। इस मन्त्र में एक उपमा भी दी गई है। 'रथ्येव याति' गली की गली चली जा रही है। यह सब विशेषण जहाँ अन्नादि पदार्थों के पर्वत लगे हुए हैं वहाँ से उन पदार्थों के प्रयोग स्थल तक ले जाने वाले सेना के भाग का वर्णन करते हैं। अन्न-कूट, शस्त्र-कूट, अस्त्र-कूट, वस्त्र-कूट इन सब पर्वतों से बहने वाली पदार्थों की धारा को युद्ध-क्षेत्र तक अथवा निवेश-स्थल तक पहुँचाने वाले सेना के भाग का नाम सरस्वती है। (जिसे आजकल [आंग्ल] भाषा में Supply Department कह सकते हैं।)

अब यह विभाग अपना कार्य तब ही ठीक-ठीक कर सकता है जब सेनापति के पास तीव्र वेग वाले वाहन हों, Quick transport के साधन हों। बस, अगला सेना का भाग शुतुद्री है, इसकी व्याख्या निरुक्तकार भगवान् यास्क ने इस प्रकार की है—

शुतुद्री शुद्राविणी, क्षिप्र द्राविणी आशु तुन्नेव द्रवतीति वा।

निरु० दैवतकाण्ड (३.२६)।

तीव्र वेग से दौड़ने वाली अथवा ऐसे दौड़ने वाली जैसे घोड़े को चाबुक लगा हो।

अब यह सब सामान लाकर कहां रक्खा जाय इसका अर्थ निरुक्तकार ने इस प्रकार किया है- (पर्ववती भास्वती) कुटिल-गामिनी। सो, सेना का जो सन्निवेश-स्थान अथवा छावनी होती है उसमें सेनाङ्ग के अलग पर्व (Blocks) बने होते हैं। इस लिये वह परुष्णी कहलाती है।

असिक्नी सेना के उस अंग का नाम है जो सन्निवेश-स्थान को शत्रु के शस्त्रास्त्रों की मार से बचाता है। यहाँ 'षिञ् बन्धने' इस धातु का ठीक अर्थ समझने पर ही इस शब्द की सुन्दरता खिलती है। 'षिञ् बन्धने' का अर्थ बाँधना तो अवश्य है, किन्तु इसका अर्थ लपेटना ऐसा नहीं समझना चाहिए, अपितु किसी रस्सी को आर-पार बाँधने का नाम 'सयन' है। जैसे, कपड़े सुखाने के लिये दो खम्बों के बीच रस्सी बांधी जाती है, इसीलिये नदी के आर-पार बन्धन को सेतु कहते हैं। जब किसी पदार्थ से निकलने वाली समस्त प्रकाश किरणें सीधी उस पदार्थ से आँख तक बंधी होती है, तब वह पदार्थ सित अर्थात् श्वेत कहलाता है और वह किरणें ऋजु-गामिनी सीधी होती हैं, इसीलिए उस श्वेत पदार्थ को 'अर्जुन' कहते हैं, परन्तु जिस पदार्थ से कोई प्रकाश-किरण आँख तक नहीं आती वह असित कहलाता है। सो, शत्रु के शस्त्र-प्रक्षेपण स्थान से अपने सन्निवेश तक शस्त्रास्त्रों की मार रोकने वाली सेना को असिक्नी कहते हैं।

अब युद्ध-कला में यह आवश्यक है कि शत्रु की मार तो हम तक न पहुँचे, परन्तु हमारी मार विविध प्रकार से उस तक पहुँच कर उसे क्षीण कर दे, इसलिए 'वि' पूर्वक 'तसु उपक्षये' धातु से 'वितस्ता' शब्द बना है।

सप्तक—१

सो, १. गंगा
२. यमुना
३. सरस्वती
४. शुतुद्री

५. परुष्णी

६. असिक्नी

७. वितस्ता यह एक सप्तक हुआ, यह सेना का स्थायी भाग है।

सप्तक २

अब इनके तथा आगे बढ़ने वाले भाग के, दोनों के साथ-साथ 'सरथम्' रथ से रथ मिलाकर चलने वाले सप्तक का वर्णन करते हैं।

इनमें सबसे प्रथम तृष्टामा है। तृष्ट शब्द हिंसार्थक तृह् धातु से क्त प्रत्यय करके बना है। अम शब्द अम् रोगे धातु से पचाद्यच् करके बना है। सो, तृष्टामा का अर्थ हुआ रोग-नाशक सेना (तृष्टाः हिंसिताः अमाः रोगाः यया सा तृष्टामा) यह वह विभाग है जो कीटाणु-नाशादि उपायों से रोगों का प्राक् प्रतिकार करके रोग उत्पन्न नहीं होने देता।

इसके पश्चात् सुसर्तू है। यह सेना का वह विभाग है जो आगे बढ़ने के समय कण्टक-शोधनादि द्वारा तथा मार्ग की ठीक-ठीक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करके कौन-सा मार्ग आगे बढ़ने के लिए सबसे सुरक्षित है इसका निर्णय करता है, इसलिये इसका नाम 'सुसर्तू' है। तीसरी सेना रसा है जो सैनिकों को वाद्य, संगीत, साहित्यादि द्वारा सदा वीर रस की मस्ती में भरे रखती है।

(श्वेत्या) यह वह सेना है जो वस्त्रादि की उज्ज्वलता से सेना को सदा ऐसा सजाकर रखती है कि वह सदा उजली दीखती है।

पाँचवी सेना **कुभा है** जो—हर कुत्सित अवस्था-नाना प्रकार के आघातादि के उत्पन्न होने पर प्राप्त कष्टों का निवारण कर के दीप्ति उत्पन्न करती है। **तृष्टामा अप्राप्त रोगों का निवारण करती है और कुभा प्राप्त कष्टों का**—यही इनमें भेद है।

छठी सेना **गोमती** है, जो सीधे मृत्यु-क्षेत्र में जाने से पहिले सैनिकों को दूध, दही, मलाई, रबड़ी आदि यथाभिलषित नाना प्रकार के गोरसों से तृप्त करती है। [आजकल के युद्ध में यह काम गोमती के स्थान में मदिरावती से लिया जाता है।]

सातवीं सेना क्रुमु है—जिसको कुर्रम बनाकर पाश्चात्य विद्वानों ने वेद की दुर्दशा की है। इसका काम है हर सैनिक को उसके कार्यक्रम का ठीक-ठीक पता देना जिससे वह निर्दिष्ट मार्ग से ही आगे बढ़ सके। यह दूसरा सप्तक है।

यहां तक **स्थायी** सप्तक **और सहकारी** सप्तक इन दो सप्तकों का वर्णन हो गया है।

अब **अग्रगामी सप्तक** का वर्णन करते हैं। इसमें सबसे प्रथम **सिन्धु** है। इसका वर्णन पहिले कर आए हैं यह वह भाग है जो नासीर या (Vanguard) नाम से पुकारा जाता है। (२)—उसके पश्चात् दूसरी सेना **आर्जीकिया** है। ऋजीक नाम इंजीनियर का है वह नहर-विभाग, विद्युत्-विभाग, वास्तु-विभाग; किसी विभाग का अध्यक्ष क्यों न हो—उसका काम है कम से कम समय में, कम से कम श्रम तथा व्यय द्वारा अधिक फल उत्पन्न करना। **वह 'कम से कम' का भाव ऋजु रेखा अर्थात् सरल रेखा द्वारा व्यक्त किया जाता है।** क्योंकि वही दो बिन्दुओं के बीच सबसे छोटी रेखा है, क्योंकि आगे बढ़ने

वाली सेना को ७ वें मन्त्र में ऋजीती अर्थात् ऋजुगामिनी कहा है, इसलिये ऋजु रेखा उत्पन्न करने वाले का नाम ऋजीक है। इस ऋजीक की सेना का नाम आर्जीकीया है। जो नाना प्रकार के आर्जीक (ऋजीक-सम्बन्धी) कार्यों का सम्पादन करती हो।

इसी का दूसरा नाम विपाशा है, क्योंकि वह आगे बढ़ने में उत्पन्न होने वाले पाशों का छेदन करती है।

(३) तीसरी सेना सुषोमा है ।

सोम का कार्य क्या है, सो वेद से ही सुनिये ;—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीयः तदित् सोमो अवति हन्त्यासत् ।।

(ऋ० ७ । १०४ । १२ ।।)

उत्तम ज्ञान तक पहुँचे हुए मनुष्य के सामने ठीक और ग़लत दोनों प्रकार के वचन आकर झगड़ा करते हैं। सोम उन दोनों में से जो सत्यतर, जो ऋजुतर होता है उसकी ही रक्षा करता है और असत् को मार भगाता है।

इस सोम के पहिले एक और 'सु' लग कर 'सुषोमा' शब्द बना है। यह सेना का वह अंग है जो कि 'किधर से किधर को पहिले बढ़ना है, कौन पहिले बढ़े, कौन पीछे रहे' इत्यादि गति-विधियों के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय करता है। इस सेना का नाम सुषोमा है। चौथी सेना मरुद्वृधा है, मरुत् नाम सैनिकों का है। निरुक्त में कहा है, "मरुद् वृधाः सर्व्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति" सेना के सब अंग सैनिकों द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते हैं। मरुद्वृधा सेना का वह भाग है जिसे (Reserve Force) कहते हैं। [जहां सैनिकों की वृद्धि करनी हो उस में से भेज दिये जावें। यदि मरुद् का अर्थ यहां वायु करें और नदी का सेना अर्थ न करें तो बात ठीक जमेगी नहीं, क्योंकि पवन अर्थ में तो मरुतः एनाः शोषयन्ति न तु वर्धयन्ति। पवन तो जल को सुखाता है वृद्धि नहीं करता,] सो, 'मरुद्-वृधा' सुरक्षित सेना हुई। पाँचवीं सेना ऊर्णावती है यह शब्द 'ऊर्णुञ् आच्छादने' इस धातु से बना है। आगे बढ़ने वाली सेना को प्रच्छन्न (Camouflage) करने का काम करने वाली सेना का नाम ऊर्णावती है। छठी सेना मेहत्नू है। शस्त्रास्त्राणां वर्षाम् तनोतीति मेहत्नू—जो शस्त्र और अस्त्रों की वर्षा करे उस (Firing line) का नाम मेहत्नू है।

इस प्रकार
स्थायी ७
सहकारी ७
अग्रगामी ६
____
२०

यह २० सेना की शाखाएँ स्पष्ट हो गईं, किन्तु यह आगे बढ़ने वाली सिन्धु, **'उत'** फिर, [अर्थात् विजय प्राप्त करने के पश्चात्] **'मधुवृधम् अधिवस्ते'** मधुर्वर्षिणी का रूप धारण कर लेती है।

ग्रिफ़िथ के शब्दों में :—

Invests herself with raiment rich in storeys of sweets.

यहाँ उपमा दी गई है—**युवतिः सीलमावती,** [सीलमावती युवति के समान मधुवर्षी का रूप धारण कर लेती है।] क्या ऊँचा आदर्श है। विजय से पूर्व शस्त्रों और अस्त्रों की वर्षा हो रही थी, अब मधु की वर्षा होगी।

इसमें उपमा दी गई है सीलमावती युवति की। सायण के अनुसार **सीलमा एक झाड़ी है** जिसके रस्से बनते हैं। पर उन रस्सों का नाम तथा उस झाड़ी का नाम भी सीलमा क्यों है। 'सीलमा' शब्द वस्तुतः (रलयोरभेदात्) **सीरमा** है। सो **सीर** किसको कहते हैं, सबसे पूर्व यह देखना चाहिये।

इस विषय में शतपथ ब्राह्मण में **शुनासीर्यं याग** की व्याख्या में लिखा है **(यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्तत् सीरम्)** (शत० २. ४. ३. २.) अर्थात् संवत्सर के विजय पर जो सार होता है अर्थात् **फ़सल काटने पर जो किसान के अपने हिस्से का भाग होता है** वह सीर है। [उसे बाँधने की रस्सी सीरमा हुई, क्योंकि कितने भरोटे अन्न हुआ इसका वह नाप करती है। सीरमा ही सीलमा है और वह रस्सी जिस झाड़ी से बनती है वह भी सीलमा हुई।

क्या दिव्य उपमा है, एक तो **स्त्री-हृदय वैसे ही कोमल होता है,** फिर जिस दिन किसान युवती फ़सल के पहिले भरोटे अपने घर लाती है, उस दिन उसके हृदय की श्रद्धामय, वात्सल्यमय, औदार्यमय अवस्था का वर्णन कोई प्रेमचन्द्र करे या शरच्चन्द्र करे, मेरी क्या शक्ति है कि उसका वर्णन करूँ। बस, **विजय के पश्चात् सेना को अग्निवर्षिणी रौद्र मुद्रा छोड़ कर यह मधु-वर्षिणी मधुर मुद्रा धारण करनी चाहिये।** यह सेना का २१ वां अङ्ग है जिसका आरम्भ **गङ्गा** से हुआ उसका अन्त **मधु-वर्षा** से क्यों न होता।

इसीलिये मनु ने कहा—

रत्नैश्च पूजयेदेनम् ॥ मनु० ७। २०३॥

इसकी व्याख्या में ऋषि दयानन्द सत्यार्थ-प्रकाश में लिखते हैं :—

'उस पराजित के मनवाञ्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न हंसी और ठट्ठा करे, न उसके सामने हमने तुझको पराजित किया है ऐसा भी कहै; किन्तु आप हमारे भाई हैं इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे।' यह है 'मधु-वृधम् अधिवस्ते' का अर्थ :—

अब तीसरा सप्तक इस प्रकार हुआ :—

१. सिन्धु
२. आर्जीकीया
३. सुषोमा
४. मरुद्वृधा

५. ऊर्णावती
६. मेहत्नू
[७. मधुवृधम्]
यह त्रिः सप्त सप्त का अर्थ हुआ ।

× × ×

उपसंहार

अब वेद में भूगोल बताने वाले २१ नदियों के नाम ही बता दें और यदि बता भी दें तो ही काम नहीं चलेगा—३ सप्तक अलग-अलग बताने होंगे । यह है वह 'सप्त-सिन्धु सूक्त' जिसके आधार पर मैक्समूलर सम्प्रदाय के विद्वानों ने इतिहास का विशाल भवन खड़ा किया है । जब इस भवन की आधारशिला ही निकल गई तो भवन कैसे खड़ा रह सकता है ।

[यदि मेरे इस निबन्ध के अध्ययन से सत्य-प्रेमी लोगों की आँखें खुल गईं, और पाश्चात्य लोगों के अविद्यान्धकार के विरुद्ध विद्रोह की भावना जागृत हो गई तो मैं अपना प्रयत्न सफल मानूंगा । प्रभु सच्चा है, उसका वेद सच्चा है, ऋषि का वेदार्थ-मार्ग सच्चा है, सत्य की विजय होगी] ॥



मुद्रक : वैदिक यन्त्रालय केसरगंज, अजमेर ।

ओ३म् २६

यो स्वामी [illegible] का [illegible] भाष्य [illegible]
[illegible] का [illegible] [illegible]
[illegible] अभिलाषा होगई.

सामवेद / ऋग्वेद के भाष्य कार्यों के लिये दिग्दर्शित होगया.

इस समय ८० वर्ष की आयु मैं प्राप्त की होगई है. शतपथ भाष्य का कार्य पूरा करना है. वह पूरा होगया और जीवन शेष रहा तो चारों वेदों का भाष्य लिखेंगे. नहीं तो वह कार्य शिष्य परम्परा मैं कोई पूरा करेगा. धन्यवाद है उस योगिराज दयानन्द का जिस की कृपा से मुझे इस मार्ग प्रेम का दर्शन हुआ. अब इस सम्बोधन शब्दों के साथ समाप्त करता हूँ!

बार बार नर जीवन पाऊं
बार बार बलिदान चढ़ाऊं
जूना तो भी तुझ से ऋषि मेरा
ऋण नहीं चुकाया

१३ सितम्बर ९२ ई० को प्रातःकाल ७-४५ पर समाप्त हुआ.